वैदिक संस्कृति और सभ्यता

वैदिक संस्कृति और सभ्यता

डॉ० मुंशीराम शर्मा



ग्रन्थम्
शोध ग्रन्थों के प्रकाशक
रामबाग, कानपुर

पुस्तक का नाम

वैदिक संस्कृति और सभ्यता

लेखक

डॉ० मुंशीराम शर्मा

प्रकाशन-काल

जनवरी, १९६८

मूल्य

बीस रुपए

प्रकाशक

ग्रन्थम

रामबाग कानपुर

मुद्रक

माडर्न आर्ट प्रिंटर्स

कानपुर

प्राक्कथन

संस्कृति और सभ्यता दोनों अत्यन्त प्राचीन शब्द हैं। इनका प्रयोग हमारे साहित्य में दो भिन्न विचारों का द्योतक रहा है। संस्कृति में आध्यात्मिक दिशा है सभ्यता में सामाजिक। संस्कृति किसी देश के आन्तरिक विकास के स्तरों की सूचना देती है, सभ्यता उसके बाह्य विकास की सूचिका है। जब हम किसी व्यक्ति को संस्कृत कहते हैं तब हम उसके शील पर ध्यान देते हैं। जब हम किसी को सभ्य कहते हैं, तब हम उसकी व्यावहारिकता पर लक्ष्य करते हैं। सभा के या समाज के योग्य जो व्यक्ति है वह सभ्य है। सम्भव है, ऐसा सभ्य व्यक्ति संस्कृति से शून्य हो। संस्कृत व्यक्ति भी सम्भव है, सभ्य न हो। महात्मा गांधी इस युग में परम संस्कृत व्यक्तित्व रखते थे परन्तु चर्चिल महोदय सदैव उन्हें नंगा फकीर कहा करते थे। जब महात्मा जी इंगलैण्ड जाने लगे, तब कतिपय सभ्य कहलाने वाले व्यक्तियों ने उनके परिधान के सम्बन्ध में संकेत किया— 'ब्रिटिश साम्राज्य के चक्रवर्ती सम्राट पंचम जार्ज से उनकी भेंट होगी, तब क्या वे इसी अर्धनग्न वेश में उनसे मिलेंगे"? पर महात्मा गांधी की संस्कृत आत्मा सभ्यता के इस तकाजे को बहुत दूर तक स्वीकार न कर सकी। उन्होंने इंगलैण्ड जैसे देश की सर्दी को सहारने के लिये चमड़े का परिधान तो स्वीकार कर लिया, पर लंगोटी को नहीं छोड़ा। इसका अर्थ यह नहीं कि महात्मा गांधी केवल शिष्ट या संस्कृत थे। हमारी सम्मति में वे सभ्य भी उच्चकोटि के थे। उनका सम्पूर्ण जीवन सामाजिक व्यवहार में व्यतीत हुआ उनके असहयोग आन्दोलन तथा सत्याग्रह-संग्राम लोकव्यापी थे। महात्मा जी जन-जन के हृदय में अपना आसन बना चुके थे। वे स्वयं चमके और उनके साथ भारतीय समाज भी चमका। सभा का यही अर्थ है। जिसमें सब समान भाव से चमकें वही सभा है और चमकने वाला व्यक्ति सभ्य है। महात्मा कौटिल्य भी इसी कोटि के थे। हमारे अवतारी महापुरुषों में भी अनेक इसी कोटि के हैं। महात्मा बुद्ध महावीर स्वामी पार्श्वनाथ ऋषभ देव आदि सभी महात्मा इसी कोटि के हैं। वे परम संस्कृत हैं, साथ ही परम सभ्य भी।

जिसे आज का विज्ञान सभ्यता कहता है भारतीय मनीषा ने उसकी भी अव हेलना नहीं की है, पर यह सत्य है कि उसने इसकी अपेक्षा संस्कृति के विकास पर अधिक ध्यान दिया है। परिधान कैसा ही हो भोजन गृह-व्यवस्था भले ही साधारण

हो पर मन संस्कृत होना चाहिये । मन सदैव संस्कृत ही किया जाता है मनको सभ्य बनाओ—ऐसा उच्चारण या कथन व्यवहार में कभी किसी ने नहीं किया । वस्तु शक्तियों का संस्कार होता है और उन्हीं को संस्कृत बनाने के लिये हमारे यहां षोडश संस्कारों का विधान पाया जाता है । इन्हीं संस्कारों से हमारी सभ्यता को भी प्रभावित किया है । हमारी समग्र जीवन प्रणाली सामाजिक व्यवहार इसी संस्कृति के विकास पर आधारित है । इसी हेतु भारतीय सभ्यता को आध्यात्मिक सभ्यता कहा जाता है ।

भारतीय नरेश सर्वहुत यज्ञ के समय सर्वस्व का दान करते हुए भिक्षु बनते रहे हैं या वानप्रस्थ की ओर चलते रहे हैं । उन्होंने शस्त्रों के बल पर नहीं, धर्म के बल पर अपनी विजयपताका फहराई है । इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है । अशोक तथा हर्षवर्धन की एतद्विषयक जीवन-गाथायें इतिहास प्रख्यात हैं । इनसे भी पूर्व सुदूर अतीत के शिवि मयूरध्वज मान्धाता रघु आदि राजाओं की कथायें भी साहित्य में अभी तक सुरक्षित हैं ।

आर्य संस्कृति विश्व संस्कृति है, ऐसा हमारा अभिमत है । वह मनुष्य-मनुष्य में देश-देश में भेद नहीं करती । सभी मानव अमृत संतान हैं । उन सबको निवास देने वाली पृथिवी माता है । अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त पृथिवी की वन्दना करता है किसी भारत ईरान अरब सीरिया ग्रीस इटली या अकेले जर्मनी की नहीं । इस पृथिवी पर एक ही संस्कृति फैली है । सभ्यतायें भले ही देश-काल के आधार पर अनेक रूपा रही हों रही हैं और आगे भी रहेंगी पर संस्कृति सभी देशों के लिये एक है । सभ्यतायें परिवर्तनशील हैं पर संस्कृति अपरिवर्तनीय है । ऋग्वेद किसी देश-विशेष की नहीं पृथिवी भर की सम्पत्ति है । वैदिक संस्कृति इसी हेतु पुराकाल में पृथिवी भर पर फैली हुई थी । भारतीय नरेशों की भांति ईरान के नौशेरवां जैसे बादशाह तथा अरब के खलीफा उमर जैसे संस्कृत महापुरुषों की कथायें भी इतिहास में अमर हैं और संस्कृति के एक समान रूप की मुक्त कण्ठ से घोषणा कर रही हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम वैदिक संस्कृति और सभ्यता है । पाश्चात्य शैली के अभिमानी विद्वान इसका एक ही अर्थ लगायेंगे कि ग्रन्थ में वेदयुगीन संस्कृति और सभ्यता के स्वरूप का विवेचन किया गया है पर भारतीय आर्य प्रणाली का अनुगमन करने वाले विद्वान कह सकते हैं कि वेद अपौरुषेय है अतः यह किसी युग विशेष की मान्यताओं का नहीं प्रत्युत सार्वयुगीन तथ्यों का उद्घाटन करता है । क्या है यह नहीं क्या होना चाहिये— इसका उल्लेख करना वेद की विशिष्टता है । वेद में नाना प्रकार के ग्रामों आवासों रथों नावों वस्त्रों आदि के नाम आते हैं जो संकेत करते हैं कि मानव को इन दिशाओं में सभ्यता का विकास करना चाहिये । इसी प्रकार वेद ब्रह्मचर्य तप दीक्षा श्रद्धा आदि की प्रशंसा के द्वारा सांस्कृतिक विकास की पद्धति को भी स्पष्ट करता है ।

वैदिक संस्कृति को आर्य संस्कृति या मानव संस्कृति भी कहा जा सकता है ।

वेद नानाविध विश्वाभिर्गीर्भि, पुरुवासस, विश्वारूपाणि शब्दों द्वारा मानव के अनेक रूपों की ओर निर्देश कर रहा है। हम सब हैं ही विविध रूपों वाले। आचार्यों ने सत् रज, तम के तीन भेदों को तीन गुणों तीन रूपों तक ही सीमित नहीं किया है वे इनके सात-सात अर्थात इक्कीस विभाग करके फिर इक्कीस की संख्या को संसृष्टि-संकरादि द्वारा नानात्व की ओर ले गये हैं। यह नानात्व एवं बहुरूपता बहुत्व से सीमित होती हुई एकत्व में भी परिणत होती है। सत् रज तम तीनों गुणों की जिस साम्यावस्था की ओर ऋषियों ने संकेत किया है वह इसी एकत्व की निर्देशिका है। वस्तुतः संस्कृति इसी एकत्व की ओर ले जाती है। सभ्यता बहुरूपा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध ही सृष्टि की इस विविधरूपता के साथ है। किसी को चावल से प्रेम है तो किसी को गेहूं जौ फल दूध आदि से। किसी को पाजामा पसन्द है तो किसी को धोती, नैकर या पैंट। कोई गंगातट पर कुटी में रहना चाहता है, तो किसी को उच्च अट्टालिकाओं के वैभव से रुचि है। किसी का ख्याल स्वाध्याय की ओर है तो किसी का कृषि व्यापार श्रम आदि की ओर। इसी हेतु संस्कृति एकत्व का तो सभ्यता विविधता का संदेश-वाहन बनी है।

इस ग्रन्थ में संस्कृति और सभ्यता दोनों का विश्लेषण किया गया है। अपना अपना आग्रह या अभिमत परोक्ष रूप से सभी की कृतियों में वर्तमान रहता है प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक भी इसका अपवाद नहीं होगा। फिर भी लेखक ने प्रयत्न इसी दिशा में किया है कि वह स्व आग्रह को तटस्थ रखे और वैदिक विचार-निधि की व्याख्या भर कर दे। कतिपय अन्य ग्रन्थ भी इस विषय पर लिखे जा चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ अपने लक्ष्य प्रणाली तथा स्थापनाओं में उनसे पृथक दिखाई देगा। इसके लिये लेखक मौलिकता का दावा नहीं करता। वेद माता के निरय सस्तवन ने जो सामग्री दे दी, वही इस ग्रन्थ में लेखक के शब्दों में अभिव्यक्त हो गई है।

ग्रन्थ के लेखन कार्य में प्रिय शिष्य श्री कैलाश नारायण वाजपेयी एम ए साहित्याचार्य ने जो निर्व्याज सहायता दी उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। उन्होंने लेखक के साथ पूरे डेढ़ वर्ष तक तपश्चर्या की। मंगलमय भगवान उन्हें मंगल पथ पर निरन्तर अग्रसर करते रहें।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मेरे अवकाश ग्रहण के उपरान्त आर्थिक सहायता देकर अनुसंधान कार्य को सुगम बनाता रहा है इसके लिये मैं उसके अधिकारियों विशेषत श्री कोठारी जी को हृदय से धन्यवाद देता हू। वैदिक निब-न्धावलि तत्ववर्तन वेदार्थ चन्द्रिका अध्यात्मसुधा (A Comparative Study of vaidik Hymns) तथा प्रस्तुत ग्रन्थ अवकाश ग्रहण के उपरान्त ही लिखे गये हैं और उनके लेखन के पीछे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष हाथ है। सबसे अधिक तो उस महाशक्तिका अनुकम्पा-पूर्ण वरद हस्त है जिसके बिना बड़े से बड़े ज्ञानी की भी यह-योजना सफल नहीं होती। उसी का सम्बल, उसी का

अवलम्ब उसी का आश्रय इस जीवन को यहाँ तक ले आया है। यह सदैव सम्बल बना रहे यही आकांक्षा है।

परिपूषा परस्तात् हस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु॥
आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ।

भागवतम्
९/७० आर्यनगर, कानपुर
मकर संक्रान्ति, २०२४ वि०

विनयावनत
मुंशीराम शर्मा

प्रथम भाग : वैदिक संस्कृति

द्वितीय भाग . वैदिक सभ्यता

प्रथम भाग

वैदिक संस्कृति

१ । संस्कृति : स्वरूप एवं सीमा

क संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति का अर्थ है संस्करण परिमार्जन, शोधन परिष्करण अर्थात् ऐसी क्रिया जो व्यक्ति में निर्मलता का संचार करे। अनेक व्यक्ति मिलकर समाज तथा जाति का निर्माण करते हैं। अतः निर्मल एवं संस्कृत व्यक्तियों के समाज तथा राष्ट्र भी संस्कृत होते हैं और उनके निर्मलता विधायक तत्त्व संस्कृति के मूल सूत्र बन जाते हैं। आजकल हिन्दी में संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का पर्यायवाची बन गया है। 'कल्चर' का विशुद्ध पर्यायवाची वैदिक शब्द कृष्टि है। जैसे कृषि कर्म में भूमि का संशोधन तदुपरान्त बीजवपन किया जाता है और सिंचन निरयन आदि द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को सस्य सम्पन्न बनाया जाता है वैसे ही मानव-मानस में सत्संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है। जिस मानव का मन जितना ही अधिक विकार रहित तथा विशुद्ध है, उतना ही अधिक वह संस्कृत कहा जाता है।

विशुद्धि निर्मलता परिष्कृति एक मानव से चल कर जैसे समाज तथा जाति की संपत्ति बनती है उसी प्रकार वह विश्व भर की थाती भी बन सकती है। संस्कृत के इस व्यापक रूप को वेद 'विश्ववारा संस्कृति' का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के १४वें मन्त्र में सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' जो पद आता है वह विश्व भर के लिए वरणीय संस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता है। सभ्यता देश विशेष के के अनुसार अपने रूप में दूसरी सभ्यताओं से पृथक् हो सकती है परन्तु संस्कृति तो विश्व भर की एक ही होगी। सभी मानवों का आन्तरिक विकास एक ही पद्धति से होता है। इस विकास के मूल में अच्छिन्न सुवीर्य्य की प्रतिष्ठा है। विकासक्रम में आगे आने वाले रायस्पोष आदि वीर्य की अच्छिन्नता बलवती शक्ति पर ही अवलंबित है। उपनिषद् की रयि का पोषण आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में इसी मूल बिन्दु पर आश्रित है। वीर्य की रक्षा जहाँ व्यक्ति को तेजस्वी तथा सदाचार-परायण बनाती है, वहाँ वह जाति तथा विश्वभर को सदाचार की ओर ले जाती है। कामुक व्यक्ति बाहर से सभ्य होने का ढोंग भले ही कर ले, पर वह अन्दर से संस्कृत नहीं हो सकता।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में कल्चर' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है —

The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of civilization, the acquainting ourselves with the best.

मन का शिक्षण तथा परिष्करण जिससे रुचि एवं व्यावहारिक आचरण का निर्माण होता है संस्कृति के उपादान हैं। संस्कृति सभ्यता का बौद्धिक पार्श्व है जिसमें हम सर्वोत्तम के साथ अपना संसर्ग स्थापित करते हैं।

संस्कृति इस रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने वाली है। जो व्यक्ति पूर्णता की खोज में संलग्न है जो चतुर्दिक प्रसृत अंधकार अज्ञान अविवेक से निकल कर ज्ञान और प्रकाश के अनुशीलन में मग्न है जो माधुर्य, सौन्दर्य तथा ज्योति का उपासक है वही संस्कृत कहलाने का अधिकारी है। व्यक्ति एवं विश्व अपनी आन्तरिक प्रतिभा का इसी रूप में प्रकाशन करते हैं।

संस्कृति व्यक्ति कुल समाज जाति तथा विश्वभर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिपालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा देते रहते हैं। संस्कृति वस्तुतः मानवता का मेरुदंड है। वह शिष्टता सौजन्य तथा शील की आधारशिला है। किसी जाति की ज्ञानधारा किस दिशा में प्रवाहित हुई है उसकी गुण-गरिमा में कौन से स्थायी मूल्यवान् तत्त्व हैं उसकी भावना कितनी विशद तथा उद्देश्य कितना प्रांजल एवं मनोवृत्ति कितनी निर्मल और जनहित-साधिका है उसकी जीवनचर्या कितनी अहिंसामयी है वह सत्य के लिये कितनी लालायित है— एक शब्द में वह उत्थानधाम है अथवा अवपातनमुखी इसी से उसके संस्कृत अथवा असंस्कृत होने का परिज्ञान हो जायगा।

'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में हमने संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार की थी —

मपकती है। संस्कृति मानव-महिमा का उच्च स्वर से उद्घोष करती है।

विश्वभर के दार्शनिक अथवा चिन्तन अभी तक तीन सत्ताओं पर ही केंद्रित करते रहे हैं। ये सत्तायें हैं — प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा। इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? प्रकृति की व्यवस्था का संचालन कहां से होता है? प्राणियों के विविध रूपों में आविर्भाव एवं तिरोभाव का प्रेरक केन्द्र कौन है? मैं प्रकृति तथा परमात्मा दोनों से किस रूप में भिन्न हूँ? ये प्रश्न आज के नहीं शाश्वत प्रश्न हैं। प्रकृति मेरी सहचरी बाहर तो है ही वह शरीर के अन्दर-अन्दर बहुत दूर तक मेरा साथ देती है। परमात्मा भी मेरा सहचर है। वेद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सयुजा तथा सखा कहता है। वेदांत-दर्शन अद्वैतपरक कहा जाता है पर 'गुहा प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्' १ २ ११ इस सूत्र से हृदय की गुहा में प्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों की ही सत्ता उसे स्वीकार है।

वेद के शब्दों में प्रकृति स्वधा है पुरुष है तथा पिशंगिला पिलिप्पिला अजा अमृता, अदिति उत् अप अदि सिन्धु, ब्रह्म ऋत विभावरी आदि अनेक नामों वाली है। उससे जीव को विविध प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त होती है जिसे वह अपने कौशल द्वारा और भी अधिक उपयोगी बना लेता है। प्रकृति के क्षेत्र बहुमुखी हैं जिनका सम्पूर्ण ज्ञान अभी तक मानव को नहीं हो सका। जितना अंश ज्ञात हो सका है, उसी ने हमारे क्रिया-कलापों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि हमारी जीवनधारा उससे असंपृक्त होकर चल ही नहीं सकती। अपनी विशिष्ट पद्धतियों को लिये हुए हम दिन-रात उसी में चक्कर काटा करते हैं। हमारी दैनिक भौतिक जीवन चर्या ही नहीं आध्यात्मिक सृष्टि भी उसी के संकेतों पर चलती है।

प्रकृति के इस खेल में जैसे तो पशु-पक्षी आदि सभी भाग ले रहे हैं पर मानव का भाग विशेष महत्व रखता है। ऐतरेय उपनिषद् के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृति के सभी दैवी अंश मानव शरीर में ही अवतरित हुए हैं अन्य योनियों में नहीं। यही कारण है कि प्राणियों में सर्वाधिक विकसित वाणी मानव को ही प्राप्त है। इसी के माध्यम से उसने काव्य धर्म दर्शन विज्ञान आदि का सृजन किया है तथा जीवन-परिमार्जन की परिपाटी निकाली है।

लोक-जीवन की विशिष्टतायें तथा आध्यात्मिक क्षेत्र की उपलब्धियां जिनसे मानव की पूर्णता का बोध होता है संस्कृति के आवश्यक अवयव हैं। स्पिनोजा के मतानुसार मानव ज्यों-ज्यों स्वतन्त्र होता जाता है शरीर प्राण उद्वेग आदि की अधीनता से मुक्त होता जाता है त्यों त्यों वह पूर्णता की ओर प्रयाण करता जाता है। जब वह विशुद्ध रूप से ज्ञान के प्रकाश में विचरण करने लगता है और उद्वेग आदि के वशीभूत नहीं होता अर्थात् इनको अपने वश में कर लेता है तभी वह विकास की ऊर्ध्व शिखा पर अवस्थित होता है। संस्कृति का यही चरम बिन्दु है।

यदि हमारी आत्मिक शक्ति क्रिया शील नहीं है विचार शक्ति कुंठित है, सत्य, शिव और सौंदर्य के प्रति आकर्षण का अभाव है दृष्टिकोण संकीर्ण

नहीं है हमारी भावना में तीव्रता तथा चित्तवृत्ति में विस्तार नहीं है हमारे हाथ पैर बंधे हुए हैं किसी दीन या चीत्कार सुन कर न पैर आगे बढ़ते हैं न हाथ सहारा देने के लिए उठते हैं, तो हम संस्कृत कहां ? विकसित कहां ? पूर्णत्व हमसे बहुत दूर पड़ा है।

जीवन की जिस विशिष्ट विधि को अपनाकर हम प्राणीमात्र के साथ सहयोग एवं सहानुभूति की स्थापना करते हैं सबको अपना समझने में सफल होते हैं, मत मतान्तरों की भिन्नरूपता प्रभावों एवं रीति प्रणालियों की अनेकता जहां मानव मानव में भेद नहीं डालती तत्र-सुम मद निःश्रेयस जहां सबके प्रेम के अधिष्ठान हैं पारस्परिक सौहार्द जिसकी अनिवार्य विशेषता है सर्वेतनशीलता जिसका अमिट चिह्न है वही संस्कृति है। उसके अभिव्यक्ति-माध्यम भले ही विरूप हों पर उसकी आत्मा सर्वत्र और सदैव एकरूपा है।

सुसंस्कृत व्यक्ति संकीर्ण नहीं सहिष्णु होता है। उसकी उदारता में काले-गोरे, पीले नाटे श्वेत लम्बे, सभी पुरुष सभी समा जाते हैं। सबको आत्म-सदृश मान कर वह स्वयं निर्भय हो जाता है और प्राणिमात्र को निर्भयता का दान मुक्त-हस्त होकर देता है। उसकी विद्या विवाद के लिये नहीं ज्ञान के लिये होती है। उसकी शक्ति उसका बल पौरुष पर पीड़न में नहीं पर रक्षण में प्रयुक्त होते हैं। उसका धन मद और अहंकार के लिये नहीं दीनजन त्राण के लिये काम आता है उसका हृदय दैन्य का निराकरण करता है। उसका श्रम दूसरों को श्रान्त करने के लिये नहीं विश्राम देने के लिये होता है।

जहां पथ-वीथियों में स्वर्ण को उछालते हुए निकल जाइये गृहों में ताला लगाने की आवश्यकता न हो जहां नारी सम्मान की भाजन समझी जाती हो और किसी भी पुरुष की कुदृष्टि उस पर न पड़ती हो जहां अशक्त एवं पंगु को भी जीवन का अधिकार प्राप्त हो जहां ज्ञानी तथा सदाचारी को पूज्य दृष्टि से देखा जाता हो जहां धनवान की नहीं चेतनता की आवश्यकता की सचेष्टता की शान्ति विद्यमान हो जहां चारों ओर स्वस्थता के दर्शन होते हों वातावरण में निर्भयता की सुगन्ध फैली हो प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्य परायण तथा अकरणीय से हाथ खींचने वाला हो जहां शील से पुष्ट तथा साधुता से अनुप्राणित हृदय विद्यमान हों संस्कृति का वहीं निवास है।

ब्रह्माण्डीय ग्रह एवं नक्षत्र स्वार्थरहित होकर एक दूसरे की सहायता करते हुए अपने-अपने अक्ष पर तथा नियत क्रान्ति-कक्ष में घूम रहे हैं। कहीं राग और द्वेष नहीं है। उनका आलोक प्रसरणशील है उनका अस्तित्व अपने लिये नहीं अपने अन्दर बसने वाले प्राणियों के परिपालन के लिये है। सबके अन्दर एक अद्भुत व्रत है विचित्र निष्ठा है। न जाने कब से वे इस तपश्चर्या में लीन हैं ? क्या हम इनसे अपने आश्रयदाताओं से अपने परिपोषकों जीवनदाताओं से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते ? इन सबका एक कुटुम्ब बना हुआ है जिसमें विग्रह नहीं सहवास की अनुकरणीय भावना है चतुर्दिक स्वस्तिमत्ता तथा शान्ति का साम्राज्य है। फिर

मानव क्यों अशान्ति एवं अकल्याण का व्यूह बना हुआ है ? क्या वह वसुधैव कुटुम्ब–कम् के सिद्धान्त को नहीं अपना सकता ? क्या विश्वमैत्री तथा विश्वशान्ति उसके जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकते ? क्या सर्व-स्वात्म्य की कल्पना उसे मुग्ध नहीं कर सकती ? क्या वह ससीमता के आकार का उल्लंघन करके असीम का स्पर्श करने के लिये लालायित नहीं हो सकता ? हो सकता है संस्कृति की सम्भावनायें उसमें विद्यमान हैं। औदार्य के अंकुर जल नहीं गये प्रकट होने का सामर्थ्य रखते हैं। पुराकाल में उन सुदूर युगों में जिन्हें अंधकार के युग कहा जाता है वास्तव में संस्कृति का सूर्य अपने मध्याह्न पर पहुंच गया था। वह काल आज पुन लौटाया जा सकता है।

वेद ने सस्कृत पुरुष को आर्य की संज्ञा दी है। वैदिक आर्य स्व-कर्तव्य-निष्ठ है, परोपकार-परायण है। उसका वीर्य ओज तेज सभी वन्दनीय हैं। वह उरु ज्योति से सम्पन्न है दिव्यता का साथी है और यजन-शील है। वेद के आधार पर जब हम उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं तो सस्कृति का स्वरूप भी स्पष्ट हो उठता है।

ख सस्कृति और सभ्यता

सस्कृति और सभ्यता दो भिन्न-भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं। एक को आत्मा तो दूसरी को शरीर कहा जा सकता है। सस्कृति आन्तरिक नैर्मल्य है तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शान्ति है तो दूसरी में चमक-दमक। एक में प्रबुद्धता है तो दूसरी में उपयोगिता। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि की ओर प्रगति। एक में नि श्रेयस है तो दूसरी में अभ्युदय। एक में नितान्त ऐकान्तिकता है तो दूसरी में सामाजिकता।

सभ्यता सभा के योग्य बनने का आदेश देती है। हमारा उठना-बैठना, व्यवहार करना वेशभूषा खान-पान सवाद-विवाद कला-कुशलता नृत्यगीत देश-विदेश के सम्बन्ध सब में एक प्रकार की शालीनता होनी चाहिये। हमारा बाह्य व्यापार क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके साथ संतुलन बनाये रखने के लिये हमें अनेक बार अपने को दबाना पड़ता है। यह सामाजिकता की मांग है। इसमें व्यवहार-कौशल की परीक्षा होती है। समाज में एक ही स्वभाव के व्यक्ति नहीं होते। सबकी भिन्न भिन्न रुचियां हैं भिन्न भिन्न लक्ष्य हैं भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र हैं। हमें सबके साथ अपने सम्बन्ध का निर्वाह करना है। इसके लिये पारस्परिक सहयोग नितान्त अपेक्षित है।

सभ्य व्यक्ति संस्कृत होगा ही यह अनिवार्य नहीं है। बड़े-से-बड़ा सभ्य व्यक्ति व्यवहार-कुशल होने पर भी अत्यन्त असंस्कृत हो सकता है। बातचीत करने में निपुण वेश भूषा से नागरिकता की छाप लगाये हुये सभी प्रकार से टिप-टॉप व्यक्ति में एक भयंकर चोर के दर्शन हो सकते हैं। ऊपर से मृदुल दिखाई देने वाले मानव में एक भयंकर भेड़िया निवास कर सकता है।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में ग्रामीण व्यक्ति असभ्य है और नगर का निवासी सभ्य है परन्तु ग्रामीण व्यक्ति में जो निश्छलता है सहजता है सरलता है वह कृत्रिमता, छलकपट एवं धूर्तता से भरे नागरिक में कहां है ? इसका अर्थ यह

नहीं लगाना चाहिए कि सभी नागरिक धर्मी हैं और सभी ग्रामीण सरल। संस्कृति की कसौटी संयम है। वह ग्रामीण तथा नागरिक दोनों में उपलब्ध हो सकती है। बाह्य वैभव से जीवन के स्तर को उच्च रखने वाला व्यक्ति सरकृत भी हो सकता है और असंस्कृत भी। संस्कृति जीवन की पवित्रता में है वेष भूषा के मापदण्ड में नहीं। सभ्यता परिवर्तनशील है संस्कृति नहीं। जब पगड़ी सिर पर शोभा देती थी तो आज टोपी शोभायमान है। कभी धोती-कुर्ता चलता था तो आज बुशर्ट और पैंट चलती है। कभी चौके में बैठ कर भोजन किया जाता था तो आज कुर्सी मेज लगा कर। ये विभिन्नयुगीन सभ्यताओं के विवर्तक चिह्न हैं। संस्कृति एकरूपा है। त्याग मैत्री सहिष्णुता सत्यवादिता अहिंसा मार्दव आदि गुण जैसे पूर्वकाल में मानव को अभिनन्दनीय बनाते थे वैसे ही वे आज भी बनाते हैं। इनके मूल्यों में अन्तर नहीं पड़ा।

सभ्यता निश्चितरूप से भौतिक है। वह बाह्य आभूषण मात्र है। संस्कृति आत्मा का शृंगार करती है हृदय को उदात्त बनाती है तथा मन को विमल विचारों से सुशोभित करती है। सभ्यता बहिर्मुखी है तो संस्कृति अन्तर्मुखी। सभ्यता नवीन आविष्कारों उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक संस्थाओं से अपने स्वरूप को प्रशस्त करती है और जीवन यात्रा को सुगम तथा सरल बनाती है। संस्कृति इनके अभाव में भी फलती और फूलती है।

सभ्यता का जीवन प्रकृति के सुरम्य वातावरण से आज पृथक हो गया है। वह रौबदाब की कृत्रिमता से आच्छादित है। इसी कारण संस्कृत जीवन से उसका सूत्र विच्छिन्न दिखाई देने लगा है। इसमें आदर्श तो रहा ही नहीं यथार्थ से भी यह कोसों दूर खड़ा है। यह मानवता के विकास का नहीं ह्रास का सूचक है। वैयक्तिक स्वार्थ प्रान्तवाद मतवाद सैद्धान्तिक हठधर्मिता साम्प्रदायिकता आदि से असहिष्णुता वर्द्धमान हो रही है जो मानवता के ह्रास ही नहीं संहार की भी अग्रदूतिका है। भौतिक समृद्धि अवश्य बढ़ रही है पर उसी मात्रा में आध्यात्मिकता घटती जाती है। मोटरें कल-कारखाने रौकेट मिसिल्स् आदि का आधिक्य है, तो सहयोग, समवेदना परदुःख कातरता आदि की न्यूनता भी। बाह्य उपादान समृद्ध और समुन्नत हैं तो आन्तरिक सम्पदा क्षीण से क्षीणतर होती जाती है।

आज की महती आवश्यकता सभ्यता को संस्कृति की ओर मोड़ने की है। जो प्रेरणा जो उत्साह जो शक्ति भौतिक उपादानों के जुटाने में प्रदर्शित हो रहे हैं वैसे ही आशा-प्रवलित प्रेरक-तत्त्व आन्तरिक विकास के उपयोगन में भी प्रयुक्त होने चाहिये। जिन आलोक-स्तम्भों की प्रतिष्ठा जल थल तथा अन्तरिक्ष में आयोजित हो रही है, वैसे ही मन तथा बुद्धि में भी होनी चाहिए। प्रादेशीय तथा साम्प्रदायिक नहीं मानवीय एकता की प्रतिष्ठा हमारा लक्ष्य होना चाहिये। अन्तरात्मा की यह चिरन्तन माँग है, जिसे ठुकरा कर आज तक न कोई सुखी हुआ और न भविष्य में होगा ही।

ग संस्कृति और शास्त्र

कहा जाता है—'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते ।' जब राष्ट्र शस्त्र से सुरक्षित होता है, तभी शास्त्र-चिन्तन का प्रवर्तन होता है । इसका सामान्य अर्थ यही है कि शास्त्र की चिन्तना या विचारणा या बौद्धिक क्षेत्र के कार्य तभी संभव हैं जब देश भीतर और बाहर से सुरक्षित हो । शान्त निरुपद्रव वायुमंडल में ही शास्त्रचर्चा संभव है । जिस भूमि पर निरन्तर संघर्ष ही चलता रहेगा जहां नित्य पर युद्ध के बादल ही मंडराते रहेंगे जिस जनता को सदैव संकटों का ही साम्मुख्य करना पड़ेगा वहां रण-दुर्मद साहसी सैनिक तो उत्पन्न होते रहेंगे पर विचारणा के अभाव में दार्शनिक जन्म न ले सकेंगे ।

जब देश की रक्षण-शक्ति प्रबल होती है तो उस पर आने वाले उत्पात और उपद्रव शान्त हो जाते हैं । ऐसे सुरक्षित देश में ही बुद्धि विकसित होकर नाना रमणीय चिन्तन क्षेत्रों में विचरण करती है और परिणामत विशाल शास्त्रीय एवं कलात्मक वाङ्मय अस्तित्व में आता है । संस्कृति ऐसे वायु-मण्डल के निर्माण में स्वत सक्षम है । अत जहां संस्कृति का विकास होगा वहां शान्ति का साम्राज्य होगा और जहां शान्ति का साम्राज्य होगा वहां शास्त्र-चिन्तना एवं रचना भी होगी । युद्ध का मुख्य आधार स्वार्थ का तोषण तथा अहंवृत्ति का पोषण है जो सांस्कृतिक चेतना के उद्बुद्ध होने पर पनप नहीं पाते । जब मानव संस्कृत होगा तो वह स्वभावत बुद्धि के शासन में कार्य करेगा । इस कार्य से ही चिन्तन और उपयोगी एवं ललित कलाओं का उद्भव होता है ।

संस्कृति और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी है । संस्कृति साहित्य को जन्म देती है तो साहित्य संस्कृति के विकास में योग देता है । संस्कृति अभिव्यक्ति साहित्य में होती है तो साहित्य के द्वारा संस्कृति का भी पोषण होता है । साहित्य जहां जीवन का प्रतिनिधित्व करता है वहां उसका संचालक भी है । जहां वह संस्कृति का चित्रांकित है वहां नये प्रेरणा भी देता है । संस्कृति के सभी सत तत्त्व साहित्य में संरक्षण पाते हैं जिनका अध्ययन एव अनुशीलन अध्येता के अन्दर विचारों को उत्तेजित करता है और परिणामत चिन्तन का क्षेत्र उर्वर बना रहता है ।

शास्त्र एव कलायें साहित्य का शरीर धारण करके अपने जन्मदाता देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं । वे देश-देशान्तरों में फैल कर और विश्वभर की सम्पत्ति बनकर न जाने कितने मानवों के मानस का परिष्कार करते हैं । भारत के उपनिषद् ईरान अरब यूरोप अमेरिका तथा जापान आदि देशों में पहुंच कर वहां के प्रमुख चिन्तकों तक को प्रेरणा देते रहे हैं । जर्मनी के शोपनहावर मैक्सम्-लर प्रभृति चोटी के विद्वान् उनकी यशोगाथा गाते थकते नहीं । साहित्य की यह प्रवहमानता उसकी प्रभविष्णुता को तो प्रकट करती ही है उसके रहस्यों का उद्घाटन करने में भी समर्थ है ।

शास्त्र की चिन्ता और निर्मिति जीवन के सत एव शिव दोनों ही अंशों को उभार कर उन्हें सौन्दर्य से मंडित करती है । वह किसी देश ...

को सर्वजनसुलभ बना देने का अचूक साधन है। शास्त्र का निर्माण अपने देश के उच्चस्तरीय सांस्कृतिक वैभव एवं आदर्श की गरीयसी स्थिति की भी सूचना देता है। उसमें देश का उज्ज्वलतम पक्ष निखर कर सामने आ जाता है।

शास्त्र विभ्रम के स्थान पर निश्चित दिशा का संकेत करता है। वह आकाश में न उड़कर पृथ्वी की ठोस भूमि पर पैर रखता है। विकृतियों के स्थान पर उससे सुकृतियों को प्रश्रय मिलता है। वह हितकर होने के साथ उन्नायक भी है। वह प्रेय एवं श्रेय दोनों का साधक है। उससे लोक तथा परलोक दोनों बनते हैं। यथार्थ का आलोक और आदर्श का आकर्षण दोनों उसमें विद्यमान रहते हैं। संस्कृति की पृष्ठ भूमि इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत होती है। संस्कृत समाज विगर्हणा से विकर्षण करता है तो अभिनन्दनीय के प्रति आकर्षण भी रखता है। वह असत का तिरस्कार तो सद् का पुरस्कार भी करता है। मानवता का स्फुरण इसी आधार पर होता है। जन-कल्याणी भावनाएँ अनैतिकता के कालुष्य के प्रति सदैव आक्रोशमयी रही हैं। उन्होंने नैतिकता के पुण्यपक्ष की ही अभ्यर्थना की है।

शास्त्र नैतिकता का समर्थक एवं पोषक है। साहित्य उसी का मुखरित रूप है। जो साधन नैतिकता के प्रति उदासीन है वह जीवन से भी तटस्थ है और अन्त में उसका कोई भी सांस्कृतिक मूल्य नहीं है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी चिन्तक जीवन के आनन्दपक्ष पर पड़े आवरण को अनावृत करते रहे हैं। संस्कृति का ऊर्ध्व स्तर भी इसी पक्ष तक पहुँचता है। शास्त्र भी इसी की महनीय महत्ता से परिपूर्ण है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल का मानव इसी आनन्द के प्रति आसक्त रहा है। साहित्य शास्त्र या संस्कृति सबका केन्द्र बिन्दु अन्तिम उद्देश्य मानव ही है। वही इनका जनक है और वही इनका उद्दिष्ट भी है। उसी के लिए तो इस प्रपंच का प्रसार है। वह न हो तो यह सब खेल व्यर्थ है। वह मानव के प्रति उन्मुख है। अतः उसकी निर्मिति उसकी रचना उसकी कृति मानवोन्मुखी होनी ही चाहिए।

संस्कृति से निर्लिप्त शास्त्र शास्त्र नहीं है। शास्त्र केवल शास्त्र के लिए नहीं होता। उसका मूल्य जीवन की सफलता में ही सार्थक होता है। जीवन का यह साफल्य संस्कृति के अतिरिक्त और क्या है? संस्कृति जीवन की निर्मात्री है। शास्त्र भी जीवन को बुद्धिप्रेय में ले जाकर निम्न स्तरों से उसे असंपृक्त कर देता है। ऊर्ध्व क्षेत्रों में विहरण की कामना हम सभी के अन्दर सन्निहित है।

(घ) शास्त्र और साहित्य शास्त्र-चिन्तन प्रधान है। साहित्य में भी चिन्तन रहता है पर उसमें भावना की प्रमुखता है। शास्त्र भावना का भी चिन्तन करता है पर उसके क्रियात्मक पक्ष से उदासीन है। साहित्य इससे सीधा सम्बन्धित है। चिंतन में मन केन्द्रित होता है भावना में वह बहा-बहा फिरता है। केन्द्रस्थता सबके बस की बात नहीं पर भावना की अनुभूति तो सभी को सुलभ है।

शास्त्र भी साहित्य है और साहित्य में भी शास्त्र विद्यमान रहता है।

जिसे हम विशुद्ध साहित्य कहते हैं वह जीवन का और हृदय का साहित्य है। जिसे हम विशुद्ध शास्त्र कहते हैं वह जीवन और हृदय दोनों का ही विवेचन करता है। एक में विवेचन तो दूसरे में अनुभूति की प्रधानता है। विवेचन और अनुभूति साथ साथ नहीं चल सकते । जहां एक होगा वहां दूसरा अनुपस्थित । पर जीवन में दोनों का मूल्य है दोनों का स्थान है। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता लड़खड़ाने लगेगी।

हम कहते अधिक हैं केन्द्रस्थ कम होते हैं। इसी हेतु साहित्य की मात्रा अधिक है शास्त्र की कम। जीवन में भी भावना का ही बाहुल्य है । चिन्तन कुछ विरले व्यक्तियों तक ही सीमित है। साधना दोनों ही क्षेत्रों में करनी पड़ती है। शास्त्रकार एवं साहित्यिक दोनों ही साधक होते हैं। साधना एवं तपस्या की मात्रा में भी तार तम्य नहीं किया जा सकता।

साहित्य संस्कृति की अभिव्यक्ति है उसका वाहन है। शास्त्र इस संस्कृति का प्रणेता है ब्रह्मा है। एक प्रवर्तिनी है तो अपर निर्माण—शाला है। जब हम किसी साहित्य का अध्ययन करते हैं तो उससे जातीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास को अवगत कर लेते हैं। जब हम शास्त्र का अनुशीलन करते हैं तो अपने अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपनी ही चित्तमस्थितियों में रमण करने लगते हैं । एक में जन–जीवन का रूप है, दूसरे में मन की कथा है। एक में फैलाव है, दूसरे में सिमटाव।

शास्त्र का निर्माण सर्वत्र नहीं होता, पर साहित्य शान्ति के युग में ही नहीं संझावात की भीषण परिस्थितियों में भी निर्मित होता रहता है। विषमतायें चित्त को झकझोर देती हैं, उद्वेगों को उभाड़ देती हैं और जब कोई सत्ता उत्तेजित हो उठती है तो स्वभावतः वाणी का परिधान ग्रहण कर लेती है। वाणी द्वार है, जिससे भीतर का उत्तेजन बाहर आता है। यह उत्तेजन, यह वैकल्य यदि निष्कासित न हो तो अन्तस्तल उसके बोझ से पिस जायगा । प्रभु ने उसे सेहत देने के लिए वाणी का द्वार खोल दिया है जिससे आन्तरिक विकलता बाहर निकल कर अपनी तीव्रता को कम करती रहे।

शान्ति के वातावरण में जिस साहित्य का निर्माण होता है, वह अपेक्षाकृत गंभीर होता है। यही वातावरण शास्त्र की रचना के लिए भी उपयुक्त होता है। साहित्य में आंधी तूफान उत्तेजना उच्छ्वास आदि नहीं प्रत्युत जीवन की विराट समस्याओं का भावना-परक समाधान रहता है।

वह मार्मिक पक्षों पर भी दृष्टिपात करता है सिंहावलोकन द्वारा जाति की न्यूनताओं एवं महती उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है तथा भविष्य के लिए पथ—निर्देश भी करता है। शास्त्र वैज्ञानिकता की शरण में उन मूलभूत सिद्धांतों का अनुसंधान करता है जो कृतियों के कारण हैं। संश्लेषण एवं विश्लेषण की पद्धति द्वारा वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जो सार्वभौम एवं सार्वकालिक होते हैं। साहित्य सार्वजनीन है तो शास्त्र साहित्य का भी नियामक है और अप्रत्यक्ष रूप से जन-जन का शासक।

साहित्य में भी विचार रहते हैं। उसका चिन्तन पक्ष भी शास्त्र की अपेक्षा कम प्रौढ़ नहीं होता। पर जहाँ एक साहित्य के माध्यम से व्यक्ति की सत्ता से विशिष्ट प्राणी पर आरोपित करके अपनी बात कहता है अपने विचार देता है वहाँ दूसरे में व्यष्टि नहीं समष्टिरूप से सामान्य पर आधारित रहता है जिसमें वैयक्तिक नियम नहीं पर व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्धित विधायक या निषेध परक महावाक्य प्रचार करते हैं। ये महावाक्य महामंत्र हैं जिनसे वैयक्तिक तथा सामाजिक मर्यादा का निर्माण होता है। ये ऐसे अङ्कुश हैं जो मानव को सत्पथ की ओर मोड़ते हैं। साहित्य भी इस कार्य का सम्पादन करता है पर उसके प्रयोजन एवं लक्ष्य अन्य भी हैं। शास्त्र का एक मात्र लक्ष्य यही है।

शास्त्र मनन तो साहित्य रंजन की वस्तु है। एक थकाने वाला तो दूसरा थकावट को मिटाने वाला है। एक समझाने में तो दूसरा उलझन में सहायता देता है। साहित्य को पढ़कर हम अपनी उलझन को थोड़ी देर के लिए भुला लेते हैं। शास्त्र उलझन में पढ़ा ही नहीं जा सकता। उसके लिए सुलझी हुई मानसिक परिस्थिति चाहिए। शास्त्र अपने निर्माण और उपयोग दोनों के लिए शान्ति की अपेक्षा रखता है। साहित्य इसका अपवाद है। एक से दुःख शान्त तो दूसरे से हल्का होता है।

साहित्य भूत तथा वर्तमान का चित्रण करता है और भविष्य के अन्तराल में झाँकता है। इस रूप में वह सैद्धान्तिक है। शास्त्र के लिए भूत और भविष्य भी वर्तमान ही है। जो सिद्धान्त कल सत्य थे वे आज भी सत्य हैं और भविष्य में भी सत्य सिद्ध होंगे। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कारण कार्य का सिद्धान्त कर्म फल का सिद्धान्त सभी सार्वकालिक हैं। इस रूप में शास्त्र भी सनातन है। साहित्य और शास्त्र सार्वभौम भी हैं पर साहित्य में जिन परिस्थितियों का चित्रण रहता है वे देश तथा युग विशेष से सम्बन्ध रखती हैं। शास्त्र परिस्थिति का चित्रण ही नहीं करता वह नियमों का निर्धारण करता है जो देश काल की अपेक्षा नहीं रखते। साहित्य में जिन भावों का वर्णन रहता है वे समानरूप से सभी मानव-हृदयों की सम्पत्ति हैं सार्वभौम हैं। दर्शन शास्त्र नीति शास्त्र आदि के साथ साहित्य शास्त्र का भी निर्माण हो चुका है।

ङ संस्कृति और साहित्य

किसी देश का साहित्य उस देश की प्राकृतिक सामाजिक धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के लिये आदर्श (दर्पण) का कार्य करता है। इतिहास सम्भव है इन परिस्थितियों का यथार्थ मूल्यांकन न कर सके क्योंकि वह अनेक प्रभावों से आक्रांत रहता है पर साहित्य जिसे काव्य की संज्ञा प्राप्त है इन प्रभावों से उन्मुक्त सर्वतंत्र स्वतंत्र निरंकुश कवियों की उदग्र लेखनी से प्रसूत होता है। कविवर गिरिधर 'कवियों से सचेत रहने के लिए इसीलिए अपनी एक कुण्डलिया लिख गये हैं। कवि जहाँ आशुभाषी होता है वहाँ तीव्र अभिव्यञ्जक भी। वह जो कुछ लिखता है उसमें इतिहास

भले ही न हो, परन्तु रसनिर्भर शाश्वत सत्य-समावृत, निरपेक्ष वाणी का समावेश अविच्छिन्न रूप से रहता है। किसी जाति की संस्कृति का अवलोकन करना हो, तो उसके साहित्य का अध्ययन अनिवार्यरूप से करना होगा।

साहित्य अभिव्यक्ति है उस सबकी जो कवि को अपने भूत और वर्तमान से प्राप्त होता है। संस्कृति विशेषरूप से उसके काव्य कलेवर का उपादान बनती है। यदि कवि वस्तुतः कवि है तो उसे अपने पूर्वजों के अमूल्य सांस्कृतिक रिक्थ से अवश्य परिचित होना चाहिये। जिस कवि के हाथ में जातियों का निर्माण और ध्वंस रहता है वही यदि अपनी संस्कृति से अपरिचित होगा तो अपने उत्तरदायित्व का वास्तविक अर्थों में निर्वाह नहीं कर सकेगा। मानवता के विकास की साधिका संस्कृति अमर कवि के अमर काव्य में सन्निहित रहती है। कवि अपने काव्य द्वारा क्षणिक नहीं शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसके सम्बन्ध में कौन क्या कहता है। उसे तो वही कहना है और वही लिखना है जो मानवता का गु मार बन सके।

वाल्मीकि अपनी 'रामायण' में और व्यास अपने 'महाभारत' में जो कुछ अंकित कर गये हैं वह उनके समय के चित्र के साथ ऐसे चित्रों का भी भण्डार है जिन्हें हम अमिट चित्र कहते हैं। इन चित्रों में संस्कृति की जो कर रेखा प्रकट हुई वह जैसे उन दिनों सत्य थी वैसी ही आज भी सत्य है। राम का चरित्र संस्कृति की इन्हीं रूप रेखाओं से संघटित हुआ है। उनके द्वारा पिता की आज्ञा का पालन वैभव का परित्याग वन के कन्दमूल फल खाकर संयम को प्रतिष्ठा देना ऋषियों की अस्थियों को देखकर वसुन्धरा को राक्षस-हीन करने का प्रण मैत्री का निर्वाह, सीता का उद्धार तथा आग्नेय परीक्षा द्वारा उसके सतीत्व का समाज के हृदय पर प्रतिष्ठापन आदि जीवन के ऐसे तत्व हैं जो सभी कालों और सभी देशों में समादृत होंगे।

महर्षि व्यास भी भीष्म और युधिष्ठिर के रूप में ऐसे ही चित्रों की उद्भावना कर गये हैं। श्री कृष्ण का चरित्र भी जहाँ उनकी राजनीति-कुशलता का परिचय देता है वहाँ उनकी सदाचार परायणता तथा धर्मनिष्ठता का भी आदर्श उपस्थित करता है। शान्तिपर्व सांस्कृतिक तत्वों के उल्लेख से ओतप्रोत है। व्यक्ति के निर्माण में उसके आध्यात्मिक विकास में जो साधन सक्रिय होते हैं उनका विशद विवरण इस पर्व में प्राप्त होता है। दुर्योधन की जानबूझ कर अधर्म में प्रवृत्ति और धर्म से निवृत्ति उसके असंस्कृत होने का स्पष्ट प्रमाण है। इस असंस्कृत के साथी भी असंस्कृत ही कहे जावेंगे। दुःशासन और शकुनि इसी कोटि के हैं। द्रोण और कर्ण के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? क्या वे भी असंस्कृत हैं? व्यास जी ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि द्रोण दुर्योधन की ओर से लड़े थे लड़े ही नहीं सेनापति के पद पर भी प्रतिष्ठित हुए थे परन्तु वे दुर्योधन को सन्मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। व्यास ने उनके निधन का भी गौरवपूर्ण चित्र अंकित किया है। वे

द्वारा आत्मा को मूर्धा में आरूढ़ करके विदृति द्वार से निकले और ब्रह्मलोक में चले गये। उनका जीवन वात्सल्य का जीवन नहीं है। उसमें अनार्यत्व के चिह्न दिखाई नहीं देते। वे समानरूप से कौरवों और पाण्डवों को युद्ध शिक्षा देते रहे यद्यपि उनके हृदय का अनुराग अर्जुन पक्ष की ही ओर विशेषरूप से था। दुर्योधन की अनार्य प्रवृत्ति का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। कर्ण दानी है गायत्री का जाप भी करता है परन्तु कहीं कुछ न कुछ मात्सर्य उसके साथ संश्लिष्ट है तभी तो वह अभिमन्यु के वध में सहायक बनता है और अर्जुन से विद्वेष भी रखता है। श्रीकृष्ण के उसके प्रति यह वचन 'क्व ते धर्मस्तदागत' उस की अधार्मिकता को अनावृत कर रहे हैं।

संस्कृति के जिन अंगों का वर्णन होता रहा है वे भी हमें अपने साहित्य से ही उपलब्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य भारत ही नहीं भूमण्डल भर का लिखित प्राचीनतम साहित्य है। संस्कृति का निरूपण हमने इस ग्रन्थ में इसी के आधार पर किया है। वैदिक साहित्य का अनुसरण करने वाला हमारा जितना परवर्ती साहित्य है, वह वेद के ही रंग में रंगा हुआ है। जब कभी हमारे दार्शनिक या कवि अपने मत का समर्थन चाहते हैं तब एक स्वर से वे वेद की ही दुहाई देते हैं। वेद जिस संस्कृति को विश्व वारा अर्थात् विश्व भर के लिए वरणीय कहता है उसी का चित्रण हमारे साहित्यिक प्रत्येक युग और परिस्थिति में करते रहे हैं। जैन तथा बौद्ध साहित्य की संस्कृति के इसी रूप का अभिव्यंजन करता रहा है। हमारे साहित्य की सभी विधाओं से इस विश्ववारा संस्कृति का स्वर प्रस्फुटित हुआ है। श्रव्यकाव्य दृश्य काव्य आख्यायिका कथा चम्पू पद्यकाव्य नीति ग्रन्थ यहां तक कि आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक ग्रन्थ भी अपने क्षेत्र की सीमाओं में रहते हुये संस्कृति के इस स्वरूप को विस्मृत नहीं करते।

साहित्य संस्कृति का वाहक है और उसके अध्येता जो उसके सांचे में जीवन को ढालते हैं, उस संस्कृति के रक्षक हैं। ये अध्येता देश और काल का अतिक्रमण कर जाते हैं। यदि गोस्वामी तुलसीदास आर्य संस्कृति के अटल पुजारी हैं तो जर्मनी में उत्पन्न हुआ मैक्समूलर भी इस संस्कृति का अनुपम भक्त कहा जा सकता है। गांधी और टालस्टाय दो विभिन्न देशों में उत्पन्न होकर भी इस संस्कृति के अनुयायी बन सकते हैं। वेद का विरोध करने वाले भी सांस्कृतिक तत्त्वों का अपमान नहीं कर पाते। यद्यपि वेदों में हम सबकी प्रामाण्य बुद्धि रही है फिर भी उसके कर्मकाण्डीय अंश को लेकर वैमत्य भी प्रचलित रहा है। कर्मकाण्ड का यह अंश सर्व सम्मत नहीं है। यही तथ्य इसे संस्कृति से बाह्यतत्त्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। कर्मकाण्ड का रूप परिवर्तित होता रहता है। देश और काल दोनों का ही उस पर प्रभाव पड़ता है। कभी कर्मकाण्डीय पारिभाषिक शब्दों के अर्थों में भी वैविध्य उपस्थित हो जाता है। गोमेध तथा अश्वमेध का जो रूप वेद-सम्मत है वह सम्भव है किसी २ कल्पसूत्रकार द्वारा अन्यथा समझ लिया गया हो क्योंकि सबकी मनोवृत्ति एक जैसी

नहीं होती। मांस-भक्षण पर प्रतिकूल मत उपलब्ध होते हैं परन्तु संस्कृति तो परिमार्जन करने वाली है। वेद इस विषय में जो संकेत देगा वही मान्यमत समझा जायगा।

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न साहित्यिकों के समक्ष भी उपस्थित होता रहा है। साहित्य ने संस्कृति का साथ देते हुये अहिंसा को भी मान्यता प्रदान की है। हिंसा करनी है तो वह अपनी दुर्मति की होनी चाहिये। प्राणियों का वध संस्कृति में कोई स्थान नहीं पाता। महाकवि भवभूति ने हिंसा को प्रवृत्ति मार्गियों के लिए विहित मानकर भी अहिंसा को ऊँचा स्थान दिया है और निवृत्ति परायणता के लिये जो संस्कृति की साधिका है साधिका ही नहीं उससे अविनाभाव — सम्बन्ध रखती है, अहिंसा को ही स्वीकरणीय तत्व कहा है। सम्भव है भवभूति पर हिंसा के सम्बन्ध में तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का प्रभाव पड़ा हो। परन्तु उसकी निर्मल दृष्टि ने कवि प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि में अहिंसा के सत्यस्वरूप की ही अर्चना की। 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' जैसी उक्ति सार्वकालिक और सार्वभौम रही है। संस्कृति के स्वरूप में उसी का समावेश है।

संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा अभिव्यक्ति पाते रहे हैं इसके लिखने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन साहित्य इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। ग्रीक तथा लैटिन का साहित्य भी संस्कृति के इन अंगों का गुणगान करता है। प्लेटो की रिपब्लिक में तथा डान्टे की डिवाइन कमेडी में संस्कृति का यही स्वरूप प्राप्त होता है। ईरानी साहित्य तो वेदों से ही प्रभावित रहा है। जेन्दावस्था में वैदिक मंत्र ही नहीं तद्गत भावनाएं भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। सत्य और असत्य के संघर्ष में अन्तिम विजय सत्य की ही होती है इसे निरपवाद रूप में जरथुस्त्र ने स्वीकार किया है। बाईबिल और कुरान भी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से विपरीत नहीं जाते। कुरान का स्वर तो ऋग्वेद के स्वर जैसा ही है। छन्द भी लगभग उसी के सदृश हैं। बाईबिल का अध्यात्म घोष वैदिक संस्कृति का ही उद्घोष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य कवि की अन्तरतम हृदय भूमि से उत्पन्न हुआ साहित्य संस्कृति का ही संदेश वहन करता रहा है। आज साहित्य अपनी इस भूमिका का परित्याग सा करता प्रतीत होता है। अपने आदर्श से च्युत होकर जैसे मानव भटकता है वैसे ही सुनिश्चित प्रणाली को छोड़कर आज का साहित्य जिन रथ्याओं में भ्रमण कर रहा है वे स्वस्थ तथा शोभन नालिकाएँ नहीं हैं। कभी वह घोर यथार्थवाद की नाली में पड़ जाता है कभी मनोविज्ञान का सहारा लेकर कुण्ठाओं की कोर में छिपने का प्रयत्न करता है और कभी बुद्धिवाद का आश्रय लेकर अश्लीलता के चित्र खींचता है जिससे सामाजिक का हृदय विक्षुब्ध होता है अवांछनीय वीथियों में विचरण करता है और परिणामतः पतन पथ पर अग्रसर होता है। पर यह अवस्था अधिक देर तक नहीं ठहर सकती। साहित्यिक को अपने उसी मूल की ओर

स्थित होना होगा जो संस्कृति का केन्द्र है। मानव का स्वास्थ्य तथा मंगल इसी केन्द्र में निहित है। यही केन्द्र उसे अशान्ति से निकाल कर विश्राम की भूमि प्रदान करेगा।

घ संस्कृति और कला

कला क्या है ? भौतिक वस्तु के स्वरूप को उसके प्रारम्भिक प्राकृत या सहज रूप से निकाल कर संवारना, अलंकृति देना, कमाई करना या संस्कृत करना कला है। कला के हाथों में पड़कर वस्तु अपना मूलरूप को छोड़ देती है और ऐसा रूप ग्रहण कर लेती है जिससे वह सभ्यों के समाज के योग्य हो सके। सभ्यता के प्रायः सभी रूप कला की ही देन है।

बच्चा उत्पन्न होने के समय नग्न होता है पर कला उसे नग्न नहीं रहने देती। वह उसे वस्त्राभूषणों द्वारा अलंकृत करके समाज के समक्ष प्रस्तुत करती है। वह कार्य बालक को समाज या सभा के योग्य अर्थात् सभ्य बनाता है। वसुन्धरा अन्न-फल अपने सहज रूप में उत्पन्न करती ही रहती है, पर मनुष्य उन्हीं के बीजों को लेकर भूमि को जोतकर जब बीज का वपन करता है और सिंचन आदि द्वारा उसे अंकुरित, संवर्धित तथा पोषित करता है तब मानों एक प्राकृत वस्तु कलाकार के हाथों में पड़कर परिमार्जित रूप धारण करती है और उस पर जो फल लगते हैं वे प्राकृत फलों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े और अधिक से अधिक मनुष्यों को तृप्ति देने वाले बन जाते हैं। अपने सहज रूप में वे पशु-पक्षियों का ही भोजन बन पाते थे अथवा ऊपर से नीचे गिरकर समाप्त हो जाते या खाद का काम करते थे परन्तु मानव द्वारा संस्कृत होकर वे व्यवस्थित रूप से पशु, पक्षी, मानव आदि सभी का आहार बनते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी पहुंचाये जाते हैं। कला की सभ्यता को यह बड़ी भारी देन है। इसी हेतु कृषि कर्म, वृक्षारोपण, सूची कर्म, वस्त्रवयन, तक्षण कार्य, चित्र निर्माण, भवन निर्माण आदि कला के अन्तर्गत हैं। ये मानव समाज के लिये हितकर ही नहीं शोभाकर भी हैं।

मानव के पास सहज स्वर भी है जिनके द्वारा वह अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा भावनाओं को प्रकट किया करता है। अभिव्यक्ति के साधन ये स्वर भी अच्छे हैं पर इनसे भी अच्छे एवं समर्थ वे स्वर हैं जो कलात्मक रूप ग्रहण करते हैं। संगीतज्ञ इन्हीं स्वरों के व्यवस्थित आरोह-अवरोह द्वारा जो आकर्षण उत्पन्न करता है, उससे मानव-मन ही नहीं पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं। कवि भी अपनी कला द्वारा इन स्वरों को जो प्रभविष्णुता प्रदान करता है वह हृदय पवेश तो है ही अपने गुंजन या अनुरणन में ऐकात्म्य की भी साधिका है।

पाश्चात्य विद्वानों ने कला की कई रूपों में व्याख्या की है। सामान्यतः कला उनकी दृष्टि में उपयोगी तथा ललित दो प्रकार की है। उपयोगी कलायें मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और ललित कलायें मानव को मानसिक आह्लाद देती है। मोरगनरावर की सम्मति में ललित कलायें वैभव एवं विलास की उत्पत्ति है। हमारे यहां ऋषी ने नृत्य, गीत प्रभृति कलाओं को काम और अर्थ पर

संचित माना है। सभ्य जीवन में काम और अर्थ का संयत रूप स्वीकार किया जाता है पर जो कलायें दमित वासनाओं को उभारती हैं, अनाचार एवं अश्लीलता को जन्म देती हैं, वे मानव को सभ्यता की ओर नहीं ले जाती और परिणामत अवांछनीय हैं।

कला हमारे यहां सभ्यता की निदर्शक समझी गई है। वात्स्यायन ने कामशास्त्र में उसके ६४ विभाग किये हैं। प्रबन्धकोशकार ने ७२ कलाओं के नाम दिये हैं। ललित विस्तर में कलाओं के ८६ भेद हैं। कलाओं के साथ उपकलायें भी प्रचलित हुई और उनकी संख्या सैकड़ों तक पहुंच गई। सभ्यता के विकास के साथ ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

सभ्यता के साथ कला का सम्बन्ध तो स्पष्ट है पर संस्कृति से उसका क्या सम्बन्ध है? हम यह तो जानते हैं कि सुविचार की कला हम सभ्य समाज के योग्य बनाने वाली है पर वह हमारा अन्त संस्कार भी करती हो ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। कहते हैं ललित कलायें मन का प्रसादन करती हैं उन्हें देखकर या सुनकर मन आह्लादित होता है पर क्या मन का प्रसादन या आह्लादन मात्र संस्कृति है? बोध गया के मन्दिर में स्थापित महात्मा बुद्ध की मूर्ति शान्ति प्रदायिनी है। उसे देखते ही मन शान्ति का अनुभव करने लगता है पर क्या यह शान्ति शाश्वत रूप धारण करती है? जब तक देख रहे हैं, तब तक शान्ति हटते ही मन पुन प्रपञ्च में आबद्ध तो इसे हम आध्यात्मिक विकास की साधिका कैसे कहें? संस्कृति हमारा अन्त विकास करती है। कला के क्षेत्र से यह भिन्न वस्तु है।

कला जैसा कि हम लिख चुके हैं भौतिकता का संस्कार है। संस्कृति इसके विपरीत हमें भौतिकता के आवरणों से मुक्त करने वाली है। वह अन्त विकास है जो प्रकृति से हटाकर हमें स्वरूप में अवस्थित करता है। एक प्रवृत्त को परिमार्जित एवं विकसित करता है परिधि के विस्तार तक ले जाता है द्वितीय प्रकृति का अवमोचन विस्तार का केन्द्रीकरण तथा शाखाओं से मूल तक पहुंचाने का कार्य करता है। अतः कला को हम संस्कृति के अन्तर्गत स्थान नहीं दे सकते।

भारतीय आर्य या वैदिक संस्कृति पर लिखने वाले विद्वान कलाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं। वे समझते हैं कि अंग्रेजी 'कल्चर' शब्द संस्कृत के 'कृषि' शब्द का पर्यायवाची या समानार्थक है अतः कृषि संस्कृति के अन्तर्गत होनी चाहिये। कर्षण वपन आदि कला है वह हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। उससे आत्मोत्थान होता हो ऐसा तो दिखाई नहीं देता। उद्योग-धंधे भी भौतिक समार हैं। पशु-पालन वास्तु-निर्माण वस्त्र धारण वाहन विमान आदि भी सभ्यता के निदर्शन हैं। जिनके पास यह सब है उन्हें आप सभ्य तो कह सकते हैं पर वे संस्कृत भी हों, यह आवश्यक नहीं है।

कला और संस्कृति में सबसे बड़ा भेद उनके आधार का है। कला चाहे कितनी सूक्ष्म हो, उसके साथ कुछ न कुछ भौतिक आधार लगा ही रहेगा।



उपयोगी कलाओं को छोड़िये ललित कलाओं में यह आधार स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है। वास्तुकला तो पत्थर ईंट चूना सीमेंट आदि के आधार पर ही खड़ी होती है। मूर्तिकला में यह आधार कोई प्रस्तर खण्ड या काष्ठ खण्ड रह जाता है। लम्बाई चौड़ाई, मोटाई तीनों ही वहां विद्यमान रहती हैं। चित्रकला में भित्ति फलक या कागज आधार बनता है जिसमें मोटाई नाम मात्र को रह जाती है। मोटाई न रहते हुये भी चित्रकलाकार अपने चित्र में मोटाई को प्रदर्शित कर ही देता है। संगीत कला में इस प्रकार का स्थूल भौतिक संभार नहीं रहता। वह स्वरों से अपना कार्य निकालती है। पर स्वर भी आकाश का गुण है जो पंच भूतों में सूक्ष्मतम है। जहां काव्य कला का सम्बन्ध है स्वरों का आधार उसे भी ग्रहण करना पड़ता है। जैसे ही काव्य स्वर प्रधानता छोड़कर भाव प्रधान होने लगता है वैसे ही वह कला के क्षेत्र से पृथक हो जाता है। स्वर प्रधानता अवर कोटि के काव्य की विशेषता है। इसलिये हमारे आचार्यों ने काव्यगत स्वर प्रधान प्रहेलिका अन्त्याक्षरी कूटकाव्य समस्यापूर्ति और अभिनय को कलाओं में परिगणित किया है। भाव प्रधान काव्य रस-निर्भर होने के कारण भौतिक आवरणों से शून्य हो जाता है। अतः वह कला नहीं कहलाता।

स्वर वैखरीवाणी का अंग है। कला का वही प्रधानक है। मध्यमा वाणी भी संगीत तथा काव्य दोनों में क्रीड़ा करती है। पश्यन्ती वाणी विज्ञान तथा दर्शन से सम्बद्ध है। पराबाणी का सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। संस्कृति हमें वहीं ले जाती है। अतः कला का जहां अन्त है संस्कृति का वहां प्रारम्भ है। संस्कृति आत्मा को प्रकृति से असंग करने वाली है। कला प्रकृति की अलंकारिका है।

छ संस्कृति और सौन्दर्य

सौन्दर्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। सौन्दर्य रूप से संबन्धित है और रूप आंख का विषय है। अतः सौन्दर्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय है। जो रूप नेत्रों को आकर्षित करे वही सुन्दर है। तो क्या सौन्दर्य-बोध नेत्रों तक ही सीमित है ? नहीं विचार भी सुन्दर होते हैं भावना भी भव्य होती है कल्पना में भी रमणीयता का निवास है। इनमें से एक भी नेत्र का विषय नहीं। तब सौन्दर्य क्या है ? सौन्दर्य व्यव स्था में है सानुपात निर्मिति में है सतुलित अनुक्रम में है, सामंजस्य में है। शारीरिक सौन्दर्य अंगों की संतुलित संगठित आकृति का नाम है जो स्वतः लुभिवती प्रतीत होने लगती है। यदि कोई अग टेढ़ा कोई सीधा और कोई विकृत हो तो शरीर सुन्दर नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार विचारधारा की क्रमबद्धता अथवा व्यवस्थित बन्ध उसे सुन्दर बनाने में सक्षम है। भारतीय मनीषा इसे औचित्य कहती है।

वेद सृष्टि को देव का काव्य कहता है। काव्य का सौन्दर्य उसके नपे-तुले सनु फित शब्दों एव पदों में है। पदों की इस अनुक्रमता में बाह्य सौन्दर्य है। पदों में जो विचार और भाव भरे पड़े हैं वे भी यदि क्रमबद्ध हों तो मन में सौन्दर्य भावना का अवश्य उद्रेक करेंगे। महिति महिमा भी मन को आकर्षित करती है। विच्छित्ति में

छवि है इसे सभी स्वीकार करते हैं। कल्पना की रंगीनी आश्चर्यमिश्रित रमणीयता की जननी है। अतः सौन्दर्यानुभूति आन्तरिक है। शारीरिक छवि भी नेत्रों के माध्यम से मन को ही आकर्षित करती है।

वेद समस्त सौन्दर्य का स्रोत ईश्वर में देखता है। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं—

'त्वद् विश्वा सुभग सौभगानि अग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः। ६ १३ १

प्रभु! तुम सुभग हो सुन्दर हो। तुम्हारे अन्दर सौन्दर्य का स्रोत है। इस स्रोत से फूट कर सौन्दर्य तथा सौभाग्य की धारायें निखिल ब्रह्माण्ड में उसी प्रकार फैल रही हैं जैसे वृक्ष से निकल कर उसकी शाखा—प्रशाखायें फैलती हैं।

प्राकृत सौन्दर्य, मानव-सौन्दर्य, तितली जैसे कीट का सौन्दर्य मयूर के पंखों, ग्रीवा आदि का सौन्दर्य नील सघन मेघमाला की अभिरामता ब्राह्मवेला की ऊषा अरुणिमा सब में सौन्दर्य भरा पड़ा है। यह कहां से आया? इसका स्रोत किसमें है? वेद कहता है—प्रभु में। प्रभु अनिर्वचनीय है। उसका सौन्दर्य भी अकथनीय है।

स दर्शत श्री रतिथि गृहे गृहे वने वने शिश्रिये तक्ववीरिव'

ऋग्वेद १०—९१—२

प्रभु की शोभा दर्शनीय है। वह घर-घर में अतिथि बन कर विराजमान है, वन–वन में चोर की तरह छिपा पड़ा है। वह व्यक्ति व्यक्ति में विद्यमान है। वह सबका अतिक्रमण कर जाता है, पर उसको कोई भी अतिक्रान्त नहीं कर सकता। उसकी शोभा अतुल है। उसकी समता कोई कैसे करेगा? सब उसी के धन से धनवान बने हैं उसी की छवि के एक अंश को लेकर छविवान बने हैं।

जिसने उसकी शोभा देख ली, वह फिर वहीं टकटकी लगा कर दृष्टि थमा कर बैठ जाता है। वहां से हटने का नाम भी नहीं लेता।

न वा त्वद्रिग् अपवेति मन: मे त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सुसोमे अवपानमस्तु ते॥

ऋग्वेद १०—४३—२

प्रभु! तुम राजते हो चमकते हो परमदर्शनीय हो। जब से मैंने तुम्हारी बांकी छवि के दर्शन किये हैं तब से आंखें नहीं थमी हैं मन नहीं रमण करने लगा है। अब कोई आकांक्षा भी तो नहीं उठ रही। तुम्हें पाकर जैसे मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया। तो अब तुम भी इस मन में आसन जमा कर बैठ जाओ। तुम्हारी विराजमानता में जिस सोम का सवन हो रहा है उसके पान का अधिकारी अब तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन है?

निराकार ब्रह्म का यह निराकार सौन्दर्य! इसकी अनुभूति तो साक्षात्कार करने वालों को ही होती है। यह कामायुरी विश्वविश्रुती ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत हो गई थी। क्या यह अवतरित हुई थी? नहीं, अन्दर से निकल कर [illegible]

गई थी। साक्षात्कार करने वाले भी इसका वर्णन नहीं कर सकते। फिर सामान्य जन के लिये तो यह अवर्णनीय चमत्कृति रहेगी ही।

कहते हैं काम का सौन्दर्य अनुपम है, पर प्रभु के सौन्दर्य पर तो कोटि-कोटि कामदेव न्यौछावर किये जा सकते हैं। सहस्रों सूर्य समवेत होकर प्रकाशित हो उठें, तब भी वे उस लोकोत्तर की प्रभा का सहस्रांश भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। वही एक पूर्ण है। उसी का सौन्दर्य पूर्ण है। अन्य सब अधूरे हैं जो अपनी न्यूनता की पूर्ति के लिये उसकी ओर आशाभरी दृष्टि से देखा करते हैं।

प्रभु जहां सुषमा के भाण्डार हैं वहां वे प्रकाश और पावित्र्य के भी आदि स्रोत हैं। जिन जिन छटाओं में मन आकर्षण का अनुभव करता है उनका आविर्भाव इसी छवि स्रोत से हुआ है। प्रभु अभिरामता के अक्षय कोष हैं। वहां पल-पल में नव-नव सौन्दर्य का प्रवाह होता रहता है। अन्य सब उसी के सौन्दर्य से सौन्दर्यवान बने हैं। अणु-अणु चितियां उसी महाचिति के स्फुलिंग मात्र हैं। इनका उन्मेष उसी परम केन्द्र से होता है। इस केन्द्र की सन्निधि में कौन सुन्दर नहीं बनेगा ?

सौन्दर्य रस-संचारी है। द्रष्टा के मन को वह रस-सिक्त कर देता है। लावण्य में माधुर्य है यह विरोधाभास मात्र है। नमकीन में मिठास है इसे कौन मानेगा ? पर सत्य यही है। our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts

यह कवित्वमयी पंक्ति एक असाधारण कवि की है। शोकावसायी नाटक में मधुरता। यही तो उस सौन्दर्य-सागर का वैचित्र्य है। न जाने वह कितना विचित्र है। वही राजा है। चित्र होने से ही राजा है। शेष याचक हैं। सुन्दर वही है शेष उसकी प्रतिच्छवियां हैं। संस्कृति हमें इस सौन्दर्य तक पहुँचा देती है। वह भौतिक शोभा से जिस छवि या सौन्दर्य का आकलन करती है वह सजता हुआ अन्त में सौन्दर्य के स्रोत परमप्रभु से समरस हो जाता है। अतः संस्कृति और सौन्दर्य का अविनाभाव सम्बन्ध है।

ज संस्कृति का विकास और पंचजन

मित्राय पञ्चयेमिरे जना अभिष्टि शवसे। सदेवान् विश्वान् बिभर्ति।
(ऋग्वेद, ३-५९-८)

अभीष्ट बल की प्राप्ति के लिए पांचों प्रकार के जन मित्र रूप प्रभु के आगे संयत होते हैं। वही प्रभु समस्त देवों को धारण करता है।

परम तत्त्व सबको धारण कर रहा है। पृथिवी से लेकर आकाश तक जो पांच देव हैं और इन्हीं पांच तत्त्वों की प्रधानता के कारण जो पांच प्रकार के प्राणी हैं जिनमें अपने अपने तत्त्वों की प्रधानता से सापेक्ष विभिन्नता रहती है परन्तु जिन्हें अपने अभीष्ट की प्राप्ति के के लिये बल या शक्ति की आवश्यकता पड़ती है वे परम प्रभु से ही अपने बल को

ाप्त कर पाते हैं। जिसे अपने बल का अभिमान है, वह प्रभु के आगे प्रणत नहीं हो सकता। उसे अपने बल की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित जान पड़ती है। ऐसे अहंकारी व्यक्तियों का बल पर-पीड़न में व्यय होता है। अहंकार उन्हें समर्पण से वंचित रखता है। परिणामतः वे दीन-जन त्राण के लिये झुक नहीं पाते। उनके चित्त की द्रवणशीलता अहंकार की मरु भूमि में सूख जाती है। जो द्रवित नहीं हो सकता ऐसा कठोर हृदय दूसरों के लिए त्रास का कारण बनता है। अतः मंत्र में जो 'नेमिरे' शब्द पड़ा है वह शुष्कता एवं रूक्षता से सम्पन्न पुरुषों के लिये नहीं है। नमत होने के लिये अपने अहंकार को दबाना पड़ता है किसी महिमामय आदर्श के आगे प्रणत होना पड़ता है। संयम मानव को प्रपत्तिमार्ग की ओर ले जाता है। संयम में सहनशक्ति के साथ विनम्रता का समावेश भी है। अतएव पंच जन जो संयत होते हैं तथा विनत बनते हैं वे अभीष्ट बल को प्रभु-कृपा से प्राप्त कर लेते हैं। प्रभु ऐसे ही जनों के लिये मित्र रूप है।

प्रभु मित्र है सर्वज्ञ है स्नेह तथा त्राण देने वाला है। मेद्यति मायर्यात त्रानाति एवं मिनोति मानं करोति इति वा। वह स्वल्पता संकीर्णता लघुता आदि से त्राण करने वाला भी है। मित्र के आगे संकीर्णता या लघुता नहीं रहती। मित्र से बल मिलता है। विशालता की भावना जाग्रत होती है। निर्बलता में लघुता है। सबलता में महत्ता है। सीमित या संकीर्ण में वह शक्ति नहीं है जो असीम और उदार में होती है। महत्ता उदारता एवं व्यापकता ब्रह्म का रूप हैं। ब्रह्म का अर्थ ही बड़ा या महान् है। परम देव की आत्मा ब्रह्म है। जो बड़ा है, वही दूसरों के लिये अवलंबन बन सकता है अन्यों को धारण कर सकता है। जिसे स्वयं सहारे की आव श्यकता है वह दूसरों का धारण या पालन नहीं कर सकेगा।

पंच जन शब्द भी ध्यान देने योग्य है। टीकाकारों ने इसके भिन्न भिन्न अर्थ लगाये हैं। किसी ने इसमें आर्यों के चार वर्ण तथा पंचम निषाद की गणना की है और किसी ने यदु तुर्वसु, पुरु द्रुह्यु और अनु जैसे पांच वंशों का इसमें समावेश किया है। हमें तो पंच जन का अर्थ ऐसे पांच प्राणी जान पड़ता है जिनमें पंच तत्त्वों की पृथक पृथक रूप से प्रधानता है। इन्हीं पंच जनों के आधार पर पंचायत शब्द का निर्माण हुआ है और 'पांच पंच मिलि कीजै काजा हारे जीते होय न लाजा' की लोकोक्ति चल पड़ी है। तुलसी ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। यथा

'जो पंचैं मत लागै नीका हरषि हृदय देहु रामहि टीका। बौद्ध कालीन वृजि एवं लिच्छिवियण तन्त्रों में पंचायत प्रथा की ही प्रधानता थी। पश्चिम के कठ तथा मल्ल गणतंत्रों में भी यही प्रथा प्रचलित थी।

पंचजन के अन्तर्गत समग्र मानव जाति का वर्गीकरण किया जा सकता है।

सर्व प्रथम मानवों का वह निम्न स्तर आता है जिसमें पार्थिव तत्व की प्रधानता है। हम सबके शारीरिक उत्पादन पंचभूत ही हैं। परन्तु हम सब एक ही प्रकार के उपादानों से निर्मित नहीं हुये हैं।

हममे से जिनके शारीरिक उपादान पार्थिवता-प्रधान हैं उनकी रुचि इसी तत्व की ओर जायगी। वे मिट्टी के बने शरीर को ही सब कुछ समझेंगे। काया पर अधिक बल देने के कारण वे उसी को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझेंगे और उसी में रमण करेंगे। वे घोर भौतिकवाद के 'खाओ पियो और मौज करो' वाले सिद्धान्त को सर्वोपरि स्थान देंगे और 'मृगा मृगैः संगमनु व्रजन्ति' की उक्ति के अनुसार इनके संगी साथी भी इसी प्रवृत्ति के होगे ।

दूसरे प्रकार के प्राणी वे हैं जिनमें जल तत्व की प्रधानता है। पार्थिवता में जितनी रूक्षता है जलीय तत्व में उतनी ही सरसता है। पार्थिव-तत्व ठहरता है, एक ही स्थान से चिपटता है तो जलीय तत्व बहता है, द्रवित होता है और कहीं से कहीं जा पहुंचता है। सूख इधर-उधर की दौड़-धूप में नहीं पड़ता। इसलिये उसमें पार्थिव तत्व प्रधान है परन्तु वैश्य वर्ग को व्यापार के लिये अनेक उद्योग-धन्धों क विकास के लिये इधर-उधर भटकना पड़ता है, एक देश से दूसरे देश को गमन करना पड़ता है नदियों और समुद्रों को लांघना पड़ता है और धन को भी स्थिर नहीं प्रत्युत नाना दिशाओं में गतिशील करना पड़ता है। लक्ष्मी वैसे भी चंचला है। उसे आप भूमि म गड्ढा खोद कर रखिये तब भी वह स्थान-परिवर्तन करेगी ही। यह आज तक किसी की भी संगिनी नहीं बनी है। वैसे भी धन को बहाने या गतिशील रखने मे ही कल्याण है। इसी विधि से उसका संरक्षण होता है। संरक्षण ही नहीं वृद्धि भी होती है।

जल में सरसता के साथ एक विशेषता और भी है कि वह निम्नगा प्रवृत्ति रखता है। जिधर ढाल होगा उधर ही जल बहेगा। इसमें वैश्य वर्ग की गतानुगतिकता भी छिपी पड़ी है। अपने पूर्वजों के व्यवसाय में ही उसे रुचि होती है। अपनी सूझ-बूझ के आधार पर नवीन व्यवसायों की ओर बहुत कम व्यक्ति जा पाते हैं। परम्परा एवं रूढ़ि का ऐसा परिपालन उन व्यक्तियों में नहीं दिखाई देगा जो आग्नेय तत्व की प्रधानता रखते हैं।

आग्नेय तत्व ऊपर उठता है। पृथिवी और जल नीचे ही रहते हैं ऊपर चढ़ते भी हैं तो आग्नेय तत्व की सहायता से। परन्तु अग्नि तत्व स्वत ऊपर जाता है। यह तत्व क्षत्रिय वर्ग के भीतर विशेषरूप से विद्यमान रहता है। क्षत्रिय का संरक्षण पाकर ही वैश्य एवं शूद्रों के वर्ग अपना कार्य निरापद रूप में कर पाते हैं। अग्नि में बल है। क्षत्रिय के निर्माण में भी बलवत्ता है। अग्नि बल के साथ क्रिया का भी वाहक है। अग्नि ही प्राणियों के शरीर को लिये हुए घूमता है। अग्नि से ही रेल पटरी पर दौड़ती है। अग्नि ही जलयानों को समुद्री तरंगों पर तैराता है

और आगे बढ़ाता है। अग्नि ही विमानों का संचालक है। अग्नि में इन गुणों के साथ विध्वंसात्मक शक्ति भी है। क्षत्रिय भी जहां सत् से काम करता है वहां शत्रुओं के दल में प्रलयंकर तूफान भी खड़ा कर देता है।

क्षत्रिय से ऊपर ब्राह्म तत्त्व है जिसे हम वायु प्रधान तत्त्व कहेंगे। वायवी उड़ान प्रख्यात है। ब्राह्मण वर्ग में भी जो कल्पना प्रवण जन हैं उनमें वायवी उड़ान रहती है। वे विचारों और भावों में बहुत लम्बी-ऊंची उड़ानें भरते हैं। वायु अग्नि का जनक है। ब्राह्मण भी क्षत्रिय से पूर्व है। ब्रह्मक्षत्रं क्षत्रस्य पूर्वम्।[1]

ब्राह्मण क्षत्रिय को मंत्रणा देकर उत्साह एवं प्रेरणा देकर आगे बढ़ा सकते हैं। उनके उद्बोधन में वायु के समान ही प्रेरणा निहित रहती है। वायु जैसे अग्नि को प्रदीप्त करता है वैसे ही ब्राह्मण की वाणी क्षत्रिय का उद्दीप्त करती है। ऐसे वायवी शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मण समाज के लिये अत्यन्त हितकारी सिद्ध होते हैं। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त जैसे सामान्य जन को सम्राट बना कर यवनों को देश से निष्कान्त करा दिया। भूषण ने शिवा जी को हिन्दुत्व की ध्वजा फहराने के योग्य बना दिया। चन्दबरदायी और बिहारी अपने आश्रयदाताओं को अन्तःपुर की रंग-रेलियों से निकाल कर जनसम्पर्क में ले आये और रण-दुर्मद बना सके। नरहरि अकबर से गोरक्षा का पुनीत कार्य करा सके। यह सब उनकी वायवी अथवा ब्राह्मी शक्ति का ही चमत्कार था।

वायवी शक्ति के ऊपर आकाशीय शक्ति है। जिन प्राणियों में आकाश तत्त्व की प्रधानता है, वे चारों ओर से चमकते हैं ज्ञान प्रकाश से समन्वित होकर अपनी तमोहारिणी किरणें चतुर्दिक विकीर्ण करते हैं और प्रकाश-धाराओं में स्वयं स्नात होकर पवित्र बन कर दूसरों को भी पवित्र बनाते हैं। वायवी शक्ति वाले कवि हैं तो ये दार्शनिक हैं। दिव्यता का ऊर्ध्व अंश दोनों में ही है। इसी हेतु ब्राह्मण को पृथिवी का देवता भी कहा जाता है। यही पांच प्रकार के प्राणी प्रभु से अभीष्ट बल पाकर अपने-अपने कार्य में निरत होते हैं और समाज-कल्याण के साधक बनते हैं।

पंचजन समाज के और सभा के योग्य होने के कारण ही सभ्य कहा से अभिहित होते हैं। जो सभा के योग्य नहीं है वह असभ्य है। वही अनार्य है। वही दृषल है। इसीलिए उसे समाज से बहिष्कृत समझा जाता है। हम सभ्य बनें मंत्र के निर्देशन के अनुसार संयमी बनें और परम प्रभु के समक्ष प्रणत होना सीखें। तभी हमें अभीष्ट बल की प्राप्ति हो सकेगी।

८ संस्कृति और व्यक्तित्व

मानव अपने व्यक्तित्व को समझ से और समझ कर तदनुकूल आचरण करे तो उसके व्यक्तित्व की सार्थकता स्पष्ट हो उठती है। यह सार्थकता मानव से

१ ऐतरेय ब्राह्मण, ८ १ ५

व्यतिरिक्त जगत् के साथ भी सम्बद्ध है। मैं' और तुम' इन दो शब्दों में दोनों पक्ष समाविष्ट हो जाते हैं। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व भी है जिसे निरुक्तकार यास्क ने अन्य शब्द द्वारा व्याख्यात किया है। यास्क के अनुसार 'अ' अर्थात् नहीं है जो न्य अर्थात् नेय मानेय या ले जाने योग्य। इस अर्थ से अन्य का दूरवर्ती होना सिद्ध होता है। मैं' अथवा अपना व्यक्तित्व विदित है। 'तुम' अर्थात् सम्बोधित व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ विदित है और कुछ अविदित। जितना मैं अपने को जानता हू। उतना दूसरा मुझे नहीं जान सकता। अन्य तो एकदम अविदित है। कठोपनिषद में परम तत्त्व को विदित और अविदित दोनों से ऊपर कहा है। यह ईश उपनिषद के अनुसार दूर से दूर है और निकट से निकट है। विस्तार को सामने रक्खें तो उसकी दूरी मानव की पहुच म नही आ सकती। निकट से निकट होने पर भी वह अधिगन्तव्य नहीं बन पाता। दीक्षा तप और श्रद्धा का सम्बल लेकर मानव यदि गहराई में प्रवेश करे तो सभव है उसकी एक क्षीण झलक सामने आ सके।

सर्व प्रथम अपने व्यक्तित्व पर विचार करें। मैं क्या हू ? चर्म मांस आदि का पुतला या प्राणापान वायु या मननकर्ता या नाना वासनाओं का पुञ्ज या ज्ञाता ? वस्तुत मेरे व्यक्तित्व में यह सब कुछ है। पार्थिव शरीर वाणी द्वारा सार्थक होता है। वाक्य या शब्द आकाश का गुण है। वैदिक वाङ्मय में वाणी या आकाश कह देने से पांचों भूतों का ज्ञान हो जाता है क्योकि आकाश के पश्चात अन्य चारभूत उत्पन्न होते ही हैं। आकाश सबसे ऊपर है पूर्ववर्ती है और भूमि सबसे उत्तरवर्ती। अत जसे आकाश कह देने से पांचों भूतों का ज्ञान हो जाता है वैसे ही भूमि कह देने से भी वैसा ही ज्ञान होता है। वाणी मेरे पांच भौतिक अस्तित्व की अभिव्यंजिका है। वेद त्रयी में यह अभिव्यक्ति ऋक शब्द द्वारा सार्थकता पाती है। वाणी के उपरान्त मेरे व्यक्तित्व का दूसरा प्रबल अंश मन है। मनुष्य की मनुष्यता मनन शक्ति से ही सिद्ध होती है। मनन मनुष्य को महत्ता प्रदान करता है। जो व्यक्ति मननशील नहीं है उसे मानुष होते हुये भी मानुषता की पदवी नहीं दी जा सकती। उसे कभी कभी पशु भी कह दिया जाता है। यह मनन वेदत्रयी में 'यजु शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है।

ऊपर वर्णित दो अंशों को चेतना और स्थावरता का नाम भी दिया जा सकता है। इन दोनों को जोड़ने वाला तीसरा तत्त्व प्राण है। प्राण आत्मा की छाया है। यह सदैव आत्मा के साथ रहता है। जब सब सो जाते है तब प्राण और आत्मतत्त्व दो ही जागृत रहते हैं। इन दो मे सोना कभी आता ही नही।। शरीर सो जाता है मन भी सुषुप्ति में चुप हो जाता है पर प्राण अपना कार्य करता रहता है। आत्मा तो उसके साथ रहता ही है। प्राण तत्त्व की गरिमा उपनिषद के ऋषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों ही प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहते हैं। ज्येष्ठ इसलिये कि यह आयु में इन्द्रिय आदि से पहले का है और श्रेष्ठ इसलिये कि गुणों में

इसकी महत्ता को कोई भी मनदल नहीं पहुँच पाता । किसी इन्द्रिय अथवा अवयव के न रहने पर भी प्राणव्यक्तित्व को सार्थकता देता रहता है । प्राण के अभाव में सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बिखर जाता है । वेदत्रयी में प्राण को साम कहा जाता है । मेरे व्यक्तित्व में यही तीनअंश हैं ।

यदि विशुद्ध चेतना के पक्षों पर विचार करें अर्थात आत्मा के बाह्य आवरणों के स्थान पर केवल आन्तरिक धारा का विश्लेषण करें तब भी ज्ञान क्रिया और इच्छा नाम के तीन पक्ष ऊपर वर्णित विचारधारा से समुक्त दिखाई देंगे । वाणी या ऋक विज्ञानरूप है उससे बाह्य पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान होता है । मन तथा यजु कर्मकाण्ड के प्रेरक हैं और सामरूपी प्राण भक्ति भावना का प्रतीक है । साम में संगीत है और प्राण में उद्गीथ का गाना । प्राण अपनी प्रक्रिया में निरन्तर सोऽहम् का जाप किया करता है । यह हंस है जो बाहर के समुद्र में भी डुबकी लगाता है और अन्दर के समुद्र में भी । बाहर और भीतर का सम्बन्ध सूत्र इसके प्रणवगीत में अनुस्यूत है । ओ३म् का जाप भक्ति-योग में आता है और भावपरक है । इस प्रकार चेतना और विस्तार चक्रत्व एवं संयमत्व तरलता तथा सघनता स्वच्छता एवं सक्रियता दोनों का संमिश्रित रूप मेरे व्यक्तित्व के अन्तर्गत है ।

अब 'तुम' पर विचार करें । यह तुम मुझसे बाहर है । इसका ज्ञान मुझे मेरे चक्षु और मेरे श्रोत्र देते हैं । जो ज्ञान चक्षुओं से प्राप्त होता है वह अधिकांश में वास्तविकता लिये होता है । जिसे मैंने देखा है उसके अस्तित्व का निषेध मैं कैसे कर सकता हूं ? मैंने परिवार वालों को देखा है पड़ोसियों को देखा है यात्रा में मिलने वालों को देखा है वृक्ष वनस्पति तड़ाग सरिता सूर्य चन्द्र नक्षत्र सभी तो दृष्टिपथ में आये हैं । ये बाल के नहीं न जाने कब से मेरे सहचर हैं इन सबका ज्ञान मेरे चक्षुओं की देन है । चक्षु के रूप में ऐसा अमूल्य रत्न मुझे दिया गया है जो अवर्णनीय है । इसके मूल्य को इसके अभाव में ही आंका जा सकता है । अन्धा क्या कहे कि गुलाब का फूल कैसा है । सूर्य की स्वर्णिमा और चन्द्र की रजतिमा का उसको किंचिन्मात्र पता नहीं । आकाश में नभ की भांति जड़े हुये तारे उसके लिये व्यर्थ हैं । चक्षु मेरे व्यक्तित्व का सम्बन्ध दूसरों के साथ स्थापित करने वाले हैं । यदि यह न हों तो बाहर के संसार का स्पष्ट बोध मुझे न हो सकेगा ।

चक्षु के साथ श्रोत्र भी बहुमूल्य रत्न है । बाहर का बहुत कुछ बोध मुझे सुन कर ही होता है अपने आप मानव जितना ज्ञान प्राप्त कर सकता है उससे कहीं अधिक ज्ञान श्रवण द्वारा प्राप्त हो जाता है । मेरे अध्यापक कक्षा में जो कुछ बोलते हैं वह श्रवणेन्द्रिय द्वारा मेरे मन को उपलब्ध होता है । एक बच्चे के कानों में माता —पिता के शब्द पड़ते हैं । वह उनको सुनकर अनुकरण द्वारा वैसे ही शब्द बोलने की चेष्टा करने लगता है । सामाजिकता का भाव श्रवण द्वारा चरितार्थ हो जाता है ।

मेरे व्यक्तित्व का जो अंश मेरे साथ है अथवा बाह्य तुम के द्वारा बना है ।

उसमें ओज अथवा दीप्ति का भाव विद्यमान होना चाहिये। मेरा पार्थिव कलेवर बलवान हो, ओजयुक्त हो और साथ ही मन भी आत्मवान हो। इन दोनों का सम्मिलित ओज ही मेरे व्यक्तित्व का उद्दीपन है। इस व्यक्तित्व में तेजस्विता स्फूर्ति वर्चस्विता हरितिमा का समावेश यदि हो गया तो व्यक्तित्व सफल कहा जायगा। हृष्मिता में ग्रहण-शीलता है। उसमें ग्रहण का भाव है तो तेजस्विता एवं वर्चस्विता में दान-शीलता की प्रभविष्णुता है। मैं ग्रहण भी करूं और त्याग भी करूं। आदान और उत्सर्ग दोनों ही मेरे साथी बनें। आदान में साथ प्रदान यदि निरन्तर चलता रहे तो व्यक्तित्व उच्चकोटि का व्यक्तित्व कहा जा सकेगा। दोनों ही क्रियायें स्वाभाविक हैं पर मानव की स्वार्थवृत्ति कभी-कभी इनमें विपर्यय उत्पन्न कर देती है। सामञ्जस्य बिगड़ जाता है सन्तुलन नष्ट हो जाता है और परिणामस्वरूप व्यक्तित्व में सुन्दरता का स्थान कुरूपता ले लेती है। व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। आवश्यकता है इसको संभालने की। आचरण ही इस व्यक्तित्व की आधारशिला है। कोरी कल्पना बहुतों के पास है पर आचरण की पवित्रता के धनी बहुत कम व्यक्ति पाये जाते हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका आधार यजुर्वेद के छत्तीसवें अध्याय का प्रथम मंत्र है जो अर्थ सहित नीचे दिया जाता है—

ऋचं वाचं प्रपद्य मनो यजु प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये ।
चक्षु श्रोत्रं प्रपद्य । वागोज सहौजो मयि प्राणापानौ ।।

मैं ऋग्वेदरूपी वाणी को प्राप्त होता हूं यजुर्वेदरूपी मन को प्राप्त होता हूं और सामवेदरूपी प्राण को प्राप्त होता हूं। मैं चक्षु और श्रोत्र को प्राप्त होता हूं। मेरी वाणी का ओज मेरी समस्त शक्तियों का सम्मिलित ओज और मेरे प्राण तथा अपान की क्रिया सब मेरे साथ रहें। यही मेरी सम्पदा है यही मेरे व्यक्तित्व की आभा है। मेरे आत्मा का मूल्य इन्हीं के द्वारा आंका जायगा।

व्यक्तित्व के जो तीन पक्ष इससे पूर्व वर्णित हुए हैं वे आधारात्मक अथवा विधिपरक हैं। इन पक्षों का अस्तित्व और उस अस्तित्व का सन्तुलनात्मक स्वास्थ्य किसी भी व्यक्तित्व को सक्षमता देने के लिए अनिवार्य है पर मनुष्य न तो सदैव स्वस्थ रहता है और न सन्तुलित दशा में कार्य करता है। अस्वस्थता एवं असन्तुलन आकर कभी न कभी उसे घेर ही लेते हैं। इसके मूल में मानव का प्रमाद तथा परिस्थितियों का प्रभाव दोनों ही हैं। मुझसे भूल होती है और परिणामतः प्रकृति मुझे दंड देती है। मैं अखाद्य का सेवन कर जाता हूं तो प्रकृति भीतर से प्रयत्न करती है कि उसे बाहर निकाल कर फेंक दे पर जब अखाद्य निष्कासित न होकर भीतर ही रह जाता है तो आमाशय को सहन करना ही पड़ता है जिससे अनेक शारीरिक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यह व्याधियां भी असंयम के निष्कासन का एक सहायक क्रम है व्याधि के शमन के साथ असंयम का प्रभाव भी शान्त हो जाता है।

वैयक्तिक प्रमाद के अतिरिक्त परिस्थितियां भी जीवन को कभी कभी बुरी

तरह झकझोर देती हैं। संसार में अकेला मैं ही नहीं हूं, मेरे अतिरिक्त भी अनेक प्राणी हैं और प्रकृति का बना हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड है। सूर्य अपनी उष्णता से चन्द्र अपनी शीतलता से मेघ धारासार वर्षा से वायु अपने झकोरे एवं प्रभञ्जनात्मक भीषण रूप से मेरे व्यक्तित्व पर प्रभाव डाला करते हैं। जिन प्राणियों के सम्पर्क में मैं आता हूं और जिनके सम्पर्क में नहीं भी आता, वे भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से मुझे प्रभावित किया करते हैं। किसी परिचित के प्रयोजन में यदि मैं सहायक सिद्ध न हुआ तो उसकी वाणी में मेरे लिये निहित अपशब्द और मनमें निहित मन्यु एवं उग्रता और उसके साथ शाप अथवा कोसने की प्रक्रिया सभी मिल कर मेरे जीवन को किरकिरा कर देते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व में असंतुलन अथवा अस्वास्थ्य का आ जाना स्वाभाविक है।

व्यक्तित्व में इस अस्वास्थ्य के कारण विधि के स्थान पर निषेध और भावात्मकता के स्थान पर अभावात्मकता का अनुभव होने लगता है। जीवन के इस निषेध-परक पक्ष का जब तक निरसन नहीं हो जाता तब तक उसमें आस्था का अभिषेक नहीं हो सकेगा। निम्नांकित वेदमंत्र में प्रार्थना की गई है कि प्रभु मेरे जीवन की इस न्यूनता को, अभावात्मकता को दूर करें —

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद्दधातुशमो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

बृहस्पति बृहद् लोकों का पति है अथवा सब से बड़ा रक्षक है। जो अनेक जीव परिवारों का पालन कर रहा है, जो किसी भी ब्रह्माण्ड के तन्त्र को विच्छिन्न नहीं होने देता जो ताने-बाने के रूप में विश्वरूपी वस्त्र का वयन कर के उसे सुरक्षित रखता है यदि कहीं तागा टूटता है तो तुरन्त उसे जोड़ देता है जहां बलात्मक शक्ति की न्यूनता होने लगती है वहीं अपने अपार प्राणघन में से शक्ति भेज कर न्यूनता को दूर करता रहता है, ऐसा बृहस्पति मेरी न्यूनताओं को भी दूर करे।

मानव का आभ्यन्तरपक्ष भाव ज्ञान एवं कर्म का समुदाय है। कर्म का बाह्यरूप आचरण में दृष्टिगोचर होता है। ज्ञान वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है, परन्तु भाव अपनी अभिव्यक्ति का द्वार कहां ढूंढे ? चक्षु दर्शन अथवा ज्ञान का साधन है। मन कर्म का प्रेरक है परन्तु भाव का स्थान तो हृदय है। हृदय की अभिव्यक्ति अपने निम्न स्तर में शारीरिक चेष्टाओं द्वारा कुछ न कुछ हो जाती है परन्तु अपने उच्चतम अथवा उच्चतम रूप में वह मौन है अव्यक्त है अथवा स्वयं-सम्वेद्य है पर सम्वेद्य नहीं।

चक्षु अथवा दर्शन की न्यूनता क्या है ? दर्शन की अशक्ति अथवा भुनभुरी जिका जैसा भ्रम अथवा भीति के स्तर पर अभद्र एवं अशिव दर्शन। दर्शन की यह तीनों दिशायें मेरे जीवन पक्ष की अकोमल न्यूनतायें हैं। मेरा देखा हुआ निर्भ्रम स्पष्ट

तथा कोमल होना चाहिये । ज्ञान का स्वरूप स्वतः निर्मल है । गीता के शब्दों में—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते ।'

ज्ञान के सदृश अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है । यह ज्ञान की प्रशंसा है । संशय, अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान अपने मूल तथा विस्तार दोनों में ही अपवित्र हैं और मानव को विकारों म प्रसित करने वाले हैं इसीलिये वैदिक ऋषि बार बार असत से सत और तम से ज्योति की ओर ले जाने की प्रभु से प्रार्थना करते हैं ।

कर्म की समस्या और भी गहन है । क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये इस विषय में साधारण मानव ही नहीं बड़े बड़े कवि ऋषि एवं ज्ञानी भी विचिकित्सा में पड़ते रहे हैं । कर्म अकर्म और विकर्म की उलझन में पड़ कर अनेक व्यक्ति कर्म मात्र से पलायन कर जाते हैं । पर इससे समस्या का समाधान नहीं होता और समाधान के अभाव में अज्ञ जन बुद्धि भेदी बन कर अनाप-शनाप कर्म-कलाप करने लगते हैं । जीवन निर्वाह के लिये वे परहित से विपरीत होकर हिंसक बन जाते हैं और पर-पीड़न जैसे गर्हित कृत्यों मे संलग्न होकर समाज के लिये अभिशाप सिद्ध होते हैं । इसी आधार पर असुरों के कर्मकाण्ड और मनुष्यों के कर्मकाण्ड में भेद किया गया है । यज्ञ दोनों करते हैं पर एक का उद्देश्य होता है येन-केन-प्रकारेण सत् पुरुष का अभिभव और दूसरे का उद्देश्य होता है त्याग एवं परहित साधन । एक का उद्देश्य होता है पराये माल को दबा बैठना दूसरे का उद्देश्य होता है अपने को दबाना और सामाजिक कल्याण का संपादन करना । कर्म दोनों करते है, पर दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं । समाज एक के कार्य की निन्दा करता है और दूसरे के कार्य की प्रशंसा ।

यह सत्य है कि मानव कर्म किये बिना रह नहीं सकता रहना चाहे भी तो प्रकृति एवं समाज कोड़े मार मार कर उसे कुछ न कुछ करने के लिये बाध्य कर देंगे । अत आलसी न बन कर कर्म-परायण बनना ही अच्छा है । कर्म शुभ हो भद्र हो यह अत्यन्त आवश्यक है । वेद कहता है ।

यदि मन ने हमारा पीछा न किया तो सामने निश्चित रूप से भद्र ही होगा ।

इस कर्म का प्रेरक मन है । यदि मन में शुभ सकल्प जागृत होते रहे तो उससे सदाचरण को ही प्रेरणा मिलती रहेगी और वह क्रियात्मकरूप में जीवन की शोभा बनेगा । मन का छिद्र या उसकी न्यूनता अशिव संकल्प और तदनुकूल कुत्सित प्रेरणा ही है । शिवत्व के प्रतिकूल विचार करना ही पाप की ओर पग बढ़ाना है । अशिव संकल्पों से हट कर मन जब अपने छिद्र की पूर्ति कर लेगा तभी वह भद्र कर्म की साधना में प्रवृत्त हो सकेगा तभी वह वर्तमान को नहीं भूत और भविष्य को भी देख सकेगा और व्यापक दृष्टि के कारण उसके द्वारा पुण्य कर्मों का ही संचय होगा पावमानी वेदमाता का पूर्ण वैभव उमका साथी बनेगा और वह अक्षय लोक की उपलब्धि कर सकेगा ।

ज्ञान और कर्म दोनों की अपेक्षा भाव-शुद्धि विशेष रूप से वांछनीय है । निर्मल

ज्ञान के ऊपर ही परिशुद्ध भाव की प्रतिष्ठा है। भाव का यह विशुद्ध स्वरूप प्रेम में परिलक्षित होता है। प्रेम दो को एक कर देता है। द्वैत में रजोगुण की स्थिति है एकत्व में एकान्त सत्व ही क्रीड़ा करता है। वेद कहता है— प्रभु मेरा है मैं प्रभु का हूं। मैं उसी के कर्मों के लिये जीवित हूं। मेरा अपनापन उसके सामने नगण्य है शून्य है। दान्ते ने अपनी डिवाइन कमेडी (Divine Comedy) का प्रारम्भ प्रेम से किया है और प्रेम पर ही उसकी समाप्ति की है। उसी के शब्दों में —

इन्टेलीजेन्स गिव्स बर्थ टू लव (Intelligenee gives birth to love)

अपने आध्यात्मिक गुरुओं के शब्दों में विज्ञानमय कोष की पवित्र ज्योतिष्मती भूमिका ही ऐक्य के आनन्दमय कोष की ओर ले जाती है। भाव शुद्ध है तो मानों हमारा अस्तित्व ही शुद्ध है। यह आनन्द हृदय गुहा में निहित आत्मतत्व के साथ ही अनुस्यूत है। ऊपर उद्धृत वेदमन्त्र में इसीलिये हृदय के छिद्र को भी दूर करने की प्रार्थना की गई है।

अशुद्ध भावनायें ग्रन्थियों को जन्म देती हैं क्योंकि उनसे मन अशुद्ध बनता है और पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। मानव अपने मूल रूप में शुचिप्रिय है। पवित्रता उसे बरबस आकर्षित करती है। काण्ट ने पवित्रता की इस स्थिति पर बड़ा बल दिया है और इसी आधार पर वह अपने चिंतन को पवित्रता के स्रोत-स्वरूप परमात्मा तक ले गया है। भाव के शुद्ध होने पर मनन एवं आचरण दोनों ही पवित्र होंगे और हमें किसी बात के छिपाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। कठोपनिषद ने उस परावर के दृष्ट होने पर कर्मों की क्षीणता संशयों के छिन्न भिन्न होने और हृदय की ग्रन्थियों के नष्ट होने का प्रतिपादन किया है।

ये तीनों बातें मन्त्र में उल्लिखित मन चक्षु और हृदय से सम्बन्ध रखती हैं। हमारा कर्मतन्तु, हमारा ज्ञान प्रसार और हमारा भावकोष ही तो हमारा सर्वस्व है। यदि ये तीनों ही पवित्र हैं, तो मेरे व्यक्तित्व का ऐकात्म्य उस पवित्र स्वरूप प्रभु के साथ होकर रहेगा। पवित्र को ही पवित्र आकर्षित करता है। वेद कहता है —

येते पवित्र मूर्मयो अभिक्षरन्तिधारया
तेभिर्न सोम मृडय
पवमानस्य ते वयम् पवित्रमभ्युन्दत
सखित्वमावृणीमहे।

प्रभु की निर्मल ज्ञान-धारायें पवित्र का ही अभिषेक करती हैं। हम भी उनसे अभिषिक्त हों। पवमान प्रभु पवित्र को ही अपने प्रेम से अभिषिंचित करते हैं। उनके सख्य का वरण पवित्र ही कर सकता है।

अतः मेरा मन शुद्ध हो जिससे मैं निरन्तर सत्कर्म करता रहूं। मेरी दर्शन शक्ति निर्मल हो जिससे विशुद्ध ज्ञान का प्रसरण मेरे अन्दर होता रहे। मेरा हृदय

शुद्ध हो जिससे मेरे अन्दर निर्मल भावों की ही प्रतिष्ठा होती रहे। मेरी असमर्थता इस दिशा में विघ्न खड़े करती है अतः परम समर्थ प्रभु ही जो सबसे बड़े रक्षक हैं और जो इस अनन्त ब्रह्माण्ड के और उसमें निवास करने वालों के रक्षक हैं, मेरे सहायक बनें और मेरी न्यूनताओं को अभावों को अशक्तियों को दूर करते हुए मेरे सर्वांग को पवित्र करें। चतुष्पद और द्विपद सभी को शान्ति प्राप्त हो।

व्यक्तित्व के निर्माण का यह कितना सुखद परिणाम है। इससे द्विपद मानव तो सुखी होता ही है, चतुष्पद प्राणी भी उससे सुख प्राप्त करते हैं। मैं पवित्र हूँ तो मेरे सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को मुझसे दुःख प्राप्त नहीं होगा। मैं शान्त हूँ तो वे भी शान्त होंगे। सबसे बड़ा दुःख हिंसा है। अहिंसा को जो परमधर्म कहा गया है वह इसीलिए कि उससे सुख एवं शांति के वातावरण का उद्भव होता है। जब कोई किसी की हिंसा न करेगा सभी अहिंसक होंगे तभी व्यक्तित्व के निर्माण की सिद्धि समझनी चाहिए। संस्कृति का मूल उद्देश्य पवित्रता की ओर प्रयाण करते हुए पवित्ररूप बन जाना ही है।

ग संस्कृति और यज्ञ

ज्ञान के क्षेत्र में यज्ञ पूजा संगतिकरण और दान तीन अर्थों का द्योतक है। यदि हम पूज्यों की पूजा करते हैं सत्वगुण-सम्पन्न ज्ञानी एवं सदाचार परायण सत्पुरुषों की संगति में रहते हैं और ज्ञान धन एवं शरीर के द्वारा दूसरों की सहायता करते हुए यदि समाज की सेवा में अपना भाग-दान देते हैं तो मानों हम यज्ञ ही कर रहे हैं। इस यज्ञ में ज्ञान यज्ञ तथा द्रव्य यज्ञ दोनों का समावेश हो जाता है। ज्ञान-दान के लिए स्वयं ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है। अतः अध्ययन के साथ अध्यापन भी ज्ञान-यज्ञ का ही अंग है। यदि कर्मक्षेत्र पर यज्ञ के व्यापक अर्थों को घटाया जाय तो प्रत्येक स्वार्थ रहित कर्म की संज्ञा यज्ञ हो जायगी। धन देना है तो अर्जन भी करना है। अर्जन से धन आता है और जब आयेगा तभी तो दिया जा सकेगा। इस प्रकार व्यापार यज्ञ का ही एक रूप है। शरीर से सेवा करनी है तो शरीर को स्वस्थ रखना होगा। स्वास्थ्य का सम्पादन इस रूप में यज्ञ ही है।

यज्ञ मार्ग रूप में इष्ट और पूर्त दो प्रकार का है। इष्ट में दर्श तथा पौर्णमास दो प्रकार के यज्ञों की गणना है। पूर्त में कूप बावड़ी बाग प्याऊ आदि का निर्माण आता है। प्रथम व्यक्तिगत द्रव्य यज्ञ है तो दूसरा शरीर तथा धन लगाकर सामाजिक यज्ञ करना है। दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों को सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है। उस दशा में वे भी सामाजिक यज्ञ कहे जायेंगे।

यज्ञों में पंचमहायज्ञों का स्थान महत्वपूर्ण है और वे प्रमुखतः गृहस्थ आश्रमी के लिए हैं। इनमें प्रथम ब्रह्मयज्ञ है जिसमें सन्ध्या तथा स्वाध्याय आते हैं। दूसरा पितृ यज्ञ है जिसमें माता पिता पितामह तथा पितामही की सेवा शुश्रूषा की जाती है। इनके अभाव में इनका स्मरण तथा स्मृति को जागृत रखने के लिए कतिपय साधनों का कार्यान्वयन होना चाहिए। तीसरा देव यज्ञ है जिसे अग्निहोत्र भी कहा जाता है। चतुर्थ भूतबलि

अथवा बलिवैश्वदेव यज्ञ है जिसमें पकाये हुए भोजन में से कुछ ग्रास या भाग पतित पापरोगी कृमि श्वपच श्वान आदि के लिए निकाला जाता है । पांचवा अतिथि यज्ञ है । भोजन से पूर्व आत्मवृत्ति वाले साधु आदि को भोजनादि द्वारा सम्मान देना तथा सेवा आदि करना अतिथि यज्ञ कहलाता है ।

पंच महायज्ञों के अतिरिक्त सात-सात प्रकार के पाक यज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोम यज्ञ भी होते हैं । पाकयज्ञों में अष्टका श्रावणी आग्रहायणी चैत्री आश्वयुजी पार्वण और श्राद्ध के नाम हैं । कार्तिक से माघ तक कृष्ण पक्ष की अष्टमी को चार अष्टका यज्ञ किये जाते थे । श्रावणी की पूर्णिमा को रक्षा बन्धन के साथ श्रावणी यज्ञ किया जाता था । आग्रहायणी यज्ञ मार्ग शीर्ष की पूर्णिमा को चैत्री चैत्र की पूर्णिमा को और आश्वयुजी आश्विन की पूर्णिमा को किया जाता था । श्राद्ध पंच महायज्ञों में परिगणित पितृ यज्ञ का ही एक रूप है । अन्तर इतना ही है कि पितृ यज्ञ दैनिक अनुष्ठान है और श्राद्ध प्रतिमास की शुक्ल प्रतिपदा को पितृतर्पण के रूप में किया जाता है ।

सात प्रकार के हविर्यज्ञों में अग्न्याधान अग्निहोत्र दर्श पौर्णमास आग्रायण, चातुर्मास्य निरूढ पशु बन्ध और सौत्रामणि के नाम हैं । प्रत्येक गृह में तीन अग्निकुण्ड रहते थे जिन्हें पूजा स्थान या देवगृह भी कहा जाता था । इन अग्नि-कुण्डों में गार्हपत्य आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि नाम की अग्नियां स्थापित की जाती थी । इसी स्थापना को अग्न्याधान कहा जाता था । अग्निहोत्र इन तीन अग्नियों में हवन करने का नाम है । जो ईरानी भारत में आकर बस गये उनके गृहों तथा मंदिरों में अग्निस्थापना का यह क्रम अभी तक प्रचलित है । आग्रायण आजकल की होली है जिसमें नवान्न की आहुति दी जाती है । चातुर्मास्य यज्ञ चार चार महीनों के उपरान्त जाड़ा गर्मी तथा वर्षा के प्रारम्भ में किया जाता था । ऋतुसन्धि यज्ञ इसी का अपर नाम है । चातुर्मास्य यज्ञ का एक रूप जनधर्म के अन्तर्गत भी उपलब्ध है जिसमें वर्षा के चार मासों में कठोर व्रत यतियों के उपवास तथा धार्मिक उपाचरण उपदेश आदि का विधान है । निरूढ पशु बन्ध स्वतंत्र पशु बलि का एक रूप है । सौत्रामणि यज्ञ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्द्र को अधिक सोमपान से जब रोग हो गया तो देव वैद्य अश्विनी कुमारों ने इस यज्ञ द्वारा चिकित्सा करके इन्द्र के रोग को दूर किया था । राज्य से परिच्युत राजा भी इस यज्ञ द्वारा अपना खोया राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे । पशु-काम यजमान तथा सोमरस के अभिलाषी व्यक्ति इसी के द्वारा अपना अभिलषित पूर्ण करना चाहते थे । इस यज्ञ में सुरापान विहित था ।

सोमयज्ञों में अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशिन वाजपेय अतिरात्र तथा आप्तोर्याम यज्ञों की गणना है । अग्निष्टोम ही ज्योतिष्टोम है और यही इन सात यज्ञों में प्रधान है । अग्निष्टोम में सोमलता को पत्थरों से कूटकर भेड़ की ऊन की बनी छन्नी द्वारा निचोड़ा जाता था । निचोड़े हुये सोमरस में दूध मिलाकर अग्निकुण्ड में उसकी आहुति दी जाती थी ।

था। वाजपेय याग सोमयाग ही है। एकाह सोमयाग में प्रातः माध्यन्दिन तथा सायं याग के तीन सवन होते थे। सोमयागों के अनुष्ठान से पूर्व यजमान तथा यजमान पत्नी को तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अनुष्ठान के समय सोमलता जिसे सोमराजा या सोमराज्ञी भी कहा जाता था शकट में भरकर लाई जाती थी और सम्मान पूर्वक उसका विक्रय होता था। अग्निष्टोम तथा अतिरात्र सोमयाग दिन के व्यतीत होने पर भी चलते रहते थे। अति रात्र का अर्थ ही है वह यज्ञ जो रात्रि को भी अतिक्रान्त कर जाय। उक्थ्य में प्रणव ओंकार के जप के साथ मंत्र पढ़े जाते थे। षोडशिन विशुद्ध आत्मसम्बन्धी यज्ञ था। आत्मा की संज्ञा षोडशी प्रजापति है जिसे १६ कलाओं वाला कहा जाता है। आप्तोर्याम यज्ञ में यागों की परिमित मात्रा रहनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त अश्वमेध नरमेध गोमेध राजसूय आदि यज्ञ भी किये जाते थे। अश्वमेध में चक्रवर्ती साम्राज्य की घोषणा करने वाला अश्व छोड़ा जाता था। जो राजा चक्रवर्ती सम्राट की अधीनता स्वीकार न करता वह घोड़े को पकड़ कर बांध लेता था। परिणामतः युद्ध होता था। यदि राजा हार जाता तो वह सम्राट का करद राजा बन जाता था और अश्व छोड़ दिया जाता था। अश्व के पीछे-पीछे सम्राट की सेना भी रहती थी। भूमण्डल भर के भ्रमण में पर्याप्त समय लग जाता था। अन्त में जब पृथ्वी भर के राजा सम्राट की अधीनता स्वीकार कर लेते, तो अश्वमेध यज्ञ किया जाता था। इस यज्ञ में सभी अधीन राजाओं को उपायन लेकर सम्मिलित होना पड़ता था। नरमेध या पुरुषमेध मानवता का संवर्धन करने वाला तथा मानव के शारीरिक अवयवों को पुष्ट करने वाला यज्ञ है। नरमेध का एक अर्थ नर को समाजोपयोगी कार्य में उसकी योग्यता के अनुसार लगाना भी है। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में इन कार्यों का विवरण पाया जाता है। गोमेध कृषि तथा गोवंश वृद्धि से सम्बन्धित यज्ञ है। राजसूय यज्ञ राजा के राज्याभिषेक के समय किया जाता था।

प्राचीन काल में एक व्रात्यस्तोम यज्ञ का भी प्रचलन था। व्रात्य नियम-भंग करने वाले का नाम है। ऐसे व्रात्य समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे परन्तु जब वे नियम-पालन द्वारा अपने को सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत रहने के योग्य सिद्ध कर देते तो पुनः समाज के सम्मान्य सदस्य बना लिये जाते थे। वे समाज के अंग हैं, इसी तथ्य को घोषित करने के लिये व्रात्यस्तोम यज्ञ किया जाता था। परवर्ती समय में भी धर्मच्युतों को आर्य धर्म में सम्मिलित करने अथवा कुछ वर्गों को समाज में उच्च स्थान का अधिकारी बनाने के लिये इस प्रकार के यज्ञ होते रहे हैं।

यज्ञ के कई नाम हैं, यथा यज्या इष्टि होम हवन सवन धृति विधान। कुल्लूक भट्ट ने होम में सावित्र च होम आदि की गणना की है। सायं प्रातः अग्निहोत्र को भी यह होम की संज्ञा देता है। इज्या का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य काल से है जिसमें देवर्षि-पितृ-तर्पण रूपी यज्ञ किया जाता है। पंच महायज्ञों का सवन

न आश्रम से है, ऐसी कुल्लूक भट्ट की मान्यता है। यज्ञों में उसने ज्योतिष्टोम सोमयागों की कल्पना की है। (मनुस्मृति २/२८ की व्याख्या)

जैसा हम लिख चुके हैं, यह सृष्टि यज्ञ-पुरुष से उत्पन्न हुई, अतः स्वयं यज्ञरूपा उसका एक एक अंग यज्ञ कर रहा है। यज्ञ के कारण ही इसका अस्तित्व है। नष्ट होते ही इसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। सर्वहुत यज्ञ की कल्पना ने इसी यज्ञ से सीखी है। पुरुष सूक्त में यज्ञ-पुरुष का एक विशेषण सर्वहुत है। अपना सब कुछ आहुत कर दिया है। ब्रह्माण्ड और प्राणिवर्ग उसी के सर्वहुत म का दिग्दर्शन करा रहे हैं। मानव समुदाय ने कृषि यज्ञ का पाठ वृक्ष से ने वाले बीज भूमिगर्भ में उनके स्वतः वपन और स्वतः अंकुरण पल्लवन एवं सन से ही सीखा है। यद्यपि मानव कृत यज्ञों में स्वार्थ का सम्मिश्रण हो गया तथापि यज्ञों के प्राकृत स्वरूप में आज भी वैसी ही उदारता, वसी ही पर-हित कता दृष्टिगोचर हो रही है।

शतपथ ब्राह्मण ने यज्ञ को प्रजापति कहा है। यज्ञ द्वारा प्रजा का लन होता है। प्रजापति के भी कई रूप हैं। परमात्मा प्रजापति है। राजा कुलपति पति आत्मा प्राण आदि भी प्रजापति कहलाते हैं। सौर जगत का प्रजापति है। इनका प्रजापतित्व यज्ञ में निहित है। ये यज्ञ करते हैं। इसी हेतु इन्हें पति कहा जाता है। सूर्य अपने लिये नहीं, अपने परिवार पृथ्वी मंगल बृहस्पति दि ग्रहों के लिये तप रहा है— यज्ञ कर रहा है। शरीर में प्राण का भी तप रीरिक अवयवों को स्वस्थ रखने के लिये है। कुलपति या आचार्य अपने शिष्यों लिये तपश्चर्या करता है। गृहपति का परिश्रम उसकी संतति का अभ्युत्थान रता है और घर को सुरक्षित रखता है। राजा राष्ट्रपति मंत्री आदि को भी राष्ट्र हित में तपश्चरण करना चाहिये। उन्हें प्रजा-हित को सदैव ध्यान में रखना है, न्यथा राज्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रजापति सूर्य के पारिवारिक अंग ग्रह कहलाते हैं। ये ग्रह हैं, बंधन हैं। ये न जितने ही दृढ़ होंगे पारिवारिक सुरक्षा भी उतनी ही दृढ़ होगी। यह दृढ़ता से आती है। श्रुति भगवती के शब्दों में यजुर्भिः आप्यन्ते ग्रहाः (यजु० ११ २८) जुष पद्धतियों अथवा यज्ञों के द्वारा ग्रहों का आप्यायन होता है। सत्यं यज्ञेन यजुर्भि (यजु० २० १२) यजुर्मों से यज्ञ तथा यज्ञ से सत्य की साधना होती है। त्य सत्तात्मक अथवा अस्तित्व परक है। अस्तित्व की साधना और सफलता यज्ञ र ही अवलंबित है।

जैसे सौर परिवार ग्रहों से बंधा है शरीर इन्द्रियों से राज्य शासनाधिकारियों जैसे ही वेद यज्ञों से और कर्मकाण्डीय यज्ञ ऋत्विजों से बधा है। यज्ञ के भेद परस्पर वर्णित हुए हैं वे उसके अवयव हैं अंग है। जैसे रथ को अश्व आगे ले जाते हैं, वैसे ही यज्ञ को ऋक और साम आगे बढ़ाते हैं। ऋक साम [illegible]

या श्रद्धा का प्रतीक है। ऋ० १० ११४ ६ में यज्ञं विमाय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्ररथं वर्तयन्ति पदों द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है। इस मंत्र में छादवल्कलों तथा यज्ञ के चालीस ग्रहों या अंगों की ओर भी संकेत किया गया है।

यज्ञों के भेद प्रभेद अब प्रचलित नहीं रहे। अब तो सामान्य प्रतिपत्ति पूर्वक वेदों के या केवल गायत्री के पारायण यज्ञ चल पड़े हैं अत पुराकालीन यज्ञों को प्रत्यक्ष करना कठिन जान पड़ता है। यही बात उसके ग्रहों या अंगों पर भी चरितार्थ होती है। उपांशु-अन्तर्याम उक्थ ध्रुव ऋतुग्रह ऐन्द्राग्न सावित्र पात्नीवत, हारियोजन अत्यग्निष्टोम मंथु अदाभ्य दधिग्रह षोडशी आदि ४० अंगों या ग्रहों का क्या रूप था इसे अवगत करना सहज नहीं है। एक समय याज्ञिक कर्मकाण्ड का यह रूप प्रयोग में आने के कारण क्षोभजन्य था। जैन-बौद्धादि सम्प्रदायों ने इसे बाधा पहुंचायी पर अपने विशुद्ध रूप में यह लोक-मंगलकारी था यह यज्ञ शब्द की व्याख्या से स्पष्ट हो रहा है।

सर्वहुत यज्ञ

माताओं की कोख से बड़े-बड़े लाल पैदा होते हैं पर उस माता की कोख धन्य है जो ऐसे अमूल्य लाल को उत्पन्न करे जो माता की महनीय भावना को अपने जीवन में अवतरित करे तथा उसका साकार प्रतीक बने। मातृत्व में सर्वहुत यज्ञ की भावना प्रमुख रूप से क्रियाशील रहती है। सन्तति के निर्माण में पिता का अंश माता के अंश की अपेक्षा बहुत ही अल्प है। गर्भ में बच्चे का निर्माण माता के शारीरिक एवं मानसिक अंशों से ही होता है। गर्भस्थ शिशु के सम्वर्द्धन एवं संरक्षण में माता मानों अपने आप को ही होम देती है। प्रसव के उपरान्त भी उसकी सर्व-हुत-भावना सन्तति के साथ संलग्न रहती है। पिता सांसारिक उलझनों में अधिक फंसा रहता है अतः सन्तति की देख-रेख प्रमुख रूप से माता के ही ऊपर रहती है।

सर्व हुत-यज्ञ का एक सुन्दर स्वरूप पुरुष सूक्त में दिखाई देता है। यज्ञ-पुरुष सृष्टि की रचना में अपने सर्वस्व की आहुति दे रहा है जिससे एक ओर सामग्री उत्पन्न हो रही है दूसरी ओर उस सामग्री को आहुति देने वाली चैतन्य की धारा प्रादुर्भूत हो रही है। एक दिशा में उससे निकलती हुयी सत्तायें दृष्टिगोचर हो रही हैं तो दूसरी ओर सत्यात्मक प्राणवत्ता तथा ज्ञान का स्रोत प्रकट हो रहा है। ब्रह्माण्ड और उसमें वास करने वाले जीव उसी सर्व-हुत यज्ञ पुरुष की देन हैं।

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में पंचाग्नि विद्या का उल्लेख है। इस विद्या का उपदेश राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु तथा उसके पिता उद्दालक ऋषि को दिया था। दोनो गौतम ऋषि के वंश में उत्पन्न हुये थे। उद्दालक के पिता अरुण थे अत उन्हें आरुणि भी कहा जाता है। पंचाग्नि विद्या मे भी सर्व हुत-यज्ञ की भावना विद्यमान है। यह द्यौलोक अन्तरिक्ष पृथ्वी पुरुष तथा स्त्री के रूप में प्रदर्शित की गई है। द्यौ अग्नि है और सूर्य समिधा के रूप में उस अग्नि में आहुत होकर प्रदीप्त हो

रहा है। इस प्रदीपन से जो धुआँ निकलता है वह किरणों के रूप में दिखाई पड़ता है। दिन उसकी ज्वाला है। दिशाएँ अंगारे और उपदिशायें चिनगारियाँ हैं। इस सूक्ष्म सर्व-हुत-यज्ञ में देव श्रद्धा की आहुति देते हैं जिससे सोम राजा का जन्म होता है।

सूर्य को पुरुष-सूक्त ने ब्राह्मरुच की संज्ञा प्रदान की है। ब्राह्मरुच का अर्थ है ब्रह्म की कान्ति। सूर्य मानों ब्रह्म की कान्ति है। सूक्त में पुरुष को महान् और आदि त्यवर्ण भी कहा गया है। ब्रह्म की ज्योति का आभास पाना है तो आदित्य को देखो। सूर्य का प्रकाश उसकी चमक या कान्ति ब्रह्म ज्योति का आभास दे सकते हैं। वेद तथा गीता दोनों में यह भी लिखा है कि यह सूर्य केवल उसकी झलक प्रस्तुत कर सकता है—ब्रह्म ज्योति की समता तो सहस्रों सूर्य एकत्र कर दिये जायें तब भी नहीं कर सकेंगे। सरितायें अपने स्रोत का अनुमान ही तो करा सकती हैं। जो स्रोत अक्षय है, उसे क्षरणशीलसरितायें कैसे दिखा सकती है ?

पर यह सूर्य भी हमारे लिये बहुत महत्त्व रखता है। इसी के दिये प्रकाश, उत्ताप तथा प्राण से हम सब जीवित हैं। यह न होता तो यहाँ कुछ न होता। इसी की कान्ति ने रुच या प्रभा ने समग्र ब्रह्माण्ड को सत्ता प्रदान की है। यह सर्वहुत यज्ञ कर रहा है तप रहा है। ऐसा तप रहा है। कि तप के अतिरिक्त इसे भोग आदि की आकांक्षा भी कभी नहीं होती पर इसके तप का फल हम सब भोग रहे हैं हमें अन्न जल आदि की प्राप्ति इसी के द्वारा हो रही है। हम सब की स्वस्थता इसी के ऊपर अवलम्बित है। यह पुरोहित है — सबके, पुर: आगे हित — रखा हुआ। पृथ्वी चन्द्र मंगल शुक्र बृहस्पति शनैश्चर आदि सभी ग्रह और इन ग्रहों में निवास करने वाले प्राणी अनुभव करते हैं कि सूर्य उनमें से सब के सामने निरन्तर उपस्थित रहता है। सब सूर्य को अपना समझते हैं और है भी वह सबका।

सूर्य सब का अग्रज है। अन्य सब ग्रह और जगत् में उसके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। ज्येष्ठ होने के साथ वह श्रेष्ठ भी है। आयु में तो सबसे बड़ा है ही गुणों में भी सबसे अधिक है। ब्रह्म कान्ति जो उसको प्राप्त हुई है। इसी हेतु अपनी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के कारण वह अपन अनुजों को सब कुछ दे रहा है। अपने जन्म से लेकर अब तक वह तपस्या में लीन है अपने को जला रहा है, पर अपन परिवार को जिला रहा है और प्रलय पर्यन्त यही करता रहेगा।

ब्राह्म रुच का धनी सब का अग्रज सूर्य मानव-समाज के अग्रज ज्ञान-धनी ब्राह्मण को इसी आदर्श पर चलने की प्रेरणा देता है। आर्यों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में कृच्छ्र तप ब्राह्मण के ही भाग में पड़ा है। अन्य वर्ण परिग्रही हैं सांसारिक वैभव का संचय करते हैं, पर ब्राह्मण अपरिग्रही है वह कोष को चुमे हाथों सब को देने वाला है। मनु के अनुसार उसी का दिया हुआ सब खा रहे हैं। वह लुटा रहा है अन्य लिटा रहे हैं लग रहे हैं। ब्राह्मण का देवत्व इसी दान में, इसी सोम-सवन में,

इसी सर्वहुत यज्ञ की भावना में निहित है। विश्व शक्तियाँ इसी से उनके वश में रहती हैं।

ब्राह्मण में ज्ञान का प्रकाश तो निवास करता ही है श्रद्धा उससे भी अधिक रहती है। श्रद्धा न हो तो प्रकाश का महत्व कम हो जाता है। श्रद्धा ही उसे प्रकाश की आहुति के लिये प्रेरित करती है। श्रद्धा का सन्निवेश ही सोम का उत्पादक है। सोम उत्तर की दिशा के राजा हैं। उनकी उत्पत्ति उन्नयन ऊर्ध्व गमन की ओर से जाती है। सोम का सवन एक ओर ज्ञान की वर्षा करता है तो दूसरी ओर कर्म के साधक उपादानों की सृष्टि भी करता है। समाज को उसके द्वारा जीवन सामग्री भी प्राप्त होती है। ज्ञान के निधान प्रकाशस्वरूप देव स्वाहा से तथा कर्म के आदर्श पितर स्वधा से आनंदित होते हैं। सर्वहुत भावना स्वाहा में ही है। स्व को सब ओर से आहुत कर देना। स्वधा में स्व को धारण किया जाता है बचाया जाता है। यह भी सत्य है कि स्वधा ही स्वाहा को पितर देवों को बढ़ाते हैं और स्वाहा देवशक्ति स्वधा पितृ शक्ति को बढ़ाती है। ब्राह्मण ज्ञान का प्रतीक है जो कर्म के प्रतीक क्षत्रिय आदि का संवर्धन करता है। ब्राह्मण का संवर्धन क्षत्रियादि के द्वारा होता है।[1]

(यांश्च देवा वावृधु ये च देवान् स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥)

द्यु – लोक में जो सर्वहुत यज्ञ हो रहा है वह अन्तरिक्ष पृथ्वी पुरुष और स्त्री के अन्दर भी हो रहा है। द्यौ में श्रद्धा की आहुति पड़ रही है जिससे सोम उत्पन्न होता है। अन्तरिक्ष में सोम की आहुति पड़ रही है जिससे वर्षा उत्पन्न होती है। पृथ्वी में वर्षा की आहुति पड़ रही है जिससे अन्न पैदा होता है। पुरुष के मुख में अन्न की आहुति पड़ रही है जिससे वीर्य की उत्पत्ति होती है और स्त्री के अन्दर वीर्य होमा जाता है जिससे मनुष्य की उत्पत्ति होती है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी आहुति इस देवकुण्ड में दे दे और सृष्टि में प्रवर्तित यज्ञ चक्र को पूर्ण करे।

राजा प्रवाहण द्वारा उपदिष्ट पंचाग्नि विद्या में श्रद्धा ब्राह्मण का प्रतीक है सोम में क्षमा नाम्नी शक्ति संवसित होने के कारण क्षत्रियत्व है राजा का भाव है वर्षा वैश्य का प्रतीक है–सब ओर से धन इकट्ठा करके समाज के प्रत्येक घटक तक पहुँचा देना–वैसे ही जैसे समाज और समुद्र के वाष्प रूप में ऊपर गये जल को वर्षा सब स्थानों में पहुँचा देती है। जल का वाष्प रूप में परिणमन वाष्प का तप्त स्थान में जाना फिर ठंडा होकर बरस पड़ना-यज्ञ का ही एक चक्र है। समाज में यही यज्ञ वैश्य को करना है। अन्न शूद्र का प्रतीक है। इसी चक्र या व्यवस्था से समाज वीर्यवान बनता है और मानव सन्तति तथा संस्कृति की सरिता आगे बढ़ती रहती है।

धन्य हैं वे मातृ और उन मातों को उत्पन्न करने वाली माता की कोख जो सर्व हुत यज्ञ की भावना को अपने जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं। प्राचीन ऋषि इसी

---

१ ऋक्० १०।१४।३

पद्धति पर जीवन यापन करते थे। परिणामतः उनके चतुर्दिक व्याप्त वातावरण में सुख एवं शान्ति की वर्षा होती रहती थी। हम भी यदि सुख एवं शान्ति के आकांक्षी हैं, तो इसी प्रणाली को अपना कर सुखी और शान्ति सम्पन्न हो सकेंगे। छीना-झपटी, लूट-खसोट सभ्य जीवन के चिह्न नहीं हैं। ये दस्युओं की वृत्तियां हैं। हमें आर्य बनना है सभ्यता अपनानी है संस्कृत होना है। यह कार्य सर्वहुत यज्ञ भावना से ही सम्पादित हो सकता है।

सुख, शान्ति ज्योति, निर्भयता कल्याण की साधना इसी सर्वहुत भावना द्वारा साध्य है। मानवता के विकास और उत्थान में इसी का सहयोग क्रियाशील रहता है। यही वांछनीय है यही सम्भावनीय है यही प्राप्तव्य है। इसी की इच्छा, इसी की साधना और इसी की प्राप्ति जीवन का शोभन कार्यक्रम और लक्ष्य है।



२ । संस्कृति और संस्कार

क संस्कार : अर्थ, प्रकृति एवं महत्त्व

यहाँ जो कुछ कूड़ा है, गंदला है, मलिन है, कच्चा है, रूखा है, उसके कूड़ेपन, मलिनता, कच्चेपन को हटा कर यदि स्वच्छता, सुपक्वता तथा सरसता का संचार कर दिया जाय तो निर्मलता तथा सौन्दर्य के साथ मन रंजनता भी उत्पन्न हो सकती है। गेहूं आदि धान्य के ढेर में से जब मिट्टी, सरसों आदि के कण पृथक कर दिये जाते हैं, तो गेहूं शुद्ध होकर स्वास्थ्यप्रद बन जाता है। घर-आंगन में जो प्रतिदिन कूड़ा इकट्ठा होता रहता है, वह आंखों को तो खटकता ही है, मन को भी दूषित करता है। झाड़ू लगा देने पर कूड़ा हट जाता है, तो घर की स्वच्छता हो जाने से मन को भी प्रसन्नता होती है और आंखें भी सुख अनुभव करती हैं। जल गंदला है तो उसे पीने को या उसमें स्नान करने को मन नहीं करता। वही जल जब स्वच्छ हो जाता है तो स्नान तथा पान के योग्य बन जाता है। जैसे जल में वैसे ही वायु में भी गन्दगी फंस जाती है। प्रथम तो प्रकृति ही इस गन्दगी को हटाती रहती है और उसका संशोधन-कार्य सुदीर्घ देश-काल-व्यापी होता है, दूसरे मनुष्य भी अपने सामर्थ्य के अनुकूल जल तथा वायु को अपने उपयोग के लिए शुद्ध किया करता है। बड़े-बड़े नगरों में नहरों, तालाबों तथा नदियों से पानी लाकर बड़े-बड़े कृत्रिम सरोवरों में इकट्ठा किया जाता है और विविध विधानों से स्वच्छ करके उसे नलों द्वारा घर-घर में पहुंचाया जाता है। इस क्रिया से मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा आयु में पूर्वापेक्षा वृद्धि हुई है। पुराकाल में जलवायु की अस्वच्छता के कारण जब व्याधियां फैलती थीं तो आर्य बड़े बड़े हवन करके जलवायु के संशोधन द्वारा व्याधियों के कीटाणुओं को नष्ट किया करते थे। यद्यपि परिमाण भी उनका महान् एवं सराहनीय था और संशोधन की विधियां भी अपूर्व थीं। वर्तमान युग में पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जो संशोधन प्रक्रिया तथा रोग निदान प्रचलित हुए हैं वे भी महत्त्वपूर्ण हैं।

संशोधन या परिमार्जन की क्रिया को ही संस्कार कहते हैं। इस क्रिया द्वारा वस्तु की शुद्धि ही नहीं होती, उसकी उपयोगिता तथा लालित्य में भी वृद्धि हो जाती है। वह शरीर ही नहीं मन का भी पोषण करने लगती है। कुम्भकार साधारण मिट्टी को गूंथ कर घड़े, करवे, सुराही, प्याली, नांद, कोरे आदि बना देता है

को मानव जीवन को सुखद बनाने में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। जब उसी मिट्टी से वह खिलौने मूर्तियां आदि बनाता है और उनमें विविध प्रकार के रंग भर देता है, तो उनसे बच्चों का ही नहीं बड़े-बूढ़ों का भी मनोरंजन होता है। बढ़ई साधारण लकड़ी को गढ़-छील कर सविकल्प चौखट सदृश सन्दूक पेटिका बेलन रई कुर्सी, मेज किवाड़ आलमारी आदि बना देता है। जीवन यात्रा के लिए ये सभी निर्मितियां लाभकारी हैं पर जब उसी लकड़ी में स प्रयोजेवार चित्रकारी काट दी जाती है मूर्तियां बनाई जाती हैं,तो उनसे मन प्रसादन के साधन भी प्रस्तुत हो जाते हैं। जितनी कलायें हैं वे इसी प्रकार कच्चे माल को परिपक्व रूप प्रदान करती हैं जड़ में सजीवता का भाव उत्पन्न करती हैं कलाकार की मानसिकता मुग्धित होकर उनमें से झलकने लगती है उनका प्रारंभिक रूखापन दूर हो जाता है और उनमें चिकनापन आ जाता है। यह सब संस्कार का प्रभाव है। यह प्रभाव और भी आगे जाता है। प्रकृति इस प्रभाव से प्रकृति न रह कर सुकृति बन जाती है। धरती पर कभी कुछ दाने मनुष्य को मिले जो उसकी भोजन-समस्या का समाधान करते थे। उन दानों को पाकर कृषि-कर्म द्वारा मनुष्य अनेक दाने पैदा करने लगा कृषि-विज्ञान द्वारा दाने अधिक ही नहीं आकार में भी बड़े पैदा होने लगे और जहाँ वे पैदा नहीं हो सकते वहाँ व्यापारिक साधनों द्वारा पहुँचाये गये। फूल और फल इसी धरती पर थे, पर जब माली के हाथ लगे तो वे अपने उसी रूप में पूर्वापेक्षा अधिक विकसित हो उठे फल आकार में अधिक बड़े पैदा होने लगे प्राकृतिक खाद की अपेक्षा कृत्रिम खाद पाकर वे स्वयं ही पुष्ट नहीं हुए मानवों को भी पुष्ट करने लगे। कपास पैदा होता है, पर संस्कार द्वारा वह धागे कपड़े बनियाइन धोती कुर्ता उत्तरीय कोट उष्णीष दुशाला आदि में परिणत हो जाता है। ऊन भेड़ के शरीर से हट कर कम्बल आसन आदि का रूप ग्रहण कर लेती है। रेशम के कीड़े रेशम तैयार करते हैं पर उनसे बहुमूल्य वस्त्रों का निर्माण संस्कार द्वारा होता है।

प्रकृति का प्रथम संस्कार तो प्रभु के द्वारा ही हुआ था। ये विभिन्न विविध लोक-लोकान्तर, सूर्य—चन्द्र—नक्षत्रादि की जगमगाती हुई रचना अन्न-फल-फूल—धान्य-वृक्ष-लता-वनस्पति-पक्षी-पशु-कृमि-कीट आदि की विरूपा सृष्टि उसी के द्वारा आविर्भूत हुई, पर मिट्टी से गृह पत्थर से बर्तन मूर्ति और अस्त्र लोहे स शस्त्र कांसा—पीतल—तांबा आदि से बर्तन और मूर्तियां रजत और स्वर्ण से बहुमूल्य आभूषण हीरे—नग—रत्न आदि का जड़ाऊ गहनों में परिणमन जल से विद्युत और विद्युत से आणविक अस्त्रों तथा प्रक्षेपास्त्रों की निर्मिति वायुयान पनडुब्बी विमान रॉकेट रैडार दूरवीक्षक आदि का आविर्भाव यह सब मनुष्य के मस्तिष्क की माया है, उसी की बुद्धि की उपज है उसी के द्वारा डाला हुआ संस्कार है। इस संस्कार के प्रभाव ने मनुष्यको शक्ति दी है मन को चकित किया है बुद्धि को उत्साह दिया है और उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर किया है। क्या इस प्रकृति के संस्कार के साथ जीवन का संस्कार—

नहीं हो सकता ?

सृष्टि में पृथ्वी चन्द्र सूर्य आदि के साथ जीवन भी परिलक्षित होता है। जीवन अजीव को सजीवरूप देता है। वही अगति में गति उत्पन्न करता है। प्रकृति की भांति यह भी विविध रूपों वाला है। वनस्पति से लेकर मनुष्य तक इसके चौरासी लाख रूप बताये जाते हैं। मनुष्य की उन्नत बुद्धि ने अपने से अतिरिक्त जीवन-रूपों का भी संस्कार किया है। कृषि विज्ञान उद्योग-विज्ञान आदि के परिणामों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। एक दाने से अनेक दाने प्रकृति भी उत्पन्न करती है पर मनुष्य संस्कार द्वारा कर उन दानों को और भी अधिक मूल्यवान बना सकता है। फलों और फूलों की भी व्यवस्था में उसने अभूत पूर्व विकास किया है। पशु-पक्षियों को पालतू बना कर संस्कारों द्वारा उसने अपने लिये उपयोगी बना लिया है। बलवान तथा हिंस्र से भी हिंस्र पशु उसके संकेतों पर नाचते हैं। मानव के उन्नत जीवन ने, विकसित मस्तिष्क ने इन अवनत और अपेक्षाकृत अविकसित मस्तिष्क वाले जीवन-रूपों पर अपने संस्कारों से गहरा प्रभाव डाला है। क्या इस उन्नत मस्तिष्क के लिये कोई प्रभावी संस्कार नहीं है? जो अन्यों को विकसित कर सकता है, उत्तम प्रभावी पर डाल सकता है क्या उसके विकास के लिये परिमार्जन के लिये कोई साधन नहीं है ?

मानव सृष्टि में महान है श्रेष्ठ है। मानव-रचना से श्रेष्ठतर रचना यहां अन्य नहीं है। मानव रचना में भी मस्तिष्क सर्व प्रधान है। संस्कार की बात उसी को सूझती है। पशु-पक्षी जानते भी नहीं संस्कार क्या है। बया घोंसला अच्छा बना लेती है चील बहुत दूर तक देख सकती है, हंस वर्षा और शरद के आगम को जान जाते हैं पर यह सब सहज ज्ञान है विकसित नहीं विकसित ज्ञान की परम्परा का ज्ञान तो और भी दूर है। मानव के पास सहज ज्ञान है विकसित ज्ञान है विकसित ज्ञान की परम्परा का ज्ञान है और उस ज्ञान में भी अग्रिम विकास की कड़ियों को जोड़ देने का ज्ञान-सामर्थ्य है। इस मानव का यदि संस्कार किया जाय, तो क्या वह ऊर्ध्व मानव अति मानव की कोटि में नहीं पहुंच सकता ? क्या उसके अन्दर निहित गुप्त दैवी अंश उभर कर बाहर नहीं आ सकता ? क्या पार्थिवता दिव्यता में परिणत नहीं हो सकती ? क्या मर्त्य अमृत नहीं बन सकता ? क्या मनुष्य देव और देवों में भी महा देव नहीं हो सकता ?

इतिहास कहता है कि संस्कारों के प्रभाव से मनुष्य उन्नत हो सकता है। ऋभु तपश्चर्या द्वारा मनुष्य से देव बने थे। विश्वामित्र तप के प्रभाव से ही राजर्षि से ब्रह्मर्षि बने थे। श्वेतद्वीप में दिव्य शिखण्डी ऋषियों के तप का वर्णन महाभारत में आया है। इन्हें दिव्य अलौकिक ख्याति के दर्शन हुये थे। कठोपनिषद् में जो मानव, पितर, गंधर्व तथा देव कोटियों का उल्लेख है वह विकास की परम्परा को

ट करता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में श्रोत्रिय तथा अकामहत का मनुष्य मनुष्य र्व देवगन्धर्व पितृ आजानज देव कर्मदेव देव इन्द्र बृहस्पति प्रजापति तथा ह्म के आनन्द की श्रेणी में क्रमशः पहुँचाता है वह भी उन्नयन के स्तरों को ही कट करता है।

जब विकास सिद्ध है उन्नयन निश्चित है, तो उसकी उपलब्धि के लिये साधन सोपान भी अवश्य होने चाहिये। आर्य जाति में संस्कारों की प्रतिष्ठा इन्हीं साधन सोपानों के रूप में हुई है। सांस्कृतिक प्रगतिष्णुता को वर्धमान करने में भी संस्कारों का प्रधानयोगदान है। संस्कृति और संस्कार दोनों शब्द एक दूसरे के सन्निकट हैं। र्थ की दृष्टि से एक साध्य है दूसरा साधन। एक जीवन की पूर्णता की ओर इंगित करता है दूसरा विधि-विधानों की ओर। संस्कारों का उद्देश्य है संस्कृत जीवन का निर्माण। संस्कृत जीवन का अर्थ है— उन्नत उदात्त दिव्य जीवन मानवता का परिष्करण दैवी अतिमानुष विभूतियों का आधान, परम-उज्ज्वल से उज्ज्वल ज्योति स्वरूप शक्ति का मानव-काया में अवतरण।

संस्कारों का जहाँ आध्यात्मिक महत्व है वहाँ उनका सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। एक-एक व्यक्ति समाज का एक-एक घटक है। जैसे कई घटकों के व्यवस्थित एकत्रीकरण से व्यक्ति का निर्माण होता है वैसे ही संस्कृत व्यक्तियों के संघटन को शिष्ट समाज की संज्ञा प्राप्त होती है। अव्यवस्थित जन-संमर्द को भीड़ तो कह सकते हैं पर समाज का अभिधान उसे नहीं दिया जा सकता। पशुओं की भी भीड़ होती है समाज नहीं। वैयाकरणों ने उसे समज कहा है। समाज और समज में संस्कारों का ही अन्तर है। समाज व्यवस्थित है समज नहीं भीड़ नहीं। यदि वे व्यवस्थित होते तो समज या भीड़ न कहे जाते।

व्यवस्थित समाज में संस्कार अपने उद्देश्यों के साथ प्रचलित रहते हैं पर कभी-कभी कालचक्र के थपेड़ों में पड़ कर समाज भी संस्कारों के उद्देश्यों को विस्मृत कर बैठता है। संस्कारों की लकीर पिटती रहती है अन्तः भावना विस्मृत हो जाती है। पर लकीर पिटते रहना भी अच्छा है। इससे संस्कार बने तो रहेंगे। बने रहने पर अन्तः भावना या उद्देश्य की ओर भी कभी न कभी दृष्टि जा सकती है। नष्ट हो जाने पर तो उद्देश्य भी सदन के लिये तिरोहित हो जायेंगे। आर्य जाति ने भीषण विजातीय आक्रमणों के संघर्ष में भी अपने संस्कारों का परित्याग नहीं किया। टूटे रूप में ही सही हम उनसे चिपटे तो रहे। कालान्तर में महर्षि दयानन्द के उदय से संस्कारों का महत्व भी हमारे समक्ष स्पष्ट हो उठा। हमारे संस्कार जीवित रहे और उनके साथ हम भी। संस्कार ही न रहते तो उनके उद्देश्य को हृदयंगम करने की ओर कौन बढ़ता? अतः सत्य को जीवित रखने के लिये उसके स्वरूप को जीवित रखना भी आवश्यक है। लकीर के फकीर [illegible], पर

जीवित तो है। फलरूप पर कभी न कभी तो मांस बढ़ ही जायगा। शरीर में निहित आत्मा कभी न कभी तो जागृत हो ही उठेगी। हां अच्छा यही है कि साध्य तथा साधक दोनों ही स्पष्ट हों आत्मा तथा शरीर दोनों ही स्वस्थ हो, संस्कृति तथा समाज दोनों ही जागरूक एवं सबाक हों।

उच्च कोटि के व्यक्तित्व में संस्कारों के प्रति अविचल विश्वास रहता है। उसकी यह निष्ठा ही संस्कारों को समाज में सजीव तथा सुरक्षित रखती है। व्यक्ति एवं समाज की आकांक्षा आदर्श प्रियता जिस दिशा की ओर प्रगति करेगी उसी दिशा के संस्कार निर्मित होंगे। यदि हम भौतिकता प्रिय हैं कांचन एवं कामिनी में ही आसक्त है तो हमारे संस्कार वहीं तक सीमित रह कर विकास-पथ को अवरुद्ध कर देंगे और यदि हम कांचन तथा काम को साधन मात्र समझेंगे तथा उस साधन के द्वारा ऊपर के क्षेत्रों में विचरण करने के लिये उद्यत रहेंगे तो हमारे संस्कार भी उसी दिशा की ओर प्रयाण करने लगेंगे। आर्य जाति ने अर्थ तथा काम की अवहेलना नहीं की है पर उनको उचित से अधिक मूल्य भी नहीं दिया है। उन्हें उसने साध्य नहीं साधन समझा है। इनका सम्यक पालन करते हुये भी उसकी दृष्टि आत्मोत्थान की ओर रही है। जहां ये आत्मविकास में बाधक बने हैं वहीं इन्हें परित्याज्य कह कर वमनवत् अव्यवहार्य बना दिया है। इसी कारण हमारी संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति कहलाती है। भौतिकतावादियों की आकांक्षाओं एवं आदर्शों को न हम आदर्श समझते हैं और न उन्हें संस्कृति के अन्तर्गत स्थान ही देते हैं।

आदर्श वह है जो सबके लिये प्राप्तव्य हो। भौतिक आदर्श ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक आदर्श सब की साझी सम्पत्ति है। उसी की प्राप्ति के लिये प्राणी प्रयत्न कर रहे हैं। भौतिकतावादियों ने साम्य की घोषणा करके या परिवार पद्धति का आदर्श खड़ा करके वैषम्य को मिटाने का यत्न किया था पर वे अपने इस आयोजन में सफल न हो सके। आत्मोपलब्धि ही एक ऐसा आदर्श है जिसकी जाने अनजाने सभी आकांक्षा करते हैं। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्य उपासितव्य' — यह घोषणा आत्मा की ही शाश्वत पुकार है। आत्म प्राप्ति ही आनन्दोपलब्धि है अमृत की प्राप्ति है। इसी को आदर्श मान कर जो प्रयत्न किये जायेंगे वे सत् प्रयत्न होंगे। अन्य प्राप्तव्यों के साधन एक दूसरे से टकरायेंगे मनोमालिन्य उत्पन्न करेंगे हिंसा-ईर्ष्या द्वेष के वातावरण को उत्पन्न करेंगे मिथ्या दम्भ-अभिमान क्रोध के जनक बनेंगे। अतः अन्त में परित्याज्य होंगे। अध्यात्म का आदर्श ही ऐसा है जिसकी ओर बिना टकराये सभी चल सकते हैं। यहां सबके स्वार्थ सबके हित घात-प्रतिघात-विहीन वातावरण में आगे बढ़ते हैं। अध्यात्मधन ऐसा है जो जिसको प्राप्त हो गया वही उसे दूसरों को भी देना चाहता है दूसरों को भी ऊपर चलने की प्रेरणा देता है। भौतिक धन सबके पास नहीं पहुंच सकता। अध्यात्मधन सब के पास है केवल भौतिकता के आव

रण को हटाने की आवश्यकता है। इस धन को धनों का धन कहा गया है। अन्य रत्न हैं, तो यह रत्न आत्मम् है हिरण्य का स्रोत है परम धन है। जिसे यह प्राप्त हो गया, वही धन्य है। तो फिर मानव अन्य धनों की ओर क्यों बढ़े? धन के धन, सम्पदा के सम्राट् वसु के वसुपति की ओर ही क्यों न प्रयाण करे? जिसके प्राप्त कर लेने से सब कुछ प्राप्त हो जाता है, वही प्राप्तव्य है, वही आदर्श है।

संस्कार इसी आदर्श के मार्ग पर मानव को अग्रसर करने वाले हैं। वे हमें शिष्ट, संस्कृत, अनुशासित एवं संयमी बनाते हैं। उच्छृंखलता, असंयम, अशिष्टता मानव को आत्मपथ से विचलित करने वाले दुर्गुण हैं। भौतिकतावादी भी इनसे बचना चाहते हैं पर उनका पथ ही ऐसा है कि वे चाहते हुए भी इनसे बच नहीं पाते। असंयम से आत्म शक्तिहीन होती है। संयम और नियम ही आत्मशक्ति के प्रतिष्ठापक हैं। संस्कारी व्यक्ति स्वभाव से ही संयमी होता है।

संस्कारों से व्यक्ति का अन्तस्तल ही नहीं सामाजिक वातावरण भी शुद्ध होता है। संस्कृत जीवन की पवित्रता में वह सौरभ है जो सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ सबके पास पहुँचता है और सबको सौरभ-सम्पन्न एवं पवित्र बनाता है। क्षण भर के लिये ही सही पर उससे सबको पोषण प्राप्त होता है तृप्ति प्राप्त होती है, शक्ति मिलती है। जहाँ भौतिक धन ईर्ष्या का कारण है वहाँ सांस्कृतिक सम्पदा सबका आप्यायन करती है। भौतिक धन पर दस्यु चोर, लुटेरे डाकू अपनी गृध्र दृष्टि जमाते हैं और अपने कुकृत्यों से दूसरे की शक्ति एवं स्वतंत्रता में बाधा डालते हैं। आध्यात्मिक धन का द्वार सबके लिये खुला है। जो इसे प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर सकता है। यह तिजोरियों में बन्द नहीं है। प्राप्त करने वाला तिजोरियों के कारागार में बन्द है। उसे मुक्त होकर इसकी प्राप्ति करनी है। यह तो सब के लिये उन्मुक्त है ही।

हमारे संस्कार इसी हेतु यज्ञभावना पर अवलम्बित हैं। पूजा संगतिकरण और दान उनकी प्रमुख विशेषता है। कोरे भोगवादी इन विशेषताओं से वंचित रहते हैं। त्यागपूर्वक भोग भोगने वाले ही इस पथ के पथिक बनते हैं। अर्थ और काम पर यदि धर्म का अंकुश न रहे तो मात्स्यन्याय या सर्पिणीन्याय व्याप्त होकर समाज का विध्वंस कर डालें। यज्ञभावना पर आधृत संस्कृति ही सामाजिक सभ्यता का स्थापन तथा संरक्षण कर सकती है।

आर्य जाति ने मानव के आध्यात्मिक निर्माण के लिये जिन संस्कारों की कल्पना की उनकी आधार शिला अतीव सुदृढ़ तथा गहरी है। संस्कार जन्म के पश्चात् नहीं उसके बहुत पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। सृष्टि के मूल में जिन ऋत एवं सत्य प्राण एवं रयि सोम एवं अग्नि नाम के तत्त्वों का सहयोग है वे ही द्विविध तत्त्व मानवजन्म के मूल में भी क्रियाशील रहते हैं। इनका नाम वीर्य और रज है। वीर्य और रज जितने ही शुद्ध होंगे संतति भी उतनी ही शुद्ध होगी। वीर्य और रज की शुद्धता स्वयं संस्कारों पर अवलंबित है। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध वीर्य एवं

रज से संस्कृत सन्तान का जन्म होता है इस तथ्य को हमारे पूर्वज भलीभाँति अनुभव कर चुके थे । अत संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से ही होता है । मूल को सींचने से शाखा-पत्र फूल-फल सभी आहार प्राप्त कर लेते हैं और हरे भरे बने रहते हैं । गर्भाधान संस्कार की समीचीनता भी आगामी जीवन के सभी अंगों को परिष्कृत रूप देने में समर्थ है ।

गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या में अन्तर है । आश्वलायन में विवाह से प्रारंभ करके अन्त्येष्टि पर्यन्त ग्यारह संस्कारों के नाम आते हैं जिनमें निष्क्रमण कर्णवेध वेदारम्भ वानप्रस्थ तथा सन्यास संस्कार परिगणित नहीं हैं । पारस्कर गृह्यसूत्र में तेरह संस्कार उल्लिखित हैं जिनमें कर्णवेध वेदारम्भ वानप्रस्थ तथा सन्यास संस्कारों के नाम नहीं आते । एक नवीन केशान्त संस्कार का उल्लेख अवश्य है । बौधायन गृह्यसूत्र म भी तेरह संस्कारों का वर्णन है जिनमें पितृमेध नया है तथा वेदारम्भ वानप्रस्थ सन्यास और अन्त्येष्टि का अभाव है । अन्य गृह्यसूत्रों के भी संस्कारों के नाम तथा संख्या समान नहीं हैं । वैखानस गृह्यसूत्र म यह संख्या १८ है । गौतम धर्म सूत्र चालीस संस्कारों के नाम लेता है परन्तु इनमें चार वेद व्रत पंचमहायज्ञ सात पाकयज्ञ सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ सम्भागों के भी नाम परिगणित हैं । मनुस्मृति म तेरह संस्कार दिये हैं जिनमें कर्णवेध वानप्रस्थ तथा सन्यास संस्कार नहीं हैं । वेदारम्भ के स्थान पर केशान्त नाम आता है । महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में सोलह संस्कारों की विधि दी है । इन संस्कारों म वान प्रस्थ तथा संन्यास शूद्र तथा वैश्यों के लिए विहित नहीं समझे जाते । क्षत्रिय के लिए संन्यास विहित नहीं है । अकेला ब्राह्मण ही उसका अधिकारी है । 'प्रथमता'[1] के 'ब्राह्मणत्व की ओर' शीर्षक निबन्ध म हमने इस मान्यता के कारणों पर विचार किया है ।

ख षोडश संस्कार और सांस्कृतिक विकास क्रम

१ गर्भाधान —हम लिख चुके हैं कि संस्कारों का मूल या बीजवपन गर्भाधान से ही प्रारंभ हो जाता है । यदि माता और पिता संस्कृत हैं तो संतति भी निश्चित रूप से संस्कारोन्मुख होगी । विवाह का एक मुख्य अथवा प्रमुख लक्ष्य प्रजातन्तु को आगे बढ़ाना है । यह तन्तु विच्छिन्न न हो, इसी हेतु हमारे पूर्वजों ने विवाह-संस्कार की प्रतिष्ठा की थी । इस तन्तु के रूप में मानों पूर्वज ही हमारे जीवित रहते हैं । जब तक किसी कुल में सन्तान का प्रवाह चला जाता है तब तक उस कुल का मूल पुरुष जीवित है । जीवन संघर्ष में यद्यपि मृत्यु ही विजयिनी बनती है सभी प्राणी अन्त में काल कवलित हो जाते हैं परन्तु दैव ने संतति का जो विधान प्रस्तुत किया है उसमें जीवन पराजित होकर भी विजयी बन जाता है । जीवन के जो अणु वीर्य में निहित रहते हैं उनमे मानसिक अणु भी विद्यमान रहते हैं । शास्त्र

१ लेखक द्वारा लिखित निबन्ध-संग्रह

कारों ने वीर्य को बीज माना है और स्त्री के रज अथवा शोणित को क्षेत्र । संतति का प्रसव एक नहीं, दोनों के सम्मिलन से होता है । सृष्टि के मूल में भी ये दोनों तत्त्व ऋत और सत्य के रूप में विद्यमान रहते हैं । सृष्टि का विकास ही इन्हीं दो तत्त्वों का क्रीड़ा-क्षेत्र है । संस्कार की आवश्यकता सर्वत्र है । एक आचार्य के शब्दों में सन्तान का निर्माण उसके जन्म से बीस वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो जाता है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि जिन बच्चों को भविष्य में माता पिता बनना है वे प्रारम्भ से ही अपने को संस्कारी बनावें ।

श्रुति भगवती कहती है—

अंगा दंगात् सम्भवसि हृदया दधि जायसे

आत्मा वै पुत्र नामासि सजीव शरदः शतम् ।

पुत्र मां के अंग अंग से पैदा होता है । वह हृदय से उत्पन्न होता है । पुत्र और क्या है ? अपना ही प्रतिरूप है । आत्मा ही है । वह बहुत दिनों तक जीवित रहे । शतायु ही नहीं सहस्रायु बने ।

संतति के उत्पादन में माता का प्राधान्य है या पिता का ? इस विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं । एक विद्वान के मतानुसार सन्तान के लिए नारी अपने पति को साधन के रूप में प्रयुक्त करती है । पिता क्षेत्र में बीज डाल कर अलग हो जाता है । गर्भ का पालन-पोषण तो माता ही करती है और उत्पत्ति के अनन्तर दो-ढाई साल तक बच्चा उसी की गोद में खेलता लोरियाँ लेता और स्तन-पान द्वारा सवंधित होता है । ऐसी अवस्था में माता का सुसंस्कृत होना अनिवार्य हो जाता है । सन्तान कल्याण-पथ पर तभी अग्रसर होगी जब उसे सु संस्कृत माता का दुग्ध पीने को मिलेगा । इतिहास में ऐसे उदाहरण सुरक्षित रखे हैं जिनमें पिता राक्षस हैं परन्तु माता के सतीत्व और भक्ति-प्रवण अस्तित्व ने सन्तान को सद्-पुरुष के रूप में जन्म दिया है । हिरण्यकशिपु की सन्तान प्रह्लाद के रूप में आज भी पूज्य एवं सम्माना स्पद बनी हुई है ।

माता का स्थान प्रमुख है इसमें सन्देह नहीं परन्तु पिता के शुक्र को भी अव हेलनीय नहीं समझा जा सकता । शुक्र में पिता का पूर्ण रूप उतर आता है । सुश्रुत के अनुसार शुक्र की परिणति अन्न के उपरान्त आठवें स्थान पर है । अन्न अथवा आहार की शुद्धि सभी को मान्य है । सत्त्व की शुद्धता आहार-शुद्धि पर ही अवलम्बित है । यह आहार किस प्रकार शुद्ध होता है ? आहार भी तीन प्रकार के हैं-सात्त्विक राजस एवं तामस । जिस प्रकार के आहार का सेवन किया जायगा शुक्र उसी रूप का बनेगा । मानव स्वभाव की विभिन्नता शुक्र के विभेदों का ही परिणाम है । यदि हम संस्कृत सन्तान चाहते हैं तो माता के शोणित की सात्विकता के साथ पिता के शुक्र की सात्त्विकता को भी साथ लेना पड़ेगा । अपवाद सभी नियमों के होते हैं क्योंकि विधि के विधान को समझना असम्भव है । प्रह्लाद आदि का जन्म इन्हीं अपवादों के

अन्तर्गत स्वीकार्य होना चाहिए। कोई नहीं जानता कि गर्भाधान के समय प्रह्लाद का पिता किस मानसिक स्थिति में था। हम शुक्र को इसलिए भी प्रधानता देते हैं कि मानव का पूरा आकार उसी में सन्निहित रहता है। अत माता की रज को क्षेत्र है और पिता का शुक्र को बीज है, सन्तति की उत्पत्ति में सम रूप से प्रधान माने जाने चाहिए। बीज चाहे कितना अच्छा हो अनुर्वर क्षेत्र में पड़ कर फलप्रद नहीं होगा। इसी प्रकार क्षेत्र अच्छा हो पर बीज निकम्मा है तो भी सुफल हाथ नहीं लगेगा। क्षेत्र भी उर्वर हो और बीज भी अच्छा हो तभी अच्छी फसल उग सकेगी।

धर्म शास्त्र में और आयुर्वेद में भी क्षेत्र और वीर्य दोनों की प्रशस्तता स्वीकार की गयी है। आयुर्वेद शारीरिक स्वास्थ्य को लेकर चला है। धर्मशास्त्र का मुख्य लक्ष्य सदाचार शुद्धाचार अथवा आन्तरिक पवित्रता का सम्पादन है। दोनों ही दृष्टियों से संस्कार की अपेक्षा है और जैसा हम लिख चुके हैं संस्कार आचार तथा विचार दोनों में ही विद्यमान होना चाहिए। अन्न की शुद्धि मन पर प्रभाव डालती है, पर कभी-कभी मन की चेतना इतनी प्रबल होती है कि वह अन्न पर भी हावी हो जाती है। फिर भी अन्न-शुद्धि का अनिवार्य महत्व है, इसमें सन्देह नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में मन का निर्माण अन्न से ही माना गया है।

सुश्रुत ने गर्भाधान के लिए आयु भी निश्चित की है। उसके अनुसार पुरुष पच्चीस वर्ष से कम आयु का न हो और स्त्री की आयु १६ वर्ष से कम न हो। हमारी सम्मति में आयु का यह परिमाण देश विशेष को लक्ष्य में रखकर निश्चित किया गया है। देश की जलवायु के आधार पर ही आयु का निर्णय होना चाहिये। सामान्यत अंगों की परिपक्वता के लिए सुश्रुत का प्रमाण मान्य हो सकता है। ब्रह्मचर्य का उल्लेख करते हुए हमारे ऋषियों ने वसु रुद्र और आदित्य नाम के ब्रह्मचारियों का वर्णन किया है। वसु नाम का ब्रह्मचारी २५ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में निवास करता है। रुद्र संज्ञक ब्रह्मचारी ३६ या ४ वर्ष की आयु तक रहता है और आदित्य ब्रह्मचारी को ४८ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में रहना पड़ता है। स्त्री के लिए यह आयु स्वीकार नहीं की गई क्योंकि वह १६ वर्ष के अन्दर ही प्रसव-सामर्थ्य से संयुक्त हो जाती है। पुरुष यदि ४ वर्ष का ब्रह्मचारी है तो वधू की आयु २० वर्ष की होनी चाहिये और यदि पुरुष ४८ वर्ष का है तो स्त्री की आयु २४ वर्ष की हो। १६वर्ष से कम आयु की स्त्री और २५वर्ष से कम आयु का पुरुष यदि सन्तानोत्पत्ति करेंगे तो सुश्रुत के अनुसार गर्भ कुक्षि अथवा उदर में ही नष्ट हो जायगा। यदि उत्पन्न हुआ तो चिरजीवी नहीं होगा और यदि जीवित भी रहा तो दुर्बलेन्द्रिय रहेगा।

"ऊन षोडश वर्षायाम प्राप्त पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थ: स विपद्यते।
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय:
तस्मादत्यन्त बालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ (सुश्रुत १०–२,१)

गर्भाधान के लिए ऋषियों ने कुछ निश्चित नियमों के पालन का आदेश दिया

है। मनु के अनुसार पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री की ओर पत्नी भाव से दृष्टि न डाले। अपनी स्त्री के साथ भी ऋतु काल में ही समागम करे। जैसे पुरुष को स्त्री-व्रत होना चाहिए, वैसे ही स्त्री को भी पतिव्रता होना चाहिए। ऋतु दान के लिये भी निश्चित नियम है। स्त्री के रजस्वला होने से चार दिन तक रति कर्म वर्जित है।

"अथ गर्भाधानं स्त्रियः पुष्प वत्यास्चतुर हा दूर्ध्वं स्नात्वा
विरूजायास्तस्मिन्नेव दिवा 'मादित्यं गर्भ मिति।'

इसी प्रकार पौर्णमासी, अमावस्या तथा अष्टमी तिथियां भी वर्जित हैं। रजोदर्शन के उपरान्त ११ वीं और १३ वीं रात्रि भी निन्दित मानी गयी है। पुत्र-कामना और कन्या कामना के लिए भी विशिष्ट तिथियों में ही समागम वांछनीय समझा गया है। युग्म रात्रियों में अर्थात् छठवीं, आठवीं दसवीं आदि रात्रियां पुत्रोत्पत्ति के लिए और अयुग्मा- अर्थात् पांचवीं, नवीं पन्द्रहवीं आदि रात्रियां कन्या उत्पत्ति के लिए विहित समझी गयी हैं, परन्तु नियम की इस कठोरता को यह कह कर शिथिल भी कर दिया गया है कि यदि पुरुष के वीर्य का आधिक्य है तो पुत्र होगा और स्त्री के आर्तव का आधिक्य है तो कन्या होगी। यदि दोनों समान हैं तो पुत्र नपुंसक और कन्या वन्ध्या होगी। यथा-

पुमान् पुं सोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः।
समे पुमान् पुं स्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ (मनु॰ ३/५)

गर्भाधान के समय जो यज्ञ किया जाता है, उसमें पठित मन्त्र भी आह्लादक संस्कार के अभिव्यंजक हैं। जैसा लिख चुके हैं सन्तति के संस्कार के लिये स्त्री का संस्कृत होना परमावश्यक है। पुरुष में भी संस्कृति अपेक्षित है। परन्तु यदि उसमें कुछ विकृति भी आ जाती है तो वह उतनी अनर्थकर नहीं होती जितनी नारी की विकृति होती है। विकृति के परिशोधन के लिये प्रायश्चित्त किया जाता है। इस प्रायश्चित्त में आग्नेय तत्व की प्रधानता रहती है। अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर धातुओं के मलों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त की आग्नेयता मानव विकारों को दूर करने वाली है। अग्नि को प्रायश्चित्ति कहा गया है। वह देवताओं की भी प्रायश्चित्त है। विग्रहता में आने वाले विकार आग्नेयता की ज्वाला में भस्म हो जाते हैं। किसी याचना अथवा वर प्राप्ति की कामना करने वाला ब्राह्मण अपने तथा अपनी स्त्री के विकारों को दूर करने के लिये अग्नि की ही शरण लेता है। अग्नि के अतिरिक्त वायु को भी संशोधक कहा गया है। वायु का एक नाम ही पवमान है। अपनी गति में वह कूड़े-करकट को दूर करती हुई तथा मलिन जन्तुओं एवं कीटों को भगाती हुई वायु मंडल को पवित्रता प्रदान करती है। चन्द्र भी इसी कोटि में रखा गया है। 'चदी' आह्लादे से बना चन्द्र शब्द आह्लाद का द्योतक है। आह्लाद की अवस्था में मानव परम सात्विक रूप धारण कर लेता है। प्रसन्न

मानस में उदारता निवास करती है। उदारता या महनीयता अतीव पवित्र वस्तु है। प्रसन्न व्यक्ति के पास पाप फटकने भी नहीं पाता। सूर्य की पावकता तो प्रसिद्ध ही है। पृथिवी पर फैली हुई न जाने कितनी गन्दगी सूर्य की किरणों द्वारा अनवरत नष्ट होती रहती है। अतः पवित्रता के इन्हीं चार रूपों से प्रार्थना की जाती है। पति याचना करता है कि पवित्र कारक शक्तियों! मैं तुम्हारे समीप आता हूं। तुम कृपा करके इस स्त्री के शरीर में जो भी पाप की ओर जाने वाली प्रवृत्ति हो, पाप का लक्षण या चिह्न हो अथवा शरीर में पापीयसी लक्ष्मी अथवा सम्पदा हो उसे तुम दूर कर दो। मन्त्रों में आगे तीन प्रार्थनाएं और हैं। स्त्री का शरीर पवित्र हो गया पर यदि वह इस शरीर द्वारा पति की हित-साधना नहीं करती पति की हिंसक या मारक बनती है तब भी उसमें असंस्कृति का अंश क्रियाशील रहता ही है। अतः देवों से प्रार्थना की गई है कि वे स्त्री के पतिघ्नी रूप को भी नष्ट कर दें। दूसरे शब्दों में शरीर की पवित्रता के साथ स्त्री पति परायणा भी हो।

पवित्र शरीर वाली तथा पति-परायणा स्त्री यदि पुत्रोत्पत्ति द्वारा पति के वंश को आगे नहीं बढ़ाती तो उसके अन्दर किसी दोष का ही सन्निधान है ऐसा समझना चाहिये। नारी पुत्रवती हो यह संस्कृति को भविष्य की निधि बनाने के लिये आवश्यक है। प्रजावतृ मा व्यवच्छेत्सी का आदेश इसीलिये दिया गया है। चौथी प्रार्थना में स्त्री के अपसव्य तनु (रूप) को नष्ट करने का उल्लेख है। अपसव्य का अर्थ है वामता वैपरीत्य अथवा उत्थापन। अपसव्य का एक अर्थ कुत्सित कर्म की ओर प्रेरणा भी हो सकता है। पवित्र पतिपरायणा तथा पुत्रवती स्त्री भी कभी कभी कुआचारों के प्रति वामता प्रकट करने लगती है। संयोगवश भी वह विपथगामिनी बन जाती है। उसकी यह अपसव्यता दूर होनी चाहिये। यज्ञ-कर्म में इसीलिए उसे पति की सहधर्मिणी बनना चाहिए। वह वामा है परन्तु साथ ही सुदक्षिणा भी है। वह काम्या है पर साथ ही वैराग्य-साधिका भी है। वह सुन्दर है पर साथ ही शिवस्वरूप भी है। इन चारों गुणों का आधान नारी को ही नहीं समस्त कुल जाति देश एवं विश्व को पवित्र करने वाला है। संस्कृति संकुचित नहीं होती। वह विश्वधारा है विश्व भर के लिये वरणीय है।

आगे के मन्त्रों में अग्नि के तीन विशेषण पवमान पावक और शुचि देकर आदित्य का नाम लिया गया है। ये चार शब्द भी संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले हैं। संस्कृति आदित्य अदिति की सन्तान अथवा अखण्ड है। वह स्वयं पवित्र है और दूसरों को पवित्र करने वाली है। उसके पवित्र रूप में ही शुचिता अर्थात् प्रदीप्ति भी सम्मिलित है। प्रदीप्ति में प्रभविष्णुता है। अखण्डता में इन सबकी परिणति होती है। संस्कृत व्यक्ति इसीलिये उदार नहीं अल्प नहीं भूमा का उपासक होता है। उसकी दृष्टि संकीर्ण नहीं व्यापक होती है। गर्भाधान संस्कार

संतति को संस्कृति की इसी अखण्डता की ओर ले जाने वाला है।

गर्भाधान के मन्त्रों में गर्भ को धारण करने तथा सुरक्षित रखने की भी प्रार्थना की गयी है। संतति नौ महीने गर्भ में रह कर दसवें महीने में उत्पन्न होती है। इस तथ्य का भी वर्णन है। यथा—

हिरण्ययी, अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥

कहीं-कहीं शिशु का गर्भ में दस मास तक रहने का भी उल्लेख है 'दशमास्य गर्भः, दशमासान्‌शशयान' आदि।

गर्भ में स्त्री की कामनायें शुभ होनी चाहिये। दूषित विचारों एवं भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ बच्चे के लिये हानिकारक है। श्रुति के शब्दों में "यत्ते सुसीमे हृदयंदिवि चन्द्रमसि श्रितम् वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्।" प्रत्येक माँ की आकांक्षा होती है कि उसका पुत्र चन्द्रमा के समान दिव्य चमक से परिपूर्ण सुन्दर, एवं आह्लादकारी हो। माँ की यह हृदगत भावना खान पान पर तो अवलम्बित है ही उसके अन्तस्तल से भी सीधा सम्बन्ध रखती है। जैसे पृथिवी प्राणियों को धारण करती है वनस्पतियों पर्वतों गिरियों तथा जंगम जगत को आश्रय देती है इसी प्रकार, गर्भ में बच्चे का धारण, पालन एवं पोषण होना चाहिये। चारों ओर का वायु-मण्डल तथा तीनों प्रकार की ज्योतियां गर्भस्थ शिशु की रक्षा करें। सूर्य द्यौ लोक से वात अन्तरिक्ष से और अग्नि पृथिवी से निकल कर गर्भ की रक्षा करे। ऐसी प्रार्थना भी वेद मन्त्रों में की गयी है। दिव्य शक्तियां जो अपनी अव्याहत गति द्वारा सभी मार्गों से परिचित हैं गर्भ की न्यूनता को दूर करें। प्रजापति इस प्रजा का पालन करें। सर्व-व्यापक प्रभु योनि को सुदृढ़ करें। सुन्दर रूपों का निर्माता त्वष्टा रूप भगवान इसे सौन्दर्य एवं लालित्य प्रदान करें और धाता इस गर्भ को सम्हाले। ऐसे कथन गर्भ की महत्ता के अभिव्यंजक हैं।

यदि किसी स्त्री के कन्यायें उत्पन्न होती हों पुत्र का जन्म न होता हो तो वेद ने उसके लिये भी उपाय बताया है और आयुर्वेद उसका सविस्तार उल्लेख करता है। यदि स्त्री उचित आहार-विहार से रहे तो सन्तान बुद्धिमान नीरोग तथा शुभ गुण कर्म स्वभाव वाली होगी। गर्भाधान संस्कार का एक सामाजिक उद्देश्य था और एक सांस्कृतिक। सामाजिकता के लिये आवश्यक था कि मानव का वंश आगे चलता रहे। यदि संतति ही उत्पन्न न होगी तो कुल व समाज का सन्तनन (विस्तार) कैसे होगा? सांस्कृतिक विकास के लिये आवश्यक है कि समाज में जिस सन्तान की अभिवृद्धि हुई है, वह किन संस्कारों को लेकर हुई है। यदि संस्कार शुद्ध और पवित्र है तो समाज भी शुद्ध और पवित्र होगा। साथ ही वैयक्तिक विकास के लिये भी पावन भूमिका प्रस्तुत हो जायगी। गर्भाधान संस्कार में इसीलिये तिथियां तथा सहवास के अन्य नियम निश्चित किये गये हैं। सन्तति संस्कृत हो धार्मिक भावों से ओतप्रोत हो तथा सदाचार प्रवण हो ऐसा महत्वपूर्ण उद्देश्य इस संस्कार के

गोत्पत्ति में पितृऋण से उऋण होने का भाव भी विद्यमान रहता था। इस ऋण के सम्बन्ध में सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। किसी-किसी के मत में पुत्रोत्पत्ति को आव श्यक नहीं समझा गया है। शास्त्रों में ऐसा नियम भी है कि पुरुष चाहे तो गृहस्थी में न जाकर सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है पर यह हमारी सम्मति में नियम नहीं अपवाद है।

संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य भूमा है जो अल्पता का विपरीत भाव है। अल्पता या संकीर्णता से निकल कर विशाल बनना निखिल ब्रह्माण्ड को अपना समझना ही भूमा की अवस्था है। संकीर्णता क्लेश-कारक है। सुख भूमा में ही है। भूमा का एक सुदृढ़ आधार गृहस्थाश्रम है जहां कहीं का पुरुष और कहीं की स्त्री दोनों मिल कर दाम्पत्य भाव के दृढ़सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। दो मिल कर एक हो जाते हैं। सन्तानोत्पत्ति के साथ भूमा का यह आधार और भी अधिक सुदृढ़ होता है। हृदय की विशालता बढ़ती जाती है और अपने बंधन में एक नहीं अनेक को समेट लेती है।

३ पुंसवन

यह संस्कार गर्भस्थिति का ज्ञान होने के पश्चात् दूसरे या तीसरे महीने में किया जाता है। इसका प्रमुख लक्ष्य गर्भ को पौरुष वीर्य सामर्थ्य आदि से संयुक्त करना है। इसका एक अर्थ पुत्री के स्थान पर पुत्रोत्पत्ति भी है। मन्त्र ब्राह्मण में मित्र और वरुण अश्विन अग्नि और वायु को पुमान कहा गया है। यही पुमान स्त्री के गर्भ में है। अग्नि इन्द्र बृहस्पति पुमान् हैं। हे स्त्री। तू भी पुमान् पुत्र को प्राप्त कर और उसके पश्चात् भी तू पुत्रवती बन। अथर्व का निम्नांकित मंत्र पुमान सन्तति की उत्पत्ति का उपाय बतलाता है। यथा–

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥

पीपल के पेड़ पर शमी का वृक्ष उत्पन्न हो। उसका सेवन आयुर्वेद की विधि के अनुसार यदि किया जाय तो गर्भ में अवश्य ही पुत्र की स्थिति होगी। मंत्र ब्राह्मण १/१/१० के अनुसार, अग्नि देव देवताओं में प्रथम है। निम्नांकित मंत्र में भी इसी तथ्य का उल्लेख हुआ है। यथा–

यासां द्यौः पिता पृथ्वी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्र विद्याय दैवी प्रावन्त्वोषधयः ॥ अथर्व ३/२३/६)

जिन वनस्पतियों का पिता द्यौ लोक है, माता पृथिवी लोक है और जिनका मूल समुद्र है वे दैवी औषधियां पुत्र की प्राप्ति में तेरी रक्षा करें। सुश्रुत अध्याय १८ सूत्र स्थान के अनुसार सुलक्ष्मणा वट-जटा सहदेवी इन सबको वत्सवती गौ के दूध के साथ घोट कर इसकी कुछ बूंदें गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासिका छिद्र में छोड़ देना चाहिये। स्त्री को चाहिये कि इन बूंदों को पी जाय थूककर बाहर न फेंके। नासिका के छिद्रों का शरीर के अन्दर की नसों के साथ सम्बन्ध है जिनमें रक्त प्रवाहित होता है। दाहिने छिद्र से निकलती हुई वायु में उष्णता तथा बामरन्ध्र वाली वायु में शैत्य की

प्रधानता मानी गयी है। ऊष्मा पुंस्त्व प्रधान है। अतः सुश्रुत ने वचा का जो विधान किया है, वह विज्ञान-सम्मत है। गर्भस्थ बच्चे के जीवन में ऊष्मा-जन्य उत्साह भरा रहे। यही भाव इससे ध्वनित हो रहा है। शमी वृक्ष में भी अग्नि का निवास माना गया है। पीपल के पेड़ के ऊपर उगा हुआ केन्दूर (शमी) और भी अधिक अग्नि-सम्पन्न होगा। आग्नेयता पुंस्त्व वाचक है, अतः शमी वाली ओषधि भी युक्तिसंगत जान पड़ती है।

ये ओषधियाँ इस स्त्री के लिये सन्तति को मृत्युपाश से मुक्त करें और वरुण राजा भी तदनुकूल समर्थन करें जिससे यह स्त्री पुत्र सम्बन्धी पाप से बची रहे, रुदन न करे। अथर्व० ३/२३ में निम्नांकित मन्त्र आता है–

आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान्बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायताम् पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

जैसे बाण तर्कस में जाता है, इसी प्रकार यह पुमान् गर्भ स्त्री की योनि में प्रतिष्ठित हो और दस महीने का वीर पुत्र उत्पन्न हो।

अथर्व वेद के इसी सूक्त में यह भी कहा गया है कि हे स्त्री! तू पुमान् पुत्र को जन्म दे और उसके पश्चात् भी तुझे दूसरा पुत्र प्राप्त हो। तू जात और जनिष्यमाण (भविष्य में उत्पन्न होने वाले) पुत्रों की माता हो।

सम्पूर्ण संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ बच्चे के अन्दर उत्साह, वीरता तथा पौरुष के भावों का सन्निवेश करना है। इससे बालक संस्कारी पैदा होगा। ओषधियों का प्रयोग गर्भ में पवित्रता का संचार करेगा और मन्त्रोच्चारण मन को निर्मलता प्रदान करेगा। निम्नांकित मन्त्र भी इस विषय में ध्यान देने योग्य है।

सुपर्णोऽसि गरुत्मां त्रिवृत शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे ।
पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम ॥
साम ते तनु र्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्या शफा ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ "१ ॥ य० अ० १२/म० ४ ॥

पति अपनी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ रख कर कहता है कि हे सुपर्ण! तू सुन्दर पंखों वाला है। ज्ञान और कर्म अथवा प्राण और अपान के पंखों द्वारा तू उड़ता है। तू गरुत्मान है, गम्भीर एवं गौरववाली है। तेरा सिर त्रिवृत् है। चक्षु गायत्र है। तेरे दोनों पंख बृहत् और रथन्तर साम के साम हैं। आत्मा स्तोम है। अंग छन्द है और नाम यजु है। इस प्रकार तेरा समग्र शरीर सामों से ओतप्रोत है। तू गरुत्मान सुपर्ण के रूप में दिव्यता का आधान कर और स्वर्ग के योग्य बन।

महर्षि दयानन्द ने गिलोय (गुरुच) ब्राह्मी और सोंठ को दूध के साथ सेवन करने का विधान लिखा है। गर्भिणी को अधिक शयन तथा अधिक भाषण नहीं करना चाहिये। अधिक खारे-खट्टे तीखे कड़ुए, रेचक आदि पदार्थों से [illegible]

चाहिये। क्रोध द्वेष, लोभादि दोषों का परित्याग करके गर्भिणी स्त्री को अपना चित्त सदैव प्रसन्न रखना चाहिये। इससे सन्तान के सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य दोनों पर प्रभाव पड़ेगा।

३ सीमन्तोन्नयन

सीमन्त का अर्थ है 'मांग'। भारतीय महिलायें नासिकाग्र की सीध में सिर के बालों के बीचो-बीच मांग निकालती हैं और उसमें सिन्दूर भरती हैं। यह सौभाग्य का चिह्न समझा जाता है। केश प्रसाधन में चूड़ा-बन्धन तो प्राचीनकाल में कई प्रकार से होता था परन्तु मांग भरने का स्थान यही था। वैष्णव भक्त इसी प्रकार ललाट के मध्य में भी लगाते हैं। सिद्धों के माथे पर भी का चिह्न प्राकृतिक होता है और छवि ललाट के मध्य से बाहर तक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। शिव के तीसरे नेत्र की ज्योति का भी यही स्थान है। शिव ने अपने इस नेत्र द्वारा काम को भस्म किया था परन्तु स्त्रियां मांग में सिन्दूर भर कर अपने कामरूप पति की आयुष्य वृद्धि की कामना करती हैं। काव्योचित भाषा में सिन्दूर भरी हुई मांग उस प्रदीप्त ज्योति के समान है अथवा ऐसा भास अंगार है जिसको देखते ही कामियों की कुदृष्टि भस्म हो जाती है। पतिव्रताओं का यह भूषण है।

सीमन्तोन्नयन का अर्थ है सौभाग्य का उन्नयन। पुंसवन के उपरान्त यह संस्कार सौभाग्य के उत्कर्ष का ही द्योतक है। नारी मनु के शब्दों में पूजनीय है। वेद विवाहित पत्नी को सम्राज्ञी का अभिधान देता है जिसका अर्थ है सम्यक रूप से चमकने वाली। गर्भ धारण करके वह और भी अधिक सम्माननास्पद बन जाती है और पुत्र प्रसव के साथ तो उसकी मर्यादा बहुत अधिक बढ़ जाती है। पुंसवन में जिस पौरुष और ओज का आधान गर्भ में किया गया था सीमन्तोन्नयन में उसे और भी अधिक बल मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भ के चौथे मास में जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र से युक्त हो और पक्ष भी आपूर्यमाण हो अर्थात् जिसमें कोई रिक्ता तिथि न हो यह संस्कार होना चाहिये। पारस्कर तथा कुछ अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार यह छठवें महीने में होना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने स्वरचित 'संस्कार विधि' में पति द्वारा पत्नी के केशों में सुगन्धित तेल डालने का और केशों को सँवारने का विधान लिखा है। केश-प्रसाधन के लिये उन्होंने उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका कुशा की मृदु सीनी अथवा स्याही पशु के कांटे से पत्नी के केशों को स्वच्छ करने का विधान लिखा है। आश्वलायन गृह्य सूत्र में भी ऐसा ही विधान है।

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन दोनों ही प्राजापत्य संस्कार हैं। प्रजापति को धाता भी कहते हैं। ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचाओं में प्रार्थना की गई है—

धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान।

धाता कश्री रयिं निपामि यच्छेबासाज्यहर्म्यं पूत यज्जु होत ॥ २ ॥
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो या भिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥
—ऋग्० मंड २, सू० ३२, मं० ५ ।

धाता प्रजापति प्रजाओं को धन देने वाला है। समग्र सम्पत्ति का वही तो एकमात्र स्वामी है। उसी ने निखिल भुवन को उत्पन्न किया है। वह समस्त प्रजा को टकटकी लगा कर देख रहा है। हमें उसी धाता के लिये अपनी घृतमयी स्नेहमयी हव्य चढ़ानी चाहिये। पूर्णिमा, सुन्दर स्तुतियों की भाजन है। वह सुभगा है। वह हमारी प्रार्थना को सुने और इस गर्भवती स्त्री को वीर सन्तान प्रदान करे। हे पूर्णिमे ! तेरा जो सुन्दर रूप है और जिसके द्वारा तू दानी को वसुओं, वासक शक्तियों का दान देती है उन्हीं शक्तियों के साथ तुम आज प्रसन्न होकर यहां आ जाओ और हे सुभगे ! इस गर्भस्थ शिशु को सहस्रों पोषक शक्तियों से संयुक्त कर दो। कुछ मंत्रों में ऐसी प्रार्थना आती है कि यह गर्भ अनिष्ट को प्राप्त न हो,। पुत्र के रूप में इसका आविर्भाव हो। पुत्र कामना वाली इस स्त्री का गर्भ, पुत्र रूप में ही उत्पन्न हो। जैसे यह महती पृथ्वी ऊपर को फैली हुई गर्भ धारण करती है, वैसे ही यह स्त्री दसवें महीने में उत्पन्न होने वाले पुत्र को धारण करे। विष्णु का सम्बन्ध भी गर्भ के साथ है। उसका रूप श्रेष्ठ माना गया है। वे अपने इस रूप के साथ इस गर्भवती नारी में पुमान् सन्तति को धारण करें।

गर्भ के दिनों में आयुर्वेद के अनुसार पांचवें महीने में मन का निर्माण होने लगता है। शिशु की मानसिक शक्ति के उत्थान के लिए भी यह संस्कार अपेक्षित है। दौहृद अर्थात् गर्भिणी स्त्री की इच्छाओं की पूर्ति करना भी इस संस्कार के साथ संयुक्त है। गर्भिणी के प्रिय अभीप्ट की पूर्ति से जहां उसके मन पर सुखद प्रभाव पड़ता है, वहां शिशु की मानसिक निर्मिति पर भी अपेक्षित प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

दौहृदस्या प्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
वैरूप्यं मरणं वा अपि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥
याज्ञवल्क्य स्मृति ३/७९

स्त्री का प्रिय अभिलषित इस अवस्था में पूर्ण होना ही चाहिए। नहीं तो मन पर दूषित प्रभाव पड़ेगा और परिणामतः गर्भ भी दूषित तथा विरूप बनेगा। मन तो निर्बल होगा ही। सम्भव है, गर्भ क्षीण भी हो जाय।

पति को गर्भ के छठें मास के पश्चात् मैथुन आदि से विरत रहना चाहिए। उसे नवीन निर्माण आदि के ऐसे कार्य भी नहीं करने चाहिए जो गर्भिणी की देख भाल से उसे पराङ्मुख कर दें। स्त्री को भी श्रम के कार्यों से बचना चाहिए। गोधूलि के समय भोजन करना, वृक्ष के नीचे सोना, पहाड़ अथवा उच्चस्थानों पर चढ़ना

रात्रि-जागरण रक्त तथा भारी बोझा सभी उसके लिये इस दशा में वर्जित माने गये हैं। सुन्दर सुरभित मालाओं का धारण पवित्र वस्त्रों का परिधान, मनोनुकूल कथाओं का श्रवण मंगलकारी दृश्यों का दर्शन उसके मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हितप्रद हैं। सीमन्तोन्नयन संस्कार में पठित निम्नांकित मन्त्र भी संस्कार की महत्ता अभिव्यंजित करते हैं।

ओं॰ अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव।
पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयतां रयिः ॥३॥
ओं॰येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥४॥
—मन्त्र ब्राह्मण ब्रा॰ १॥२।१ २॥

हे स्त्री ! तू अर्कस्वी वृक्ष के समान ऊर्जस्विनी और फलवती हो। जैसे वनस्पति के पत्ते फलरूपी सम्पदा से संयुक्त होते हैं उसी प्रकार तू संततिरूपी सम्पदा से ओत प्रोत हो। जैसे प्रजापति अदिति के सीमन्त को सौभाग्य प्रदान करता है उसी प्रकार मैं तेरे सौभाग्य का उन्नयन करता हूं। तेरी प्रजा वृद्धावस्था तक सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत करे। इस अवसर पर खिचड़ी में पुष्कल घृत डाल कर गर्भिणी को खिलाने का भी विधान है। समीप बैठी हुई वृद्ध स्त्रियां गर्भिणी को आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

ओं॰ वीर सूस्त्वं भव, जीव सूस्त्वंभव, जीव पत्नी त्वंभव ॥

हे मांगल्यमयी महिला ! तू वीर पुत्र पैदा करने वाली बन जीवन से संयुक्त सन्तान वाली बन और जीवन की रक्षा करने वाली बन।

अब तक जिन तीन संस्कारों का वर्णन हुआ है वे उत्पन्न होने वाले वत्स की शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता के सम्पादन के लिए, उसे संस्कारी बनाने के लिए तथा संस्कृति निष्ठ रूप में उत्पन्न होने के लिए अत्यन्त श्रामकारी हैं। वत्स-प्रसव के पूर्व की यह पृष्ठ भूमि जिस वैदिक संस्कृति में विद्यमान हो वह निस्सन्देह अतीव उच्चकोटि की संस्कृति है। वेद इसीलिए इस संस्कृति को विश्व वारा कहता है। यह विश्व भर के लिए वरणीय है। यदि मानव के निर्माण में इस प्रकार के संस्कार सक्रिय रहें तो विश्व में शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो सकता है। हम पल-पल में जिस अशान्ति कलह दौर्मनस्य तथा क्लेशकारिणी परिस्थितियों का अनुभव करते हैं वे ऐसे संस्कारों से निराकृत हो सकती हैं। मंगलमय जीवन का अभ्युदय इसी विश्ववारा संस्कृति द्वारा सम्भव है।

४ जातकर्म

अव्यक्त जब व्यक्त होता है गुप्त जब प्रकट होता है रहस्य जब खुल जाता है तो मन को कितना आनन्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रसव के पश्चात् गर्भस्थ शिशु जब बाहर आता है तो माता पिता के आनन्द की सीमा नहीं रहती। माता को जो

प्रसव का कष्ट सहन करना पड़ता है वह शिशु-दर्शन से सबका सब समाप्त हो जाता है। पिता भी आह्लादित होता है और धर्म शास्त्र के लेखानुकूल पुत्र के मुख को देख कर पितृऋण से मुक्त हो जाता है।

पूर्व वर्णित संस्कारों में पुमान् पुत्र के प्रसव की जो प्रार्थनायें तथा अभिलाषायें व्यक्त हुई हैं, वे सम्भवत इसी आधार पर अवलम्बित हैं। पुमान सतति पुत् नामक नरक से त्राण भी करती है। अपुत्री नरकगामी होता है इसका एक सहज कारण यही जान पड़ता है कि पुत्र के अभाव में उसके पूर्वजों का वंश लुप्त हो रहा है जो अपने वंश का विस्तार न कर सके, उसमें आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से कोई न कोई शारीरिक न्यूनता है। गृहस्थाश्रम वंश विस्तार का मुख्य आधार है। पुत्र का होना तो कल्याणकारक है ही पर यदि पुत्री भी उत्पन्न हो तब भी वंश वृद्धि की कामना सफल हो सकती है। शास्त्र की आज्ञा है कि पिता अपनी पुत्री के पुत्र को स्ववंश विस्तार का आधार बना सकता है। शास्त्र में पुत्र पौत्रादि के अभाव में दौहित्र को नाना के श्राद्ध करने का विधान पाया जाता है। गोद ले लेने पर तो नाना की सम्पत्ति पर उसका स्वामित्व हो ही जाता है। वैसे भी प्रायः सभी स्मृति कारों ने नाना की सम्पत्ति पर दौहित्र के अधिकार को स्वीकार किया है। अत पुत्र के रूप में सवीतत और पुत्री के रूप में अवंत पितृऋण के मुक्ति की समस्या का समाधान है।

जात-कर्म के समय प्रसूता माता के समीप अनुभवी सौभाग्यवती युवती तथा वृद्धा स्त्रियां रहनी चाहिए, जिससे प्रसव में योनि के शिशु के बाहर आने में किसी प्रकार का प्रमाद अथवा असावधानी न हो। सूतिका-गृह स्वच्छ परन्तु एकान्त में हो। आवश्यक सामग्री जिसका प्रसव के समय उपयोग होता है पहिले से ही उपस्थित रहनी चाहिए। बाण भट्ट ने कादम्बरी में प्रसूतिका गृह के आवश्यक उपकरणों का और प्रसव-काल का जो सजीव एवं उचित दृश्य उपस्थित किया है, वह किसी प्रत्यक्ष दर्शी अथवा भुक्तभोगी की लेखनी से ही निस्सृत हो सकता है।

प्रसव होने के समय "सोष्यन्ती मद्भिरभ्युक्षति ॥" पा० का० १/६० १६।

पारस्कर के इस वचन के अनुसार गर्भिणी के शरीर पर जल छिड़का जाता है। निम्नांकित मन्त्र द्वारा प्रभु से प्रार्थना की जाती है

ॐ एजतु दश मास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ य० अ० ८-मं० २८

हे प्रभो ! जरायु के साथ दस महीने तक गर्भ में रहने वाला यह बालक बाहर आवे जैसे वायु और समुद्र अपनी अभिव्यक्ति करते हैं वैसे ही यह शिशु गर्भ से बाहर आकर अभिव्यक्त हो। पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर दाई बालक के शरीर से जरायु को पृथक करके मुख, नासिका, कान, आंख आदि के मल को दूर करके

वस्त्र से पोंछ कर नार छेदन करे। यह नार नाभि से जुड़ा रहता है। नार काट कर बालक को उष्ण जल से स्नान कराना चाहिये। फिर अग्निहोत्र की आवश्यक विधि करके प्रभु का ध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् घी और मधु दोनों को मिला स्वर्ण की शलाका से बच्चे की जिह्वा पर रख कर ओ३म् अक्षर लिख के उसके दाहिने कान में 'वेदोऽसि' ऐसा मन्त्र सुनाना चाहिये और घृत तथा मधु को थोड़ा-थोड़ा बच्चे को चटाना चाहिये। घृत मधु और स्वर्ण तीनों का माहात्म्य आयुर्वेद में वर्णित हुआ है। घृत तेज एवं आयु देने वाला है। मधु पोषण कारी है और सुवर्ण न्यूनताओं को दूर करने वाला तथा समृद्धि का जनक है। तीनों ही दारिद्र्य के नाशक तथा अभाव की पूर्ति करने वाले हैं। तीनों का सेवन शोभा एवं श्री की अभिवृद्धि करने वाला है। स्वर्ण-शलाका से सात बार घृत मधु चटा कर चावल और जौ को संशोधित करके पानी के साथ पीस कर और वस्त्र से छान कर एक पात्र में रख लें और उसे अपने अंगुष्ठ तथा अनामिका से थोड़ा सा लेकर एक बिन्दु बालक के मुख में छोड़ दें। ऐसा गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है। चावल और जौ भी सात्विक अन्न में परिगणित हैं और आयुष्यवर्धक हैं। इन्हें आप्य अन्न आयु और अमृत कहा गया है।

बालक मेधावी हो पुष्ट हो और शरीर से दृढ़ हो इस भाव के बोधक कई मन्त्र इस संस्कार में पढ़ जाते हैं। यथा–

मेधां ते मित्रा वरुणौ मेधामग्निर्दधातु-ते ।
मेधांते अश्विनौ देवा वधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२॥ मं० ब्रा० १/ ५/ ९॥
ओ३म् मेधान्ते देव सविता मेधां देवी सरस्वती ।
मेधान्ते अश्विनौ देवा-वाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥१॥ पार० १–१६

मित्र और वरुण तुझे मेधा दें। अग्नि तेरे अन्दर मेधा को धारण करे। दोनों अश्विन तुझे मेधा दें। प्रेरक देव तथा सरस्वती तुझे मेधावी बनावें।

व्याहृतियों को लेकर शिशु से कहा जाता कि मैं तेरे अन्दर भू भुवः तथा स्वः को धारण करता हूं। इन तीन व्याहृतियों द्वारा बच्चे की प्राणवती सत्ता चेतन अन्तःकरण तथा आनन्दमय कोष को स्वस्थ बनाने की भावना है। पोषण के सम्बन्ध में निम्नांकित मंत्र द्रष्टव्य है–

ओ३म्० इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्व मस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचःसुदिनत्वमह्नाम् ॥–॥१॥ ऋ० मं २॥

परमैश्वर्य सम्पन्न भगवान् इस बच्चे को श्रेष्ठ धन दें चेतना दें और सौभाग्य प्रदान करें। धन इसके शरीर की पुष्टि करे उसे नीरोग करे और मधुमयी वाणी के साथ सुख-सम्पन्न दिन दिखलावे।

आयुष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जैसे अग्नि आयुष्मान है वनस्पति सोम और ओषधियां आयुष्मान हैं, ब्रह्मदेव ऋषि पितर, यज्ञ और समुद्र आयुष्मान हैं, उसी प्रकार यह शिशु भी आयुष्मान हो। ओषधियां सम्पन्न ब्राह्मण तथा अन्य शक्तियां अपने-अपने व्रतों के द्वारा सुधा नाम्नी शक्तियों के द्वारा दक्षिणाओं के द्वारा तथा अनंत त्यागमयी धाराओं के द्वारा इस बच्चे को आयु प्रदान करें।

त्र्यायुषं जमदग्नेःकश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥१॥ यजु० अ० ३ । म ६२ ॥

जमदग्नि कश्यप तथा दिव्य शक्तियां तिगुनी आयुष्य वाली हैं। वही ही तिगुनी आयु इस बच्चे को प्राप्त हो। जमदग्नि आग्नेय शक्ति पर विजय प्राप्त करता है। कश्यप पश्यक है द्रष्टा है। अपनी विशिष्टताओं के कारण ये सभी अधिक आयु प्राप्त करते हैं। मानव की सामान्य आयु सौ वर्ष की है यह बच्चा सामान्य आयु से अधिक आयु भोगे। ऐसी कामना इन मन्त्रों में प्रकट की गयी है।

निम्नांकित मन्त्र में शारीरिक दृढ़ता प्राप्त करने की प्रार्थना है–

ॐ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥२॥ मं० ब्रा० १२/१८ ॥

अश्मा अर्थात् पत्थर इतना सुदृढ़ होता है कि वह जिस पर गिरे उसको तोड़ दे और उस पर जो गिरे वह भी टूट जाय। पत्थर पर कोई आंच नहीं आती। बच्चे का शरीर इसी पत्थर के समान सुदृढ़ बने। परशु तीव्र होता है। वह भी जिस पर गिरता है, उसे काट देता है और जो उस पर गिरता है वह भी कट जाता है। अश्मा और परशु दोनों की विशेषतायें इस बच्चे के अन्दर प्रविष्ट हों। इन दोनों के साथ यह वस्तुत हिरण्य भी बने। हिरण्य का अर्थ ज्योति है। यह बच्चा किसी से न दबने वाली शारीरिक आभा तथा मानसिक प्रकाश से सम्पन्न हो। इसका मस्तिष्क भी उज्ज्वल हो और शरीर भी सुदृढ़ हो। अपने सर्वांग में यह प्रदीप्त हो उठे।

माता बच्चे को जन्म देती है। इसलिये उसे इडा और मैत्रावरुणी नाम दिये गये हैं। इडा बुद्धि है और सबको धारण करने वाली पृथिवी का नाम भी इडा है। मित्र प्रेम देता है तो वरुण रोगों का वारक है। इन गुणों से सम्पन्न स्त्री वीरवती बनकर वीर पुत्रों को जन्म देती रहे। इस प्रकार के कथन स्त्री के मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले हैं। मन प्रसन्न है तो स्तनों में भरा हुआ दुग्ध भी आयुष्य-वर्धक तथा मन को आह्लादित करने वाला बनेगा। यह दुग्ध मयोभू है अर्थात् सुख उत्पन्न करने वाला है रत्नधा और वसुविद् है अर्थात् बच्चे को ऐश्वर्य की ओर ले जाने वाला है जिससे वीर्य की पुष्टि होती है। सरस्वती देवी उसे इस बच्चे के अन्दर धारण करें। इस प्रकार की भावनाओं से भावित करके माँ अपना दूध बच्चे को पिलाती है।

बच्चा कोमल होता है। शरीर से भी और मन से भी। उसके ऊपर वायुमंडल के प्रभाव अतीव शीघ्रता से पड़ते हैं। इन्हें दूर करने के लिये भी मन्त्र पाठ होता है तथा ओषधियों का उपचार भी। शुण्डमर्क औपिकेयउपूलस मलिम्लुच द्रोणास कुम्भी शत्रु पात्रपाणि नृमणि अन्तमुख सर्षपारुण आदि अनिष्टकारी रोगों तथा कीटाणुओं को भगाने के लिये सूतिका गृह के बाहर निरन्तर अग्नि प्रज्वलित रहती है और उस पर भुसी मिली हुई गन्धक, सरसों, मलयाहन की आहुतियां

देते रहते हैं और जल से भरा पात्र-कलश भी गुफिका मुह के बाहर रखा जाता है। संस्कार में पठित निम्नांकित मंत्र भी जीवन प्रधान है।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥३॥

—अथर्व कां १२/प्र० २॥ मं० २३॥

जीवों के लिये प्रभु ने सौ वर्ष की परिधि निश्चित कर दी है इसके पूर्व किसी को भी शरीर त्याग नहीं करना चाहिये। हमारे अन्दर इतनी शक्ति संचित हो कि यदि मृत्यु इस अवधि से पूर्व ही आ जावे तो हम उसे पर्वत के नीचे दबा दें।

५ नामकरण

कतिपय आचार्य सृष्टि की रचना शब्द के साथ स्वीकार करते हैं। रचना में एक ओर लोकों, भवनों और विविध प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है, साथ ही उनके नाम भी चलते हैं। शब्द और शब्द के द्वारा ध्वनित अर्थ अथवा पदार्थ का सह-अस्तित्व बुद्धिगम्य है। शब्द अर्थ में अभिव्यक्ति पाता है और अर्थ शब्द द्वारा ध्वनित होता है। रचना के प्रारम्भ में शब्द और अर्थ दोनों शक्ति और शक्तिमान की भांति एक दूसरे में गुम्फित थे। प्राकृतिक रचना के सम्बन्ध में यह स्वीकृत सत्य ही है। मानव रचना अथवा मानव की कृति परवर्ती युगों की है। परन्तु मानव ने भी अपनी कृतियों को जिन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है अथवा उन्हें जो नाम दिये हैं वे किसी न किसी आधार पर अवलम्बित हैं। प्राकृतिक रचनाओं के नाम उनके गुणों के आधार पर हैं। जैसे प्रथनात् पृथ्वी। पृथ्वी का नाम पृथ्वी उसके फैलाव के कारण है। इसी प्रकार द्यौ का नाम उसकी द्योति ज्योति अथवा प्रकाश के कारण है। चन्द्र का अर्थ आह्लाद देने वाला है। सूर्य का अर्थ प्रेरक है। मानव ने भी अपनी कृतियों का उनके गुणों अथवा विशेषताओं के कारण नामकरण किया।

बालक जन्म लेकर संसार में आ गया। उसकी एक सत्ता है। समाज में वह भी एक इकाई के रूप में उपस्थित है। उसे भी एक नाम मिलना चाहिये। यह नाम उसे किस आधार पर दिया जाय। हमारे पूर्वजों ने इन आधारों की खोज की थी। नामकरण संस्कार में ये आधार वर्तमान हैं। शिशु के जन्म के समय सौर जगत की दृष्टि से कौन ग्रह किस स्थान पर है कौन सा नक्षत्र अपनी गति में उस स्थान पर आ चुका है चन्द्र किस राशि में स्थित है कौन सी तिथि है कौन सा मास है कौन सा पक्ष है और कौन सा अयन है इन सब बातों का ध्यान सन्तानोत्पत्ति के समय किया जाता है। इन्हीं के साथ शब्द के अंगीभूत अक्षरों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। किस नक्षत्र और राशि के साथ किन अक्षरों का सम्बन्ध है इसका गम्भीर दर्शन हमारे पूर्वजों ने किया था। एक एक अक्षर के साथ कोई न कोई दिव्य शक्ति संलग्न है। तिथि और नक्षत्रों के साथ भी देवताओं का सम्बन्ध है। वेद में जहां जहां देवताओं

की स्तुतियां हैं, वहां अपने गुणों के कारण वे आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों क्षेत्रों के विविध पदार्थों का द्योतन करती हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि में तिथियों तथा नक्षत्रों से सम्बन्धित देवताओं के नाम दिये हैं।

ऐतरेय उपनिषद् में जैसे पुरुष के शरीर के विविध अंगों में विविध देवताओं को स्थापित किया गया है वैसे सृष्टि के सभी पदार्थ न्यूनाधिक मात्रा में दिव्य शक्तियों के केन्द्र हैं। जल केवल जल नहीं है, वायु केवल वायु नहीं है अग्नि केवल अग्नि नहीं है। इनमें से प्रत्येक की सत्ता किसी न किसी दिव्य शक्ति से सम्बन्धित है। यह देववाद यद्यपि बहुत्व का सूचक है, पर दार्शनिक दृष्टि ने इस बहुत्व का एकत्व में पर्यवसान भी किया है। यह एकत्व मूल स्रोत की ओर इंगित करता है। परन्तु सृष्टि रूपी पक्ष एकत्व नहीं बहुत्व की अपेक्षा रखती है। यहां बहुत्व है यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। अतः इस बहुत्व के साथ नामों का बहुत्व भी स्वाभाविक है।

सृष्टि पल-पल में नवीन रूप धारण करती है। प्राचीन व्यतीत होता जाता है और नवीन का आविर्भाव होता जाता है। इस नित नूतन प्रसृति के साथ नवीन २ इकाइयां अस्तित्व में आती हैं और उनका नामकरण भी करना पड़ता है। यह नाम कभी तो प्राचीन नामों का ही स्मरण कराते हैं और कभी अपनी नवीनता भी प्रदर्शित करते हैं। जब कोई नवीन सम्प्रदाय उठ खड़ा होता है तो वह अपनी विशिष्टता स्थापित करने के लिये कभी सुन्दर अतीत काल की किसी निधि को अपने अंचल में समेटता है और कभी उसके प्रति अपने विरोध को अभिव्यक्ति देता है। किसी पद दलित जाति का यदि पूर्व-काल स्वर्ण युग रहा है तो वह उसी से प्रेरणा पाकर अपने अवरुद्ध पथ को उन्मुक्त करती है और प्रगति के मार्ग पर आरूढ़ हो जाती है। यदि उसका भूतकाल प्रेरणा प्रद नहीं है, तो अपने बुद्धि वैभव से वह किसी अभिनव मार्ग की खोज करती है और आगे बढ़ जाती है। आर्य जाति का अतीत स्वर्णिम अतीत है वहां प्रचुर भावनाओं की राशि सन्निहित है। हमारे नामकरण संस्कार पर भी उसकी छाया पग-पग पर अनुभूत होती है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार बालक का नामकरण जन्म से दस दिन छोड़ कर ग्यारहवें १०१ वें अथवा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो करना चाहिये और दो अथवा चार अक्षरों का नाम रखना चाहिये। जिसको प्रतिष्ठा की कामना हो वह दो अक्षर का नाम रखे और जिसे ब्रह्म वर्चस् की कामना है वह चार अक्षर का नाम रखें। बालक का नाम दो या चार अक्षरों का हो और बालिकाओं का नाम तीन या पांच अक्षरों का हो। अक्षरों में भी घोष अक्षर तथा अन्तस्थ वर्णों को प्रधानता देनी चाहिये। अन्तस्थ वर्णों में य र ल व ये चार वर्ण आते हैं और घोष अक्षरों में प्रत्येक वर्ग के तीसरे चौथे तथा पांचवे अक्षर आते हैं। पुरुषों के नाम ह्रस्व तथा अन्त में ह्रस्व स्वर वाले और स्त्रियों के नाम तद्धितान्त तथा अन्त में दीर्घ स्वर वाले होने चाहिये। नक्षत्र अर्थात् नक्षत्र वृक्ष नदी, पर्वत पक्षी अहि प्रेष्य (दासी आदि) तथा भयंकर

नाम निषिद्ध हैं। ये नाम बालक बालिका में से किसी के भी नहीं होने चाहिये। व्यवहार में नाम का ही प्राधान्य है और नाम में बट्टा न लगे, यह लोकोक्ति भी प्रख्यात है। अत मानव अपना नाम रखने के लिये प्राणपण से जुट जाता है। इसी हेतु नाम ऐसा रखना चाहिये जो शुभ सूचक हो किसी आदर्श का द्योतक हो तथा कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की ओर ले जाने वाला हो।

प्रत्येक कुल की एक परम्परा होती है उस परम्परा की रक्षा करने के लिये भी नाम का चुनाव किया जाता है। कभी कभी कुल देवता के नाम पर भी नाम रखा जाता है। किसी प्रख्यात सन्त महात्मा अथवा वीर पुरुष के नाम पर भी माता पिता अपने शिशु का नाम रख लेते हैं। नाम में लौकिक भावना के साथ आध्यात्मिक भावना भी सभी रहती है। जीवन की सफलता अथवा समाज में गौरवशाली पद प्राप्त करना दोनों ही नामकरण की पृष्ठ-भूमि में क्रियाशील रहते हैं। प्राचीन नामों के साथ कहीं कहीं माता का नाम भी दृष्टिगोचर होता है, यथा सत्यकाम जाबाल और कहीं कहीं पिता का नाम भी साथ में आया है जैसे श्वेत केतु औद्दालकि। पिता के नाम का साह चर्य महाराष्ट्रिय तथा गुर्जर प्रदेशीय नामों के साथ अभी तक चला आता है।

नामकरण के साथ बच्चा समाज का एक घटक बन जाता है। समाज में उसकी तथा उसके कुल की क्या स्थिति है, यह भी हमारी वर्ण व्यवस्था के आधार पर नाम से ही प्रकट हो जाती है। मनु के शब्दों में—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात क्षत्रियस्य बलान्वितम ।
वैश्यस्य धन संयुक्त शूद्रस्य तु जुगुप्सितम । मनु० स्मृ० २/ ३१/

ब्राह्मण का नाम माङ् गल्य का द्योतक हो क्षत्रिय का नाम बलपरक हो वैश्य का नाम धन संयुक्त हो और शूद्र का नाम जुगुप्सित तथा हीन भावना का द्योतक हो। ब्राह्मण के नाम के साथ शर्मा क्षत्रिय के नाम के साथ वर्मा वैश्य के नाम के साथ गुप्त और शूद्र के नाम के साथ दास शब्द प्रशस्त माने गये। यह तथ्य संकेत करता है कि जन्म परक वर्ण व्यवस्था की जड़ें इस देश में बहुत गहरी जमीं थी। जहां तक रज-वीर्य की प्रधानता का प्रश्न है वह विज्ञान सम्मत है परन्तु कब किस व्यक्ति के अन्दर किस प्रकार की मानसिक स्थिति होती है इसका निर्णय करना कठिन है। सामान्यत ब्राह्मणी माता के गर्भ से ब्राह्मण सन्तान ही उत्पन्न होनी चाहिये पर लोक में इसके अनेक अपवाद दिखाई दिये हैं। अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी नहीं कहा जा सकता है। वशिष्ठ व्यास भरद्वाज आदि के ऐतिहासिक आख्यान भी नहीं सिद्ध करते हैं। अत महर्षि दयानन्द ने इस युग में वर्ण व्यवस्था को गुण कर्म एवं स्वभाव की आधार भूमि प्रदान की। कुछ ऐसा ही व्यतिक्रम महा भारत काल में दिखाई दिया होगा तभी तो व्यास ने लिखा है कि जिस व्यक्ति में जिस वर्ण के गुण दिखाई दें उसे उसी वर्ण का मान लेना चाहिये।

नामकरण सांस्कृतिक दृष्टि से जिन सिद्धान्तों पर आधारित है, उनकी उपयुक्तता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। पीछे जिन वर्णों का उल्लेख नामकरण के चुनाव के साथ किया गया है उनसे जहां उच्चारण की सुकरता अभिव्यक्त होती है, वहां शील एवं सौजन्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है। नामकरणसंस्कार में जो धार्मिक भावना संसम्न है वह भी व्यक्ति को श्रद्धालु तथा निष्ठावान बनाने के लिये उचित है। सूतिका गृह अपवित्र माना जाता है। अतः नामकरण संस्कार से पूर्व उसकी पुताई आदि की जाती है। मां तथा शिशु दोनों स्नान करते हैं। अग्निहोत्र का विधान प्रत्येक संस्कार का अनिवार्य अंग है। वह भी गृह के संशोधन में सहायक है। हवन की साधारण विधि के उपरान्त मां बच्चे को लेकर हवन की वेदी पर उपस्थित होती है और पति के दाहिनी ओर खड़ी होकर बच्चे का सिर उत्तर दिशा की ओर करके उसे पति के हाथों में दे देती है फिर पति के पीछे से आकर उसके वाम भाग में खड़ी हो जाती है और पति उसी प्रकार उस बच्चे को उसकी गोद में दे देता है। तिथि एवं नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम से आहुतियां दी जाती हैं। पिता बच्चे की नासिका से निकलती हुई श्वास प्रश्वास को हाथ रख कर स्पर्श करता है और कहता है—

> कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
> यस्य ते नामा मन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ।
> भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥
> "यजु० अ० ७/मं० २९ ॥

हे वत्स ! तू कौन है कौन सा है किसका है। किस नाम वाला है। जिस तेरे नाम को हम समझते हैं और जिस तुझको सोम के द्वारा तृप्त करते हैं सद्‌चित् आनन्दस्वरूप प्रभु हमें प्रजाओं के साथ सुन्दर प्रजा वाला बनावें। वीरों के द्वारा सुन्दर वीरों वाला बनावें और पोषण शक्तियों के साथ सुन्दरता पूर्वक पुष्ट करें।

ऊपर जो प्रश्न आये हैं उनका उत्तर उन्हीं के शब्दों में निहित है। क जहां प्रश्न वाचक है वहां आनन्द वाचक भी है और उससे प्रजापति का अर्थ भी निकलता है। उत्तर है बच्चा आनन्द का है। आनन्द मयी सत्ताओं में वह अन्यतम है। वह आनन्दरूप प्रजापति का है। उसका नाम आनन्द ही है। सोम द्वारा जिस तृप्ति का विधान किया गया है, वह तृप्ति पवमान सोम की अनन्त धाराओं में विद्यमान है। सूर्य की रश्मियों में सोम की धारायें उपस्थित हैं और हमारे वायु मंडल को तृप्ति प्रदान कर रही हैं। सूर्य कुण्ड में जो ऊर्ध्व लोकों के सोम की आहुतियां पड़ती हैं वे सूर्य-किरणें द्वारा ओषधियों वनस्पतियों आदि में सोम का आधान करती हैं। गाय के दूध तथा घृत में सोम की यह मात्रा अधिक रहती है और माता के स्तन्य में भी सोम प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहता है। बच्चे की तृप्ति का यह पूर्ण साधन है।

मन्त्रमें बच्चे इस प्रकार को आशीर्वाद दिया जाता है वत्स आज का यह क्षण तुझे दिन दिखावे दिन तुझे रात्रि को दे दे। रात्रि तुझे अहोरात्र की ओर से आय। अहोरात्र तुझे पक्षों के लिए और पक्ष तुझे मासों के लिए, मास तुझे ऋतुओं के लिए और ऋतुयें तुझे संवत्सर के लिये और एक एक संवत् सर तुझे वृद्धावस्था तक की आयु भोगने के लिए प्रदान करे। तू आयुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी और श्रीमान हो।

नामकरण संस्कार इस प्रकार बच्चे के सामाजिक महत्व को प्रकट करता है। उसका नाम सद्गुणों का द्योतक होने के कारण उसे संस्कार अथवा संस्कृति की ओर ले जाता है। जब हम बच्चे को नाम लेकर बुलाते हैं तो मानो उसका अन्तःकरण बाल्यकाल से उसनाम के साथ लगा चला जाता है। बच्चे को इन्हीं दो का संस्कार करता है। इन्हीं का परिशोधन उसे उत्कर्ष-पथ का पथिक तथा उन्नयनशील बनायेगा।

६ निष्क्रमण

निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है बच्चे को घर के वायु मंडल से निकाल कर बाहर के वायु मंडल में ले जाना। यह सर्वविदित है कि घर के वायु से बाहर स्वच्छ मैदानों का वायु शुद्ध होता है। घर के वायु मंडल को शुद्ध करने के लिये अग्निहोत्र अधिक सहायक है। बाहर भगवान के विधान में निरन्तर अग्निहोत्र चलता रहता है। वायु, अग्नि विद्युत सूर्य चन्द्र आदि संशोधक हैं। घर से बाहर निकलिये मानवकृत मूत्र-पुरीष के रूप में गन्दगी पग-पग पर दृष्टि गोचर होगी। एक घंटे के पश्चात अथवा कुछ अधिक समय के उपरान्त वह गन्दगी सूर्य की रश्मियों के पड़ने से समाप्त हो जाती है। सूर्य की रश्मियों में प्राणमयी धाराओं के साथ दाहक अथवा शोषक अंश भी विद्यमान है। विद्युत की तड़तड़ाहट न जाने कितने कीटों को विनष्ट कर देती है। वायु के सामान्य रूप में तो सशोधकता है ही उसके प्रभंजन रूप में और भी अधिक है। आंधी का वेग महीनों के संचित कूड़े-करकट को अपने साथ उड़ा ले जाता है। चन्द्र की सौम्य किरणें प्रशान्त समुद्र को भी उद्वेलित कर देती हैं। जल-प्लावन भी उस समय सशोधक रूप धारण कर लेता है। अत बच्चे को बाहर के वायु मंडल में भ्रमण कराने का एक अर्थ हुआ, उसे गृह की अपेक्षा अधिक स्वच्छ वायु मंडल में ले जाना। इसका एक अन्य अर्थ भी है। विधान के अनुसार पारस्कर गृह्यसूत्र बालक के जन्म से तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन रात्रि में बालक को चन्द्र दर्शन कराने की आज्ञा देता है।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस दिन 'तच्चक्षु' इस मन्त्र का पाठ करते हुए बालक को सूर्य का दर्शन

---

१ जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्न स्तस्य तृतीयायाम्।

पारस्कर गृह्य सूत्र।

कराना चाहिए ।[२]

इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि बच्चे को एक परिवार से हटा कर विशाल ब्रह्माण्डरूपी परिवार के सम्पर्क में लाया जाय। सूर्य और चन्द्र सौर परिवार के दो प्रमुख अंग हैं। हमारी पृथ्वी के लिए उनका विशेष महत्व है। दिन रात और ऋतुओं का क्रम इन्हीं पर अवलंबित है। मानव शरीर के लिये दोनों स्वास्थ्य-वर्द्धक हैं। संकुचित सीमा से निकाल कर विशाल क्षेत्र में प्रवेश कराना तन और मन दोनों के लिये हितकर है। बच्चे की दीर्घायुष्य पर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। विधान में निम्नांकित मंत्र पढ़े जाते हैं।

ॐ० अङ्०गा दङ्०गात्सम्भव सि हृदयादधि जायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १ ॥
ॐ० प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ २ ॥
गवां त्वा हिंकारेणावजिघ्रामि । सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥
—पार० का० १/क० १८ ॥

पिता इन मन्त्रों से पुत्र के सिर का स्पर्श करता है और कहता है पुत्र ! तू मेरे अंग अंग से उत्पन्न हुआ है तू मेरे हृदय का टुकड़ा है। तू मेरी ही आत्मा है। ऐसा तू सौ वर्ष तक जीवन धारण कर। प्रजापति के हिंकार से मैं तेरे सिर को सूँघता हूँ। तू १०० नहीं सहस्रों वर्षों तक जीवित रह। मैं गौओं के हिंकार से तेरे सिर को सूँघता हूँ। तू दीर्घ जीवी बन। आगे के मन्त्रों में भी जो बच्चे के दक्षिण तथा वाम कान में जपे जाते हैं इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है। अन्त में जब बालक को आशीर्वाद दिया जाता है, तब भी त्वम् 'जीव शरदः शतम्' वर्द्धमान शब्दों का ही प्रयोग होता है।

इस प्रकार यह संस्कार सांस्कृतिक दृष्टि से बच्चे को पवित्र वायु मंडल का सेवन कराता है और उसे दीर्घायुष्य तक पवित्र रहने की प्रेरणा देता है। संकीर्णता से विशालता की ओर उन्मुख होना संस्कृत-जीवन की प्रमुख विशेषता है।

७ अन्न प्राशन

विगत संस्कार में जिस बाह्य वायुमंडल का उल्लेख हुआ है, उसमें वायु के साथ जल और अन्न भी सम्मिलित हैं। तीनों ही जीवन के लिये आवश्यक उपादान हैं। प्रारम्भ में बच्चा माँ के दुग्ध पर अवलम्बित रहता है पर वह दुग्ध भी माता के अन्न सेवन की ही देन है। यह दैव-संयोग है कि यह दुग्ध माता के स्तनों में सदैव तो नहीं किन्तु बच्चे की उत्पत्ति के समय ही उत्पन्न होता है और कुछ दिनों तक स्थित रहता है। इस दूध के साथ माँ का हृदय लगा हुआ है। आयुर्वेद के आचार्यों

२ चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ।
आश्वलायन गृ[illegible]

का मत है कि माता को कुछ समय तक ही बच्चे को दूध पिलाना चाहिये। जब बच्चे के दांत निकल आवें तो उसे दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिये। इससे माता की शक्ति में दुग्ध-क्षरण से जो न्यूनता आती है वह दूर हो जायगी। माता के दूध का स्थान बाहर के वायु मंडल की सामग्री ही ले सकती है। इस सामग्री में जैसा लिख चुके हैं अन्न-जल और वायु की प्रधानता है। इन तीनों के मूल में भी तेज है। तेज का प्रतीक सूर्य है। सूर्य के अभाव में मानव की प्राण शक्ति म्रियमाण हो जाती है।

शरीर की सत्ता में मन प्राण और वाणी तीन ही प्रमुख हैं। इनमें मन अन्न से बनता है प्राण जल से बनता है और वाणी तेज से बनती है। जैसे दूध के बिलोने पर उसके सूक्ष्म अंश मक्खन के रूप में ऊपर आ जाते हैं वैसे ही अन्न-जल और तेजके मन्थन का परिणाम उनके सूक्ष्म अंश मन प्राण और वाणी के रूप में प्रकट होता है।

जिस अन्न का हम सेवन करते हैं उसका स्थूल भाग मल के रूप में बाहर निकल जाता है। उसका जो सूक्ष्म भाग है उससे मांस बनता है और जो सूक्ष्मतम भाग है उससे मन बनता है। इसी प्रकार जो जल हम पीते हैं उसका स्थूल भाग मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है तथा सूक्ष्म भाग रक्त बनता है और सबसे सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। उष्मता उत्पन्न करने वाले जिस तैजस पदार्थ का हम सेवन करते हैं उसका स्थूल भाग हड्डी बनता है बीच का भाग मज्जा बनता है और अन्तिम सूक्ष्म भाग से वाणी बनती है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुये जीवन के इन्हीं तीन उपादानों पर बल देता है। अन्न से मन कैसे बनता है इसे समझाने के लिये उसने श्वेतकेतु को १५ दिन उपवास रखने की आज्ञा दी। श्वेत केतु ने अन्न छोड़ दिया परन्तु जल पीता रहा। पन्द्रह दिन बाद जब पिता ने उसे वेद-पाठ करने के लिये कहा तो निर्बलता के कारण वह पाठ करने में असमर्थ रहा। पिता ने उसे कुछ खाने के लिये आज्ञा दी। अन्न-सेवन से मानसिक निर्बलता दूर हुई और वह वेद पाठ करने में समर्थ हुआ। यह कहानी सिद्ध करती है कि मानसिक शक्ति अन्न पर अवलम्बित है। जीवन जल से स्थिर रह सकता है पर मन अन्न के अभाव में अशक्त हो जाता है। वाणी भी एक अद्भुत शक्ति है। इसके बिना सामाजिक व्यवहार नहीं चल सकता। वाणी के द्वारा ही मैं अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता हूं। वाणी की विकसित शक्ति वेदों और ग्रन्थों के रूप में न जाने कब से मानवता की ज्ञान निधि के रूप में सुरक्षित है। यह हम सबका पथ प्रदर्शन करती है। वाणी के इस प्रयोग द्वारा मैं आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व के व्यास ऋषि से वार्तालाप कर सकता हूं। उनसे भी और पूर्व के मुनियों की शिक्षाओं को उपलब्ध करके अपना जीवन सुधार सकता हूं। इस प्रकार जीवन के ये तीनों ही अनिवार्य तत्व बाह्य वायु मंडल

से उपलब्ध होते हैं। यदि हम अन्न का विस्तृत अर्थों में प्रयोग करें तो यह समस्त सामग्री अन्न का ही रूप जान पड़ेगी। अन्न प्राशन संस्कार में अन्न के ये तीनों ही रूप विद्यमान हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥

घृतौदनं तेजस्काम ॥ २ ॥

दधि मधु घृत मिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥ ३ ॥

छठे महीने में अन्नप्राशन करना चाहिये। जिनको अपना बालक तेजस्वी बनाना है, उन्हें इस अवसर पर बच्चे को घृतयुक्त भात खिलाना चाहिये। किसी किसी के मत में भात के साथ दही शहद और घी तीनों मिले रहने चाहिये। अग्निहोत्र की सामान्य विधि करके भात की आहुतियाँ मन्त्र पढ़ कर दी जाती हैं जिनमें निम्नांकित मन्त्र संस्कार की महत्ता के द्योतक हैं।

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।

सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा

इदं वाचे इदन्नमम ॥ १ ॥ ऋ० मं० ८/सू० १०० ॥

वाजोऽनो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति।

वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयं स्वाहा।

इदं वाचे वाजाय। इदन्नमम ॥ २ ॥ य० अ० १८ मं० ३३

देवों ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उसी का विविध रूपों वाले पशु अर्थात् जीव बोलते हैं। यह वाणी धेनु है आनन्दमयी है। इसी से अन्न-बल का दोहन किया जाता है। निकटता से स्तुति की गयी यह धेनु रूपा वाणी हमें प्राप्त हो।

वाज अर्थात् अन्न आज हमें दान की प्रेरणा करता है। वही देवों को ऋतुओं के द्वारा समर्थ बनाता है। वही हमें वीर पुत्र देता है। मैं भी इस वाज का धनी बन कर समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त करूं। आगे के मन्त्रों में कहा गया है कि मैं प्राण के द्वारा अन्न का भक्षण करता हूं। मैं अपान के द्वारा गंध को ग्रहण करता हूं। मैं चक्षु के द्वारा रूप की उपलब्धि करता हूं। मैं श्रोत्र के द्वारा यश को प्राप्त करता हूं। अन्न गन्ध रूप और यश जीवन में प्राप्तव्य पदार्थ हैं। बच्चा अन्न के द्वारा बलवान बने। गन्ध से आह्लादित मन वाला बने। रूप के द्वारा सुन्दरता और यश के द्वारा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे। संस्कृति के विकास में इन सभी का योगदान अपेक्षित है। बच्चे को भात खिलाते समय निम्नांकित मन्त्र पढ़ा जाता है—

ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।

प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

॥ १ ॥ य० अ० ११ मं० ८३ ॥

हे अन्नपते! हमें ऐसा अन्न दो जो नीरोगता देने वाला और

बनाने वाला हो। अन्न के प्रदाता को आप पार करें और द्विपद तथा चतुष्पद सभी को बल दें। अन्त में बालक को आशीर्वाद देते हुये कहा जाता है कि हे बालक! तुम अन्न के स्वामी, अन्न का भक्षण करने वाले और बड़ी आयु वाले बनो।

८ चूड़ा कर्म

बच्चा गर्भ से जिस रूप में बाहर आता है परिवार और समाज उसे बाह्य परिवेश देकर उसी रूप में नहीं रहने देता। बच्चे के प्राकृतिक रूप को समाज नागरिक रूप देना चाहता है। प्रत्येक मानव समाज का एक घटक है और उसे बहुत कुछ सामाजिक मर्यादाओं में बंध कर रहना पड़ता है। सभ्य समाज ही नहीं अर्ध सभ्य एवं असभ्य समाज में भी प्राणी अपने प्राकृतिक रूप में नहीं रहता। उसे अपने गुह्य अंग तो आच्छादित करने ही पड़ते हैं। आच्छादन के साधन भले ही निम्नकोटि के हों पर सामाजिकता के भाव की मांग है कि प्राणी सामाजिक घटक के रूप में समाज के साथ मिल कर चले।

बच्चे के प्राकृतिक रूप में एक बात और भी है जो शारीरिक अंगों से सम्बन्ध रखती है। प्राण शक्ति के बल से बच्चा बढ़ता है। उसके अंग–अंग में वृद्धि होती है और इन अंगों में कुछ ऐसे भी भाग हैं जिनकी वृद्धि को प्राकृतिक रूप में रहने देना अनावश्यक साथ ही हानिकारक भी है। इनमें नख और केश ऐसे ही दो भाग हैं। नख का अर्थ है न ख अर्थात् नहीं है जो इन्द्रिय। इन्द्रिय को काटा जाय तो व्यक्ति को कष्ट का अनुभव होता है परन्तु जो इन्द्रिय नहीं है इन्द्रिय से व्यतिरिक्त है उसके काटने अथवा दूर करने में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। केश भी शरीर का इसी प्रकार का भाग हैं। केशों के कट जाने पर भी मानव को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। बढ़े हुये नाखून और बढ़े हुये केश स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक हैं। नखों में स्वतः विष है। यदि उनमें मल भर गया तो वे और भी अधिक अनिष्ट कर सकते हैं। केश भी विपाक हैं। भोजन में पड़े हुए केश को प्रथम तो जिह्वा ही ग्रहण नहीं कर पाती। यदि कहीं गले तक पहुंच गया तो वह भी उसे निकाल बाहर करना चाहता है और यदि आमाशय में पहुंच गया तो अनेक रोगों का कारण बन सकता है। केश अपने बढ़े हुये रूप में मल तथा कीटकों को भी जन्म देने वाले हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अतः सभी दृष्टियों से केशों को उनके प्राकृतिक रूप में रहने देना अनिष्टकारक है। संस्कारों में चूड़ा कर्म चौल कर्म अथवा मुण्डन इसीलिए विहित समझा गया है।

यह तो वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से संस्कार का स्वास्थकर तथा सौन्दर्यात्मक पक्ष हुआ जिसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से उसका एक अन्य पक्ष भी है। यह पक्ष है शारीरिक वृद्धि के साथ उसका परि

मार्जन प्राथमिक अवस्था के परित्याग द्वारा संस्कृति की ओर विकास की ओर प्रगति करना। मुंडन पुत्र एवं पुत्री दोनों का होता है। स्त्रियां अपने बाल बढ़ाती रहती हैं पर पुरुष उन्हें कटवाता रहता है। स्त्रियों को बाल बढ़ाने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। स्त्रियों की भांति जो पुरुष बालों को नहीं कटवाते उन्हें भी मल तथा कीटाणुओं से बचने के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है। हमारे यहां युग मानक के दिव्य केशों को बढ़ाये रहते हैं। हेमन्त को छोड़ कर अन्य सभी ऋतुओं में ये केश उन्हें कष्ट देते हैं। नापित के अभाव में भी केश बढ़ जाते हैं और कष्ट देते हैं। सेना में सैनिक क्षौर कर्म स्वयं कर लेते हैं पर कभी-कभी नापित की आवश्यकता उन्हें भी पड़ जाती है। वनों में निवास करने वाले प्राचीन ऋषियों के सामने भी क्षौर कर्म की समस्या रही होगी। अत जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गयी, नापित का कर्म भी वाञ्छनीय बनता गया। मुंडन संस्कार में जो सांस्कृतिक दृष्टि है, उसका भी अपना महत्व है। आर्य सभ्यता में शिखा एवं सूत्र (यज्ञोपवीत) दोनों सांस्कृतिक महत्व रखते हैं। यज्ञोपवीत पर आगे लिखा जायगा। शिखा के सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि वह मुंडन के समय अथवा द्वितीय बार के मुंडन के अवसर पर जिस स्थान पर रखी जाती है वह आयुर्वेद के अनुसार समस्त शिराओं का सन्धि स्थान है। वहीं रोमों का आवर्त है। ऐतरेय उपनिषद ने इसी स्थान को विदृति नाम का द्वार कहा है। आत्मा इसी द्वार से शरीर में प्रविष्ट होती है और मोक्ष के समय इसी को विदीर्ण करके शरीर से निकलती है। यह स्थान मर्म स्थान समझा जाता है जिस पर घातक आघात लगते ही मृत्यु हो जाती है। इसी का एक नाम ब्रह्मरन्ध्र भी है। मुक्ति सांस्कृतिक विकास का चरम बिन्दु है। अत मुंडन और मुंडन के समय शिखा का धारण हमें संस्कृति के इस विकास की सूचना देने वाला है। जो प्रथा लक्ष्य की ओर संकेत करे, वह निस्संदेह श्लाघनीय एवं वरणीय है।

सुश्रुत तथा चरक के अनुसार केश-कर्तन शोभादायक आयुष्यकर तथा उत्साह वर्द्धक है। यथा—

(१) पापोपशमनं केश नख रोमापमार्जनम्।
हर्ष लाघव सौभाग्य करमुत्साह वर्धनम् ॥
(चिकित्सा स्थान) २४/७२

(२) पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपं विराजनम्।
केशश्मश्रु नखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम् ॥

सुश्रुत के अनुसार केशों नखों तथा रोमों के दूरीकरण से अथवा अपमार्जन से प्रसन्नता स्फूर्ति सुन्दरता तथा उत्साह की वृद्धि होती है। इससे पापों का शमन भी होता है। चरक के अनुसार भी सिर तथा दाढ़ी के बालों और नखों के काटने से शक्ति स्वास्थ्य पवित्रता तथा सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। विधि में पठित निम्न लिखित मन्त्र भी इस मत का समर्थन करता है:—

—ॐ येन भूयश्च रात्र्यं ज्योक् च पश्याति सूर्यम्।
तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये ॥
आ० गृ० सू० १/१७/१२।

जिस साधन के द्वारा तू बार-बार रात्रि की ज्योति चन्द्रमा को तथा दिन की ज्योति सूर्य को देखता है उसी के द्वारा मैं आयु-यश तथा कल्याण के लिये इस केश वपन रूपी कर्म को करता हू। इसी प्रकार आगे की विधि में भी जीवन और दीर्घायुष्य की बात कही गई है। यजुर्वेद का निम्नांकित मन्त्र भी इसी तथ्य का समर्थन करता है—

ॐ निवर्त्तयाम्या युषेऽन्नाद्याय, प्रजननाय।
रायस्पोषाय सु प्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥
(य० अ० ३/मं० ६३)

केश कर्तन के द्वारा आयु अन्न भक्षण की शक्ति प्रजनन शक्ति पुष्टि सन्तति तथा पराक्रम की वृद्धि होती है। दीर्घायुष्य तथा वर्चस–शक्ति की उपलब्धि अथर्व० ६/६८ म भी वर्णित है।

चूड़ाकर्म संस्कार बालक के जन्म से तीसरे वर्ष अथवा एक वर्ष में ही सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्लपक्ष मे करना चाहिये। विधि में केश काटने के समय कुशों का भी उपयोग होता है। कुश अपने यहां पवित्र माने गये है। विधि में केश कर्तन का कार्य सर्व प्रथम पिता करता है उसके पश्चात् वह नापित से कहता है कि वह सावधानी से केशों को काटे। अथर्व ६/६८ के अनुसार सविता ने छूरे से राजा सोम और वरुण का केश-कर्तन किया था। विद्वान (योग्य) नापित भी यही कर्म करता है। यदि नापित अनाड़ी हुआ और केश-कर्तन के समय प्रमाद कर गया तो महती विपत्ति खड़ी हो सकती है। कुश अथवा दर्भके साथ शमी वृक्ष के पत्ते भी इस संस्कार म रखने पड़ते है। कटे हुए केशों को दर्भ और शमी वृक्ष के पत्तों के साथ गोबर से उठा कर शरावा में अथवा आटे की बनी हुई लोई म रखते जाते है और उसे या तो गोष्ठ में गाड़ देते है अथवा नदी या तालाब मे बहा देते है। केश काटने के समय जमदग्नि कश्यप तथा देवों की त्र्यायुष का स्मरण किया जाता है और बच्चे के लिये भी उस त्र्यायुष प्राप्ति की कामना की जाती है। अन्त में बच्चे को आशीर्वाद दिया जाता है कि वह सौ वर्ष तक बढ़ता हुआ जीवन धारण करे।

६ कर्ण-वेध—

कर्ण-वेध संस्कार का सम्बन्ध मुख्यरूप से आयुर्वेद के साथ है। कर्ण का छेदन और उनमें बाली का पहनना अथवा अन्य आभूषण का धारण करना आयुर्वेद के मतानुसार अण्डकोष अथवा आन्त्र वृद्धि को रोकता है। रक्षा और शोभा दोनों ही इस संस्कार के मूल में कार्य करते हैं। रोग से रक्षा और आभूषण धारण करने से शोभा सम्पन्न होती है। सुश्रुत चिकित्सा स्थान १६ २१ के अनुसार–

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ।
व्यत्यासा सा शिरां विध्येद् अन्त्रवृद्धि निवृत्तये ॥

अन्त्र-वृद्धि को रोकने के लिये शंख के ऊपर कर्ण के नीचे भाग में शिरा का वेधन करना चाहिये। सुश्रुत के सूत्र स्थान अध्याय १६१ में एक विज्ञान सम्मत वर्णन आया है जिससे सूचित होता है कि कान की लौर के कुछ छिद्र सूर्य के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देते हैं। इन्हीं छिद्रों से कर्णवेध के समय सूचिका पार होनी चाहिए।

कर्ण-वेध का समय क्या हो इस विषय में आचार्यों के मत एक समान नहीं हैं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार यह समय जन्म से तीसरा अथवा ५ वाँ वर्ष है। अन्य आचार्य यह समय जन्म से १० वें या १२ वें दिन निर्धारित करते हैं। कुछ ऐसा भी कहते हैं कि यह संस्कार जन्म से छठे सातवें आठवें अथवा बारहवें महीने में सम्पन्न किया जाय। शैशवावस्था में जब बच्चा माँ का दूध पी रहा है शरीर के सभी अवयव कोमल होते हैं। अतः कर्ण-छेदन के समय बच्चे को विशेष कष्ट नहीं होता। परन्तु जहाँ तक रोग निवारण का सम्बन्ध है यह संस्कार तीसरे अथवा पाँचवें वर्ष में ही किया जाय तो उत्तम है, क्योंकि उस समय तक शिरायें सबल हो जाती हैं और उनके छेदन का प्रभाव अस्थियों पर विशेषरूप से पड़ सकता है। कोमल अवस्था में ऐसा होना सम्भव नहीं है। महर्षि दयानन्द ने कर्ण छेदन का कार्य वैद्य को सौंपा है जो शरीर शास्त्र का पंडित होता है। अन्य आचार्य इस कार्य का भार स्वर्णकार पर डालते हैं। सूचिका के सम्बन्ध में भी तीन मत हैं। किसी किसी के मत में यह सूचिका स्वर्ण की चाहिये और किसी किसी के मत में यह चाँदी अथवा लोहे की हो। सम्भव है यह सूचिकायें वर्ण भेद अथवा आर्थिक अवस्था पर अवलम्बित हों। शातकुम्भमयी सूची छेदन के लिये शोभन समझी गयी है। विधान के अनुसार बालक का सर्व प्रथम दाहिना कान और बालिका का बायां कान छेदा जाता है। बालिकाओं की नाक भी छेदी जाती है जिसमें आयुर्वेद तथा सौन्दर्यशास्त्र दोनों कार्य करते हैं।

मन्त्रों का विनियोग प्रत्येक विधान में पाया जाता है। बालक का जब दाहिना कान छेदा जाता है तब 'भद्र कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा' आदि मंत्र पढ़ा जाता है और बायें कान के छेदन के समय 'वक्ष्यन्ती वेदागनी' आदि मंत्र का पाठ होता है। बच्चा कष्ट को अनुभव न करे कर्ण छेदन की पीड़ा की ओर उसका ध्यान न जाने पावे इसके लिये उसे माता की गोद में बिठा दिया जाता है और कुछ खिलौने तथा मिठाइयां उसके आगे रख दी जाती हैं।

यद्यपि यह संस्कार प्रमुखतः रोग निवृत्ति तथा शोभाधान से सम्बन्ध रखता है तथापि व्यक्तित्व के विकास में जिन न्यूनताओं के निराकरण की बात हम पूर्व लिख चुके हैं उससे सांस्कृतिक विकास के लिये भी यह संस्कार उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

'भद्र कर्णेभिः श्रृणुयाम' आदि मन्त्र से एक सूचना और प्राप्त होती है। यह

है कर्णवेध कर्म के साथ अक्षरारम्भ करना। जिस शब्द का कानों द्वारा श्रवण हो वह शब्द शब्द या ध्वनि के रूप में है। जो सुना जाता है वह आकाश में अपनी विशिष्ट तरंगों से समुत्क रहता है। इन तरंगों का ज्ञान प्राप्त करना और तदनुकूल ध्वनि को एक रूप देना मानव विज्ञान की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने ध्वनियों के रूपों का निर्माण किया। इस निर्माण में हमारे मुख की आकृति भी जो ध्वनि उच्चारण के समय बनती है सहायक सिद्ध हुई होगी। अ ध्वनि के उच्चारण में कंठ जिस स्थिति में होता है वह उस स्थिति से भिन्न है जो अन्य ध्वनियों के उच्चारण में रहती है। लिपि की निर्मिति में आकाशीय तरंगों तथा कंठ आदि की स्थितियों से पूरा लाभ उठाया गया है। लिपि में निःसन्देह विकास हुआ है। ब्राह्मी लिपि देवनागरी लिपि तक आते आते बहुत कुछ सुसज्जित एवं समलंकृत हो चुकी है। परन्तु यह कार्य सभ्यता के निदर्शक तथा सौन्दर्य शास्त्र के अभिव्यंजक तत्वों से सम्बन्धित है। वर्तमान लिपियों का ज्ञाता प्राचीन लिपियों को पढ़ने में जिस असमर्थता का अनुभव करता है वह सम्भवतः इसी लिये कि वे लिपियां विकास के विभिन्न स्तरों से निकल कर आज एकदम अपरिचित सी हो गयी हैं। मेसोपोटामियां में ईसा से १३६० वर्ष पूर्व की जिस लिपि में इन्द्र वरुण और नासत्य जैसे वैदिक देवों का उल्लेख है वह कठिनाई से पढ़ी जा सकी। सिन्धु की घाटी में जो खुदाई हुई है उसमें प्राप्त लिपि अभी तक अपने विशुद्ध रूप में नहीं पढ़ी जा सकी। सम्भव है, लिपि को सौन्दर्य प्रदान करने में भिन्न भिन्न जातियों ने भिन्न भिन्न उपादानों का आश्रय लिया हो। इस समय भी पंजाबी बंगाली तथा गुर्जर लिपियां देवनागरी लिपि से समता रखते हुये भी बहुत कुछ भिन्न अक्षरांकन की क्रिया सर्व प्रथम उस समय अनुभूत हुई होगी जब स्मृति ने साहित्य की विपुलता को कंठस्थ रखने में दुरूहता का सामना किया होगा। आज तो साहित्य का भंडार इतना विशाल है कि उसे समग्ररूप से कंठस्थ रखना एकान्त असम्भव है।

अक्षरारम्भ का संस्कार इसी आधार पर परवर्ती काल का संस्कार जान पड़ता है। षोडश संस्कारों में आज भी उसकी गणना नहीं होती परन्तु है यह संस्कार आवश्यक। इससे बालक ज्ञान की उस निधि में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है जिसे लिपिबद्धरूप में मानव ने सुरक्षित रखा है। इस संस्कार की उपयोगिता को देखते हुये और आयु का ध्यान रखते हुये कर्ण वेध संस्कार के साथ ही यह संस्कार किया जाता है। पांचवें वर्ष में बालक की समझ तथा ग्रहण शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ज्ञान-विज्ञान की विकसित शाखाओं के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सके। कतिपय आचार्यों ने इस संस्कार को आयु के सातवें वर्ष में भी विहित समझा है। यज्ञोपवीत से पूर्व ही यह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये ऐसा भी कई आचार्यों का मत है। आजकल तो शिशु शिक्षा का प्रारम्भ बालक के तीसरे वर्ष से ही हो जाता है। कतिपय आचार्यों ने चौल कर्म (मुण्डन) के

उपरान्त ही इस संस्कार को करने का विधान लिखा है। भवभूति ने वाल्मीकि आश्रम में लव कुश के चौल कर्म की निवृत्ति पर ही वेदत्रयी को छोड़ कर अन्य विद्याओं के सिखाने का उल्लेख किया है। वेद का पठन-पाठन उपनयन के पश्चात् ही प्रारम्भ होना चाहिये। ऐसा प्रायः सभी आचार्यों का मत है।

१० उपनयन

विगत पृष्ठों में जिन संस्कारों का वर्णन किया गया है

वे अप्रत्यक्ष रूप में मानव के सांस्कृतिक विकास में योग देने वाले हैं। उपनयन संस्कार उस प्रकार का नहीं है। यह प्रत्यक्षरूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर देता है।

उपनयन का अर्थ है उप अर्थात् समीप नयन अर्थात् ले जाना। किसके समीप ? उसके समीप जिसे छोड़कर जीवात्मा ने अपने चारों ओर प्राकृतिक आवरणों की सन्निकटता प्राप्त की है। एक से हटना है और दूसरे के समीप पहुंचना है। सांस्कृतिक ज्योति की यही ऊर्ध्वतम शिखा है।

ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में प्रभु से प्रार्थना की गयी है —

परि पूषा परस्तात् हस्तं दधातु दक्षिणम् पुनर्नो नष्टमाजतु।

पुष्टि प्रदाता परम प्रभु ! आपसे मैं बहुत दूर हो गया हूं और दूर होकर कष्ट-क्लेश के जाल में फंसा हुआ निदारुण यातना का अनुभव कर रहा हूं। मेरा अपना यहां कोई भी नहीं है। मेरे तो एकमात्र तुम्हीं हो और तुम्हारी ममता से ही मैं वंचित हूं। प्रभो ! कृपा करो अपने वरदायक दक्षिण हस्त को मेरे सिर के ऊपर रख दो जिसकी छत्र-छाया में आश्वासन की श्वास लेता हुआ मैं अपने खोये हुये को पुनः प्राप्त कर सकूं।

उपनयन इसी अपने के पास अपने को ले जाना है। जीवात्मा उसके समीप कैसे पहुंचेगा ? जिसे पुनरावर्तन का ज्ञान नहीं है पीछे लौटने के मार्ग से परिचय नहीं है, वह कैसे अपने के समीप पहुंच सकेगा। वेद कहता है, इसके लिये प्रथम आचार्य के समीप पहुंचना चाहिए। आचार्य कौन है ? महर्षि दयानन्द के शब्दों में आचार्य उसको कहते हैं जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ-सम्बन्ध क्रिया का जानने हारा छल-कपट रहित अति प्रेम से सबको विद्या का दाता परोपकारी तन मन और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।

निम्नांकित श्लोकों से भी आचार्य के गुणों पर प्रकाश पड़ता है —

१ वेदैक निष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्व शाखायामनालस्यं विप्रं कर्तार मीप्सितम्॥
२ सत्यवाक् धृतिमान दक्ष सर्वभूतदया परः।
आस्तिको वेद निरतः शुचिराचार्य उच्यते॥
वेदाध्ययन सम्पन्नो धृतिमान् विजितेन्द्रियः।

है कर्णवेध कर्म के साथ अक्षरारम्भ करना। जिस मन्त्र का कानों द्वारा ग्रहण हो, वह मन्त्र शब्द या ध्वनि के रूप में है। जो सुना जाता है वह आकाश में अपनी विशिष्ट तरंगों से संयुक्त रहता है। इन तरंगों का ज्ञान प्राप्त करना और तदनुकूल ध्वनि को एक रूप देना मानव विज्ञान की एक श्रेष्ठ उपलब्धि है। धन्य हैं वे आचार्य जिन्होंने ध्वनियों के रूपों का निर्माण किया। इस निर्माण में हमारे मुख की आकृति भी जो ध्वनि उच्चारण के समय बनती है सहायक सिद्ध हुई होगी। अ ध्वनि के उच्चारण में कंठ जिस स्थिति में होता है वह उस स्थिति से भिन्न है जो अन्य ध्वनियों के उच्चारण में रहती है। लिपि की निर्मिति में आकाशीय तरंगों तथा कंठ आदि की स्थितियों से पूरा लाभ उठाया गया है। लिपि में निःसन्देह विकास हुआ है। ब्राह्मी लिपि देवनागरी लिपि तक आते आते बहुत कुछ सुसज्जित एवं समलंकृत हो चुकी है। परन्तु यह कार्य सभ्यता के निदर्शक तथा सौन्दर्य शास्त्र के अभिव्यंजक तत्वों से सम्बन्धित है। वर्तमान लिपियों का ज्ञाता प्राचीन लिपियों को पढ़ने में जिस असमर्थता का अनुभव करता है वह सम्भवतः इसी लिये कि वे लिपियां विकास के विभिन्न स्तरों से निकल कर आज एकदम अपरिचित सी हो गयी हैं। मेसोपोटामियां में ईसा से १३६० वर्ष पूर्व की जिस लिपि में इन्द्र, वरुण और नासत्य जैसे वैदिक देवों का उल्लेख है वह कठिनाई से पढ़ी जा सकी। सिन्धु की घाटी में जो खुदाई हुई है उसमें प्राप्त लिपि अभी तक अपने विशुद्ध रूप में नहीं पढ़ी जा सकी। सम्भव है, लिपि को सौन्दर्य प्रदान करने में भिन्न भिन्न जातियों ने भिन्न भिन्न उपादानों का आश्रय लिया हो। इस समय भी पंजाबी बंगाली तथा गुर्जर लिपियां देवनागरी लिपि से समता रखते हुये भी बहुत कुछ भिन्न अक्षरांकन की क्रिया सर्व प्रथम उस समय अनुभूत हुई होगी जब स्मृति ने साहित्य की विपुलता को कंठस्थ रखने में दुरूहता का सामना किया होगा। आज तो साहित्य का भंडार इतना विशाल है कि उसे समग्ररूप में कंठस्थ रखना एकान्त असम्भव है।

अक्षरारम्भ का संस्कार इसी आधार पर परवर्ती काल का संस्कार जान पड़ता है। षोडश संस्कारों में आज भी उसकी गणना नहीं होती परन्तु है यह संस्कार आवश्यक। इससे बालक ज्ञान की उस निधि में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है जिसे लिपिबद्धरूप में मानव ने सुरक्षित रखा है। इस संस्कार की उपयोगिता को देखते हुये और आयु का ध्यान रखते हुये कर्ण वेध संस्कार के साथ ही यह संस्कार किया जाता है। पांचवें वर्ष में बालक की समझ तथा ग्रहण शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ज्ञान विज्ञान की विकसित शाखाओं के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सके। कतिपय आचार्यों ने इस संस्कार को आयु के सातवें वर्ष में भी विहित समझा है। यज्ञोपवीत से पूर्व ही यह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये ऐसा भी कई आचार्यों का मत है। आजकल तो शिशु शिक्षा का प्रारम्भ बालक के तीसरे वर्ष से ही हो जाता है। कतिपय आचार्यों ने चौल कर्म (मुण्डन) के

उपरान्त ही इस संस्कार को करने का विधान लिखा है। भवभूति ने वाल्मीकि आश्रम में लव-कुश के चौल कर्म की निवृत्ति पर ही वेदत्रयी को छोड़ कर अन्य विद्याओं के सिखाने का उल्लेख किया है। वेद का पठन-पाठन उपनयन के पश्चात् ही प्रारम्भ होना चाहिये। ऐसा प्राय सभी आचार्यों का मत है।

१० उपनयन

विगत पृष्ठों में जिन संस्कारों का वर्णन किया गया है

वे अप्रत्यक्ष रूप में मानव के सांस्कृतिक विकास में योग देने वाले हैं। उपनयन संस्कार उस प्रकार का नहीं है। यह प्रत्यक्षरूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर देता है।

उपनयन का अर्थ है उप अर्थात् समीप नयन अर्थात् ले जाना। किसके समीप ? उसके समीप जिसे छोड़कर जीवात्मा ने अपने चारों ओर प्राकृतिक आवरणों की सघनता प्राप्त की है। एक से हटना है और दूसरे के समीप पहुंचना है। सांस्कृतिक ज्योति की यही ऊर्ध्वतम शिखा है।

ऋग्वेद के निम्नांकित मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गयी है —

परि पूषा परस्तात् हस्तं दधातु दक्षिणम् पुनर्नो नष्टमाजतु।

पुष्टि प्रदाता परम प्रभु ! आपसे मैं बहुत दूर हो गया हूं और दूर होकर कष्ट-क्लेश के पाश में फंसा हुआ निदारुण यातना का अनुभव कर रहा हूं। मेरा अपना यहां कोई भी नहीं है। मेरे तो एकमात्र तुम्हीं हो और तुम्हारी ममता से ही मैं वंचित हूं। प्रभो ! कृपा करो अपने वरदायक दक्षिण हस्त को मेरे सिर के ऊपर रख दो जिसकी छत्र-छाया में आश्वासन की श्वास लेता हुआ मैं अपने खोये हुये को पुन प्राप्त कर सकूं।

उपनयन इसी अपने के पास अपने को ले जाना है। जीवात्मा उसके समीप कैसे पहुंचेगा ? जिसे पुनरावर्तन का ज्ञान नहीं है, पीछे लौटने के मार्ग से परिचय नहीं है वह कैसे अपने के समीप पहुंच सकेगा। वेद कहता है इसके लिये प्रथम आचार्य के समीप पहुंचना चाहिए। आचार्य कौन है ? महर्षि दयानन्द के शब्दों में आचार्य उसको कहते हैं जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ-सम्बन्धी क्रिया का जानने हारा छल-कपट रहित अति प्रेम से सबको विद्या का दाता परोपकारी, तन, मन और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर महाशय पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।

निम्नांकित श्लोकों से भी आचार्य के गुणों पर प्रकाश पड़ता है —

१ वेदैक निष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्व शाखायामनालस्यं विप्रं कर्तार मीप्सितम्॥

२ सत्यवाक् धृतिमान् दक्ष सर्वभूतदया परः।
आस्तिको वेद निरतः शुचिराचार्य उच्यते॥
वेदाध्ययन सम्पन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रिय।

इन श्लोकों में लगभग उन्हीं गुणों का वर्णन है जिनकी ओर महर्षि दयानन्द ने संकेत किया है। आचार्य को वेद में निष्ठावान, धर्मज्ञ, कुलीन और पवित्र होना ही चाहिये। जो सत्यवादी है धृति-सम्पन्न दक्ष, आस्तिक और सर्वभूतों पर दयादृष्टि रखने वाला है, जो चरित्र-सम्पन्न, उत्साही तथा जितेन्द्रिय है, वही सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है। उसी के चरणों में बैठकर, उसी के ज्ञान गर्भ में प्रविष्ट होकर, उसी के आचार-मन को ग्रहण करके शिष्य संस्कृत बन सकता है और जीवन के अन्तिम लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है। अपने खोये हुये को जो प्राप्त करा दे, वियुक्त से संयुक्त करा दे, जीवनादर्श की सिद्धि करा दे, वह आचार्य धन्य है और वह शिष्य भी धन्य है जिसे ऐसा आचार्य प्राप्त हो सके।

अथर्ववेद के निम्नांकित मन्त्र भी आचार्य और उसके ब्रह्मचारी शिष्य के कर्त्तव्यों की ओर निर्देश करते हैं।

१ आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ॥

२ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥

-अथर्व ११/५/१,२

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप रख कर जिस व्रत से दीक्षित करता है वह मानों शिष्य का गर्भ में निवास करना है। मन्त्र में तीन रात्रियों का उल्लेख है। ब्रह्मचारी तीन रात्रियों तक आचार्य के उदर में रहता है। उदर या गर्भ में तीन रात्रि पर्यन्त रहने का सामान्य नहीं विशेष अर्थ है। तीन रात्रियां, तीन समिधायें, प्राण, अपान और व्यान, वाणी, मन और हृदय, मेधा और प्रज्ञा, ऋक्, यजु और साम, ज्ञान कर्म उपासना अथवा भूर्भुवः स्वः का त्रिक ॐ की तीन मात्राओं का ही व्याख्यात रूप है। ब्रह्मचारी को इसी त्रिक से निकल कर अपनी यात्रा पूरी करनी है। तीन रात्रियों तक गर्भ में रह कर, ज्ञान कर्म और भक्ति की धारा में स्नात होकर जब वह स्नातक के रूप में बाहर आता है तब देवता भी उसे इस उत्पन्न हुये नवीन रूप में देखने के लिये एकत्र हो जाते हैं। जब ब्रह्मचारी इन समिधाओं को अग्नि में होम कर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके दृढ़ संकल्प से समन्वित होता है पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक को भी समिधाओं का रूप दे देता है अर्थात् अपने पार्थिव मानसिक तथा बौद्धिक श्रम को समिधाओं के रूप में प्रदीप्त कर लेता है, तब वह प्रदीप्ति से, कटिबद्धता अथवा सन्नद्धता से, अपने श्रम अथवा बहुरव शक्ति से और अपने तप से वह तीनों लोकों को तृप्त कर देता है। उसका शरीर स्वस्थ होता है, उसका मन उत्साही होता है और उसकी प्रज्ञा ज्योतिष्मती होती है। अपने इसी साधन-सम्पन्न द्वारा वह बाहर के भी इनसे सम्बद्ध तीनों लोकों को तृप्त करता है। उसका संयम उसका ज्ञान और उसका आचार, उसकी उत्तम वाणी,

पवित्र आत्मा और शुद्ध हृदय प्राणी मात्र के लिये हितकारी सिद्ध होते हैं। जिस आचार्य के समीप रह कर उसने इस प्रकाश को उपलब्ध किया है वह स्वयं संयमी तथा प्रकाशवान होता है।

उपनयन आचार्य के समीप रहने और ब्रह्मचर्य में प्रवेश करने का ही नाम है जिससे गुरु शक्ति उसे परम गुरु परमात्मा का स्मरण कराये। व्रत यम नियम और वेदाध्ययन उसमें दिव्यता का संचार करें और वह देवताओं के लिये दर्शनीय बन सके। आचार्यों ने इस संस्कार में द्वितीय जन्म का भी रूप देखा है। प्रथम जन्म माता पिता से है। इस द्वितीय जन्म में गायत्री माता है और आचार्य पिता है। अथर्व ने जिस गर्भ का उल्लेख किया है वह आचार्य के समीप ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने का समय है। मनु ने इसे मौञ्जीबन्धन भी लिखा है। व्रतबन्ध भी इसका एक नाम है। व्रती और ब्रह्मचारी बन कर ही मानव अपनी लक्ष्य की सिद्धि करता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेद मध्या प येत्तैनं शौचा चारांश्च शिक्षयेत् ॥

या०स्मृ०/१ १६।

गुरु शिष्य को महा व्याहृतियों के साथ वेद का अध्यापन कराता है तथा पवित्रता और सदाचार को उसके जीवन का अंग बना देता है। प्राय सभी आचार्यों ने इस संस्कार की महत्ता को स्वीकार किया है। संस्कृत व्यक्ति अपने ऐहिक एव आमुष्मिक जीवन को पवित्र बनाता है तथा ऋषियों और देवों का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस प्रकार उपनयन संस्कार प्रत्यक्षत जीवन की संस्कृति से सम्बद्ध है। जीवन को कठोर अनुशासन में रखना दृढ़तापूर्वक सत्य की प्राप्ति में जुटना और पुरातन म्रियमाण जीवन के स्थान पर नवीन आध्यात्मिक जीवन की ज्योति जगाना इस संस्कार की सांस्कृतिक विभूति का निदर्शनमात्र है।

समाज में सभी व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं हैं। कोई मन्द बुद्धि है तो कोई प्रखर-बुद्धि-सम्पन्न है। किसी को व्यापारिक गणित में दक्षता है तो कोई दीन-संत्राण में संलग्न है। हमारे ऋषियों ने इसी प्रकार की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण समाज को चार भागों में विभाजित किया है। मन्द बुद्धि वाला किसी बुद्धिमान के संकेत से शारीरिक श्रम कर सकता है। उसमें स्वत सोचने और विचारने की शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति पवित्रता से भी कोई विशेष लगाव नहीं रखते। इन्हें शूद्र कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति कभी सांस्कृतिक विकास के द्वार में भी प्रवेश करने के अधिकारी नहीं बन पाये। परन्तु इनमें भी जो अपने विशिष्ट शारीरिक कार्य में कौशल प्राप्त करने के लिये थोड़ा सा भी चिन्तन और मनन करते हैं वे विकास की देहली पर पग रख सकते हैं। अतः शूद्र वर्ग के कतिपय श्रमजीवी विभागों को संस्कार-संपन्न किया जाता है। व्यापार में बुद्धि की आवश्यकता रहती है। धनोपार्जन में धन के

सदुपयोग की ओर भी ध्यान जाता है। उद्योग धर्न्धों के साथ बाग लगवाना कूप वाटिका का निर्माण कराना आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे समाज को लाभ पहुँचता है। अत यह वर्ग भी सांस्कृतिक विकास के पथ पर पूर्व से ही चलता आया है और संस्कार तथा दीक्षा का अधिकारी है।

दीन-समाज में मन के साथ हृदय का भी योग रहता है और संस्कृति के उच्च स्तर की अभिव्यक्ति करता है। इनसे भी ऊपर वह बुद्धिजीवी वर्ग है जो चिन्तन के ऊर्ध्व स्तरों में विचरण करता है प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष से प्रेम करता है और इसी हेतु सांसारिक आसक्ति से पराङ्मुख रहता है। ये दोनों ही वर्ग सांस्कृतिक भवन मे प्रविष्ट हो जाते हैं। संस्कार और दीक्षा आगे बढ़ने में इनके लिये विशेष सहायक सिद्ध होते है। इस मीमांसा को ध्यान में रखा जाय तो हमारे पूर्वजों ने शूद्र व्यतिरिक्त व्यक्तियों को जो द्विज की संज्ञा दी है, वह सार्थक सिद्ध हो जाती है। उपनयन का अधिकारी द्विज को ही माना गया है। व्यक्ति की द्विज संज्ञा भी उपनयन के साथ ही प्रारम्भ होती है। माता-पिता से जन्म लेकर भी जब तक कोई व्यक्ति उपनीत नहीं हो जाता तब तक उसे द्विज की संज्ञा नहीं दी जाती।

बुद्धि के विभिन्न स्तरों के कारण उपनयन का समय भी भिन्न भिन्न है। गृह्यसूत्रकारों ने ब्राह्मण के बालक का अष्टम वर्ष की आयु में और बसन्त ऋतु में क्षत्रिय बालक के लिये जन्म से ११ वें वर्ष में तथा ग्रीष्मऋतु में और वैश्य के बालक का बारह वें वर्ष में तथा शरद ऋतु में यज्ञोपवीत करना लिखा है। परिस्थितियों को देखते हुये इस अवधि को बढ़ा भी दिया है और लिखा है कि ब्राह्मण बालक का सोलह वर्ष तक क्षत्रिय बालक का २२ वर्ष तक और वैश्य के बालक का २४ वर्ष की आयु तक यज्ञोपवीत हो जाना चाहिये। इसके उपरान्त विकास का अवसर कम है और इस बात की सम्भावना है कि संस्कृति के जिस स्तर तक वे पहुंच चुके हैं वहांसे पतित हो जायें। मनु ने नियत अवधि में भी कुछ परिवर्तन किया है और लिखा है—

ब्रह्म वर्चस का मस्य कार्य विप्रस्य पंचमें।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्ये हार्थिनोऽष्टमे ॥१॥

ब्रह्म वर्चस्व की कामना वाले ब्राह्मण बालक का पांचवें वर्ष में बलवान होने की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय बालक का छठे वर्ष में और अलौकिक समृद्धि की कामना वाले वैश्य बालक का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत कर देना चाहिये। यदि माता और पिता ने ब्रह्मचर्यपूर्वक संस्कृत जीवन व्यतीत किया है तो उनके बालक भी मनुप्रोक्त आयु में ही दीक्षित होकर श्रेष्ठ बुद्धि श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ धन के धनी बन सकते हैं। अतएव शास्त्रकार ने समयके सम्बन्ध में छूट दे दी है और लिखा है कि यज्ञोपवीत सभी ऋतुओं में हो सकता है। ऐसा कुछ आचार्यों का मत है।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना है, उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व बालक को व्रत रखना चाहिए। इस व्रत में ब्राह्मण का बालक पयोव्रती हो अर्थात् दुग्ध पीकर रहे अन्नादि का सेवन न करे। क्षत्रिय का बालक यवागूव्रती हो अर्थात्

जौ के दलिये में गुड़ मिला कर खावे। वैश्य का बालक आमिक्षा खाती हो अर्थात् श्री खण्ड का सेवन करके रहे। श्री खण्ड में एक भाग दूध और चार भाग दही रहता है तथा उसमें यथायोग्य शर्करा और केसर डाली जाती है।

उपनयन के दिन पूर्व सेवानुसार बालक आचार्य के समीप जाता है। उस दिन क्षौर करा कर वह स्नान कर लेता है और उत्तम वस्त्र पहन कर तथा मिष्ठान्न भोजन करके यज्ञ वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठता है। बालक आचार्य से कहता है 'मैं ब्रह्मचर्य के लिए आपके पास आया हूं। आप कृपा करें जिससे मैं ब्रह्मचारी हो जाऊं। आचार्य उत्तर में कहता है 'बृहस्पति ने जिस रूप में इन्द्र को अमृत वस्त्र पहनाये थे उसी प्रकार मैं तुझे दीर्घायु बल और वर्चस्व के लिए वस्त्र पहनाता हूं। ऐसा कह कर आचार्य यज्ञोपवीत हाथ में लेकर निम्नांकित मन्त्र पढ़ता है—

"ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्य मग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बल मस्तु तेजः ॥१॥
यज्ञोपवीत मसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनो पनह्यामि ॥२॥
॥ पार० का० २ ॥

यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है और प्रजापति के सम्मुख तुम्हें सहज भाव से पहुंचाने वाला है। यह आयुष्य-प्रदायक है, आगे बढ़ाने वाला है शुभ्र है। तुम इसे धारण करो। यह तुम्हें बल और तेज प्रदान करे। तुम आज यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ के योग्य बन गए हो। इस यज्ञोपवीत से मैं तुम्हें यज्ञोपवीती बनाता हूं, यज्ञ कर्म में आबद्ध करता हूं।

जो व्यक्ति यज्ञ के लिए समर्पित हो गया, उसी का जीवन जीवन है। माता पिता से जो जन्म होता है, उसका होना न होना इस जीवन के सामने नगण्य है—

अजातो ह वै तावत् पुरुषो यावन्नयजते ॥ शत० ब्रा० २/३/४

यज्ञ के लिये दीक्षित हो जाना यज्ञोपवीती होना है अर्थात् वास्तविक जीवन में प्रवेश पाना है। देव कर्म में द्विज उपवीती होता है अर्थात् यज्ञोपवीत को बायें स्कन्ध के ऊपर कंठ के पास से निकाल कर दाहिने हाथ के नीचे कटि तक धारण करता है। पितृ कर्म में द्विज प्राचीनावीती होता है, जिसमें यज्ञोपवीत का यह क्रम उलट जाता है अर्थात् दाहिने स्कन्ध से वाम हस्त के नीचे कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। मलोत्सर्ग के समय यज्ञोपवीत वाम में लटका लिया जाता है अथवा उसे दोहरा करके ग्रीवा में लटका लेते हैं। इस अवस्था को निवीती कहा जाता है।

उपनयन संस्कार में आचार्य बालक का नाम पूछ कर उसकी दक्षिण हस्तांजलि को शुद्ध जल से भरता है। फिर अपनी हस्तांजलि जल से भर कर उस जल को

बालक की अंजलि में छोड़ देता है और बालक की हस्तांजलि को अंगुष्ठ सहित पकड़ कर निम्नांकित मन्त्र पढ़ता है —

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां
हस्तं गृह्णाम्य सौ ॥१॥ म० ब्रा० १।६।१६ ॥

असौ के स्थान पर बालक का नाम सम्बोधन में लेकर हस्तांजलि के जल को नीचे पात्र में छुड़ा देता है। इसी प्रकार तीन बार, जल छुड़वाया जाता है।

मंत्र के अनुसार आचार्य बालक के हाथ को पकड़ता है और अपने को सविता तथा अग्नि के रूप में उपस्थित करता है। इसका भाव यह है कि जैसे सविता प्रकाशमय है, प्रेरक है उसी प्रकार मैं भी बालक को प्रेरणा तथा प्रकाश देता रहूंगा। आचार्य का ज्ञान तथा आचरण दोनों ही ऐसे हों जिनसे बालक सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करे और ज्ञान के कोष को अपने मस्तिष्क में भरे। आचार्य को अग्नि का भी रूप दिया जाता है। अग्नि में भी वही तत्व है जो सविता में है। बालक को सूर्य का दर्शन भी कराया जाता है और कहा जाता है 'हे देव सविता ! यह बालक तेरा ही ब्रह्मचारी है। तू इसकी रक्षा कर। बालक को सूर्य के व्रत का अनुसरण करने की आज्ञा दी जाती है। सूर्य परम देव की आज्ञा का निरन्तर बिना किसी आपत्ति के पालन करता रहता है। वह इस कल्याण पथ पर सृष्टि के प्रारम्भ से चल रहा है। ब्रह्मचारी को भी इस कल्याण पथ का पथिक बनना चाहिये।

आचार्य और ब्रह्मचारी दोनों के हृदय चित्त मन और वाणी एक समान हों। बृहस्पति अर्थात् ज्ञान और वाणी के स्वामी प्रभु ने दोनों को इसीलिये नियुक्त किया है। हमारी प्राचीन परम्परा आचार्य को बहुत ऊंचा आसन देती है। आचार्य का हृदय शुद्ध होता है। उसका चित्त शुभ संस्कारों से ओत प्रोत रहता है। उसका मन शिव संकल्पमय होता है और वाणी सुनृत एवं मधुर होती है। ब्रह्मचारी को भी यह सम्पदा प्राप्त करनी है। उसका बाह्य एवं आन्तरिक विकास इसी पद्धति पर चलने से होगा। ब्रह्मचारी के सामने प्राण प्रजापति देव सविता जल ओषधि द्यावापृथिवी विश्वेदेव तथा समस्त प्राणि वर्ग समुपस्थित है। वे ब्रह्मचारी के लिये हैं और ब्रह्मचारी उनके लिये है। बाह्य वायु मंडल में जो कुछ है उसके साथ उसे तादात्म्य स्थापित करना है, क्योंकि वह इनका सूक्ष्म रूप अपने साथ लिये हुये है। इसका संस्कार मानों उसी का संस्कार है। इसकी उपलब्धि मानों ब्रह्मचारी की आत्मोपलब्धि है। इसी की सम्मिली शक्ति उस परात्पर शक्ति के साथ एक करेगी।

उपनयन की विधि समाप्त होने पर ब्रह्मचारी को तीन दिन तक संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह भूमि पर शयन करता है, क्षार रहित भोजन करता है मांस और मद्य से पृथक रहता है। दिन का शयन उसके लिये वर्जित है। यह उपनयन के पश्चात् इस प्रकार से सरस्वती माता के गर्भ में प्रवेश करने की तैयारी

है जो संस्कार की उस दिशा की ओर संकेत करती है, जिसमें आध्यात्मिक संस्कृति का आलोक विकीर्ण हो रहा है।

११ वेदारम्भ

उपनयन का मुख्य प्रयोजन है ब्रह्मचारी को आचार्य के पास ले जाना अथवा परम गुरु प्रभु की समीपता प्राप्त कराना। इसके लिये पूर्व काल में सुगम साधन था। वेद का अध्ययन करना, जो आचार्य के समीप रह कर ही किया जा सकता था। हमारे पूर्वजों ने वेद को स्वतः प्रमाण माना है। उनकी दृष्टि में वेद प्रभु की वाणी है, धर्म का मूल है और मानव को ज्ञान कर्म एवं भक्ति की दिशायें दिखा कर आत्म लीन करने वाला है। मनु ने वेद को पितृ देव और मनुष्यों का सनातन चक्षु कहा है। जो द्विज वेद को छोड़कर अन्यत्र श्रम करता है वह द्विज कहलाने का अधिकारी नहीं है। वेद वह शास्त्र है जो द्विज के कर्तव्य कर्मों का विधान करता है। इसे छोड़ कर जो स्वेच्छा से कर्मनिरत होता है, उसे सद्गति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः उपनयन के साथ ही वेद का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था।

जैसा हम पूर्व संकेत कर चुके हैं ऋक् भूः है यजु भुवः है और साम स्वः है। पृथिवी स्थानीय अग्नि भुवः स्थानीय वायु और स्वः स्थानीय सूर्य है। वेदारम्भ के समय इन्हीं देवों को आहुतियां दी जाती हैं। अथर्ववेद को सुवेद सोम वेद अथवा अध्यात्म वेद कहा जाता है। इसके लिये सोम वेद के नाम पर चन्द्र को आहुति दी जाती है जो आध्यात्मिक प्रवेश की भूमिका का सूचक है।

प्रारम्भ में वेद का अध्ययन श्रवण द्वारा ही सम्पन्न होता था। वेदांग उपवेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ परवर्तीकाल की उत्पत्ति है। साक्षात् कृतधर्मा ऋषियों ने वेद रहस्य के समझने में असमर्थ व्यक्तियों के लिये इनका निर्माण किया है। अतः अध्ययन के क्रम में यह भी सम्मिलित हो गये।

उपनयन में ब्रह्मचारी को इस देव निधि, यज्ञ अथवा वेद के रक्षक बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। वह बृहद् जात वेदस् अग्निदेव के लिये हाथ में समिधा लेकर खड़ा होता है और उससे मेधा तथा सांस्कृतिक वर्चस्व को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। प्रकाश स्वरूप प्रभु उसे आयु दें वर्चस्व दें और जो कुछ उसके अन्दर न्यूनता है उसे पूर्ण करें। सबका प्रेरक प्रभु सविता उसे मेधावी बनावें। रस वती सरस्वती देवी उसे धारणावती बुद्धि प्रदान करें। हिरण्य गर्भ रूपी कमल से उत्पन्न अश्विनीदेव अथवा द्यावा पृथिवी उसे मेधा से ओतप्रोत करें। उसकी वाणी, प्राण, चक्षु श्रोत्र यश तथा बल पुष्ट हों।

वेद का प्रारम्भ गायत्री मंत्र के उपदेश के साथ प्रारम्भ होता है। गायत्री मंत्र को वेदत्रयी का सार कहा जाता है। ओ३म मूल अक्षर है। उसकी तीन मात्रायें अ उ म् तीन व्याहृतियों भू, भुवः स्वः में विकसित हुई हैं और इन्हीं तीनों की परिणति गायत्री के तीन चरणों में हुई है। गायत्री के तीन चरण ही मानों ऋक् यजु तथा साम के प्रतीक हैं। बालक आचार्य के सामने वेदी की उत्तर दिशा में बैठने के बाद

पूर्वाभिमुख बैठते हैं और आचार्य पश्चिम के अभिमुख बैठ कर उसे गायत्री मंत्र का उपदेश देता है। इस उपदेश में वह बालक से गायत्री मंत्र का धीरे धीरे और धीमी मात्रा से उच्चारण कराता है। प्रथम बार ओ३म् के साथ तीन महा व्याहृतियों और गायत्री का प्रथम चरण दूसरी बार इन सबके साथ गायत्री का दूसरा चरण भी और तीसरी बार ओ३म् सप्त व्याहृतियों और सम्पूर्ण गायत्री मंत्र का उच्चारण कराया जाता है।

ओ३म परमेश्वर का मुख्य नाम है। यह सिद्धान्त इसका गान किया जाता है। गायत्री का अर्थ है ओ३म का गान करने वाले का त्राण करने वाली। इस ओ३म् का गान करता रहता है। वह ज्ञानी गायत्री को भी त्राण करने वाली है। तीन महा व्याहृतियां हैं भू भुव और स्व भी जाप है। भू है जो प्राणों से प्यारा है। सुख आनन्द है। इस मंत्र के उच्चारण करने वालों के भी प्रेरक सकल जगत् के प्रेरक देवाधिदेव परमात्मा के वरण करने योग्य भर्ग का वरण करने वाले प्रभु के विशुद्ध तेज का ध्यान और धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरित करे।

इसके पश्चात् आचार्य और बालक दोनों यज्ञवेदि तथा यज्ञशाला की परिक्रमा करते हैं। आचार्य बालक की कटि में मेखला बांधता है। वर्ण के अनुसार ब्राह्मण की मेखला मूंज या दर्भ की, क्षत्रिय की मेखला मूर्वा या धनुष की डोरी और वैश्य की मेखला ऊन या सन की होनी चाहिये। मेखला के पश्चात् आचार्य बालक को दो सूत कौपीन दो अंगोछे, एक उत्तरीय और दो वस्त्र देता है। ये उत्तरीय कृष्णमृग का भी प्रयोग होता था जो अत्यन्त पवित्र समझा जाता था। जब कपास पैदा होने लगा तो सूती वस्त्र का व्यवहार होने लगा। इसके पश्चात् आचार्य बालक के हाथ में दण्ड देता था। यह दण्ड ब्राह्मण बालक के लिये पलाश या बिल्व वृक्ष का और लम्बाई में केश से लेकर ललाट तक नापने वाला होता था। क्षत्रिय बालक के लिये वट या खदिर का और लम्बाई में पैरों से भ्रूमध्य तक। वैश्य का दण्ड पीलू या गूलर वृक्ष का और लम्बाई में पैरों से नासिका के अग्र भाग का स्पर्श करने वाला होता था। इसके पश्चात् बालक को पिता ब्रह्मचर्य का सामान्य उपदेश करता था। इस उपदेश में आचमन कर्तव्य का पालन, दिन में न सोना, वेदाध्ययन में एक एक वेद के लिये बारह बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण, धर्माचरण, क्रोध एवं मिथ्या भाषण का वर्जन, आठ प्रकार के मैथुन का परित्याग जिसमें स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, आलिंगन, एकान्तवास और समागम भी आता है। भूमिशयन, कौपीन धारण, अर्थात् गान, वाद्य, नृत्य और गंध तथा अंजन के सेवन से पृथक रहना, अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा, अति जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोकादि से विरक्त रहना, रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जाग कर शौच, स्नान, सन्ध्योपासन तथा योगाभ्यास करना, क्षौर, मांस, मद्य आदि से बचना, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि की सवारी न करना, तैलादि के उबटन तथा

खट्टे तीखे कसैले रेचक आदि द्रव्यों का सेवन न करना, विद्या ग्रहण में नित्य यत्न शील होना सुशील मितभाषी एवं सभ्य बनना और आचार्य का प्रिय आचरण करते रहना आदि सत्कर्म सम्मिलित हैं।

इसके पश्चात ब्रह्मचारी यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करता है और माता पिता, मामा मौसी आदि से भिक्षा मांगता है। भिक्षा मांगने में भी वर्णानुसार ब्राह्मण का बालक कहता है —

भवान् वा भवती भिक्षाम् ददातु" । क्षत्रिय का बालक कहता है —

भिक्षां भवान् वा भवती ददातु ' और वैश्य का बालक कहता है" भिक्षां ददातु भवान् वा भवती' । इसके पश्चात् अग्नि कुण्ड में गायत्री आदि मंत्रों से आहुतियां दी जाती हैं। अन्त में बालक आचार्य का अभिनन्दन करता है और आचार्य उसे आशीर्वाद देता है।

इस प्रकार उपनयन के साथ सांस्कृतिक जीवन में जिस प्रत्यक्ष प्रवेश का आरम्भ हुआ था वह वेदारम्भ में अपने मूल को सुदृढ़ करता है और जिसके द्वारा वैदिक संस्कृति को अपनाने में सहायक होता है।

१२ समावर्तन

उपनयन और वेदारम्भ दोनों तप साधन के संस्कार हैं। एक में ब्रह्मचर्य की साधना है तो दूसरे में ज्ञान की। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लिया वह समावर्तन के समय व्रत स्नातक कहलाता है। जिसने वेद पढ़ लिया, वह विद्या स्नातक की उपाधि प्राप्त करता है और जिसने दोनों की योग्यता प्राप्त कर ली वह विद्या–व्रत–स्नातक के नाम से पुकारा जाता है। सामान्यतः समावर्तन के समय ब्रह्मचर्य तथा वेद दोनों की समाप्ति समझी जाती है। स्नातक कल्याण के साथ इसके संयोग का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मचर्य अवस्था में वह आचार्य कुल में रहा है और तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करता रहा है। इस तप से जो तेज उसे प्राप्त हुआ है वह उसके रोम रोम से अंग अंग से अभिव्यक्त हो रहा है। अथर्ववेद के नीचे लिखे मंत्र में इसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्य मानः समुद्रे ।
सस्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

—अथर्व० का० ११ प्रपा० २४ अ० १६ म २६ ॥

जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर तथा श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य के व्रत में प्रतिष्ठित होकर तपश्चर्या पूर्वक वेद का स्वाध्याय, वीर्य निग्रह तथा आचार्य के प्रिय आचरण आदेश-पालन आदि कार्यों को पूरा करता हुआ पूर्ण विद्या से युक्त होता है और सुन्दर वर्ण–दीप्ति से युक्त होकर अपने गुण कर्म और स्वभाव से इस धराधाम पर प्रकाशित होता है वह समर्थ ब्रह्मचारी है और समाज के लिये अतीव हितकारी है।

समावर्तन के दिन ईश्वरोपासना स्वस्ति वाचन और शान्तिकरण के द्वारा एकाग्र चित्त होकर यज्ञ का विधान पूर्ण किया जाता है। इस समय आठ घड़े वेदी के उत्तर भाग में शुद्ध जल से भर कर रखे जाते हैं। इन्हीं घड़ों के जल से ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता है। प्रथम एक घड़े से फिर दूसरे घड़े से, फिर तीन घड़ों से और चौथी बार बचे हुए तीन घड़ों के जल से स्नान किया जाता है। स्नान विधि का प्रभाव निम्नांकित मंत्र में स्पष्ट किया गया है —

ओ३म् ये अप्स्वन्तरग्नय प्रविष्टा।
गोह्यउपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो।
विरुजस्तनू दूषु रिन्द्रियहातान्
विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि
—पार० का० २/६ ६॥

अभी तक ब्रह्मचारी तपश्चर्या की अग्नि में जलता रहा है। अब उसे समाज शीतलता की ओर ला रहा है। अग्नि सूर्य में भी है परन्तु वह जल के अन्दर भी प्रविष्ट है। सौराग्नि जलाती है परन्तु जलीय अग्नि गूढ़ तथा गुप्त रह कर अपनी किरणों से शरीर को नीरोग बनाती है। ब्रह्मचारी की इन्द्रियां अब तक निगृहीत रही हैं। आज समावर्तन के समय ब्रह्मचारी इन मारक तथा शोषक तत्वों को छोड़ रहा है और छिपी हुई जलीय अग्नि उसे जल स्नान द्वारा लोक कल्याण के लिये, जनहित साधक पद्धतियों में भाग लेने के लिये उद्यत कर रही है। इसके लिये उसे समस्त लौकिक शृंगार प्रसाधनों से संयुक्त होना है। तप और त्याग के अर्जन के स्थान पर उसे अपनी अर्जित सम्पदा सामाजिक हित में व्यय करनी है। ग्रहण और त्याग अर्जन और व्यय सम्भूति और विनाश दोनों आर्य संस्कृति में साथ साथ चलते हैं और जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाते हैं। स्नातक इसी दिव्य पथ का पथिक है। आचार्य कुल से विद्या और तप का धन लेकर अब वह अपने पितृ कुल की ओर लौट रहा है जहां इनके प्रयोग का उसे पूर्ण अवसर मिलेगा।

आचार्य कुल से समावर्तन करने का केवल उन्हीं ब्रह्मचारियों को अधिकार था जो गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के योग्य होते थे। जो स्वेच्छा से अथवा आयुर्वेद की दृष्टि से गृहस्थ में प्रवेश करना नहीं चाहते थे वे जीवन पर्यन्त आचार्य कुल में ही निवास करते थे। स्वेच्छा से गृहस्थ का परित्याग करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते थे। आयुर्वेद की दृष्टि से अन्धे कुबड़े बौने लंगड़े, नपुंसक आदि रोगियों के लिये वैवाहिक जीवन व्यतीत करना उचित ही नहीं था।

समावर्तन के समय आचार्य कुल तो छूटता ही है उसके साथ मेखला दण्ड जटा लोम नखादि भी छोड़ने पड़ते हैं। स्नातक गूलर की लकड़ी से दन्त धावन करता है। सुगंधित द्रव्यों को शरीर पर मलता है। पीताम्बर धारण करता है। श्रेष्ठ वस्त्र, उपवस्त्र, माला तथा अलंकार धारण करता है। आंख में अंजन लगाता

है। दर्पण में मुख देखता है। छत्र धारण करता है। उपानह् अर्थात् जूते पहनता है तथा बांस का दंड हाथ में लेता है।

आचार्य कुल से विदा लेने पर उसे आचार्य को दक्षिणा भी देनी पड़ती है। जिस गुरु ने इतने दिनों तक अपने पास रख कर ब्रह्मचारी का जो शासन–पालन तथा शिक्षण किया है उसे संस्कृत शिष्ट और लोक व्यवहार के योग्य बनाया है उस आचार्य को ब्रह्मचारी दे ही क्या सकता है। पृथ्वी पर ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे देकर वह गुरु से उऋण हो सके। फिर भी स्नातक कुछ न कुछ देता ही था। कुछ न हो तो दक्षिणा की प्रतीकरूप समिध तो हैं ही। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य लोभवश स्नातक से कुछ न कुछ लेता ही था। वह तो इतना उदार होता था कि ब्रह्मचारी के सद्गुण–सम्पन्न जीवन से ही सन्तुष्ट हो जाता था। आचार्य और स्नातक दोनों का संबंध स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध था। यह ऐसा सम्बन्ध था कि जिसे वैभव-विलासों के अम्बार भी तोड़ नहीं सकते। आत्मा का आत्मा से यह सम्बन्ध स्नातक को तो ऊंचा उठाता ही था आचार्य को भी विकास के ऊर्ध्वतम शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता था।

समावर्तन संस्कार आज कल का दीक्षान्त तथा उपाधि–वितरण समारोह है। इस समय तैत्तिरीय उपनिषद से निम्नांकित वाक्य पढ़ कर स्नातक से जो प्रतिज्ञा कराई जाती है, वह भी ध्यान देने योग्य है। आचार्य कहता है–

"ऋतंच स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यंच स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्या०। दमश्च स्वाध्या०। शमश्च स्वाध्या०। अग्नयश्च स्वाध्या०। अग्नि होत्रं च स्वाध्या०। सत्यमिति सत्य वचाराथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद् गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः॥

॥१॥ तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ९॥

हे स्नातक! तू ऋत को नैतिक नियम को अपने अन्दर धारण कर। वेद का स्वाध्याय और अध्यापन तत्परता से करता रह। तू सत्य अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था और नियमों का पालन कर। साथ ही स्वाध्यायशील बन और दूसरों को भी बना। तप दम और शम तेरे स्वाध्याय और प्रवचन के साथ निरन्तर तेरे साथी रहें। अग्नि विद्या तुझे पार्थिव अन्तरिक्षीय तथा द्यौ-स्थानीय अग्नि विद्युत और सूर्य का स्मरण कराती रहे। अग्निहोत्र तेरे घर में निरन्तर होता रहे। रथीतर के पुत्र सत्य वचा ने सत्य को इन सब में मूर्धन्य स्थान दिया है। पुरुशिष्ट के पुत्र तपोनित्य के मत में तप ही सब कुछ है और मुद्गल के पुत्र नाक की दृष्टि में स्वाध्याय और प्रवचन ही सत्य और तपरूप है। इस तप को तू अपने जीवन का अंग बना। ऋत तप है सत्य तप है, श्रुत अर्थात् वेद–शास्त्रादि का श्रवण तप है। शान्त रहना और अकर्माचरण में अपने को न जाने देना दम अर्थात् इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोकना लोभ के परित्याग पूर्वक विद्यादि शुभ गुणों का दान करना, यज्ञ करना यह सब भी तपरूप है।

विद्वानों का सत्संग, त्रिलोकी के विज्ञान को हृदयंगम करना, प्राणायाम, योगाभ्यास तथा प्रभु की उपासना करना सब तप के ही विभिन्न रूप हैं। इस तप से अपने को संयुक्त करना तुम्हारा परम धर्म है।

हमारे भी जो *प्रशंसनीय कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना है* अन्यों का नहीं। हमारे सुचरित ही अनुकरणीय हैं, इतर नहीं। हमारे बीच जो धर्मात्मा, श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता विद्वान हैं उन्हीं का तुम्हें आदर करना है।

इस प्रकार की शिक्षा जिस स्नातक के जीवन का अंग बन सके वह धन्य है।

१३ विवाह

मनु का आदेश है—

> गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधिम्।
> उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ मनु० ३/४/

गुरु की अनुमति पाकर और विधि पूर्वक समावर्तन संस्कार करके स्नातक द्विज शुभ लक्षणों से युक्त अपने वर्ण की भार्या के साथ विवाह करे। विवाह सांस्कृतिक विधान में अनिवार्य कर्तव्य के रूप में सम्मिलित है। सामान्यतः सभी स्नातकों को ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ में जाना चाहिये। संस्कृत व्यक्ति अनाश्रमी नहीं हो सकता। यदि वह विवाह नहीं करता है और नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करना चाहता है (*जिसके उदाहरण इतिहास अपवाद रूप में* ही प्रस्तुत करता है) तो भी उसे आश्रमस्थ होना ही पड़ेगा।

स्त्री और पुरुष का एक युग्म है। पुरुष स्त्री के बिना और स्त्री पुरुष के बिना पूर्ण नहीं है। दोनों अर्द्धांग हैं। दो अर्द्धांगों के मिलने से ही पूर्णता की प्रतिष्ठा होती है। शाक्त सम्प्रदाय वाले यद्यपि शक्ति को मूर्धन्य स्थान देते हैं परन्तु शिव के सम्पर्क से उसे वंचित नहीं करते। शिव का शिवत्व उसकी अर्द्धांगिनी शक्ति के कारण है। जैसे ब्रह्म और उसकी माया मिल कर ही सृष्टि रचना में समर्थ होते हैं वैसे ही पुरुष और स्त्री मिल कर प्रजातन्तु को आगे बढ़ाते हैं। सृष्टि यज्ञ पुरुष द्वारा उत्पन्न हुई है और इसी हेतु वह यज्ञरूप है। इस यज्ञ की साधना भी एकाकी पुरुष के द्वारा सम्भव नहीं है। यज्ञ सपत्नीक यजमान ही कर सकता है। जिस पुरुष का विवाह नहीं हुआ वह पत्नी के अभाव में यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है। जो व्यक्ति अयज्ञ है वह समाज मे सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। विवाह जीवन में एक श्रेष्ठ यज्ञ का रूप है। अतः प्रत्येक स्नातक को इस यज्ञ में भाग लेना चाहिये। श्रुति भगवती कहती है—

> अनृणाः अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।

हम इस लोक में अनृण हों दूसरे लोक में अनृण हों और तीसरे लोक में [illegible] के साथ ही हम तीन विविध ऋणों में आबद्ध हो जाते हैं।

सबसे पहला ऋण माता और पिता का है। मेरा शरीर जो कुछ है, मेरे माता पिता की देन है। यह शरीर मुझे उनसे मिला है। अत मैं उनका ऋणी हू। इसी शरीर के द्वारा मुझे जीवन-यात्रा पूरी करनी है। इस ऋण से मैं तभी मुक्त हो सकता हू, जब विवाह करके उनके पार्थिव अणु (Protoplasm) तथा मानसिक अणु (Psychoplasm) को सन्तति उत्पन्न करके आगे बढ़ा दू। सन्तान का अर्थ ही है— भली भांति फैलाना आगे ले जाना, विस्तार करना पितृ ऋण से उऋण होने का यह प्रमुख साधन है। माता पिता की सेवा करना भी उनके ऋण से मुक्ति पाने का सुगम साधन है। परन्तु सन्तति का प्रसव केवल मेरे माता पिता से ही सम्बन्ध नहीं रखता वह एक लम्बी परम्परा के साथ अनुस्यूत है। शाखोच्चार के समय यह प्रपितामह तक का स्मरण करा देता है। पितृ-श्राद्ध में भी प्रपितामह तक को श्रद्धा समर्पित की जाती है। परतु है यह सूत्र दीर्घ और यह मेरे वंश के मूल पुरुष तक सम्बद्ध है।

माता-पिता से जन्म मिल गया शरीर प्राप्त हो गया, परन्तु इस शरीर का पोषण कैसे होता है ? जिस अन्न का मैं सेवन करता हू वह कहां से आता है ? विज्ञानवादी कहेगा कि अन्न का उत्पादन पृथिवी जल वायु और सूर्य पर अवलम्बित है। इनमें से एक भी अनुपस्थित हो तो अन्न उत्पन्न नहीं होगा। वेद इन सबको देव संज्ञा प्रदान करता है। पृथिवी देवता है जल देवता है, वायु देवता है सूर्य देवता है। इन देवों का ऋण भी मेरे ऊपर प्रचुर मात्रा में है। इस ऋण से भी मुझे उऋण होना है। यह देव ऋण दूसरे लोक से संबंधित है। एक ऋण तीसरे लोक का भी हम सबके ऊपर है। यह तीसरा लोक प्रज्ञा का लोक है। आलोक के इस लोक में जो ऋषि विचरण करते हैं जिन्होंने अपनी ज्ञान सम्पदा का अहैतुक एवं उदारदान हम सबको प्रचुरमात्रा में दिया है, जिनके विचारों से आज भी हम लाभ उठाते हैं और जिनके बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते है, उन ऋषियों के ऋण से भी हमें मुक्त होना है। विवाह संस्कार का पुत्रोत्पत्ति रूपी लक्ष्य पितृ ऋण से मुक्त करता है। अग्नि होत्र जिसका विधान पंच महायज्ञों के अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थ के लिये किया गया है, देव ऋण से मुक्ति देता है और गृहस्थ स्नातक के पास जो विपुल बटु समुदाय अध्ययन के लिये आता है वह ऋषि ऋण से मुक्ति दिलाता है। इस प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करना ऋण-मुक्त होने के लिये अनिवार्य समझा गया है।

गृह्य सूत्रों के अनुसार किसी पुण्य नक्षत्र में विवाह करना शुभ समझा गया है। उत्तरायण और शुक्लपक्ष का समय भी विवाह के लिये शुभ समझा जाता है। कुछ आचार्यों की सम्मति में विवाह सभी समयों में विहित है, आवश्यकता है वधू और वर के आयु, कुल, स्वास्थ्य शरीर और स्वभाव की परीक्षा करना। मनु के अनुसार—

असपिण्डा च या मातुर समोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दार कर्मणि मथुने ॥

जो स्त्री माता की ६ पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के लिये विवाह करने योग्य है। मनु ने ऐसे कुलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना वर्जित माना है जिसमें उत्तम पुरुष विद्वान तथा स्वास्थ्य का अभाव रहा है। जिसके अंग या हस्तिनी के समान गति हो कोमलांग हो उस स्त्री से विवाह करना मंगल प्रद है। मनु ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—

ब्राह्मो दैव स्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

इनमें ब्रह्म विवाह वह है जिसमें योग्य विद्वान पुरुष का सत्कार करके और उसे अपने घर पर बुला कर वस्त्रादि से अलंकृता कन्या प्रदान की जाती है। दैव विवाह में यज्ञ विधान तथा ऋत्विज वरण की प्रमुखता है। इसमें भी अलंकृता कन्या ऋत्विक को दी जाती है। आर्ष विवाह में कन्या का पिता वर से गाय बैल के एक या दो जोड़े लेता है और धर्म पूर्वक कन्यादान करता है। प्राजापत्य विवाह में कन्या और वर दोनों को यज्ञ शाला में लाते हैं और सभी उपस्थित महापुरुषों के सामने उन्हें मिलकर गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिये कहते हैं। ये चार प्रकार के विवाह उत्तम हैं। आसुर विवाह में आर्थिक तथा कन्या दोनों को यथाशक्ति धन दिया जाता है। गान्धर्व विवाह में स्त्री और पुरुष दोनों स्वेच्छा से पति–पत्नी के सबंध में आबद्ध होते हैं। राक्षस विवाह में कन्या का बलात् हरण किया जाता है। पैशाच विवाह अत्यन्त निकृष्ट है। उसमें सोती हुई, पागल या नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना है। अन्तिम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान निन्दित कर्म तथा नीच स्वभाव वाली होती है। अतः इन विवाहों से मानव को बचना चाहिये।

माता पिता का कर्तव्य है कि वे अपनी कन्या का गुण-हीन दुष्ट पुरुष के साथ कभी विवाह न करें। मनु ने विवाह से पूर्व स्त्री के रजस्वला होने का भी उल्लेख किया है। रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् चतुर्थ वर्ष में विवाह करना श्रेयस्कर है।

विधान के अनुसार वर और वधू दोनों को अपने अपने घर पर सुगन्धित एवं शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। फिर उत्तम वस्त्रालंकार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ कर प्रभु की स्तुति और उपासना करनी चाहिए। इसी के साथ अग्नि होत्र की क्रिया करके वर तथा वर-पक्ष के पुरुष सामान सहित वधू के घर की ओर प्रस्थान करें। जब वर वधू के घर में प्रवेश करे तो वधू तथा कार्यकर्ता वर का आदर सत्कार करें। वधू के द्वार पर वर पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्ता उत्तराभिमुख खड़े रह कर निम्नांकित सम्मान सूचक शब्द कहें—

आप सुचारु रूप से आसन ग्रहण कीजिए। हम आपकी अर्चना करेंगे।" इस अर्चना में सर्व प्रथम वर को विष्टर (आसन) प्रदान किया जाता है। विष्टर को बिछाकर वर कहता है—

जैसे उद्यतों में ऊपर उठे हुओं में सूर्य प्रमुख है, वैसे ही अपने समानधर्मा पुरुषों में मैं तीर्थस्थानीय हूं। जो कोई मुझे गिराने की चेष्टा करेगा उसको मैं दबा दूंगा। इसके पश्चात् पाद्य पद-प्रक्षालन के लिए और अर्घ्य मुख प्रक्षालन के लिए दिया जाता है। तीन बार आचमन करा के वर को मधुपर्क दिया जाता है। मधुपर्क में दही, घी और शहद सम्मिलित रहता है। यदि १२ तोला दही हो तो चार तोला शहद और चार तोला घी मिलाना चाहिए। मधुपर्क कांसे के पात्र में रखा जाता है जिससे धातु विकार उसमें न आ सके। वर मधु-पर्क को अपने दाहिने हाथ में लेता है और उसे देखता है। फिर वाम हस्त में लेकर मधु पर्क की ओर देखता हुआ दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से उसे तीन बार बिलोता है फिर क्रमशः पूर्व, दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में उसके छींटे देता है। इसके उपरान्त तीन बार ऊपर की ओर फेंक कर उसके तीन भाग करता है और तीनों में से थोड़ा २ खाता है। शेष बचे हुए को या तो सेवक को दे देता है या जल में डाल देता है। इसके पश्चात् वो आचमन तथा इन्द्रिय स्पर्श करके गोदान ग्रहण करता है। गोदान के पश्चात् कन्यादान की विधि होती है जिसमें वर के हाथ में हथेली ऊपर किए हुये कन्या का दक्षिण हाथ रख दिया जाता है। इसी समय शाखोच्चार भी होता है। कन्यादान के अतिरिक्त अब तक की समस्त विधि आर्यों की श्रेष्ठ सभ्यता की सूचना देती है। सभ्य समाज में एक मानव दूसरे मानव का और वह भी घर में आये हुए अतिथि का सम्मान करता ही है। यदि नहीं करता तो उसे सभ्य मानव का अभिधान नहीं दिया जा सकता। भारत वर्ष इतिहास में अतिथि सत्कार के लिए प्रख्यात रहा है। यहाँ जल मांगने पर दूध दिया जाता रहा है। फाहियान जैसे विदेशी पर्यटक इस विषय में भारत वर्ष की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। सभ्यता के साथ विधि में सांस्कृतिक भावना भी छिपी हुई है। जब हम किसी का सम्मान करते हैं वह भी औपचारिक दृष्टि से नहीं प्रत्युत आन्तरिक श्रद्धा से समन्वित होकर, तो निश्चित रूप से हम सांस्कृतिक विकास की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित होते हैं। इसी के साथ अनुशासन व ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अतीव उपयोगी पदार्थ है। मधुपर्क स्वयं शारीरिक न्यूनताओं की पूर्ति करने वाला और पवित्र मन का निर्माता है। सांस्कृतिक विकास के लिए दोनों ही उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं। कन्या दान विधि के अन्तर्गत एक पुनीत आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। कन्या जिस घर में उत्पन्न हुई है वह उस घर में न रह कर पराये घर का सर्वस्व बनने जा रही है। वह जिस घर की दुहिता है उसका हित उस घर में नहीं किन्तु दूर देश में है। यास्क ने दुहिता का निर्वचन 'दुहिता दूरे हिता' कह कर किया है।

कन्या का हित-साधन पिता के लिए दुःसाध्य होता है। उसके दिल का टुकड़ा किसी दूसरे देश में जाकर अपरिचित परिवार के सदस्यों में घुल मिल सकेगा या नहीं, इसकी चिन्ता उसे अहर्निश रहती है। पर विधि का विधान कितना विचित्र है! कन्या इस अपरिचित परिवार के स्नेह-बन्धन में ऐसी आबद्ध हो जाती है कि उसे अपने पितृ कुल का प्राय विस्मरण ही हो जाता है। सन्तान होने पर तो उसका सारा मोह सब ओर से खिचकर उसी में केन्द्रित हो जाता है। पीछे हम लिख चुके हैं कि विवाह की प्रथा दो हृदयों को एक करने वाली है। द्वैत को मिटाकर अद्वैत की ओर अभिगमन भूमा जैसे संस्कृति के उच्च स्तर का द्योतक है। ऋग्वेद का निम्नांकित मन्त्र इसी भाव को उपमालंकार द्वारा स्पष्ट कर रहा है—

ओ३म् समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोहृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥१॥

ऋ० मं० १०/सू०८५ ॥

यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वज्जन हमें आशीर्वाद दें जिससे हम दोनों के हृदय जल में मिले हुए जल के समान एक हों। इस सद्भावना में मातरिश्वा धाता तथा देष्ट्री हमारी सहायता करें। जिससे हम एक दूसरे के लिए दृढ़ प्रेम को धारण करें। प्राण जैसे सबको प्रिय है धाता जैसे निखिल जगत को धारण करता है और उपदेश देने वाला अपने श्रोताओं से प्रेम करता है उसी प्रकार हम दोनों भी एक दूसरे को धारण करें, परस्पर प्रियाचरण करें और प्रेम पूर्वक एक होकर जीवन व्यतीत करें।

इस मन्त्र का पाठ करने पर अपने दक्षिण हाथ में वधू का दक्षिण हाथ लेकर यज्ञ कुण्ड की परिक्रमा करता है और कहता है – हे वरानने। तू अपनी इच्छा से मुझे वैसे ही प्राप्त हुई है जैसे तेजोमय सूर्य को दस दिशायें और वायु प्राप्त होते हैं। परमेश्वर तुझे मेरे मन के अनुकूल करें और मैं भी तेरे मन के अनुकूल बनूं। वधू भी कहती है -अब मेरी जीवन यात्रा का पन्थ मुझे आप जैसे पति की ओर से आ रहा है। मैं कल्याण रूपा तथा धरिष्टा होकर-आपके लोक को प्राप्त करूं इसके पश्चात् प्रधान होम की क्रिया होती है। वर के दक्षिण स्कन्ध का अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श करके वधू आहुतियां देती है। इन आहुतियों में बारह आज्याहुतियां राष्ट्रभृत कहलाती हैं। तेरह आज्याहुतियां जयाहोम के नाम से प्रख्यात हैं और अठा रह आज्याहुतियां अभ्यातन होम के अन्तर्गत हैं। राष्ट्रभृत आहुतियां ब्रह्म और क्षत्र के रक्षण का निर्देश करती हैं। हमारा ज्ञान और हमारा कर्म दोनों अभ्याहृत गति से चलते रहें तो हम अपनी ही नहीं अपने राष्ट्र की भी रक्षा कर सकेंगे। वह देश धन्य है। जहां ब्रह्म और क्षत्र ज्ञान और बल देव और अग्नि प्रकाश और प्राणवत्ता दोनों मिलकर चलते हैं। हमारे ऋक अर्थात् विज्ञान यजु अर्थात् कर्म और साम अर्थात् भाव तीनों में सामञ्जस्य स्थापित होना चाहिए। जया होम में अन्तःकरण की विशुद्धि प्रमुखरूप से वर्णित हुई है। हमारा चित्त वासनाओं और प्रभावों का भंडार है। हमारी चित्ति अर्थात् चेतना अथवा ज्ञान शक्ति हमें प्रज्ञा के प्रकाश की ओर से जाती है। हमारा आकूट और

आकूति, संकल्प और क्रियान्वयन, हमारा जाना हुआ और हमारी जानकारी, हमारा मन और हमारा सामर्थ्य, हमारे पाक्षिक यज्ञ, बृहद् और रथन्तर जैसे साम हमारी श्रेष्ठ आन्तरिक सम्पदा हैं। हमें सावधानतापूर्वक इस सम्पदा की रक्षा करनी है। अन्वाधान होम में अग्नि, इन्द्र, यम, वायु, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, मित्र, वरुण, समुद्र, अज सोम सविता रुद्र त्वष्टा विष्णु, मरुत और पितर इन सबका स्मरण किया जाता है। वायु मंडल में विराजमान यह दिव्य शक्तियां हमारी रक्षा करें।

अग्नि देवताओं में प्रथम पूज्य है। वह हम दोनों को मृत्यु पाश से मुक्त करें। हमारी दीर्घायु हो—हमारी गोद सूनी न रहे। वह भरी हुई हो। हमें सुन्दर धन की प्राप्ति हो। हमारा पन्थ सुगम हो। मृत्यु हमसे दूर हो। अमरता हमारी संगिनी बने। हमारे गृहों में कभी कष्टदायक उद्घोष या चीत्कार न हो। सन्तति हमारे प्रांगण में क्रीड़ा करें और हमारे जीवन को सौमनस्य से भर दे। ऐसी भावनायें उन मन्त्रों में निहित हैं जिन्हें बोल कर आहुतियां दी जाती हैं।

होम के पश्चात पाणिग्रहण का विधान है। वर विधान के अनुसार पूर्वाभिमुख बैठी हुई वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वाम हस्त से वधू के दाहिने हाथ को ऊपर उठाकर अपने दक्षिण हाथ से अंगुष्ठ तथा हस्तांजलि सहित ग्रहण करता है और कहता है—सौभाग्य के लिये मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं। तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्नता तथा अनुकूलता पूर्वक जीवन धारण कर। ऐश्वर्य-सम्पन्न, न्यायकारी, सब के प्रेरक और विश्व के धारण करने वाले परमात्मा ने तथा दिव्य शक्तियों ने गृहाश्रम धर्म के अनुष्ठान के लिये तुझको मुझे दिया है। आज से हम दोनों एक दूसरे का प्रियाचरण करते हुये साथ साथ रहेंगे। ऐश्वर्य युक्त मैं तेरे हाथ को पकड़ता हूं। धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को पकड़ता हूं। तू धर्म से मेरी भार्या है और मैं धर्म से तेरा गृहपति हूँ। सबसे बड़े पालन करने वाले परमात्मा ने तुझको मुझे दिया है। तू मेरे द्वारा पोषण करने योग्य है। मुझ पति के साथ सन्तानवती बनकर तू सौ वर्ष तक मेरे साथ जीवन व्यतीत कर।

हे कल्याणरूपे ! हम दोनों सभा-मंडप में विद्यमान विद्वान ऋषियों की आज्ञा से और सबसे महान परमेश्वर की प्रेरणा से दाम्पत्यसूत्र में आबद्ध होते हैं। जैसे सूर्य की किरण अनेक प्रकार की रचना करने में समर्थ होती है इसी प्रकार तू प्रजोत्पत्ति में समर्थ बने। इन्द्र अग्नि आपः पृथिवी मातरिश्वा मित्र वरुण, भग, अश्विन, बृहस्पति, मरुत ब्रह्म और सोम जो प्रजनन शक्ति के द्योतक हैं मेरी पत्नी को सन्तान द्वारा बढ़ावें। हे सुभगने। मैं कुल की वृद्धि को देखता हुआ मन से तेरे रूप में व्याप्त होता हूँ। वैसे ही तू भी मेरे अन्दर व्याप्त हो। मैं मन से तेरे प्रति चोरी का परित्याग करता हूं। मैं जो कुछ भोग भोगूँगा तेरे साथ रहकर भोगूंगा। तेरे साथ ही उत्कृष्ट व्यवहार में पुरुषार्थ पूर्वक निवास करूंगा और इस पथ में आने वाले पापों अथवा विघ्नों को दूर करूंगा। इसी प्रकार तू भी व्यवहार करेगी।

५. वर-वधू का हाथ पकड़े हुये कुण्ड की प्रदक्षिणा करता है और कहता है—

मैं ज्ञानपूर्वक तेरा बनता हूँ। तू भी ज्ञानपूर्वक मेरी बन। मैं पूर्ण प्रेम से तुझे अपनी बनाता हूं। तू भी मुझे अपना बना। मैं साम हूं तू ऋक है। मैं द्यौ हूं। तू पृथिवी है। हम दोनों साथ-साथ रह कर शक्ति-प्रसन्न बनें। प्रजा उत्पन्न करें। बहुत पुत्रों को प्राप्त करें जो दीर्घजीवी हों। हम दोनों एक दूसरे के प्रिय प्रकाशमान तथा प्रसन्नचित रहें। सौ वर्ष तक देखें जियें और सुनते रहें।

पाणिग्रहण के पश्चात शिलारोहण और लाजा होम का विधान है। वधू का भाई वाम हाथ में धानों से भरा सूप लेकर दाहिने हाथ से अपनी बहिन का दक्षिण पद पत्थर की शिला पर रखवाता है। उस समय वर कहता है—

ओ३म् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽव बाधस्व पृतनायत ॥१॥ पार० कां० ॥१॥कं० ६ ॥

इस पत्थर पर चढ़ो और पत्थर के समान स्थिर हो जाओ। शत्रुओं को दबा दो और जो शत्रुता की इच्छा रखते हैं उन्हें नीचे गिरा दो। इसी समय वधू वर की हस्तांजलि पर अपनी हस्तांजलि रखती है और वधू का भाई सूप वाले धानों में से दाहिने हाथ से दो बार धान लेकर बहिन की हस्तांजलि के ऊपर रखता है। फिर वधू और वर दोनों अपनी सम्मिलित हस्तांजलि को झुका कर निम्नांकित तीन मंत्रों से उस धान की तीन आहुतियां देते हैं। यथा—

ओ३म् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। सनोऽअर्यमा देव: प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः ॥१॥

ओ३म् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम ॥२॥

ओ३म् इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियं ॥३॥ पार० कां० १/कं० ६ ॥

मंत्रों का भाव इस प्रकार है—

इस कन्या ने ज्ञानस्वरूप अर्यमादेव की अर्चना की है। वह अर्यमादेव मुझे इधर से मुक्त करे परन्तु पति से नहीं अर्थात् पति के साथ संयुक्त करे। लाजाओं का वपन करने वाली अर्थात् आहुति देने वाली यह नारी प्रार्थना करती है कि मेरा पति आयुष्मान हो और मेरे ज्ञातिजन प्रकाशित हों। इन लाजाओं की आहुति अग्नि में दी जा रही है जो मेरी और तुम्हारी दोनों की समृद्धि का हेतु है। यह सम्वाद तुम्हारे लिये है। अग्नि देव इसका अनुमोदन करें। इसी समय सुभग वाजिनीवती सरस्वती देवी की भी आराधना की जाती है। यह देवी वर-वधू की रक्षा करे और उन्हें समस्त प्राणियों के सामने प्रजा से सम्पन्न करे। आज मैं उस गाथा को गाऊंगा जो स्त्रियों का उत्तम यश है औ जिसमें विगत तथा वर्तमान समस्तजगत अपना अस्तित्व बनाये हुये है। इसके पश्चात् वर-वधू एक दूसरे की हस्तांजलि पकड़े हुये यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करते हैं। जलमारोहण से लेकर यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा तक

की विधि बार बार की जाती है परन्तु चौथी बार में आहुति केवल एक ही दी जाती है और ॐ भगाय स्वाहा कह कर धूप की शेष थाली अग्नि में डाल दी जाती है। प्रजापति वाली पूर्णाहुति देकर वर एकान्त में वधू के केशों को सम्हलता है। फिर सभा मंडप में आकर ग्रन्थि बन्धन तथा सप्तपदी का विधान सम्पन्न होता है। सप्तपदी में वर वधू का दक्षिण पग उठवा कर चलने की आज्ञा देता है जिसमें ईशान दिशा की ओर वर और वधू दोनों साथ-साथ सात पग चलते हैं। प्रथम पग ग्रहण पर इष अथवा अन्न की प्रार्थना की जाती है। द्वितीय पग में ऊर्ज अर्थात् बल के लिये तृतीय पग मे रायस्पोष अर्थात् ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये चतुर्थ पग में सुख के लिये पंचम पग में प्रजा या सन्तति के लिये छठे पग में ऋतुओं के अनुकूल व्यवहार के लिये और सप्तम पग में सखा भाव के लिये निर्देश किया गया है। सात पग चल कर दोनों यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करते हुये अपने-अपने आसन पर विराजमान हो जाते हैं परन्तु इस बार वधू वर के वामांग की ओर बैठती है। ग्रन्थि बन्धन का भाव है वर और वधू का दाम्पत्य सूत्र में दृढ़ता से आबद्ध होना और दोनों का एक होकर गृहस्थ धर्म का निर्वाह करना। दोनों अपने-अपने पृथक अस्तित्व को खोकर इस विधान द्वारा एक होते हैं। इसी ऐक्य में गृहस्थधर्म की सफलता सन्निहित है। विधि में वर और वधू दोनों उठ कर सूर्य का दर्शन करते हैं और दोनों अपने-अपने दक्षिण हाथ से एक दूसरे के हृदय का स्पर्श करते हैं। वर वधू के सिर पर हाथ रख कर सिन्दूर से उसकी माँग भरता है। प्रजापति देव दोनों के हृदय और चित्त को एक करें। दोनों एक दूसरे की वाणी का एक मन होकर पालन करें। आगे की विधि में ध्रुव और अरुन्धती के भी दर्शन कराये जाते हैं। ध्रुव दर्शन का भाव है जीवन में दृढ़ता और स्थिरता का लाना। वधू पति के कुल में ध्रुव होकर निवास करे। यह पद्धति तलाक या पति पत्नी परित्याग का बलपूर्वक खंडन करती है। अरुन्धती का अर्थ है है जिसको कोई रोक न सके। जैसे सूर्य पृथिवी और पर्वत अपनी-अपनी स्थिति में दृढ़ हैं उसी प्रकार वर और वधू दोनों गृहस्थ धर्म में स्थिर रहें। संसार की सरिता का प्रवाह चञ्चल है इसे पार करने के लिये पति और पत्नी दोनों सखा भाव से आगे बढ़ते हैं। वे अतिथि को नहीं छोड़ देते हैं। तभी तो उन्हें सरिता के उस पार रम्य हुये शिवत्व की उपलब्धि होती है। अन्त में सभा मण्डप में बैठे हुए सभी स्त्री और पुरुष कल्याणकारिणी वधू को ॐ सौभाग्य मस्तु ॐ शुभं भवतु कह कर आशीर्वाद देते हैं।

गार्हस्थ्य-मर्यादा

वैदिक साहित्य में नारी के लिये कई शब्दों का प्रयोग हुआ है जो समाज में उसकी स्थिति को स्पष्ट करते हैं। वह मेना है क्योंकि पुरुष उसका सम्मान करता है। निरुक्त ३-२१-२ में मेना शब्द की निरुक्ति इन्हीं शब्दों में की गई है। मानयन्ति एना पुरुषाः। वह ग्ना है क्योंकि पुरुष उसके पास जाता है। (ग्ना गच्छन्ति एनाः) स्त्री शब्द स्त्यै धातु से निकला है। निरुक्तकार के शब्दों में स्त्रियः स्त्यायते:

अपत्रपणकर्मणः अर्थात् स्त्री लजाती है। उसमें त्रपा अथवा लज्जा की भावना रहती है। नारी नर की सहयोगिनी है। अतः उसे योषा कहते हैं योषा यौते मिश्रणार्थस्य साहि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम्। निरुक्त ३–२१–१। वह सौन्दर्य का बुनती या बिखेरती है (वपति सौन्दर्यम्) अतः वामा है। वह सु अच्छी तरह पुरुष के चित्त को उन्द अर्थात् गीला या द्रवित करती है अथवा सुष्ठु रूप में पुरुष के चित्त को नन्दयति प्रसन्न करती है, (निरुक्त ३–२२–१) अतः सुन्दरी है। वह पुरुष के मन को आह्लादित करने के कारण प्रमदा है। वह स्वयं लालसा प्रधान है तथा लालसा जागृत करती है अथवा स्वयं लालित होती तथा संतति का लालन-पालन करती है अतः ललना है। वह गृह की स्वामिनी होने से गृहिणी, काम्या होने से कामिनी, रम्या होने से रमणी, सन्तति उत्पन्न करने से जननी तथा तेजस्विनी होने से भामा अथवा भामिनी है। माता पत्नी भगिनी पुत्री आदि सभी रूपों में पूजनीय होने से वह महिला कहलाती है। उसका नारी रूप नर से विशेषतः सम्बन्धित है। जनी का अर्थ जनयित्री तथा उत्पादिका दोनों ही है। जाया का अर्थ उत्पन्न करने वाली है। पति द्वारा उसका भरण-पोषण होता है अतः वह भार्या है।

गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करते ही नारी सम्राज्ञी बन जाती थी। घर में उसका साम्राज्य चलता था। श्वसुर देवर ननद सास सबके अन्दर वह अपनी प्रतिभा से चमकती थी। घर के समस्त कार्य उसकी देख रेख में संचालन में सम्पन्न होते थे। यज्ञ आदि का प्रबन्ध ही नहीं सम्पादन भी उसके बिना असम्भव था। जैसे समुद्र नदियों को साम्राज्य देता है वैसे ही स्त्रियां पति के घर पहुंच कर सम्राज्ञी बनती थीं। अथर्ववेद १४–१–४३ ४४

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दरि सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्रुषु॥

घर में तो उनका साम्राज्य था पर जब बाहर निकलती थीं तो चादर आदि से शरीर को आच्छादित करके चलती थीं। ऋग्वेद ८–१७–७ में पत्नीभि इव अभिसंवृत शब्द आते हैं जिनसे स्त्रियों का अभिसंवृत रहना सिद्ध होता है। ऋग्वेद १–१६७–३ में अन्तःपुर के लिये गुहा शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी स्त्रियों की अनावृत स्थिति का खंडन करता है। ऋग्वेद ८–३३–१९ में आज्ञा दी गई है — अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर। मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। हे स्त्री! तुम नीचे देखो ऊपर नहीं। पैरों को मिलाये रखो। वस्त्र इस प्रकार धारण करो जिससे तुम्हारे ओष्ठ तथा कटि के नीचे के भाग पर किसी की दृष्टि न पड़े। ऋग्वेद १०–७१ ४ के अनुसार स्त्री को इस प्रकार रहना चाहिए जिससे पर पुरुष उसके रूप को देखता हुआ भी न देख सके। वाणी को सुनता हुआ भी न सुन सके। भोजन करते समय भी पुरुष की दृष्टि स्त्री पर नहीं पड़नी चाहिये। शतपथ १–३–१–२१ के

अनुसार स्त्रियों को पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिये। सतीत्व एव लज्जा के रक्षार्थ ऐसे नियमों की सार्थकता स्वय सिद्ध है।

स्त्रियों के संस्कार पुरुषों की ही भांति होते थे। उपनयन के पश्चात् उनके विवाह होते थे। विवाह की आयु पुरुष और स्त्रियों के सम्बन्ध में एक नहीं थी। स्त्री १६ की तो पुरुष २५ वर्ष का होता था। शरीर विद्या के अनुसार पुरुष की वीर्य-परिपक्वता २५ वर्ष में होती है परन्तु स्त्री १६ वर्ष की आयु में ही गर्भ धारण करने के योग्य हो जाती है। चरक एव सुश्रुत की सम्मति भी यही है। ऐसी महिलायें भी हो सकती हैं जो आजीवन कुमारी रहकर जीवन व्यतीत करें। ब्रह्मवादिनी स्त्रियां इसी प्रकार की थी। वे वेदाध्ययन करती थीं यज्ञ करती थीं और भैक्षचर्यापर निर्वाह करती थी। तपश्चर्या द्वारा वे ज्ञान निपुण-तपस्विनी बनती थीं। ऋग्वेद १०—३९ एवं ४० में सूक्तों की ऋषिका ब्रह्मवादिनी घोषा ऋ० १-२७-७ की रोमशा तथा इसी प्रकार विश्ववारा इन्द्राणी प्रलोमितनया शची अपाला आदि तपस्विनी ऋषिकायें हुई हैं। पर ऐसी स्त्रियां अपवाद रूप थी। सामान्यत स्त्रियां ब्रह्मचर्य के पश्चात युवा पति को प्राप्त करके गृहस्थ बनती थीं। अथर्व० १-११-१८ में कहा है—ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

स्त्रियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। विश्पला की टांग युद्ध में ही टूटी थी जिसे अश्विनी कुमारों ने ठीक किया था। नमुचि के पास स्त्रियों की सेना थी। इन्द्रसेना ने इन्द्र के शत्रुओं का विध्वंस किया था। वह रथ एव अस्त्रों के संचालन में दक्ष थी। सरमा इन्द्र की दूती बनकर पणियों के पास गई थी।

इहैवस्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदमानौ स्वे गृहे ॥ ऋग्वेद-१०-८५-४२
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ ३-३०

यहीं रहो कभी पृथक न हो संपूर्ण आयु को भोगो। पुत्रों तथा नातियों के साथ क्रीड़ा करते हुये प्रसन्नता पूर्वक तुम दोनों (पति और पत्नी) अपने घर में रहो। पुत्र पिता के अनुकूल चले माता के साथ एक मनवाला हो पत्नी अपने पति के लिये मीठी तथा शान्तिमयी वाणी बोले। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा। भाई भाई से द्वेष न करे। बहिन बहिन से द्वेष न करे। आपस में प्रेम पूर्वक रहते हुये जीवन व्यतीत करना चाहिये।

गृहस्थ में दस सन्तान की उत्पत्ति का नियम था। 'दशास्यां पुत्रानाधेहि ऋ० १०-८५ ४५)। तीन पीढ़ियों के एक साथ रहने का उल्लेख भी प्राय आता है। पितृ तर्पण में पितामह से एक पीढ़ी पहले के प्रपितामह के भी तर्पण करने का विधान है। शाखोच्चार में भी प्रपितामह का नाम आता है। अथर्ववेद के नीचे लिखे मंत्र में पितामह को ही सीमा माना गया है — आरमानं पितरं पुत्रं पौत्रं च पिता महम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रिया तानुपह्वये ॥ ९-५-३०। पिता के साथ

माता का आदर तो अनिवार्य था ही पर आचार्य का सम्मान भी उतना ही था यह शतपथ ब्राह्मण के इस वचन से सिद्ध होता है — मातृ देवो भव पितृ देवो भव आचार्य देवो भव ॥

ऋग्वेद ३-५३-४ के अनुसार जाया इद् अस्त मघवन् साइत उ योनि — जाया ही घर है। आगे ६वें मंत्र में कल्याणी जाया सुरणं गृहे ते" में भी यही भावना है। ऐतरेय ब्राह्मण में तज्जाया जाया भवति यदस्या जायते पुन — शब्दों द्वारा जाया का जायात्व उसके संतति प्रसव से माना गया है। यास्क ने मातृ पद को आदरणीय तथा निर्माण करने वाली जननी का पद कह कर मान्यता दी है। दुहिता शब्द की कुछ दुर्गति भी हुई है। दुहिता दूरे हिता समझी गई है। उसका विवाह दूर देश म हो ऐसा मानकर उसे पिता को दुहने वाली बार बार आकर पितृ गृह का शोषण करने वाली कहा गया है। यह प्रथा अभी तक ग्रामों के परिवारों में प्रचलित है। जब जब लड़की ससुराल से अपने पीहर (पितृगृह) अर्थात् मायके (मातृगृह) में आती है तब तब माता पिता या भाई उसे कुछ न कुछ देते ही रहते है। दुहिता का जो नाम दुहने वाली ऐसा अर्थ लगाया गया है, वह असमीचीन है। पितृगृह से धन का दुहना-ऐसा अर्थ लेना ही मुसंगत है।

पत्नी तथा पति दोनों मिलकर गृहस्थी का निर्माण करते है। पत्नी पति के अधीन रहती है पर गृह के अन्दर उसी का शासन चलता है। भौतिक आवश्यकतायें सुख-समृद्धि आदि सब उसी पर अवलम्बित है। ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १८ के कतिपय मंत्र सती प्रथा का संकेत भी देते है। अर्धोह जाया' पत्नी पति का अर्धाङ्ग है। वह उसकी पूरक है। उसके बिना पुरुष स्वर्ग में भी नहीं जा सकता। पत्नी के साथ ही पति यज्ञ करता है। संतान उत्पत्ति जो वंश को आगे बढ़ाने वाली है, यज्ञ का ही एक रूप समझी गई है। पुरुष की वीरता तथा नारी की सुन्दरता दोनों मिल कर संपूर्ण मानवता का निर्माण करती है।

नारी नर का तथा नर नारी का सौभाग्य है। दोनों एक दूसरे की दीर्घायु की कामना करते हैं। आयुष्मानस्तु मे पति में दोनों की अभिलाषा छिपी पड़ी है। 'एधन्तां ज्ञातयो मम' में संतान तथा परिवार-वृद्धि की कामना है। नारी का प्रशस्त धर्म पातिव्रत है। नर का धर्म भी पत्नीव्रत होना है। दोनों ही पाप से गृहीत होकर वरुण पाशों में आबद्ध होते हैं। अत सदाचार पथ का अवलम्बन दोनों के लिये विहित समझा गया है। विवाह के मन्त्रों में निर्देश आता है कि पत्नी तथा पति दोनों के हृदय मन तथा चित्त एक दूसरे के अनुकूल रहें।

विवाह एक पवित्र संस्कार था जिसमें वेदों के साक्ष्य से दो प्राणी जल के समान मिलकर एक हो जाते थे। ऋग्वेद १-११६-१ तथा १०-९-७ में सूर्या सोम का वरण करके उसके साथ एकत्व प्राप्त करती है। दशम मडल के मम ममी सूक्त

के अनुसार भाई-बहिन का विवाह वर्जित था। दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। लड़की के पुत्र को स्वपुत्र के अभाव में वंश-वृद्धि के लिए गोद ले लिया जाता था। स्मृति ग्रन्थों में कदाचित इसीलिये भ्रातृ-हीना कन्या के साथ विवाह निषिद्ध माना गया है। ऋग्वेद १०-८५-३० ३४ के अनुसार स्त्री पुरुषों को एक दूसरे के वस्त्र नहीं पहिनना चाहिये। अथर्व० ६-१३१-४ म पति को वश में करने के लिये जाप तथा प्रार्थना का उल्लेख पाया जाता है।

स्त्री से पुत्र की प्राप्ति होती है। पुत्र नरक से त्राण देकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए नौका का कार्य करता है। इस हेतु पुत्र का जन्म शुभ तथा कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के शुन शेप आख्यान में पुत्री को विपत्ति कहा गया है। वह विपत्ति भले ही हो पर उसके बिना संसार नहीं चल सकता यह भी सत्य है। वासिष्ठ धर्मसूत्र १३-४८ म माता का पद इसीलिये सर्वश्रेष्ठ माना गया है —

उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥

गौतम धर्मसूत्र २-५६ के अनुसार किसी के मत से आचार्य तथा किसी के मत से माता सर्वश्रेष्ठ गौरव की अधिकारिणी है। पुत्र और पुत्री नर एवं नारी वस्तुतः एक ही ज्योति के दो कण हैं। कौन किससे छोटा है यह कथन ही अनावश्यक है। पुरुषों की भांति स्त्रियां भी ऋषित्व को प्राप्त करती थी यह उपनिषदों के अनेक स्थलों से प्रमाणित होता है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्की गार्गी-मैत्रेयी तथा याज्ञवल्क्य के संवाद इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं। बृहदारण्यक ६ ४ १७म पंडिता दुहिता की उत्पत्ति की इच्छा का उल्लेख है। महाभारत ५ ३८ १० भी स्त्रियों को पूज्य पुण्यवती तथा घर की शोभा कहता है। मनु तो स्पष्ट लिखते हैं —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं। महाभारत १३-१२७-६ कहता है — योषितश्चैव हन्यन्ते कस्मात्तो रह्यते गृहे। पाप-निश्चय मूर्खों में ही स्त्रियों का अनादर होता है। महाभारत १३-१२६-२६ स्त्री वध को वह महत्या कहता है।

आर्य संस्कृति में सतीत्व की महिमा महनीय है। इसी के बल पर स्त्री उच्च लोकों को प्राप्त करती है। उसके पातिव्रत तेज के सामने बड़े-बड़े तपस्वियों को भी झुकना पड़ता है। अमर्यादित स्त्रियों के पतनोल्लेख भी हमारे साहित्य में उपलब्ध होते हैं। जो पुरुष स्त्रियों की कमाई पर जीवन-यापन करते हैं उनकी भी निन्दा की गई है।

सिंहावलोकन

विवाह की जिस विधि का वर्णन ऊपर किया गया है। उससे उसकी सामाजि

फलता तो प्राप्त होती ही है साथ ही आध्यात्मिकता का रूप भी स्पष्ट हो रहा है। आध्यात्मिकता का सर्वोच्च स्तर प्रेम है। प्रेम लौकिक व्यवहार में भी दो व्यक्तियों को एक कर देता है। आध्यात्मिक स्तर में भी यह आत्मा को परमात्मा से संयुक्त करने वाला है। स्त्री और पुरुष की मुक्ति परमार्थ में पुरुष और प्रकृति की मुक्ति है।

हमारा प्राण अपान के साथ मिल कर शरीर संचालन की योग्यता सम्पादित करता है। अकेला प्राण या अकेला अपान अर्थशून्य है। यही दशा पुरुष और स्त्री की है। एकाकी पुरुष और एकाकी स्त्री का महत्व नगण्य है। दोनों मिलकर एक पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। जैसे प्राण और अपान दोनों मिलकर ओउम् अथवा ओ३म् की ध्वनि अथवा जाप को प्रतिपल ध्वनित करते हैं इसी प्रकार पुरुष और स्त्री मिल कर अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को पूर्ण करते हैं।

सम्मिलन एक सहज प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति पशुओं में भी पायी जाती है परन्तु मानव ने पशुत्व से ऊपर उठ कर विवाह संस्कार के द्वारा स्त्री और पुरुष के मिलन को धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण प्रदान किया है। उसने पशुता को संयम में परिणत किया है। यह संयम मानव को सांस्कृतिक विकास की ओर ले जाता है। जिस व्यक्ति के जीवन में संयम नहीं है वह हेय एवं पतित कोटि में परिगणित होगा।

पाणिग्रहण सप्तपदी और ग्रन्थि-बन्धन स्त्री और पुरुष दोनों को उनके लक्ष्य का स्मरण कराते हैं। सूर्य का दर्शन उन्हें प्रकाश स्वरूप प्रभु की ओर ले जाता है। सप्तपदी का दर्शन मार्ग में आने वाली बाधाओं के निराकरण की ओर संकेत करता है और ध्रुव का दर्शन उन्हें परिधि की गतिमत्ता से निकाल कर केन्द्रस्थ एवं अविचल बनाने की सूचना देता है। हम केन्द्रस्थ थे पर इस प्रपञ्च ने अपना मोहक आवरण डाल कर हमें विचलित कर दिया अपर्व से पर्व बना दिया। निष्क्रम्य से सय कर दिया। विवाह संस्कार हमें पुन केन्द्र की ओर ले जाने का उपक्रम है।

ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र गृहस्थ की प्रसन्न एवं उदात्त स्थिति का उल्लेख करता है—

सोमो वधूयुरभवदश्विना आस्तामुभावरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ॥
मं० १० । सू० ८५ । मंत्र ९ ।

वधू की कामना करने वाले वर को सौम्य होना चाहिये। तीक्ष्ण असह्य एवं उद्दण्ड वर गृहस्थ धर्म के विशिष्ट गुण सहनशीलता को अपने से दूर रखता है और इसी हेतु गृहस्थ में जाने योग्य नहीं है। वहां तो पग-पग पर सहिष्णु बनना पड़ता है। पति और पत्नी सहनशीलता के अभाव में एक दूसरे के अन्दर व्याप्त नहीं हो सकते। सविता अपनी किरणों से आभास्य से व्याप्त रहता है। इसी प्रकार पति और पत्नी एक दूसरे को तभी ऊपर उठा पाते हैं, जब दोनों ही एक दूसरे का ध्यान रखें। उन्हें जीवन भर इस आश्रम में रहना है। यद्यपि सन्यास में पत्नी साथ नहीं

रहती, फिर भी उसका स्थान समाज सेवा तथा भक्ति भावना तो ग्रहण कर ही लेती है। फिर विवाह कुल को विस्तार देने के लिये मनु की संतति को आगे बढ़ाने के लिये किया जाता है जिसमें पुत्र-पौत्रादि क्रीड़ा करते हैं और गृह को मोदमान बनाते हैं। भगवान की सृष्टि विवाह के अभाव में विफल हो सकती है। उस सीमा-मय की सीमा को संवरणशील रखने के लिये विवाह की प्रथा अनिवार्य हो जाती है। अथर्व वेद के निम्नांकित मन्त्र भी गृहस्थ की अविरोध भावना तथा मधुमय व्यवहार की अभिव्यंजना करते हैं —

१ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
२ माभ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥१६॥
अ० कां० ३। अ० ६। सू० ३०। म० १। ३॥

गृहस्थधर्म का पालन करते हुये पति और पत्नी दोनों को समान हृदय और समान मन वाला होना चाहिये। द्वेष का लवलेश भी उनके अन्दर प्रवेश न पा सके। वे एक दूसरे के प्रति वैसे ही प्रेममय व्यवहार करें जैसे गौ अपने बछड़े के प्रति प्रेम भाव से संयुक्त होती है। पति पत्नी के प्रति और पत्नी पति के प्रति मधुमती एवं शान्तिप्रदायिनी वाणी बोले। पुत्र पिता के व्रत का अनुकरण करे और माता के मन के साथ एक होकर रहे। भाई भाई से और बहिन बहिन से द्वेष रहित होकर प्रेमपूर्वक व्यवहार करें। गृहस्थ के सभी घटक मिल कर चलें। समान व्रत वाले बनें और मंगल-मयी प्रणाली से चलते हुये सुखदायिनी वाणी बोलें।

गृहस्थ जीवन ओज तेज, सहिष्णुता बलवत्ता इन्द्रियवत्ता धी और धर्म के धारण के लिये प्रभु ने दिया है। हमें सम्यक दर्शन और सम्यक श्रवण करते हुये ऋत और सत्य के मूल को पकड़ना है। इष्ट और पूर्त के द्वारा आमुष्मिक एवं लौकिक व्यवहार की साधना करती है। अपनी संतति के साथ हमें पशुओं पर भी दृष्टि रखनी है। कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जीवन धारण करना है। कम हमें अपने में लिप्त न कर सके इसका भी ध्यान रखना है। योग क्षेम शान्ति, विश्वास एवं सुख को अपनाते हुये हमें अपने मन्तव्य को प्राप्त करना है।

मनु ने भी गृहस्थाश्रम की सर्व श्रेष्ठता स्वीकार करते हुये उसके कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में उनके निम्नांकित श्लोक ध्यान देने योग्य है—

१ यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
मनु० ॥ ३-७७ ॥

२ यथा नदी नदा सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१॥ मनु० ६-९०
जैसे प्राण वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं वैसे ही ...

श्रम का आश्रय लेकर अन्य तीनों आश्रम स्थित रहते हैं। जिस प्रकार सभी नदी-नद समुद्र में जाकर स्थित हो जाते हैं उसी प्रकार सभी आश्रमी गृहस्थाश्रम का अवलम्बन लेते हैं।

१ प्रजनार्थं महा भागा पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ९-२६
२ उत्पादनं मपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोक यात्राया प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ ९-२७

स्त्रियां पूजा के योग्य हैं महाभाग्यशाली हैं गृह की शोभा हैं सन्तति प्रसव का कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है घरों में स्त्री और श्री एक ही हैं उनमें कोई भेद नहीं है। सन्तानोत्पत्ति और उत्पन्न वत्स का परिपालन तथा दैनिक लोकयात्रा का कार्य सबका निबन्धन करने वाली प्रत्यक्षरूप में स्त्री ही है। यदि स्त्री के साथ धर्मपूर्वक सभी कर्तव्यों का पालन होता गया तो अपने लिये और अपने पितरों के लिये गृहस्थ स्वर्ग के समान सुख दायक है।

१ सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ३-६
२ यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
३ अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ३-२१
४ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रा फला क्रिया ॥ ३-५६

जिस घर में पति से पत्नी और पत्नी से पति सन्तुष्ट रहते हैं वहां स्थिररूप से कल्याण निवास करता है। यदि दोनों प्रसन्न हैं तो कुल भी प्रसन्नता से ओतप्रोत रहता है। जिस कुल में नारियों की पूजा होती है उस कुल में देवता अर्थात् दिव्य गुण दिव्य भोग और दिव्य सन्तान विराजमान रहते हैं। इसके विपरीत यदि स्त्रियां सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी गयी तो उस कुल की समस्त क्रिया निष्फल हो जाती है।

गृहस्थ धर्म का पालन कई दृष्टियों से कठिन भी है। सामाजिकता के परिपार्श्व में लोक व्यवहार की साधना के लिये गृहस्थ को अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ अथवा धन के अर्जन में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है और उसमें पग पग पर लोभ का आक्रमण होता है। यदि गृहस्थ इस लोभ से बच गया तो वह अर्थ-शौच परायण बन गया। अर्थ-शौच ही वास्तविक शौच है। इस पवित्रता के सामने जल से पवित्र होने का कोई अर्थ नहीं है।

गृहस्थ में निवास करते हुए जो प्राणी पराया भोगी बनते हैं पर पाक पर अपनी दृष्टि रखते हैं वे मर कर उन अन्नदायकों के पशु बनते हैं। अतः गृहस्थ को वेदोक्त धर्म सम्बन्धी जीविका से ही अपना निर्वाह करना चाहिए।

गृहस्थाश्रम में पंचमहायज्ञों का करना अनिवार्य माना गया है। अन्य यज्ञों को महायज्ञों का नाम नहीं मिला। इन यज्ञों में सर्व प्रथम ब्रह्म यज्ञ की गणना है। ब्रह्म-यज्ञ के अन्तर्गत वेदों का स्वाध्याय तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना परिलक्षित है। ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर गृहस्थ का सर्व प्रथम उस परम तत्व तथा उसके ज्ञान विज्ञान का चिन्तन करना चाहिये। दूसरा महायज्ञ देव यज्ञ है इसी को अग्नि होत्र भी कहते हैं। जिन आधि दैविक विभूतियों का हमारे ऊपर इतना अधिक ऋण है जिनके कारण हमारी शरीर यात्रा चलती है, उनके लिये वेद ने अग्निहोत्र करने का विधान किया है। अग्निहोत्र में हम जिस सामग्री को होमते हैं वह कहां कहां पहुँचती है इसका तो हमें ज्ञान भी नहीं होता। विशुद्ध त्याग की भावना इसी यज्ञ में देखी जाती है। तीसरा पितृ-यज्ञ है जिसमें हम अपने जीवित माता-पिता की तो सेवा करते ही हैं साथ ही अपने उन पूर्वजों का स्मरण करते हैं जिनका रक्त हमारी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। चौथा बलि-वैश्व देव यज्ञ है। इसमें हम ऐसे प्राणियों को अन्न देते हैं जो असमर्थ हैं जैसे कुत्ता पतित, चाण्डाल, पाप-रोगी काक और कृमि इत्यादि। ब्रह्माण्ड अग्नि और सोम, द्यावा और पृथिवी, सूर्य और भू, नरत्व तथा स्त्रात्मकता फिर दिव्यता और मनुष्यता आदि के अनेक युग्म हम सबके शरीरों में हैं। 'वैश्वदेव' सर्वभूतों से ही सम्बद्ध है। अतः इस यज्ञ में हम अपने व्यापक सम्बन्ध का अनुभव करते हैं और उसे प्रत्यक्षरूप में प्राणियों की सेवा द्वारा अभिव्यक्त भी करते हैं। पांचवां अतिथि यज्ञ है। कोई धर्मात्मा परोपकार परायण, सत्योपदेशक पक्ष पात से शून्य यदि अपने घर आवे तो उसकी सेवा करना गृहस्थ का परम धर्म है।

पंच महायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थ को पूर्णिमा और अमावस्या के दिन हवन में अग्नि सोम विष्णु आदि के लिये कुछ विशेष आहुतियां देना चाहिए और जो नवसस्येष्टी जैसे पर्व आते हैं उनके लिये भी विशेष आहुतियों का विधान है। गृहस्थ को अपने निवास के लिए भवन भी चाहिये। यदि यह पूर्वजों से प्राप्त है तो पृथक भवन बनाने की आवश्यकता नहीं है। यदि न हुआ तो उसका निर्माण करना ही पड़ता है।

वर्ण-मर्यादा गृहस्थ के लिये ही है। हमारी संस्कृति ने शूद्र वर्ण से ब्राह्मण वर्ण तक विकास की एक सुन्दर शृ खला प्रस्तुत की है। जन्म से हम सभी शूद्र हैं, पर संस्कार हमें द्विज की संज्ञा दे देते हैं। वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण तीनों द्विज हैं। शूद्र समाज की सेवा करने के योग्य समझे गये हैं। वैश्य का कार्य कृषि, गोपालन तथा व्यापार द्वारा धन-धान्य का अर्जन करना है क्षत्रिय समाज का जागरूक प्रहरी है। उसे समाज के संरक्षण में अपने प्राणों की आहुति तक देनी पड़ती है। ब्राह्मण समाज का पथ प्रदर्शक है, कोरे ज्ञान द्वारा ही नहीं अपने शील वृत्त और सदाचरण द्वारा भी। शूद्र समय पड़ने पर शूद्र नहीं रहता है। धन की आकांक्षा

उसे वैश्यत्व की ओर प्रेरित कर देती है। वैश्य भी जब धन की रक्षा में चिन्तित होने लगता है तो उसे रक्षक क्षत्रिय के रूप में परिणत होना पड़ता है और क्षत्रिय भी जब राजनीति की जटिलताओं से व्याकुल हो उठता है तो सरल ब्राह्मण जीवन की ओर स्वतः चल देता है। ब्राह्मणत्व हमारे सांस्कृतिक विकास की ऊर्ध्व तम स्थिति है। वह अपने तप त्याग दीक्षा श्रद्धा आदि गुणों के आधार पर ज्योतिर्मय आनन्दधाम का निवासी बनता है। समाज में यदि सभी वर्ण अपने-अपने कर्तव्य का पालन करें, तो समग्र समाज मंगलमय बन सकता है।

वानप्रस्थ

उपनयन संस्कार ने संस्कृति के जिस रूप का प्रत्यक्ष कराया था विवाह संस्कार में जिसके भव्य दर्शन हुये वे वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत उसका अतीव प्रोज्ज्वल साधनापरक रूप उपलब्ध होता है। वेद ने जिन व्रत और दीक्षा का श्रद्धा और तप का तथा ब्रह्मचर्य और सत्य का अनेक बार उल्लेख किया है वे अपनी समग्र समृद्धि के साथ वानप्रस्थ आश्रम में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम विद्या स्वास्थ्य तथा लोक यात्रा के संवाहक व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि का आश्रम है। गृहस्थ में इसी के आधार पर सामाजिक सम्पर्क की शालीनता तथा पारिवारिक जीवन की कुशलता सिद्ध हो पाती है। गृहस्थ प्रेम का पाठ पढ़ाता है और आत्म-विस्तार करता है। उसमें एक व्यक्ति की स्वार्थ-संकीर्णता स्थिर नहीं रह पाती। वह लुप्त होती है और व्यक्ति अपने साथ और कभी कभी अपने व्यक्तित्व को छोड़ कर भी पत्नी सन्तति तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों के स्वार्थों का अधिक ध्यान रखता है। यहाँ निजत्व परत्व में परिणत होता है वैयक्तिक सम्बन्ध विस्तृत होते हैं और मानव अल्पता से विशालता तथा अणुता से विभुता की ओर प्रयाण करता है। उपनिषदों ने जिसे भूमा का नाम दिया है तथा यजुर्वेद ने जिस एकत्व की ओर संकेत किया है, वह गृहस्थाश्रम में अपनी भूमिका बना लेता है। पर भूमिका अकेली पर्याप्त नहीं है। मानव को तो विकास-क्रम में इस एकत्व का सम्पादन करना है। वानप्रस्थ आश्रम इसी के लिये ऐसे उर्वर क्षेत्र का कार्य करता है जिसमें बीज पड़ते ही फला फूला पादप हाथ आ जावे।

ब्रह्मचर्य पितृ गृह को छोड़कर आचार्य के कुल में निवास करना है। गृहस्थ अपने गृह के अन्तर्गत संयत भोग है वानप्रस्थ में पुन गृह का परित्याग एवं अरण्य का निवास है। इतिहास में ऐसे ऋषियों का उल्लेख अनेक बार हुआ है जो वन के कन्द-मूल-फल खाकर तप पूत जीवन व्यतीत करते हैं। वैखानस सम्प्रदाय ऐसे ही तपस्वियों के आग्नेय चरित्र के कारण प्रख्यात है। कर्मठ जैन धर्म भी इस प्रकार की त्याग तपस्या के सतत उदाहरण प्रस्तुत करता है। शकुन्तला नाटक में कविवर कालिदास ने कण्व ऋषि के जिस आश्रम का वर्णन किया है और विशाखदत्त ने मुद्रा

रांक्षस नाटक में गुप्त साम्राज्य के महामन्त्री विष्णु शर्मा कौटल्य की कुटी का जो चित्र अंकित किया है, वह इन्हीं वैखानसों का वनस्थ तपस्वियों का स्मरण करा देता है।

वानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में मनु की आज्ञा है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथा वद्धि जितेन्द्रियः ॥१॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वली पलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत ॥२॥
सन्त्यज्य ग्राम्य माहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत सहैव वा ॥३॥ मनु० अ० ६ ॥

विधिपूर्वक विद्याव्रत स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम में रहकर यती तथा इन्द्रिय जयी बनने के लिये वन में निवास करे। जब गृहस्थ के बाल पकने लगें और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब उसे वन का आश्रय लेना चाहिये।

वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुये ग्राम्य आहार तथा अपने समस्त परिच्छद को छोड़ देना पड़ता है। भार्या को भी पुत्र के संरक्षण में रख कर अथवा अपने साथ लेकर वानप्रस्थी अरण्यवासी बनता है

अग्निहोत्र त्याग का सूचक है, अतः वह तथा उसकी सामग्री वानप्रस्थी के साथ ही रहती है। वह स्वाध्याय का भी परित्याग नहीं करता। उसे अहर्निश इन्द्रियों के दमन, मन के संयम मैत्री भाव समचित्तता सर्वभूतों पर अनुकम्पा तथा किसी से कुछ भी न लेने प्रस्तुत सभी को कुछ न कुछ देते रहने में तत्पर रहना चाहिये। जीवन निर्वाह के लिय वह वनवासी तपस्वी एवं गृहस्थी ब्राह्मणों के घर से भिक्षा ले सकता है। उसे आत्म-संसिद्धि के लिये प्रयत्न करना है। अतः जैसे बने वैसे दीक्षित, व्रती एवं श्रद्धा-संपन्न होकर उसे कठोर से कठोर साधना करनी पड़ती है।

मुण्डकोपनिषद ने ऐसे ही तपस्वियों के सम्बन्ध में लिखा है—

तपः श्रद्धे ये ह्युप वसन्त्य रण्ये शान्ता विद्वां सो भैक्ष्य-चर्याञ्चरन्तः।
सूर्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रा मृतः सपुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ७ ॥

यहाँ अरण्यवास का उल्लेख है। वानप्रस्थ शब्द से भी इसी की ध्वनि निकलती है। किसी समय वन का वास शान्ति के साथ सुरक्षा का भी स्थान रहा होगा। वैसे वानप्रस्थी अग्नि को अपने साथ ले जाता है और अग्निहोत्र प्रतिदिन करता रहता है। अग्नि भी वन्य जन्तुओं से सुरक्षा रखता है। भोजन के लिये वानप्रस्थी को भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करना पड़ता है, ऐसा मुण्डक के उपर्युक्त श्लोक से प्रमाणित होता है। भोजन की समस्या वन के फल, कन्द तथा धान्य से भी सुलझ सकती है। वन का वातावरण एकान्त शान्त होता है।

प्राचीन, नागरिक तथा जनपदीय धूम भ्रम जन्य कलह एवं कोलाहल

का यहाँ कोई अवसर ही नहीं है । कहा जा सकता है कि ऐसे वातावरण की सृष्टि तो घर में भी की जा सकती है । वन मे जाने की क्या आवश्यकता है ? विदेह जनक का उदाहरण इस विषय में इतिहास-प्रसिद्ध है । हमारी समझ में सभी व्यक्ति जनक नहीं बन सकते । निर्बल मानव को साधना सिद्धि के लिए किसी न किसी प्रकार का अवलम्बन लेना ही चाहिए । जन सम्पर्क से हट कर एकान्त का निवास साधना के लिए हितकर है । वनवास का प्रश्न आज की परिस्थिति में पुन उत्पन्न होगा, क्योंकि वनों की स्थिति आज वह नहीं है जो पुराकाल में थी । वानप्रस्थियों को इस युग में आश्रम तथा गृह बना कर रहना पड़ता है और वह समस्त जन्जाल उनको घेरे रहता है, जिसका सामना गृहस्थों को करना पड़ता है । कभी कभी तो इनकी दयनीय दशा पर तरस भी आता है । इन्हें सीमेंन्ट तथा लोहा चाहिये ईंट या पत्थर चाहिये । आश्रम-निवास के साधन जुटाने में ही इनका समय व्यतीत हो जाता है । तप साधना के अवसर कम मिलते हैं । युगीन परिस्थितियों को देखते हुए वानप्रस्थाश्रम की समस्या दुरूह एवं जटिल बन गयी है । यदि गृह में रहते हुए ही तप, दीक्षा श्रद्धा और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत किया जा सके तो श्रेयस्कार है ।

वेद में वानप्रस्थ आश्रम का स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिला । मानव को श्रद्धा सम्पन्न होकर दीक्षित व्रती एवं तपस्वी होना चाहिए । यह गृहस्थ आश्रमी के लिए भी वांछनीय है । यजुर्वेद १९/३० में सत्य की प्राप्ति के लिए चार साधनों का वर्णन किया गया है । प्रथम साधन व्रत है । जब मनुष्य व्रत लेता है तो वह एक नियम में आबद्ध हो जाता है । नियम में बँधकर चलना मानों दीक्षा को प्राप्त करना है । दीक्षा दक्षिणा की ओर ले जाती है, अर्थात् मानव अपने साधन पथ में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है । यह प्रवीणता उसके अन्त करण में अपने पथ के प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न कर देती है । श्रद्धालु मानव सत्य को प्राप्त कर लेता है जो उसकी जीवन यात्रा का चरम लक्ष्य है ।

दीक्षा की महिमा महान् है । यजुर्वेद २० २४ में दीक्षित व्यक्ति की विशेषतायें इस प्रकार वर्णित हुई है–

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप व्रतपति हैं, व्रतों की रक्षा करने वाले हैं । सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि जिस व्रत में लीन है उसके रक्षक आप ही हैं । निखिल सृष्टि जिस व्यवस्था के व्रत में बंधी चली जा रही है, उसकी रक्षा आप ही करते हैं । अत मैं आज से व्रत लेता हू दीक्षित बन कर श्रद्धा को प्राप्त करता हू और अपने आप को तुम्हारे प्रज्वलित तेज में समिधा बना कर आहुत कर रहा हू । जैसे अग्नि समिधा के पड़ने से प्रज्वलित होती है वैसे ही मैं अपनी आहुति द्वारा आपको प्रदीप्त करता हू और जैसे अग्नि में पड़ कर समिधा स्वयं प्रदीप्त हो उठती है, वैसे ही मैं भी

आपके तेज से तेजस्वी बन रहा हूं। दीक्षित की यह साधना कितनी स्पृहणीय है। वह स्वयं प्रदीप्त हो रहा है और अपनी दीप्ति से अपने प्रभु को भी प्रदीप्त कर रहा है।

वेद तो नहीं पर परवर्ती साहित्य में चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के निम्नांकित शब्द इस तथ्य का समर्थन करते हैं :—

"ब्रह्मचर्यमिमम् समाप्य गृहीभवेद् गृही भूत्वा वनीभवेद्। वनीभूत्वा प्रव्रजेत्।"

इन शब्दों में ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास चारों आश्रमों का निरूपण किया गया है। मनु की आज्ञा चारों आश्रमों के सम्बन्ध में हम पूर्व ही लिख चुके हैं।

वानप्रस्थी की आयु, प्राण अपान व्यान, उदान समान चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन आत्मा ज्ञान ज्योति, स्वर्ग आधार सभी यज्ञमय त्यागमय बलिदानशील होने चाहिये। उसका यज्ञ स्वयं यज्ञमय हो। किसी भी प्रकार की आकांक्षा का संस्पर्श उसके साधन-पक्ष के साथ नहीं होना चाहिए। वह एकान्त में निवास करता हुआ वेद शास्त्र का विचार करे, अपने से उच्चकोटि के महात्माओं का सत्संग करे योगाभ्यास करे और अपने तथा प्रभु के साक्षात् करने में प्रयत्नित रहे।

१५ सन्यास आश्रम

श्रुति भगवती कहती है—

अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति।

जीवात्मा निकट ही वर्तमान प्रकृति के आश्रय को छोड़ता नहीं और निकट ही वर्तमान परमदेव को देखता नहीं। एक को छोड़े तो दूसरे का दर्शन करे। एक ओर से परित्याग तो दूसरी ओर से ग्रहण बस यही जीव का एकमात्र लक्ष्य है। उसे प्रकृति का परित्याग कर देना है। यह परित्याग ही प्रभु-दर्शन का एक मात्र साधन है।

अभी तक जिन संस्कारों का वर्णन हुआ है, उनमें त्याग की भावना क्रमशः वर्द्धमान होती गयी है। गृहस्थ के समस्त लौकिक सम्भार को छोड़कर जब मानव वानप्रस्थ में प्रवेश करता है, तब उसका प्रमुख लक्ष्य समस्त लौकिक आर्त्तयों का परित्याग ही होता है। वानप्रस्थ में पत्नी साथ रह सकती है, वह भी अपने पति के त्यागभाव को बढ़ाने के लिये यत्नशील रहती है। मनु ने जीवन निर्वाह के लिये वानप्रस्थी को भिक्षा लेने की छूट दे रखी है, परन्तु कुछ आचार्य इसे मान्यता नहीं देते। उनकी सम्मति में वानप्रस्थी को गृहस्थ आश्रम में की हुई अपनी कमाई पर ही अवलंबित रहना चाहिये। वन में स्वतः जात कन्द फल आदि का उपयोग उसके अधिकार के अन्तर्गत है। उसे स्थान परिवर्तन भी नहीं करना है। एक ही स्थान पर जम कर उसे त्याग की साधना करनी है। सांसारिक कोलाहल से दूर एकान्त शान्त स्थान का निवास संसार के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला है। सामने आये हुये सृष्टि विज्ञान का मनन और अन्तर्निहित ऋत का चिन्तन उसे

ध्यान की निर्मल एकतान अवस्था की ओर ले जाता है। सन्यास की यही आधारशिला है।

श्रुति के ही शब्दों में आयु प्राणं प्रजा पशुम् कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् मह्य दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। सन्यासी सबका छोड़ता है पर उस एक को पकड़ता है। उसे आयु की चिन्ता नहीं, प्राण की मोह नहीं, सम्पत्ति की कामना नहीं। पशुधन आदि की आवश्यकता नहीं। कीर्ति की कामना भी बहुत पीछे छूट गयी और जिस ब्रह्मवर्चस ने उसे इतना आगे बढ़ाया, आज उसकी ओर भी वह लालसा भरी दृष्टि नहीं डाल रहा है। सत और अमृत की जीविका उसकी संगिनी नहीं रही। ये सब उसे यहां से प्राप्त हुए थे जिससे उपलब्ध हुये थे उसी को समर्पित करके आज वह निश्चिन्त है और कहता है —

पुत्रैषणा मया त्यक्ता, वित्तैषणा मया त्यक्ता लोकैषणा मया त्यक्ता। यह उद्घोष है स्व के विनाश का स्वत्व के संहार का मृति के मिट जाने का। सन्यासी के आगे आज वह विरजा ज्योतिर्मय ब्रह्मलोक आलोकित है जिसे विष्णु के परमपद की तृतीयधाम की नाम या स्वर्ग की संज्ञा प्रदान की जाती है। श्रुति के ही विधान में ईजानश्चित्रमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन्। तस्मैप्रभाति नभसो ज्योतिषी मान् स्वर्ग पन्था सुकृते देवयान।

यज्ञ की दैवी नौका पर आरूढ़ साधक पार्थिव अग्नि के द्वारा भौतिक शरीर का संशोधन करता हुआ जब विज्ञानात्मा का शोधन करने के लिये चैतन्याग्नि पर आरूढ़ होता है तब वह दुःखोदधि से पार हो जाता है। उसे नाक के दर्शन होने लगते हैं। साधना में आगे बढ़ता हुआ इस नाक की भी पीठ पर बैठ कर वह द्यौ लोक की ओर उड़ान भरने लगता है। वह सुकृती इसी दशा में नभ में ज्योतिष्मान् उस देवयान पथ का दर्शन करता है जो स्वर्ग की ओर ले जाने वाला है।

धन्य है आर्य संस्कृति का यह देवयान मार्ग। सन्यासी इसी पथ का पथिक बनता है। उसका कोई निकेतन नहीं वह अनिकेतन है यायावर है, परिव्राजक है बाद्य अथवा भिक्षु है। अनिकेतन होते हुए भी वह स्थिर बुद्धि है। स्थान उसका स्थिर नहीं है पर बुद्धि तो स्थिर है। यायावर होते हुये भी वह अन्तःकरण से केन्द्रस्थ है। इसी को आप एकत्—अनेकत्व पतिमिय—अपतिमिय, बाहर भी भीतर भी आदि किसी नाम से पुकार सकते हैं। सन्यासी का यह लौकिक एवं अलौकिक गुण है। वह आप से वार्तालाप करता है भोजन पान शयन आदि भी करता है विश्व की व्यवस्था का वर्णन और सदाचार का उपदेश भी करता है पर रहता है वह अपने केन्द्र में ही लीन। सब कुछ छोड़ कर आज उसे सर्वस्व प्राप्त है। आज वह अपने में है और अपना उसमें है —

आज तुम्हारा साथ तुम्हारे मेरा मेरे साथ,
आज सिन्धु के हाथ बिन्दु है सिन्धु बिन्दु के हाथ ॥

आर्यों के संस्कार मानव का विकास करते हुये उसे इसी अवस्था तक पहुँचाने वाले हैं। नियमानुसार सन्यास तीन प्रकार का होता है —

१ क्रम सन्यास,
२ ब्रह्मचर्य से सन्यास तथा
३ जब वैराग्य तीव्र हो उठे, तभी सन्यास ले लेना।

क्रम सन्यास में प्रथम तीनों आश्रमों को उत्तीर्ण करके सन्यास में प्रवेश किया जाता है। यह क्रम साधक को लोक की उच्चावच स्थितियों का अनुभव करा देता है। यह अनुभव साधक को स्वतः सन्यास की प्रेरणा देता है। शूद्र के लिये केवल गृहस्थ है, पर द्विजन्मा अर्थात् संस्कारी जीवों के लिये गृहस्थ के उपरान्त वानप्रस्थ की भी कल्पना की गयी है। इन द्विजों में वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण तीनों ही हैं और तीनों ही वानप्रस्थ ले सकते हैं पर सन्यास आश्रम में वैश्य तथा क्षत्रिय वृत्ति वाले प्रवेश नहीं कर पाते। उनके पास वह योग्यता ही नहीं होती जो उन्हें सन्यास में स्थिर रख सके। ब्राह्मी वृत्ति ही इसके लिए योग्य समझी गयी है। अतः ब्राह्मण ही सन्यास में प्रवेश करने का अधिकारी है। ब्राह्मण त्याग का धनी होता है वह लौकिक संसार का अनायास ही परित्याग कर सकता है। कामनाओं में कीर्ति की कामना अवश्य है। क्षत्रिय यश-अर्जन के लिये अपने प्राणों का पण लगा देता है पर ब्राह्मण इससे भी ऊपर है। वह यश कीर्ति अथवा लोकैषणा को सहज भाव से ठुकरा देता है। इसी हेतु उसी को सन्यास लेने का अधिकार दिया गया है। पूर्व उद्धृत वेद मंत्र में मधु रसका शब्द ब्रह्मवर्चस्व के उपरान्त ही रखे गये हैं और सर्वस्व समर्पण की सूचना देते हैं।

ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी ब्राह्मण होते हैं जो गृहस्थ बन कर लोकानुभूति की ओर नहीं जाते। ब्रह्मचर्य अवस्था में ही उन्हें जीवन की असारता का रहस्य स्पष्ट हो उठता है। वे भावियों के विस्मयजनक निर्माण का पर्यवेक्षण करते ही वैराग्य से उद्बुद्ध हो उठते हैं। वैराग्य ऐसे ब्राह्मणों की विभूति होती है। वैराग्य की इसी एकनिष्ठ साधना के आधार पर वे सीधे ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ले लेते हैं। आचार्य शंकर और स्वामी दयानन्द इसी प्रकार के ब्राह्मण थे। तीसरे प्रकार में गृहस्थ का उपभोग करते हुये भी ब्राह्मण अपने मूल की ओर गमन करने की तीव्र अभिलाषा से युक्त हो जाता है। मेरे जीवन का अर्थ क्या है, यह प्रश्न उसके सर्वांग को झकझोर डालता है। धर्मपरायणता उसे गृहस्थ का परित्याग करने के लिये बाध्य कर देती है। वह चाहे गृहस्थ में हो चाहे वानप्रस्थ में जिस दिन वैराग्य जग पड़ा उसी दिन वह लोक का परित्याग कर देता है। अन्यों के नेत्र खुले रहने पर भी बन्द रहते हैं, पर यह ब्राह्मण संसार की ओर से नेत्र बन्द करके अपने मूल की ओर नेत्र खुले रखता है। मानवीय ऐषणायें आकांक्षायें उसे सार हीन जान पड़ती हैं। विश्व की ओर उसके पिण्ड रूप इस शरीर की उत्कृष्टतम व्यवस्था में उसे अपने मूल के दर्शन होने लगते हैं। अतः पूर्व

वैराग्य की इस अवस्था में वह चाहे जिस आश्रम में रहता हुआ भी सन्यास आश्रम में प्रवेश कर जाता है। ऐसा त्यागी एवं वीतराग ब्राह्मण निस्सन्देह परम तत्व को प्राप्त करता है।

सन्यासी स्वयं निर्भय होता है और समस्त प्राणियों को अभयदान देता है। ऐसे ब्रह्मवादी ब्राह्मण न जीवन का अभिनन्दन करते हैं और न मरण का शोक मनाते हैं। दोनों ओर से निरपेक्ष अध्यात्म-प्रेम में लीन प्रणव के उपासक सम्यक दर्शन से सम्पन्न स्वभावत सर्वभावों से निस्पृह सर्व-द्वन्द्व विनिर्मुक्त वे समस्त पापों को धोकर परम ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

सन्यास के पूर्व बन्धन है। अन्य आश्रमी कारागार में पड़े हैं। सन्यासी उन्मुक्त वायुमंडल में स्वच्छन्द होकर विचरण करता है। वह कारागार से मुक्त हो गया है, अधम मध्यम तथा उत्तम पाशों को काट चुका है। त्याग ने उसे इस अवस्था को पहुँचाया है। 'अग्नि सत्तं' सत के सूक्ष्म आवरण को वह छोड़ चुका है और इसीलिए 'अग्नि सत्तम्' परमदेव की दर्शनीय श्री में वह 'सर्वात्मना मग्न है। अब उसने घट घट में वर्तमान अपने परम अतिथि को प्राप्त कर लिया है। ऋग्वेद के नवम मंडल के सूक्त ११३ में जिस आनन्दधाम का उल्लेख हुआ है सन्यासी उसी धाम का वासी बन चुका है। बन्ध है यह त्याग और बन्ध है यह उपलब्धि।

१६ अन्त्येष्टि

जीवन एक यज्ञ है। इसके मूल में भी यज्ञ है मध्य में भी यज्ञ है और अन्त में भी यज्ञ है। बृहदारण्यक उपनिषद में पंचाग्नि विद्या का व्याख्यान करते हुए द्यौ पर्जन्य पृथिवी पुरुष और स्त्री के यज्ञ रूप का उल्लेख हुआ है। एक में श्रद्धा की आहुति पड़ती है, दूसरे में सोम की तीसरे में वर्षा की चतुर्थ में अन्न की और पाँचवें में वीर्य की। अन्तिम आहुति पुरुष को जन्म देती है। गर्भ से निकल कर पिण्ड के जो संस्कार होते हैं उनका प्रतिपादन हम इसके पूर्व सन्यास आश्रम तक कर चुके हैं। ये समस्त संस्कार यज्ञरूप हैं। अब जिस अन्त्येष्टि संस्कार का प्रतिपादन किया जा रहा है वह भी यज्ञरूप ही है।

यज्ञ अंहो मुच है। वह हमें पाप से छुड़ाने वाला है। कुमति पाप की जन्मदात्री है। यज्ञ हमें सुमति प्रदान करता है यही हमें दीक्षित करता है तपस्वी बनाता है मेधा, प्राण तेज आह्लाद, सौम्यता और ऐश्वर्य देता है। ब्रह्मवेत्ता इसी पावन शक्ति का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक को उपलब्ध करता है। उसकी वाणी मन चक्षु, श्रोत्र जिह्वा प्राण रेत बुद्धि आकूति संकल्प आदि सब यज्ञरूप बन जाते हैं। वह विरजा एवं विपाप्मा ज्योति को प्राप्त कर लेता है। अग्न इन्द्रियाँ ही नहीं उसके बाह्यकरण और शरीर के अवयव—शिर, पाणि पाद पृष्ठ उरू उदर जंघा शिश्न, उपस्थ, पायु त्वक चर्म मांस रुधिर, मेद मज्जा स्नायु अस्थि शब्द स्पर्श रूप रस, गन्ध, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय

और आनन्दमय कोष आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा, सभी उनके लिए यज्ञ का रूप धारण कर लेते हैं। अन्त में उसका यज्ञ भी किसी कामना के लिये नहीं, प्रत्युत यज्ञ के लिये ही होता है। ऐसा जीवन सांस्कृतिक विकास का जीवन है।

जीवन का प्रारम्भ हुआ था तो उसका अन्त भी होना ही चाहिये।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च" गीता के इस वाक्य में मृत्यु के पश्चात् भी जन्म का उल्लेख हुआ है। अनेक व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् जिस जीवन में प्रवेश करते हैं, वह यज्ञ-पुरुषों की दृष्टि में वांछनीय नहीं है पर संस्कृति-सम्पन्न संस्कारों से विशुद्ध निष्पाप जीवन को व्यतीत करने वाला सन्यासी जिस जीवन में प्रवेश करता है, वह अमृत जीवन है। वह वांछनीय ही नहीं कल्याण रूप जीवन है। अतः जब वह यहां से प्रयाण करता है तब उसके यज्ञरूप बाह्य एवं अन्त जीवन के अंग अन्त्येष्टि क्रिया के द्वारा अपने अपने सम्बन्धी यज्ञरूपों में ही लीन हो जाते हैं। जो कुछ उसने लिया था उसे ज्यों का त्यों उसके स्रोत् या उद्भव स्थान को वह समर्पित कर देता है। कबीर ने अपनी चुनरी में दाग नहीं लगने दिया था। उसे ज्यों का त्यों उतार कर अन्त में रख दिया था। यह उपलब्धि महनीय है महतो महीयसी है और सर्वात्मना बाह्य है।

जिस साधक ने अपना इतना अधिक विकास किया है जिसने अपने सर्वस्व को सन्यस्त कर दिया है, पत्नी के रूप में अपनी सहज विकसित श्रद्धा जिसके साथ है वक्ष-स्थलवेदी है रोम कुश हैं हृदय यूप (यज्ञ स्तम्भ) है काम आज्य है, मन्यु यूप में बंधा हुआ पशु है, वाणी दक्षिणा है प्राण होता है चक्षु उद्गाता है मन अध्वर्यु है वचन हवि है मुखमाहवनीय अग्नि है, उसका शरीर यज्ञ के लिए ईंधन है। इसी ईंधन का आज अन्त्येष्टि में होमा जा रहा है। यह मरण यह अग्निदाह सन्यासी के लिये मरण नहीं है यह तो अवभृथ अर्थात् यज्ञान्त स्नान है। जीवन रूपी यज्ञ की यह अन्तिम परिणति है।

जन्म के साथ जीवन यज्ञ का आरम्भ करके साधक ने इस लोक को बनाया था अब मृत्यु के उपरान्त यह परलोक को बना रहा है। अपनी इस दीर्घ यात्रा में उसने न जाने कितनी योनियों में प्रवेश किया होगा कितने लोक लोकान्तरों दिशाओं और प्रदिशाओं के दर्शन किये होंगे। आज वह भविष्य के मोह तथा विगत के शोक से पूर्णतया मुक्त है। उसे सर्वत्र एकत्व का अनुभव हो रहा है। जिसमें समस्त आचार्य और समस्त देव अधिष्ठित हैं आज उसने उसी को जान लिया है देख लिया है। अब वह विचलित नहीं समाश्वस्त है। सर्वत्र उसकी समदृष्टि है मित्रतुल्य दर्शन है। ऋत की प्रथमजा उसे परमात्म देव के समीप ले जाकर बिठा रही है। सर्वानिष्टमुक्त मोक्ष इसी का नाम है।

शरीर को अन्त में भस्म होना ही है, पर जो इस शरीर में निवास कर रहा

था, वह मरण से परे अजर-अमर अनादि तत्त्व है। वही एक योनि से दूसरी योनि में जाता है। यह परिवर्तन वैसा ही है जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्रों को धारण कर लेना। आत्मा से शरीर आच्छादित रहता है। स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीरों का आवरण आत्मा के ऊपर होता है। आवागमन के इस चक्र में आत्मा अपनी वासनाओं तथा कर्म-फलों के आधार पर कभी नीची और कभी ऊंची योनियों में प्रवेश किया करता है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की शरीरों और उनके द्वारा भोगों में आसक्ति दूर नहीं जाती।

पुनरावृत्तियों के आधार परमात्मा ऊंचे नहीं उठ पाते। वे तूफान या भरक जैसी कुत्सित स्थितियों में पड़ते हैं। पुनरावृत्तियों के लिए उनके सत्कर्म तथा निर्मल ज्ञान के आधार पर वेद ने पितृयान और देवयान नाम के दो मार्गों का उल्लेख किया है। पितृयान के पथिक चन्द्रलोक में जाते हैं और वहां के पुण्य तथा आह्लादजनक ऐश्वर्य का उपभोग करके पुनः इस संसार में लौट आते हैं। देवयान के पथिक सूर्यलोक में जाते हैं और वहां से स्वर्ग में भी प्रवेश करते हैं। स्वर्ग में आनन्द उपभोग की अवधि एक पर्याप्त काल की है। इस विशाल अवधि का ध्यान करके किसी किसी विद्वान ने इसे निरवधि भी कह दिया है।

अन्त्येष्टि—क्रिया में आर्यजन प्रायः हवन द्वारा शरीर का दाह करते रहे हैं। यह प्रथा पुरातनकाल से अब तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसके कुछ अपवाद भी हैं— यथा शिशु सन्यासी विशिष्ट रोग से ग्रस्त व्यक्ति आदि का दाह संस्कार नहीं किया जाता। इन्हें या तो भूमि में निखात (गाड़ा जाना) किया जाता है अथवा जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। जिन देशों में निखात क्रिया प्रचलित है वहां सम्भवतः काष्ठ का अभाव रहा होगा और परिस्थिति को देखते हुये उन्होंने अन्त्येष्टि की अपनी पद्धति निकाली होगी। जो जाति शव को गिद्ध चीलों द्वारा खाने के लिये छोड़ देती है वह सम्भव है उपयोगिता की दृष्टि से ऐसा करती हो। दाह संस्कार इन सभी पद्धतियों में श्रेष्ठ माना गया है और जिनके यहां यह प्रचलित नहीं था वे भी इसे मान्यता देने लगे हैं। विधान के अनुसार मृत व्यक्ति को पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियां स्नान कराती हैं। उसके शरीर पर चन्दनादि से सुगंधित लेप किया जाता है। नवीन वस्त्र द्वारा उसके शरीर को आच्छादित किया जाता है। शरीर के भार को देखते हुये घृत चन्दन कस्तूरी केसर अगर तगर चन्दन का चूरा कपूर आदि सामग्री एकत्र की जाती है। शरीर के भार से दूना पलाश आदि का काष्ठ लिया जाता है। श्मशान भूमि में यदि वेदी न बनी हो तो भूमि को खोद कर बस्ती से दक्षिण आग्नेय अथवा नैऋत्य दिशा में वेदी बनायी जाती है। मृतक का सिर उत्तर, ईशान या वायव्यकोण में रखा जाता है। वेदी की लम्बाई पुरुष के शरीर तथा ऊपर उठे हाथ की ऊंचाई के बराबर रहनी चाहिये तीन या साढ़े तीन हाथ चौड़ी और छाती के बराबर यह गहरी हो। वेदी पर थोड़ा थोड़ा जल छिड़काव गोमय से लेपन करे और

काष्ठादि को चिने । शव को रख कर पुन उसके ऊपर चन्दन पलाश आदि की लक-ड़ियां चिने । घृत में कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थ मिलावे । फिर कपूर जलाकर चिता में सिर से प्रारम्भ करके पैरों तक अग्नि प्रज्वलित कर दे ।

सर्व प्रथम अग्नि सोम लोक, अनुमति तथा स्वयं के लिये आहुतियां दी जाती हैं । इसके पश्चात् जिन मन्त्रों से आहुतियां दी जाती हैं उनमें शरीर के अवयव तथा ब्रह्माण्ड के अंगों का सम्बन्ध वर्णित हुआ है जैसे चक्षु और सूर्य का सम्बन्ध है । अग्नि को सम्बोधन करके उससे प्रार्थना की जाती है कि उसका जो शिव स्वरूप है उसके द्वारा वह इस मृतक को पुण्यवानों के लोक म ले जाय । मृतक प्राणी नवीन शरीर के साथ सयुक्त हो । अग्नि अपने धर्म द्वारा उसकी रक्षा करे । जिस मार्ग से पूर्व पितर *गये हैं उसी मार्ग का यह भी अनुसरण करे । अग्नि वह दूत है जो इसे यमालय में ले* जाता है । यमालय वायु का स्थान है जिसे अन्तरिक्ष भी कहते हैं । जीवात्मा यमालय से सूर्य की ओर जाता हुआ चन्द्र में प्रवेश करता है फिर अपनी इच्छाओं के अनुसार वर्षा के साथ औषधि तथा वनस्पतियों में आता है । यहां से वह पुरुष के वीर्य में प्रवेश करता है और स्त्री के गर्भ में जाकर दसवें महीने में पुन उत्पन्न हो जाता है । यह मार्ग आवागमन के चक्र में पड़े हुये प्राणियों के लिये है, मुक्तात्माओं के लिये नहीं । मुक्तात्मा शरीर के सिर में ब्रह्म रन्ध्र को फोड़ कर निकलते हैं । बन्धनग्रस्त जीव या तो मुख से चक्षु से या नासिका द्वारा निष्क्रमण करते हैं ।

आहुतियों में प्राण पृथिवी अग्नि अन्तरिक्ष वायु, द्यौ सूर्य दिशा चन्द्र नक्षत्र जल वरुण नाभि वाणी सोम श्रोत्र चक्षु त्वचा मेद मांस स्नायु अस्थि मज्जा, रेत पायु प्रायश्चित्ति भेषज अन्तक मृत्यु, ब्रह्म आदि का नाम लेकर हवि देने का विधान है । पृथिवी मृतक के लिये सुखदायिनी बने । मृत्यु ने ही दूत बन कर इसके प्राणों को निकाला है । प्राण अपनी प्रणीति पर आगे बढ़े । इस पथ के जो रक्षक हैं, इसे कुशलपूर्वक परलोक में पहुंचा दें । यम जो इस पृथिवी और समस्त जगत को धारण कर रहा है और जिसके संकेत पर यह निखिल ब्रह्माण्ड संचालित हो रहा है वह यम सबको *नियंत्रण में रखने वाला परमेश इस सुगति प्रदान करे ।* इसके *पाप* नष्ट हों, मृत्यु इसका संशोधन करे और इसे सुकृतियों के पथ पर ले चले ।

शव-दाह के उपरान्त घर को मार्जन लेपन प्रक्षालन आदि द्वारा शुद्ध करना चाहिये । तीन दिन स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मंत्रों का पाठ और हवन करना चाहिये । तीसरे दिन चिता से अस्थियां उठा कर कहीं श्मशान भूमि म रख दे अथवा जल प्रवाह कर दे । अपने सामर्थ्य के अनुकूल दान-दक्षिणा भी द परन्तु उसम पात्र और अपात्र का ध्यान रखे । ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धी तथा परिचित व्यक्ति एकत्र होते ही हैं । उनका भी सम्मान करे और सभी एकत्र होकर दिवंगत आत्मा की सुगति के लिये प्रभु से प्रार्थना करें ।

इस प्रकार जिस जीवन-यज्ञ का प्रारम्भ हुआ था उसका अन्त होता है । हमारे

संस्कार आध्यात्मिक पवित्रता के ही नहीं भौतिक पवित्रता के भी सन्देश वाहक हैं। उनमें आयु, प्राण, शक्ति शिक्षा आदि की तो पूर्ति होती है, सांस्कृतिक विकास का भी योग रहता है। जीवन को नियमित दिशा की ओर मोड़ते हुये वे उसे सुखी एवं समृद्ध बनाने में सहायता देते हैं और विकास की उच्च भूमिका तक पहुंचा कर आत्मा का परमात्मा से मिलन करा देते हैं। ये (संस्कार) हमारे विकास की आधार शिला हैं, समन्वित एवं सन्तुलित जीवन यापन के साधन हैं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ धार्मिक उपलब्धियों के जनक हैं और हमारी चेतना को उसके स्रोत से मिलाने वाले हैं। संस्कारों का इस प्रकार सांस्कृतिक विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समय उनका रूप कुछ विकृत हो गया है, जिसमें विदेशियों के सम्पर्क का विशेष हाथ है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने संस्कारों के विशुद्ध रूप को पुनः जागृत करें और अपने विकास में स्वयं सहायक हों।



३ । योग और संस्कृति

योग का अर्थ

हमारे दर्शनों में सांख्य तथा योग का एक युग्म है। सांख्य ज्ञान है तो योग उसका क्रियात्मक पक्ष। अंग्रेजी के थ्योरी और प्रैक्टिस दो शब्द इन्हीं के रूपान्तर हैं। ज्ञान-धारा में एक ओर ब्रह्माण्डीय विज्ञान है तो दूसरी ओर चैतन्य क्षेत्र के नियम। ब्रह्माण्ड में जो व्यवस्था या प्रणाली प्रचलित है वह सहज और स्वाभाविक है। वहाँ नियम परिवर्तन असम्भव है। जो प्रबन्ध चल रहा है, उसमें प्राकृतिक पिण्ड स्वेच्छा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। उनकी कोई इच्छा भी नहीं है। इच्छा का खेल चैतन्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। नियम यहाँ भी है, पर चैतन्य सत्ता प्रकृति की भाँति पर-वश नहीं है। वह कार्य करने में स्वतन्त्र है। नीति शास्त्र (ethics) उसे सत् की ओर प्रयाण करने का उपदेश देता है। चैतन्य सत्ता स्वतन्त्र है। अतः वह कभी उस उपदेश के अनुसार कार्य करती है और कभी नहीं करती। करना या न करना उसके हाथ में है। पर जब कार्य अथवा अकार्य सम्पादित हो गया तब उसका जो परिणाम होना है, वह उसके भी वश के बाहर है। नीति का नियम वहाँ सक्रिय होता है और चैतन्य सत्ता को अपने कार्य का फल भोगने में परतन्त्र कर देता है। आप व्रत का पालन अथवा उल्लंघन करने में स्वतन्त्र हैं भोजन की नियमित मात्रा के सेवन अथवा असेवन में भी स्वतन्त्र हैं पर उसके पश्चात् जो परिणाम होना है उसमें परतन्त्र हैं। चैतन्य क्षेत्र के नियमों का उल्लंघन करने से जो कष्ट झेलने पड़ते हैं, उनसे घबड़ा कर मानव उस नियम-परायणता की ओर बरबस झुकने की आकांक्षा करने लगता है जो प्राकृतिक क्षेत्र में कार्य करती है। यह उसकी उच्छृंखलता की ओर पराजय है। जब मानव विचारशील बनकर नियम पालन के महत्त्व को हृदयंगम करने लगता है तभी उसके सांस्कृतिक विकास का प्रारम्भ हो जाता है।

सूर्य अपनी गति में रश्मियों की गति एवं प्रत्यागति में स्वतन्त्र नहीं है। उसके अन्दर निहित परम तत्त्व उससे बिना किसी बाधा के ऐसा कराता रहता है। जब से सूर्य का जन्म हुआ है तब से लेकर प्रलय पर्यन्त उसे प्राकृतिक नियम का पालन करना पड़ेगा। सूर्य ही नहीं प्रकृति के बने हुये सभी पदार्थों पर यह नियम लागू होता

है। मेरे घर में कई प्रकार के पुष्प लगे हैं। पत्तियां सबकी हरी हरी हैं पर पुष्पों के रंगों में भेद है। किसी का रंग श्वेत है, किसी का लाल है किसी का बैंजनी है और किसी का प्रारम्भ में कुछ परन्तु परिणमन में अन्य। केले के पादप अंकुरित होकर ऊपर उठते हैं और उनमें ऊपर ही ऊपर पत्ते निकलते चले जाते हैं। नीचे के पत्ते स्वतः झड़ते भी जाते हैं। बेलें और लतायें अपने पत्ते और रेशे फैलाती हुई बढ़ती जाती हैं। कुछ पृथिवी पर फैल जाती है और कुछ बांस आदि का सहारा पाकर ऊपर चढ़ जाती हैं। यह भविष्य मन्त निहित नियमों का अनुवर्ती है। सूर्य चन्द्र आदि की अपेक्षा इसमें चैतन्यांश का वैशिष्ट्य है। जीवन यहां सक्रिय है परन्तु सूर्य चन्द्रादि की भांति परवश भी है। इसे मन-मानी करने का अधिकार नहीं है। वानस्पत्य जगत के ऊपर प्राणव क्षेत्र है उसमें चैतन्यांश अपेक्षाकृत और भी अधिक है पर जिस नीति के तत्व को केवल मानव हृदयंगम कर सकता है उसे पशु पक्षी हृदयंगम नहीं कर सकते। अत सांस्कृतिक विकास की समस्या मानव के समक्ष ही प्रस्तुत होती है, अन्य किसी के नहीं।

संस्कृति के लिये सांख्य की ज्ञान-धारा पृष्ठ भूमि का कार्य करती है और योगधारा उसके विकास में तथा गन्तव्य तक पहुंचाने में सहायता देती है। सांख्य जहां ब्रह्माण्ड के निर्माण और नियमन का ज्ञान देता है वहां चैतन्य क्षेत्र के नियमों की ओर भी निर्देश करता है। इन नियमों को समझ लेना एक बात है पर उनके अनुकूल जीवन को ढालना एक दम दूसरी बात है। निरीक्षण और परीक्षण दोनों जब साथ साथ चलते हैं तभी चैतन्य का साक्षात्कार होता है। अतएव सांख्य के निरीक्षण के साथ योग का परीक्षण भी चलना चाहिये।

निरीक्षण ज्ञानात्मक है परीक्षण क्रियात्मक। निरीक्षण में तो नहीं पर परीक्षण में अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति भी अन्त तथा बाह्य दो प्रकार की है। बाह्य अभिव्यक्ति आचरण सम्बन्धी है जिससे सभ्यता का जन्म होता है। अन्त अभिव्यक्ति में आन्तरिक प्रकाश होता है जो संस्कृति का जनक है। प्रकाश बाहर भी है पर जब भीतर प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगे तो समझना चाहिये कि मानव सांस्कृतिक विकास में प्रगति कर रहा है। प्रकाश भी अन्तिम स्तर नहीं है। उसके आगे भी कई पड़ाव या भूमिकायें हैं जो साधना इच्छा व्रत तथा तपश्चर्या पर आश्रित हैं। योग दर्शन के अष्टांग इसी साधना के अपर रूप हैं। योग के इन आठ अंगों को हम आठ सीढ़ियां भी कह सकते हैं। जैसे सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ व्यक्ति अन्त में छत पर पहुंच जाता है वैसे ही इन अष्टांगों को पार करता हुआ साधक अथवा ब्रह्म या सर्वोत्तम निष्कम्प परमानन्दमयी अथा अवस्था को प्राप्त कर लेता है। साधना चले साकर है, पर उसके पश्चात जो विश्राम भूमि प्राप्त होती है वह मंहिष्ठ-वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ है। मानव के निखिल प्रयत्नों का चरमावसान इसी अवस्था में होता है। उसकी लौकिक दौड़ धूप भी इसी गन्तव्य को समक्ष रखकर उत्पन्न होती है। जब वह साफल्य

लाभ नहीं करती तभी मानव अन्तः साधना की ओर प्रवृत्त होता है।

ख योग के अष्टांग

महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में निम्नांकित आठ अंगों का वर्णन किया है — यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों में एक क्रम है। प्रथम अंग से लेकर अष्टम अंग तक क्रमशः आभ्यन्तर आरोहण होता गया है।

अभिव्यक्ति को हमने अन्तः तथा बाह्य दो रूप दिये हैं। बाह्य अभिव्यक्ति को हमने आचरण से सम्बन्धित किया है। यह आचरण निश्चित रूप से समाज-सापेक्ष है। जो कुछ हम करते हैं उसका हम पर हमारे परिवार पर और हमारे समाज पर प्रभाव पड़ता है। आन्तरिक आरोहण के लिये आवश्यक है कि हम इस आचरण को संयत करें। व्यक्ति का असंयत आचरण स्वयं उसके लिये और समाज के लिये भी क्लेशकारक है। उससे स्वस्ति नहीं अस्वस्ति स्वस्थावस्था नहीं, अस्वास्थ्य का जन्म एवं प्रसार होता है। यह अवस्था योग में विघ्नकारक है। वह समाज-सापेक्ष आचरण को जितना अधिक संयत किया जायगा उतना ही अधिक वह साधक के लिये श्रेयस्कर होगा। योग का प्रथम अंग यम समाज से सम्बद्ध इसी बहिर्मुख आचरण को संयत करने के लिये है। अन्तः आरोहण की यह प्रारम्भिक सीढ़ी है। आभ्यन्तर प्रवेश से पूर्व हम बाहर ही तो होंगे। बाहर से ही तो हम अन्तः प्रवेश करेंगे। यदि बाह्य भूमिका व्यवस्थित एवं स्वस्थ हो गयी तो आभ्यन्तर आरोहण भी सुगम हो जायगा।

ग यम

१ अहिंसा-यम पाँच हैं — अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा साधनपक्ष में तथा समाज की सापेक्षता में सर्वप्रथम स्थान पाती है। मैं जिनके सम्पर्क में आता हूं उनके प्रति हिंसा का व्यवहार न करूं न उनके शरीर को क्लेश दूं और न उनके मन को तो अधिक सम्भावना यही है कि वे भी मेरे प्रति हिंसा का व्यवहार नहीं करेंगे। यहां हम जान-बूझ कर सम्भावना शब्द का प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि सम्भावना इस बात की भी है कि मैं अपनी ओर से जिनके प्रति द्वेष-भाव नहीं रखता वे अकारण भी अपनी मन स्थिति के अनुसार, मुझ से द्वेष करने लगते हैं। उनके व्यवहार पर मैं अंकुश नहीं लगा सकता। मेरे अधिकार में इतना ही है कि मैं अपनी ओर से उनके प्रति विगत द्वेष हो जाऊं और यदि प्रतिक्रिया के रूप में कहीं उनके द्वेष के विरोध में मेरे मन में भी द्वेष भाव की उत्पत्ति होने लगे तो अपनी साधना को निर्विघ्न रखने के लिये आवश्यक है कि मैं उस द्वेषी को प्रभु के ऊपर छोड़ दूं। मैं अपनी ओर से किसी से भी द्वेष नहीं करता पर यदि कोई जान-बूझ कर मुझ से द्वेष करता है तो उसे प्रभु ही देखें। ब्रह्म-यज्ञ के अन्तर्गत मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के अन्त में इसी भाव की ओर संकेत किया गया है। द्वेष और हिंसा भाई-बहिन हैं।

द्वेष विशुद्ध रूप से मानसिक है परन्तु हिंसा मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की है।

साधक अहिंसक है। यदि उसके सम्पर्क में आने वाले भी अहिंसक हों तो साधना का पथ सुकर होगा। हम कल्याणकारी पथ पर चलें इसके लिये आवश्यक है कि हमारा संसर्ग अहिंसक व्यक्तियों से हो। निम्नांकित ऋचा में इसी भाव का वर्णन है —

स्वस्ति पन्था मनु चरेम सूर्या चन्द्र मसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमे महि ॥

सूर्य और चन्द्र जिस पथ पर चल रहे हैं वह स्वस्ति का पथ है कल्याण का मार्ग है स्वास्थ्य सम्पादन की प्रणाली है। इस पथ में कोई किसी का द्वेषी नहीं है। सूर्य चन्द्र पृथिवी बृहस्पति आदि सभी मिल कर चल रहे हैं। इनका परस्पर मैत्रीभाव सभी की स्थिति को सुदृढ़ बना रहा है। साधक को इसी प्रकार के संयम पथ का अनुसरण करना है। मंत्रगत अघ्नता शब्द अहिंसा की ओर स्पष्ट निर्देश कर रहा है। अहिंसा ही मैत्रीभाव की भी अभिव्यंजिका है। निम्नांकित मन्त्र में मित्रभाव की व्यापकता अभिव्यंजित हुई है —

दृते दृंह मामित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

प्रभु, आप दृढ़ हैं। आपके समान दृढ़ यहां कोई भी नहीं है। नाथ! कृपा करो और मुझे भी दृढ़ बना दो – ऐसा दृढ़ जिसे अनुभव करके सभी प्राणी मुझे मित्र दृष्टि से देखने लगें। मैं तो सबको मित्र दृष्टि से देख ही रहा हूं। यदि अन्य भी ऐसा ही करने लगें तो मैत्री भाव का एक सुन्दर रुचिकर एवं कल्याणप्रद वातावरण उत्पन्न हो जायगा जो सभी के लिए हितकर सिद्ध होगा।

वेद में यज्ञ के लिये अध्वर शब्द आता है। अध्वर का अर्थ ही है अहिंसा। प्रभु अध्वर में जितने प्रसन्न होते हैं चाहना दिखाते हैं उतने अन्य किसी में नहीं। "वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे"। प्रभु वसुओं के भी वसु है। बसाने वालों के भी बसाने वाले हैं। बासक शक्तियों में निहित निखिल सामर्थ्य के वही स्रोत हैं। जो उनका बन गया जिसने अपने को प्रभु को समर्पित कर दिया वह इतना बलवान् हो जाता है कि उसे अपने कार्य के सम्पादन में किसी की भी हिंसा नहीं करनी पड़ती। उसका अहिंसामय जीवन प्रभु को भी प्यारा लगता है। उसके अहिंसामय चरित्र से प्रभु प्रसन्न होते हैं। वेद में अनेक बार द्वेष को दूर करने की प्रार्थनाएं आती हैं —

अविद्वेषम् कृणोमि वः। आरेदेवा द्वेषोऽस्मत्।
विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्य स्मत्।

आदि मन्त्र पदों में इसी प्रकार की प्रार्थनाएं विद्यमान हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन प्रार्थनाओं का बड़ा महत्त्व है। द्वेष-रहित मन विक्षुब्ध नहीं हो पाता। विक्षोभ की तरंगों से जो बच गया वह निश्चितरूप से इस प्रपंच से पार हो गया। उसी का जीवन वास्तविक अर्थों में शान्त और सुखी है।

वीर की अहिंसा और कायर की अहिंसा में अन्तर है। प्रथम अनुकरणीय है, द्वितीय नहीं। कायर की अहिंसा को अहिंसा का नाम देना भी अनुचित है। वीर वही है जो अपनी अहिंसा के बल से स्वयं न झुक कर अपने शत्रु को झुका दे। कायर तो शत्रु को देखते ही स्वयं झुक जाता है। परिस्थितियाँ कभी-कभी ऐसी भी आ जाती हैं जिनमें हिंसा भी अहिंसा का रूप धारण कर लेती है। ऐसी हिंसा एक का विनाश करके अनेकों का संरक्षण कर जाती है। अत्याचारी के अत्याचार का प्रतिरोध होना आवश्यक है, अन्यथा न जाने कितने व्यक्ति उसके क्रूराचार के आखेट बनेंगे। अत्याचारी कोई भी क्यों न हो स्त्री हो चाहे पुरुष उसका वध जन मंगल के लिये अनिवार्य है। यदि वह समझाने-बुझाने से अपने क्रूर कर्म से विरत हो जाता है, तो अच्छा है अन्यथा उसे उसके शरीर से पृथक कर देना ही उचित है। अर्जुन के सामने युद्ध के प्रारम्भ में ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिसमें वह युद्ध से पराङ्मुख होने जा रहा था। भगवान् कृष्ण ने शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का उपदेश देकर उसे युद्ध के लिये उद्यत कर दिया। हिंसा की भी उन्होंने एक नयी परिभाषा दी —

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

शरीर का विनाश आत्मा का विनाश नहीं है। शरीर एक अस्त्र है जिसका प्रयोग आत्मा करता है। यदि यह प्रयोग अनुचित है, जन-मंगल-विधायक होने के स्थान पर अमंगल-कारक है तो आत्मा को ऐसे शरीर के प्रयोग से वंचित कर देना अत्यन्त कल्याणकारी कर्म है। वीर को जहां चींटी की भी हत्या से दुःख होता है वहां दुर्दान्त दानव को नष्ट करने में आनन्द का अनुभव भी होता है। अहिंसा इस प्रकार बाह्य परिस्थिति को योग-साधना के लिये उपयोगी बना देती है।

२ सत्य

दार्शनिक दृष्टि से सत्य सत्तात्मक तत्त्व है। सत्ता, अस्तित्व, स्थिति आदि इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। वैयक्तिक सत्ता सामाजिक सत्ता का एक अंग है। समग्र सत्ताओं का आधार सत्य ही है। जिन जिन उपादानों से स्थिति सम्भव होती है वे सभी उपादान सत्य में सन्निहित माने जायेंगे। विश्व भर की व्यवस्थिति सत्य नियम पर ही अवलम्बित हैं। वेद कहता है— सत्येनोत्तभिता भूमिः अथवा सत्यम् बृहद् ऋतम् उग्रम् दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति। पृथिवी क

आधार सत्य है। दीक्षा, तप आदि में भी सत्यरूपी साधन का स्थान अप्रगम्य है। यह सत्य बृहत् है। मेरी सत्ता ही नहीं विश्व भर की सत्ता सत्य पर आधारित है। मन्त्रों में पृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु यहाँ उपलक्षण से पृथिवी का अर्थ निखिल ब्रह्माण्ड लेना चाहिये जिसमें पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ तीनों परिगणित हैं।

सामाजिक पक्ष में सत्य का तात्पर्य सत्य व्यवहार है। समाज में अनेक व्यक्ति हैं। उनमें कभी परस्पर अनुकूलता होती है और कभी प्रतिकूलता। प्रतिकूलता से वातावरण विक्षुब्ध होता है। उसमें वैषम्य तथा वैपरीत्य की भावनायें जागृत होती हैं जिनसे अशान्ति फैलती है जो मानव के अभ्युत्थान के लिये एकान्त अवांछनीय है। प्रतिकूलता के मूल में असत्य व्यवहार न्याय पर आश्रित नहीं होता। अन्याय का प्रसार स्थिति परक नहीं विध्वंस का जनक है। तनिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये जब मानव सत्य और न्याय का गला घोंटने लगता है, तब समाज में विक्षोभ का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। जो मार्ग हमारी प्रगति का उन्मूलक है, उस पर हम क्यों चलते हैं? अपने आप अपने पैरों में क्यों कुल्हाड़ी मारते हैं? क्यों हम अपने ही द्वारा अपने ही कर्मों से अशान्ति का आह्वान करते हैं? ये प्रश्न और इनका समाधान मानव इतिहास की गम्भीर समस्या बन गये हैं। साधक के लिये समाधान सीधा है। उसे असत्य नहीं सत्य को अपनाना है। वह सत्य का पक्षपाती बनेगा और सत्य का ही व्यवहार करेगा। उसे अशान्ति नहीं अपने चतुर्दिक शान्ति का वायुमंडल बनाना है। यह उसकी साधना के लिये आवश्यक है। ऋत् वाक और सत्य अर्थात् वचन और व्यवहार वाणी और कर्म दोनों को ही उसे संयत करना है। वाणी में ध्वनि है गति है। वह एक मुख से निकल कर अनेक श्रवणों में होती हुई मन रूपी अन्तरिक्ष में विहार करती है, प्रसार करती है। सत्य का व्यवहार भी वाणी के समान गतिशील तो नहीं पर सामाजिक स्थिरता के लिये अतीव अपेक्षित है। इसका प्रभाव गति पर पड़ता है। गति ही प्रगति की ओर ले जाती है और यह अपने क्रम में कर्मठता को जन्म देती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रित होकर ये एक दूसरे के सहायक सिद्ध होते हैं। सत्य की सन्तति सत्य की रक्षिका बनती है और साधक का सामाजिक पक्ष विघ्न-बाधा-विहीन बन जाता है। सत्य का व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिये। चाहे आप शिक्षक हों, रण-दुर्मद योद्धा हों प्रजा पालक शासक हों उद्योग व्यवसाय निपुण व्यापारी हों अथवा श्रम-जीवी सेवापरायण सामान्य जन हों सत्य का व्यवहार आपके साथ रहना ही चाहिये। शिक्षा से जब सत्य निर्वासित होता है तो समाज में भ्रम अविद्या तथा अज्ञान पनपते हैं। रण से जब सत्य भागता है अथवा शासन से उसे कूच करना पड़ता है, तो प्रजा में विद्रोह की ज्वाला भड़कने लगती है और मात्स्य न्याय की अन्धेर गर्दी चलने लगती है। सत्य विरहित व्यापार समाज में भ्रष्टाचार

को प्रेरित करता है और जब सत्य का अंग अथवा तेजा में आवास नहीं रहता, तो सारा समाज का भवन बड़ाम से धराशायी हो जाता है। अतः सामाजिक हित के लिये सत्य का व्यवहार परमावश्यक है। वेद इसीलिये कहता है —

(१) सत्यमूचुःनर एवाहि चक्रु— मनुष्यों को सत्य ही बोलना चाहिये और वैसा ही आचरण करना चाहिये।

(२) शम सत्यस्य सुयमस्य शस— वह सत्य जो संयम सहित बोला जाता है, निश्चित रूप से कल्याणकारी होता है। पतंजलि ने सत्य को इसी हेतु यमों के अन्तर्गत रखा है।

(३) शम सत्यस्यपतयोभवन्तु— सत्य के पालक, उसकी रक्षा करने वाले अर्थात् सत्य पथ पर आरूढ़ जन कल्याण भाजन बनते हैं।

(४) सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चा सच्चा वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरत् ऋजीयः तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्।

मानव जब सत्य विज्ञान की ओर बढ़ता है तब सत् और असत् दोनों ही उसके समक्ष प्रतिस्पर्धा पूर्वक उपस्थित होते हैं। परन्तु दोनों में जो सत्य है, जो सरल है भगवान् उसी की रक्षा करते हैं और असत् को समाप्त कर देते हैं।

(५) असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेतिमहद् व्यचः
तद् वैतसोविधूपायन् प्रत्यक् कर्तारं मृच्छति।

असत्य भूमि से निकल कर एक बार तो आकाश तक फैल जाता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यही सब कुछ है। परन्तु होता है वह मूल-रहित, धुएँ के महल के समान। रावण या हिटलर भी इसी प्रकार एक दिन सारे संसार पर छाये हुए थे, परन्तु मूल में पुण्य के न रहने से एक दिन अपने समग्र संभार को लेकर वे धराशायी हो गये। जिस असत् ने संसार को संतप्त किया था, उसने अपने फैले हुए रूप को समेटा और लौट कर अपने कर्ता को ही संतप्त किया। वह संतप्त ही नहीं हुआ अपितु जड़-मूल से नष्ट हो गया। पुण्य की जड़ हरी होती है। पाप की जड़ होती ही नहीं। सत्य पुण्य है, असत्य पाप है। वेद के शब्दों में—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धां अनृतेऽदधात् श्रद्धांसत्ये प्रजापति॥

ऋत और अनृत सत्य और असत्य दोनों में प्रजापति ने भेद कर दिया है। उसने अनृत में अश्रद्धा तथा सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया है। इसी हेतु श्रद्धावान् साधक सत्य को ग्रहण करता है और असत्य को अग्राह्य समझ कर छोड़ देता है।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋतस्यधीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्यश्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमानः आयोः।

ऋत की वाणी शोक का अपगमन करती है। ऋत के धारण करने से पाप

नष्ट होते हैं। अतः अनृत के स्थान पर ऋत का ही वरण करना चाहिए। जो व्यक्ति ऋतमयी वाणी को नहीं सुनते उनके बहरे कानों को ऋत का उद्घोष फाड़ डालता है। उन्हें बाध्य होकर ऋत की वाणी सुननी पड़ती है। सत्य को स्वीकार कर लेने से मानव शुचि एवं पवित्र हो जाता है।

सत्य का यह सामाजिक रूप साधक की साधना भूमि को निष्कण्टक बना देता है।

३ अस्तेय

किसी के अधिकार का अपहरण स्तेय अथवा चोरी है। इससे विरत रहना अस्तेय है। जिस व्यक्ति ने अपने परिश्रम से धन अर्जित किया है, उसके धन को जब कोई दूसरा व्यक्ति छुप-छिप कर अपहृत करने लगता है तब उसका कर्म चौर्य जैसे गर्हित पाप में सम्मिलित होता है। यह कार्य छिप कर किया जाता है धन के स्वामी की दृष्टि बचा कर किया जाता है और छिपा कर रखा भी जाता है। अतः चोर की यह वृत्ति समाज की दृष्टि में अत्यन्त निकृष्ट समझी जाती है। जिस कार्य को हम ढिंढोरा पीट कर किसी के समक्ष नहीं कर सकते वह स्वतः सामाजिक कार्य है। असामाजिक कार्य ऐसे भी हो सकते हैं जो गुह्य हों परन्तु धर्म-सापेक्ष हों। ऐसे कार्य पाप के क्षेत्र में नहीं आते क्योंकि उनमें किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता परन्तु जो कार्य धर्म-विरुद्ध है और छिप कर किये जाते हैं उनके करने में सर्व प्रथम तो अपना आत्मा ही झिझकता है। जब वही कार्य बार-बार किया जाता है, तो आत्मा की झिझक छिपाहट भी दूर होने लगती है और मानव निर्लज्ज होकर उस कार्य के करने का अभ्यासी बन जाता है। अन्य के अधिकार का अपहरण घोर पाप है। महापापियों का वर्णन करते हुए छान्दोग्य उपनिषद के पंचम अध्याय के दसवें खंड के नवम प्रवाक में कहा गया है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैतेपतन्ति चत्वारः।
पंचमश्चाचरंस्तैरिति।

स्वर्ण की चोरी करने वाला शराब पीने वाला गुरु पत्नी से व्यभिचार करने वाला ब्राह्मण की हत्या करने वाला ये चार और पांचवा इन चारों का साथी पतित और पापी होते हैं। *यहां पांच पापियों में सर्व प्रथम स्वर्ण चोरी करने वाले को लिया गया है।* सामाजिक मर्यादा भी यही है कि जिसने जो कमाया है उसका वह स्वतन्त्रता से उपभोग कर सके। जब इस मर्यादा को भंग किया जाता है तो कर्तव्य पर आघात पहुँचता है। कमावे कोई और तथा उसका उपभोग करे कोई और, और वह भी कमाने वाले तथा समाज की भी आंख बचाकर। यह पाप निस्सन्देह महापाप है। छिपाकर किये गये चौर्य कर्म की ओर वेद ने भी निर्देश किया है। यथा—

पथ्वान तायुं गुहा चतन्तम्

अथवा
वने वने शिभिये तस्कवीरिव ।

वेद ने इन पदों में चोर के लिये तायु और तस्करी शब्दों का प्रयोग किया है। निरुक्त ४/२१ में तायु का अर्थ करते हुए महर्षि यास्क ने लिखा है—

तायु रिति स्तेन नाम ।
संस्त्यानमस्मिन् पापकं इति नैरुक्ता :
तस्यते र्वा स्यात् ।

अर्थात् तायु चोर का नाम है। नैरुक्तों का मत है कि चोर में पाप एकत्र हो जाता है। चोर छिप कर चोरी करता है अत उसे देख कर मनुष्य चिल्लाने लगते हैं वह आया वह आया वह आया। धनापहरण से मानव क्लेश में पड़ता है उसका परिवार क्लेश में पड़ता है और जो चुराता है वह भी क्षणिक संतोष भले ही प्राप्त कर ले पर अन्त में उसकी भी दुर्गति होती है। वह छिपा-छिपा घूमता है। कहीं वन का आश्रय लेता है और कहीं गुहा का अथवा गुह्य स्थान का। उसे भी क्षण-क्षण में अपने प्राण संकट में पड़े दिखाई देते हैं। ऐसे गर्हित कर्म को जो सभी को संकट में डालता है मानुष क्यों करने लगता है वह समझता है कि उसे कोई नहीं देख रहा पर कोई देखे या न देखे, वह स्वय तो उसे देख ही रहा है। फिर सर्वान्तिर्यामी प्रभु की दृष्टि से तो कोई बच ही नहीं सकता। हम गुह्य से गुह्य स्थान में जाकर बैठें। वह भले ही प्राणियों की पहुँच से परे हो पर सर्वत्र भगवान तो सब कहीं विद्यमान हैं। वे सब को देख रहे हैं सब कार्यों और सब स्थानों में देख रहे हैं। मूढ़ मानव बचना चाहता है, पर बच नहीं पाता। चौर्य कर्म का फल उसे भोगना ही पड़ता है।

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है— 'मा व' स्तेन ईशत' चोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे। सामाजिक पक्ष में यह निर्देश शासक के प्रति है। शासक, शासन करने वाला प्रजा के धन की चोरी न करे क्योंकि ऐसा करने से वह निरीह प्रजा का शासक नहीं, शोषण करने वाला बनेगा और प्रजा के अनुरंजन के स्थान पर प्रजा का पीड़न करेगा। शासन का यह रूप पाप का रूप है। अध्यात्म पक्ष में चौर्य का भाव मुझे दबा न ले अर्थात् वह मेरी सत्ता पर अभिभावी न बन बैठे ऐसा समझा जायेगा। चौर्य कर्म मुझे भीतर से लज्जित करेगा और बाहर समाज द्वारा लांछित करायेगा यह दुहरी मार मेरे आध्यात्मिक एवं सामाजिक अस्तित्व को, मेरे नाम और लोक को मेरे व्यक्तित्व और यश का समाप्त कर देगी।

वेद भगवान के ही शब्दों में 'मस्तयेव मन्वि' मुझे चोरी करके नहीं खाना चाहिए। भगवान ने मुझे शरीर दिया है ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दी है मन और बुद्धि प्रदान किये हैं—ऐसे रत्नों को पाकर भी मैं चोरी करूं पराये रत्नों पर हाथ फेंकूं यह मेरे लिए अत्यन्त अशोभनीय है, लज्जा की बात है। रत्न मेरे पास हैं जिनका

उपयोग करके मैं अनेक रत्नों का उपार्जन कर सकता हूं । इसी में मेरा पौरुष है और इसी में मेरे अंग इन्हीं रत्नों की शोभा है । दूसरे के रत्नों पर मेरा अधिकार नहीं है । अनधिकार चेष्टा के वर्जनीय पाप से पृथक् रहने में ही मेरा कल्याण है।

ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र भी चोर्य कर्म से विरत रहने का आदेश देते हैं –

स्तेनं रायसारमेय तस्करं वा पुनः सर ।

स्तोतृन इन्द्रस्यरायसि किमस्मान दुच्छुनायसे नियुस्वप ७/५५/३

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम ।

रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु निष हीयतां तन्वा तना च ॥ ७-१०४ १०

असत्य-मार्गों की ओर पाप अथवा उसका फल-दुर्गति-नहीं आ सकते । वे वहां आने की अपेक्षा स्वयम् कस म विराम करते हैं अथवा चोर और तस्कर के पास पहुँचते हैं । चोरी करने वाला चोर समझता है कि उसने किसी के अन्न को वस्त्र को, पशु को या अन्य सामग्री अथवा इनके निचोड़ को छीन लिया है पर वह मराधम यह नहीं समझता कि वह किसी अन्य को नहीं अपने को ही धोखा दे रहा है अपने को ही नीचे गिरा रहा है और अपने शरीर तथा सन्तान के साथ हीन भाव को प्राप्त हो रहा है । उसे भविष्य दिखाई नहीं दे रहा है अपनी जीवन-यात्रा के दीर्घ पथ के उसे दर्शन नहीं हो रहे वह तात्कालिक लाभ एवं लाभ को ही सब कुछ समझ रहा है । वह नहीं जानता कि जिस धन की वह चोरी कर रहा है वह धन उसके पास भी नहीं रह सकेगा । उसने एक से छीना है तो उससे भी वह छिन जायेगा, विनष्ट हो ही जायगा । चंचला लक्ष्मी की अनिष्टकर उपलब्धि करके आज तक कोई सुखी नहीं हुआ । चोर क्या डाकू भी बड़े बड़े डींग मार कर भी इसको यहां छोड़ कर चले गये । दुर्बल मानव ! क्या यह धन तेरा साथ दे सकेगा ? अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसीलिये धर्मों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है, क्योंकि यह सामाजिक पाप किसी भी साधना-क्षेत्र को उभरने और पनपने नहीं देता । उसे अनुर्वर बना देता है ।

४ ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है– वीर्य रक्षा सैगिक उत्तेजना के वशीभूत न होना, अथवा निष्पापी तथा व्यभिचारी न होना । जो व्यक्ति इन्द्रियों के संवेगों पर नियंत्रण रखता है, वह इन्द्रियजयी कहलाता है । ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय पुरुष पर्यायवाची शब्द हैं । ब्रह्मचर्य का एक विशेष अर्थ भी है जिसके अनुसार ब्रह्मचारी उस व्यक्ति की संज्ञा है जो ब्रह्म में विचरण करता है । ब्रह्म का अर्थ है विशालता अल्पता इसका विलोम है । विशालता एक कापर्यांय भूमा भी है । भूमा का अर्थ है अस्तित्व की पराकाष्ठा । भू अर्थात् भवन होना अथवा अस्तित्व की जहां मा अर्थात् मिति या सीमा है । यह ब्रह्म के सदृश है । जो विशालता में रमण करता है जिसकी वृत्ति संकुचित या संकीर्ण नहीं

है, वही ब्रह्मचारी है। ब्रह्म का अर्थ वेद ज्ञान और परमेश्वर भी है। इनमें विचरण करने वाला भी ब्रह्मचारी का अभिधान प्राप्त करता है।

सामाजिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट अर्थ का अधिक महत्व है। धर्मों को हमने सामाजिक रूप दिया है। अतः सामान्य अर्थ को लेकर ही हम यहां कुछ विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

सच्चरित्र का आधार इन्द्रियजय है। ब्रह्मचर्य इसी इन्द्रिय-जय का वाचक है। ब्रह्मचर्य शरीर के अवयवों को पुष्ट करता है। इन्द्रियों का तेज उसी की देन है। पुरुष का पुरुषार्थ उसी के अन्दर प्रतिष्ठित है। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह नहीं किया, वह दुर्बलेन्द्रिय होकर पुरुषार्थ से हाथ धो बैठता है। वेद कहता है—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।

देवता पुरुषार्थी की, सोम-सवन करने वाले की इच्छा करते हैं निरुद्योगी, किंकर्तव्यविमूढ़ निद्राग्रसित प्रमादी पुरुष की स्पृहा देव नहीं करते। दिव्यता दैवी तेज पुरुषार्थी व्यक्ति की ही सम्पदा है प्रमादी पुरुष की नहीं। ब्रह्मचर्य से यह दवी सम्पदा सुलभ हो जाती है। इस सम्पदा का धनी समाज में समादृत होता है। समाज को भी उससे हानि नहीं पर्याप्त लाभ होता है। समाज में उसका स्थान सुरक्षित होता है और समाज उसके द्वारा अपनी सुरक्षा अनुभव करता है। ऐसा व्यक्तित्व साधना के लिये योग्यतम माना गया है। निर्बाध वातावरण में ही साधना फलती और फूलती है।

निरुक्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के अन्त में रूपक द्वारा महर्षि यास्क, विद्या के रक्षक ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुये लिखते हैं— विद्या ब्राह्मण के पास पहुंची और कहने लगी कि मैं तेरी निधि हूं। तू मेरी रक्षा कर। जो निन्दक हो कठोर हो सरल मार्ग से पृथक हो और जितेन्द्रिय न हो उसे मेरा उपदेश मत करना क्योंकि ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़कर मैं निर्वीर्य हो जाऊंगी। यदि मुझे वीर्यवती रखना चाहते हो, तो मेरा उपदेश ऐसे ब्राह्मण को दो जो पवित्र हो अप्रमत्त हो और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हो। इसी प्रकार का ब्राह्मण मुझसे और तुमसे अर्थात दोनों से ही प्रेम करने वाला होगा। उसके मन में हम दोनों के प्रति कभी द्रोह की भावना उत्पन्न नहीं होगी।

महर्षि यास्क ने इस स्थल पर ज्ञानी तथा विद्या के उपदेष्टा ब्राह्मण को ही विद्यारूपी निधि का रक्षक बतलाया है। वही वास्तविक अर्थों में ब्रह्म में विचरण करने वाला जितेन्द्रिय तथा संयमी होता है। ज्ञान दान देने वाला यदि स्वयं संयमी नहीं होगा तो वह अपने शिष्यों को संयम का पाठ नहीं पढ़ा सकेगा। विद्या का अधिकारी और विद्या का दान करने वाला ब्राह्मण संयम को अपनी साधना के लिये अनिवार्य एवं हितकर समझता है।

सामान्यतः सभी मानवों को संयम धारण करना चाहिये, क्योंकि लोक-यात्रा के

लिये यह आवश्यक है। यास्क ने निरुक्त ५ १६ में स्त्री काम पुरुषस्य, व्यभिचारी पुरुष को शिश्नदेव और कामुक पुरुष लिखा है। ऋग्वेद १/१०४/५ में निम्नांकित प्रार्थना आती है —

> मा नो मघवे शिश्नदेवा ऋता गुः
>
> यास्क इसकी व्याख्या करते हुये लिखते हैं —
>
> शिश्नदेवा स्त्री कामोन्मत्ताः। स यथा धनानि विनाशयति मा नस्तथा घराधा'।

शिश्नदेव व्यभिचारी होता है। वह जैसे धन को नष्ट करता है वैसे तू हमें मत नष्ट कर। वेद मे ऐसे स्त्री-कामी विलास-परायण व्यक्ति की निन्दा की है, क्योंकि वह न अपने लिये हितकर सिद्ध होता है और न समाज के लिये। विकास के योग जिस साधन पथ की प्रशंसा की जाती है उसके लिये तो वह नितान्त अयोग्य है। जो ब्रह्मचर्य जीवन का हेतु है (मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात) वही साधना की भी आधारशिला है। सांस्कृतिक उत्थान इसी के ऊपर अवलम्बित है। अथर्व वेद ११/५ में इसीलिये उसे प्राण का प्रतिष्ठाता दीर्घ जीवन का दाता दुःख-क्लेशों का अपहर्ता और सम्पूर्ण विद्याओं का धाता कहा गया है। ब्रह्मचर्यरूपी तप को धारण करके ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने मे समर्थ होता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य की साधना करके ही ब्रह्मचारी पुत्रों तथा शिष्यों को उत्पन्न कर पाता है।

अपरिग्रह

ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना। परिग्रह का अर्थ है चारों ओर से ग्रहण करना। अपरिग्रह इसके विपरीत ग्रहण-कर्म से पराङ्मुखता है। हम सबके पास शरीर है और इन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का कर्म ग्रहण करना अथवा उसमें सहायक होना है। इन इन्द्रियों की सहायता से मैं अनेक पदार्थों को ग्रहण करता हूं शब्द सुनता हूं रूप देखता हूं स्वाद चखता हूं गुण ग्रहण करता हूं ज्ञान भी प्राप्त करता हूं। इन सभी में ग्रहण की क्रिया किसी न किसी रूप में सम्मिलित है, परन्तु अपरिग्रह में जिस ग्रहण का निषेध किया गया है, वह गुण ग्रहण अथवा ज्ञान ग्रहण से भिन्न है।

विश्व में विविध प्रकार के पदार्थ हैं। मानव की आकांक्षा रहती है कि वह इन सबको स्वायत्त करे (पुरुकामो हि मर्त्यः) पर यह सदैव उसके बस की बात नहीं होती। पदार्थों को लेने के लिये मानव को कुछ मूल्य देना पड़ता है। भारतवर्ष के पास आधुनिक युग के अणु बम तथा उद्जन बम नहीं है। जिनके पास हैं, वे मूल्य लेकर ही इन्हें अपने पास से पृथक होने देंगे। एक अणु बम के तैयार करने में लगभग ८० हजार रुपया व्यय होता है। जो देश निर्धन हैं वे अणु बम के बनाने अथवा क्रय करने में असमर्थ रहेंगे। इसी प्रकार राकेट मिसिल्स विमयान पनडुब्बी आदि को उपलब्ध करने की भी निर्धन देशों के सामने एक समस्या ही है। यह तो ज्ञात भेद

सामान्य जनता के लिये दुष्कर एवं समाधान से परे है। अतः यह तो निश्चित ही है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को उपलब्ध करने में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में अपरिग्रह का प्रश्न उठाना क्या निरर्थक नहीं है ?

जब हम मानव के असामर्थ्य पर विचार करते हैं, तब निःसंदेह इस प्रकार के प्रश्न प्रस्तुत हो ही जाते हैं। फिर भी अपरिग्रह की बात करना निरर्थक नहीं है। मानव के अशक्त और असमर्थ होते हुये भी उसमें ग्रहण करने की कहीं न कहीं कोई कामना अन्तर्हित रहती है जो अनुकूल परिस्थिति के उपस्थित होते ही भड़क उठती है। इसे हम मानव की दुर्बलता कहेंगे और सचमुच वह मानव बलवान है जो सम्मुख प्रस्तुत लाभ से अपने को पृथक रख सके। लाभ की ओर बढ़ना और अपने ऊपर नियन्त्रण न रखना आर्य संस्कृति में पतन का द्योतक माना गया है। संयम ही वह साधन है जो आर्य संस्कृति में विकास एवं उत्थान का हेतु है।

दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा में आर्य संस्कृति ने जो भेद किया है वह इसी परिग्रह तत्व पर अवलम्बित है। यजुर्वेद के ४० में अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही आदेश दिया गया है तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। प्रभु ने जो भोग सामग्री दी है उसे त्याग भाव से भोगो और यह भाव अपने सामने रखो कि वह प्रभु की दी हुई है। तुम्हें उसका उपयोग करना है परन्तु उस पर अपना अधिकार जमाना अनुचित है, क्योंकि अन्त में समस्त सम्पत्ति प्रभु की ही होकर रहती है हमारी नहीं। जो वस्तु प्रारम्भ में भी हमारी नहीं और अन्त में भी हमारी नहीं है, वह मध्य में भी हमारी क्यों होगी ? हां उसका उपयोग हमारे द्वारा होना है। हमारे अधिकार में इतना ही है और हमारा कर्तव्य भी यही है कि हम उसका उचित उपयोग करें अनुचित नहीं। वेद इसीलिये कहता है— मत लालच कर। परिग्रह करने की वृत्ति का परित्याग कर दे एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राट्। तमेदिवमभित चेकिते वसु। प्रजामुम पुष्टिं विभजन्त आसते। त्वम विश्वस्य धनदा असि। ययुर्वसूनां क्षयति त्वमेक इत् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यत।

द्यावा से लेकर पृथिवी पर्यन्त जितना धन है, उसका एकमात्र स्वामी परम पिता परमेश्वर है। पार्थिव सम्पत्ति की इयत्ता भी हमारे ज्ञान एवं उपलब्धि दोनों से बाहर है फिर द्यौ क्षेत्र के धन और ऐश्वर्य की तो बात ही क्या ? वह तो हम सामान्य मानवों की कल्पना शक्ति से भी परे की वस्तु है। दैवी ऐश्वर्यों की अनुभूति विरल अत्यन्त विरल साध्यों और देवों की ही सम्पदा कही जा सकती है। इस दैवी एवं पार्थिव अतुल सम्पदा में से वह प्रभु सबको उनके कर्मानुकूल दे रहा है। हमें अपने अपने भाग का उपभोग करते हुये ग्रहण भाव के स्थान पर त्याग-भाव का ही आश्रय लेना चाहिये। जैसे दांत मुख में आयी हुई भोजन सामग्री को बांधकर अपने ही पास नहीं रख लेते वैसे ही हमें भी सम्पदा को बांध कर अपने पास नहीं रखना है। उसका स्वयं उपयोग करना है और समाज के हित में उसका परित्याग कर देना है। जो धन समाज में संचलित, व्यवहृत एवं व्यतरित होता रहता है ...

धन है। जो एक स्थान पर परिग्रहीत है संचलित नहीं हो रहा है और जिससे समाज का हित-सम्पादन नहीं हो रहा है, वह असृष्ट असेवित धन पतयासु है, व्यक्ति एवं समाज का ध्वंस करने वाला है और अकल्याणकर है।

धन समाज में संचरित होता रहे, इसी में उसका संरक्षण भी है। सबरच के लिये आवश्यक है कि धन एक स्थान पर परिग्रहीत या संग्रहीत न रहे — तेषां न सर्वे संसावयामसि। जो संपदा आयी है वह मेरे बल-विवर्धन भोग प्राप्ति तथा शरीर को सक्रिय रखने में प्रयुक्त हो। इसी के साथ उसे सामाजिक उपभोग में भी लाना चाहिए। वापी कूप तड़ाग उद्यान विद्यालय आदि का निर्माण उस सम्पदा का सामाजिक सदुपयोग कहा जा सकता है। हमारी संस्कृति में इसे यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। वेद कहता है 'ससम्नु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातय।

हमारे अन्दर यदि अदान की प्रवृत्ति है तो उसे सुला दो और उसके स्थान पर दान की प्रवृत्ति को जगाओ। इससे धन-सम्बन्धी दुरिष्टि समाप्त होगी और स्विष्टि का उदय होगा। इसी प्रवृत्ति द्वारा सम्पदा हमारे अन्दर दी अमति प्रकाश का अवतरण करेगी। आर्य संस्कृति हमें इसी प्रकाश की ओर ले जाना चाहती है। हमारे समस्त साधन इसी लक्ष्य को लेकर अग्रसर होते हैं। गायत्री मंत्र हमें प्रभु के वरेण्य भर्ग (तेज) के ध्यान एवं धारण का सन्देश देता है। परिग्रह प्रकाश की ओर नहीं तम की ओर ले जाने वाला है। दान त्याग तथा अपरिग्रह की भावना ही हमें प्रकाश की ओर ले जा सकती है। परिग्रही लोभी होता है। यास्क के शब्दों में वह पापी है। (ससलूकं समुब्धं भवति। पापकमिति नैरुक्ता।) इसका एक कारण है। परिग्रही अथवा लोभी व्यक्ति धन का संचय करने में बुद्धि का दुरुपयोग करता है। वह जान-बूझ कर दूसरों को धोखा देता है। यह प्रवृत्ति बुद्धि को पापीयसी बना देती है। ज्ञान का यह दुष्प्रयोग ब्रह्मद्वेष है जो पाप ही नहीं, महा पाप कहा जा सकता है।

निखिल सम्पदा का स्त्रोत होते हुये भी प्रभु परम अपरिग्रही हैं। उनके ब्रह्माण्ड रूपी यज्ञ में दान ही दान है। पृथिवी हमें कितना दे रही है और कब से दे रही है। अगणित प्राणियों का पालन-पोषण उसके द्वारा होता रहा है हो रहा है और होता रहेगा। सूर्य चन्द्रादि सबकी यही यज्ञमयी परिस्थिति है। हम प्रभु के अमृत पुत्र कहलाते हैं। हमें भी अपने पिता के पद चिन्हों पर चलना चाहिये। वैखानस सम्प्रदाय ने अपरिग्रह की महिमा को भली भाँति हृदयंगम किया था। वैखानसों के कई भेद थे। गृह-विहीन धन-विहीन और वस्त्र-विहीन रह कर घोर तपश्चर्या में अपने जीवन को व्यतीत करते वाले ये वैखानस प्रकाश-पुञ्ज प्रभु की ओर बढ़ रहे थे। अपनी आवश्यकताओं को कम करते-करते वे सर्वकाम-विहीन बन चुके थे। उनकी कामनायें उन्हीं के अन्दर प्रविष्ट हो गई थीं। इन्द्रियों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति पर उन्होंने ताला लगा दिया था। तभी तो वे अचल प्रतिष्ठ हो सके थे। कामनाओं

को कम करना सबके बस में है, पर उन्हें बढ़ा कर तृप्ति तक पहुंचाना हमारे वश के बाहर है।

१४ यमों का मूल्यांकन

समाज की सापेक्षता में सर्व प्रथम मेरा शारीरिक सम्पर्क आता है। इसकी रक्षा का भार बहुत कुछ मेरे ही ऊपर है पर समाज का योगदान भी इस विषय में कम नहीं है। शरीर के अन्दर मन है जो सामाजिक व्यवहार के मूल में है। मेरा समस्त सामाजिक क्रिया-कलाप मन द्वारा संचालित होता है। सत् और असत् शुभ और अशुभ सभी क्रियाओं का स्रोत मन में है। शरीर और मन मेरे व्यक्तित्व के अंग हैं। इनसे पृथक पर समाज से एकदम सम्बद्ध मेरा गृह है गृह की वस्तुएँ हैं पशु पौधे हैं तथा अन्य सम्पदा है। जैसे शरीर में मन रहता है, वैसे ही गृह के अन्दर रहने वाला मेरा परिवार है। जो व्यक्ति विवाहित नहीं है, उनके भी घर और परिवार वाले हैं ही। इन चार रूपों में मेरे संरक्षण का बहुत कुछ भार समाज को वहन करना पड़ता है। यदि मैं इन चारों रूपों में सुरक्षित हूं, तो निस्संदेह मेरी सांस्कृतिक साधना का क्षेत्र भी सुरक्षित है। संरक्षण में बाधा आने पर साधना में भी विघ्न तथा व्यतिक्रम का आ जाना स्वाभाविक है।

जब हम यमों पर विचार करते हैं तो हमें क्रमशः यम के प्रथम चार अंग इन्हीं चार रूपों से सम्बद्ध जान पड़ते हैं। यम के प्रथम अंग अहिंसा का अर्थ है, वैर त्याग। वैर दूसरे से होता है जो समाज का वैसा ही घटक है जैसा मैं। यदि मैं अहिंसा का पालन करता हूं किसी के प्रति वैर की भावना नहीं रखता तो अधिक सम्भावना यही है कि दूसरे भी मेरे प्रति वैर-भाव नहीं रखेंगे। अहिंसा का सीधा परिणाम मेरे शरीर पर पड़ता है। अत मेरे अहिंसक बनने पर मेरा शरीर किसी के द्वारा हिंसित नहीं होता। उसके ऊपर किसी का आक्रमण नहीं होता। 'शरीर माद्य खलुधर्म साधनम्। यदि शरीर सुरक्षित है, तो उसके द्वारा धर्म की साधना भी हो सकती है। यदि किसी की हिंसा द्वारा शरीर क्षत विक्षत हो गया अथवा आघात से विकल हो गया तो साधना का पथ भी विकल हो उठेगा। अत अहिंसा द्वारा शारीरिक सुरक्षा का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है।

यम का दूसरा अंग सत्य है। सत्य का अर्थ यहाँ सत्य व्यवहार है। यदि मेरे व्यवहार में सत्यता है मैं वाणी अथवा आचरण द्वारा किसी के प्रति असत्य व्यवहार नहीं करता तो अधिक सम्भावना यही है कि समाज भी मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करेगा। इस व्यवहार द्वारा मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ेगा वह सौमनस्य प्रसाद अथवा प्रसन्नता की भावना में परिणत होकर मेरी साधना को सुगम बना देगा। सौमनस्य साधना के लिये आवश्यक है। विषाद शोक खिन्नता आदि की वृत्तियां मन को तमसाच्छन्न कर देती हैं जिससे साधना-पथ अवरुद्ध हो जाता है।

वेद ने अनेक बार कहा है— सदा त्वे सुमनस स्याम, अपिमाढे सौमनसे स्याम, विश्ववासी सुमनस स्याम ।

यम का तीसरा अंग अस्तेय है जिसका अर्थ है चोरी न करना । इसका सम्बन्ध वैयक्तिक क्षेत्र में गृह-सम्पदा से है । मेरे अन्दर यदि अस्तेय की भावना है मैं किसी के अधिकृत धन का अपहरण नहीं करता तो समाज में मेरी इस भावना का आदर होगा और परिणामतः मेरी सम्पत्ति पर भी कोई अपहरण का हाथ नहीं उठायेगा । सम्पदा की सुरक्षा मेरी जीवन यात्रा को सुगम बना देगी और मैं विकास के पथ पर निर्विघ्न होकर बढ़ सकूँगा ।

यम का चौथा अंग ब्रह्मचर्य है । इसका सीधा सम्बन्ध गृह में निवास करने वाले मेरे परिवार के साथ है । ब्रह्मचर्य द्वारा मेरा परिवार सुरक्षित होता है । मैं संयमी हूँ तो मेरा परिवार भी संयमी होगा । मैं स्वैरी नहीं तो मेरी पत्नी भी स्वैरिणी नहीं हो सकती । केकय देश के अधिपति अश्वपति के नस्वैरी स्वैरिणी कुतः शब्द सार्थक हैं । सामाजिक क्षेत्र में भी ब्रह्मचर्य के संयम का प्रभाव परिलक्षित होता है । ब्रह्मचर्य से जो दीप्ति आती है जो तेज उत्पन्न होता है वह सामाजिक वातावरण में दूर-दूर तक फैल जाता है । इससे सदाचार को प्रोत्साहन मिलता है और मर्यादा स्थापित होती है ।

यम के इन चारों अंगों पर निर्विवाद एवं सुरक्षित खड़ा हुआ साधक जब वैयक्तिक विकास की ओर मुड़ता है तो यम का पाँचवा अंग अपरिग्रह उसकी सहायता के लिए आ उपस्थित होता है । साधक को त्यागी बनना है । प्रारब्ध पुण्यों के भोग उसके समक्ष हैं । उसके पास स्वस्थ शरीर है निर्मल मन है सम्पदा है और परिवार है । अपने इस कर्म विपाक-प्रसूत फल को उसे भ भोगना है पर उससे चिपटना नहीं है। अपरिग्रह का भाव उसे त्याग-पूर्वक भोगों के उपभोग का संकेत देता है । जीवन-यात्रा में उसे कहीं पर भी चिपक कर बैठ नहीं जाना है, उसे निरंतर गति करनी है । गति नहीं करेगा तो यात्रा यात्रा नहीं रहेगी । जो कुछ संमुख आवे अथवा उपभोग रूप में प्राप्त हो उसको देखते हुए आगे बढ़ते चलिए । चरैवेति २ का आदर्श ही हमें गन्तव्य स्थान तक पहुँचा सकेगा । भोगो और बढ़ो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' निरन्तर कर्म में जुटे रहो । कर्म नि संदेह सद्कर्म हो । इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम्' जो यज्ञ-सवन में त्यागमय पुण्य कर्म में निरत रहता है देव उसी को चाहते हैं । दिव्यता उसी की संगिनी बनती है । हमें असत् से सत तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर चलना है । जब तक सत की उपलब्धि न हो ज्योति के दर्शन न हों तब तक मृत्यु के पंजों से छुटकारा कहाँ ? अपरिग्रह विकास की वह आधार शिला है, संस्कृत जीवन का वह प्रथम बिन्दु है जो मृत्यु से छुड़ा कर अमृत की ओर ले जाता है ।

यम के यह पाँच अंग साधक को बाहर से सुरक्षित करते हैं और आंतरिक विकास की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ा देते हैं । अथर्ववेद की यहै मंत्र पंक्ति—'अस्ति ऋतं बृहति'

भंति संतम् न पश्यति' हमें प्रकृति के परिग्रह से छुड़ा कर अमृतरूप प्रभु की ओर ले जाती है। यम का पाँचवाँ अंग अपरिग्रह इसके लिए प्रकाश स्तम्भ ही नहीं सुदृढ़ आधार भूमि का भी कार्य करता है। यम के पाँचों अंगों का परिपालन प्रभु के साथ योग करने के लिये अनिवार्य है। इसके लिए साधक को उद्योग करना है। वैभव के भोग से वियोग करना है। तभी वह प्रभु के साथ संयोग करने का अधिकारी बन सकेगा। महर्षि पतञ्जलि की दिव्य दृष्टि का आभास ऊपर लिखित यम के अंगों की विवेचना से विशद एवं स्पष्ट हो उठता है। संस्कृति क्या है इसकी भी एक क्षीण झलक हमें यम के इन अंगों की समीक्षा से उपलब्ध हो जाती है।

घ नियम

साधक ने यम के अंगों पर आधिपत्य कर लिया। सामाजिकता से सुरक्षित अप रिग्रह की दृढ़ आधार भूमि पर स्थित होकर अब वह परिमार्जन की अन्त भूमि में प्रवेश करता है। इसमें उसे पाँच सीढ़ियाँ चढ़नी हैं जो नियम के पांच अंगों से संबद्ध हैं। ये पांच अंग हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इनमें से एक-एक अंग की उत्तीर्णता मानों एक-एक सीढ़ी का चढ़ना है। पाँचों सीढ़ियों पर चढ़ कर साधक कह सकता है कि जैसे यमों ने मुझे समाज से सुरक्षा प्रदान की थी उसी प्रकार नियम मुझे वैयक्तिक दृष्टि से सुरक्षा प्रदान कर रहे हैं। प्रभु से संयोग करने के लिए सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टियों से सुरक्षित हो जाना यात्रा के आगामी पड़ावों को पार करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

१ शौच

साधक को सर्व प्रथम घर में बढ़ने के लिए झाड़ू लगाकर उसे स्वच्छ कर लेना आवश्यक है। अपवित्र स्थान साधना के लिए हानिकारक है। वायु मंडल स्वच्छ हो, अपने निवास का स्थान निर्मल हो, तो मन अपने इष्ट ध्येय में रमण करने के योग्य बन सकेगा। शुचिता शरीर, वाणी और मन तीनों क्षेत्रों में होनी चाहिये। मेरा इष्ट देव परम पवित्र है। उसके समीप पहुँचने के लिए मुझे भी पवित्र होना चाहिए। वेद कहता है अग्नि: शुचि व्रत तम शुचि विप्र शुचि कवि। शुचीरोचत आहुत।

अग्नि का अर्थ पार्थिव अग्नि भी है और परमात्मा भी है। पार्थिव अग्नि भी पवित्र है। पवित्र होना और पवित्र करना उसका व्रत है। प्रभु भी पवित्र हैं और अपने समीप आने वाले को पवित्र कर देते हैं। उनका ज्ञान और उनकी व्यापकता पवित्र है। उनका कवि रूप पवित्र है। जिस प्रकार कवि शब्दों को क्रमबद्ध एवं व्य-वस्थित रूप देता है, प्रभु ने भी उसी प्रकार इस सृष्टि को व्यवस्था में बांध रखा है। सृष्टि को वेद ने प्रभु का काव्य कहा भी है। अग्नि में जब आहुतियां पड़ती हैं तब अग्नि का प्रज्वलित पवित्र रूप प्रकाशित हो उठता है। प्रभु के लिए भी जब साधक अपने पवित्र रूप की बलि चढ़ाता है तब उसके समुद्र रूप म मानों प्रभु ही प्रज्वलित हो उठते हैं। अग्नि में पड़ी समिधा तो प्रज्वलित होती ही है अतिथ देव स्मिनसके

और साध्य का भी यही रूप है।
साथ प्रदीप्त हो उठते हैं। साधना में साधक
शौच या पवित्रता का सम्पादन अपवित्रता का दूरीकरण है। अपवित्रता को
अघ दुरित पाप अंहस एनस् आगस् वृजन एनस् आदि कई नाम दिये गये हैं।
इनसे बचना ही पवित्र होना है। वेद के कई मन्त्रों में अनागस् अर्थात् निष्पाप होने
की प्रार्थनायें आती हैं। यथा–

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो, विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवास पिपृता स्वस्तये॥

जो दिव्य है वही पवित्र है और जो पवित्र है वही दूसरे को पवित्र कर सकता है।
मन्त्र में इसी हेतु दिव्य शक्तियों का आह्वान करते हुए दिव्य पथ का पथिक प्रार्थना
करता है कि हे देवो! तुम प्रचेतस् हो प्रकृष्ट ज्ञानी हो भुवन भर पर तुम्हारा शासन
है। तुम चर, अचर, सबके ज्ञाता हो। ऐसी कृपा करो जिससे मेरे किये हुए और न
किये हुए पाप नष्ट हो जावें। मैं पाप से पार हो जाऊं। कल्याण की प्राप्ति के लिये
मुझे निष्पाप कर दो।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

पवित्र देव प्रभु की भक्ति करने के लिए भक्त को भी पवित्र होना चाहिए।
जब हम कहते हैं– 'प्रभु तुम्हारे लिए हमारा बार-बार प्रणाम हो'– तब हम सद् पथ
पर चल रहे हैं। प्रार्थना भी सुपथ पर चलने की ही है। प्रभु सभी वयुनों अर्थात्
मार्गों को जानते हैं। वे ही भक्त को सुपथ पर चलाते हैं। यह पथ ऋजु है
वक्र नहीं। वक्रता में एन अर्थात् पाप है। ऋजु मार्ग ही पवित्र है। मन्त्र में इसीलिए
कहा गया है कि जो जुहुराण अर्थात् कुटिल पाप है उसे प्रभु दूर करें। निम्नांकित
मंत्र में पाप को भद्र का विपरीत माना गया है –

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः।

परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु कृपा करें जिससे पाप हमारे पीछे न पड़े और भद्र अर्थात्
पुण्य हमारे आगे विराजमान रहे।
भद्र में प्रकाश है और ज्ञान है। प्रकाश और ज्ञान दोनों ही पवित्र करने वाले
हैं। अज्ञान और अन्धकार अघ की ओर ले जाते हैं। यदि वे पीछे न पड़ें तो भद्र
निश्चित रूप से सामने आ उपस्थित होगा।

इन्द्रशुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि॥

प्रभु शुद्ध है। हम भी जब शुद्ध हो जाते हैं तब जो कुछ उनसे मांगते हैं वह
हमें प्राप्त हो जाता है। यदि हमने मानसिक मलिनता को धो डाला है तो जो कामना
भी मन में उत्पन्न होगी वह पूर्ण हो जायगी। रत्न-मणिमयाभिनयादि रूपी रयि इच्छा

करते ही हमारे हाथ में होगी। यदि हमने विषय वासनाओं की अशुद्धि को दूर कर दिया है, तो हमारी विशुद्ध स्थिति-बाधक विघ्नों को तुरन्त दूर कर सकेगी। हमारी शुद्धता ही हमारे पास ज्ञान बल, मन-बल तथा वीर्य-बल को लाकर उपस्थित कर देगी। बल, दैन्य का नाशक है। पवित्रता शक्ति प्रदान करती है। निम्नांकित मंत्र में इसी हेतु प्रभु को शुचि और सुक्षत्र कहा गया है।

"क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय।"

हे समह अर्थात् तेज से सम्पन्न दीप्तिमान परम पवित्र प्रभु! आप सुक्षत्र हैं, शोभन शक्ति वाले हैं। मैं अशुचि हूं शक्तिविहीन हूं और दीन हूं। मेरे इसी दौर्बल्य ने मुझे विपरीत-पथगामी बना दिया है। हे देव! दया करो जिससे मेरा यह दैन्य दूर हो। मैं सद्-पथ पर प्रयाण करने वाला बनूं। मेरा तेज मेरा वीर्य मुझे पुन: प्राप्त हो जावे।

जो शुद्ध है, पवित्र है, यज्ञिय जीवन वाला है, वह दीर्घायु होता है, प्रजा और धन से सम्पन्न होता है तथा मृत्यु को भी लात मार कर भगा देता है—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥

साधना के लिये दीर्घ आयु की आवश्यकता है। यदि कृमि कीटों की भांति जन्म लेते और मरते ही रहे, तो शुद्ध होने और पुण्य लाभ करने का अवसर कैसे मिलेगा? शुद्ध और पवित्र प्राणियों की आयु लम्बी हो जाती है, जिससे उन्हें सुकृत और साधना दोनों के सम्पादन का समय प्राप्त हो जाता है। मृत्यु भी उनके पैरों तले दबी रहती है। वे स्वेच्छा से मरण का वरण करते हैं, परवश होकर नहीं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल का सूक्त सं० ९७ अघ से हटने और पवित्र बनने का सन्देश देता है। सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं—

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम् ।१।
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम् ।२।
प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम्।३।
प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम्।४।
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप नः शोशुचदघम्।५।
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम् ।६।
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम् ।७।
स नः सिन्धुमिव नावया ति पर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम् ।८।

शौच या पवित्रता में तेज है, ज्योति है। अघ इस ज्योति को मार डालता है। महर्षि यास्क ने निरुक्त में अघ का निर्वचन हन्ति से किया है—

(अघम् हन्तेः निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्ति इति) ६/११/

श्रम का आच्छादक रूप ही मारक है जिसे हटाते ही तेज प्रदीप्त हो उठता है। सामवेद के मंत्र संख्या ४८२ में लिखा है— सदा देवा अरेपसः । देव सदैव निष्पाप रहते हैं। देव का अर्थ भी ज्योतिष्मान है। यह दिव्यता श्रम के दूर हुये बिना नहीं प्राप्त होती। प्रथम मंत्र में इसीलिये कहा गया है —

देव हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दो जिससे हमारी रयि हमारी संपदा हमारा शरीर चमक उठे। शुद्ध शरीर में एक प्रकार की आभा उत्पन्न हो जाती है। इस आभामय शरीर को विश्व के विविध कर्म-क्षेत्रों में से किस क्षेत्र में खड़ा किया जाय? इसका उत्तर दूसरे मन्त्र में दिया गया है कि यह क्षेत्र सुन्दर क्षेत्र हो। कुत्सित क्षेत्र न हो। व्यापार के क्षेत्र में यदि प्रवेश होता है तो वह भी अकोमल नहीं कोमल व्यापार का क्षेत्र हो। इस शुभ क्षेत्र में भी कुमार्ग नहीं सुमार्ग का अनुसरण करो। ईमानदारी से बिना किसी को धोखा दिये जो कुछ प्राप्त होता है वही तुम्हारे सुन्दर क्षेत्र को और तुम्हारे आभावान शरीर की पुष्टि देगा। जो धन इस प्रकार के परिश्रम से अर्जित किया जाय उसका उपयोग यज्ञ कर्म में होना चाहिये अर्थात् धन अपने उपयोग में तो आवेगा ही उसे दूसरों के हित में भी प्रयुक्त होना चाहिये। जिस विश्व के हम एक अंग हैं वह हमारा ध्यान रखता है तो हमें भी उसका ध्यान रखना चाहिये। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि इस प्रकार के कार्यों द्वारा मनुष्य वन्दनीय बनता है तुम भी वन्दनीय बनोगे। फिर चतुर्थ मन्त्र में कहा गया है कि यह वन्दनीयता समाज की भव्य भावनाओं को तुम्हारे प्रति आकर्षित करेगी और तुम सन्तति आदि के द्वारा वर्द्धमान बनोगे विशेष रूप से प्रकट होंगे।

पाँचवाँ मन्त्र कहता है कि जैसे समृद्धि और वर्द्धमान अग्नि की ज्वालायें चारों ओर फैलती हैं उसी प्रकार तुम भी चतुर्दिक प्रख्यात हो जाओगे। छठा मन्त्र इस प्रख्याति को भी पवित्र रखने के लिये अहंकार के दमन का सन्देश देता है। अहंकार का दमन तभी होगा जब हम चारों ओर व्याप्त प्रभु की सत्ता का अनुभव करने लगेंगे। मद से शत्रु उत्पन्न हो सकते हैं। सबसे बड़ा शत्रु द्वेष है। यह अन्दर ही अन्दर बैठा हुआ समग्र ख्याति पर पानी फेर सकता है। सातवें मन्त्र में इस द्वेष रूपी दुश्मन से भी बचने के लिये प्रार्थना की गयी है। आठवें मन्त्र में कहा गया है कि जैसे नाव पर बैठ कर समुद्र को पार किया जाता है उसी प्रकार हम प्रभु की कृपा से कल्याण के लिये बाह्य एवं अन्तः सभी प्रकार के विघ्नों से पार हो जायें।

वेद के और भी कई मन्त्रों में पवित्रता की प्रशंसा की गयी है। इस विषय में सामवेद के मन्त्र संख्या १२९८ से १३०१ तक द्रष्टव्य है।

२ संतोष

संतोष का अर्थ निष्क्रिय रहना नहीं है। संतोष में पुरुषार्थ निहित है। अपने सामर्थ्य के अनुकूल सभी को पुरुषार्थ करना चाहिये। उद्यम करते हुए जो कुछ प्राप्त हो, हानि अथवा लाभ उसमें शोक या हर्ष का अनुभव न करते हुए उसे प्रभु

की देन समझ कर सन्तोष पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये। हमारा अपना अधिकार कर्म करने में ही है। फल तो प्रभु के अधिकार में है। जिस पर हमारा अधिकार नहीं, उसके लिए चिन्तित होना ही असन्तोष है।

हानि-लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ।

कर्म-फल के रूप में यदि प्रभु ने सामान्वित किया है धन दिया है अथवा यश दिया है तो उसे प्रभु प्रदत्त समझ कर आपे से बाहर न होना ही संतोष है। इसी प्रकार यदि कर्म करने के उपरांत अर्थ-हानि होती है अथवा अपयश प्राप्त होता है अथवा मृत्यु भी आकर उपस्थित हो जाती है तो भी सन्तोष की वृत्ति को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।

सन्तोष में चित्तकी साम्यावस्था रहती है। सन्तोष सन्तुलन को सुरक्षित रखता है उसको बिकृत नहीं होने देता। सचेतस रहना समचित्तता से संयुक्त रहना मानव की एक ऐसी उपलब्धि है जो उसे विकास के उच्च स्तरों में पहुँचा देती है। यह उपलब्धि प्रभु का अमोघ आशीर्वाद बन जाती है। इससे बल बढ़ता है और सुन्दर प्रजा (सन्तति) बढ़ता सम्पदा विजय आदि अनेक वैभव मनुष्य को प्राप्त हो जाते हैं। सन्तोषी पुरुष का सामर्थ्य क्षीण नहीं होता। वह बलवान से बलवान शत्रु को भी अपने सन्तोष रूपी आयुध से पराभूत कर सकता है।

सन्तोष में ही सुख है। असन्तुष्ट व्यक्ति सदैव दुखी रहते हैं अभाव का अनुभव करते हैं और फलाकांक्षा से पीड़ित होकर न केवल अपने को प्रत्युत अपने परिवार को भी व्याकुल कर देते हैं।

जीवन में यदि प्रगति करनी है तो सन्तोष रूपी सहायक को अपना अभिन्न मित्र बना कर यात्रा-पथ पर पदार्पण करना चाहिए। आर्य संस्कृति काम को समस्त दोषों का मूल समझती रही है। काम गीता के शब्दों में ऐसा भुक्खड़ है जिसकी भूख कभी शान्त नहीं होती। इसी के कारण मानव पाप में प्रवृत्त होता है। अर्थ इसका विशेष लक्ष्य बनता है। कामना यदि न बढ़ने पायी और यथालाभ सन्तुष्ट बने रहे तो विजय निश्चित है। इच्छाओं का बढ़ाना और उनकी पूर्ति करना अपने बस के बाहर है। इच्छाओं का कम करना अपने हाथ में है। जिस पर अपना वश है जो स्वायत्त है जिसके लिए अन्य के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता वही हमारे लिए इष्टकर है, उसी से हमारा हित सिद्ध होगा उसी से हम प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

मेरे लिए कौन सा धन उपयुक्त है किस धन से मेरी उन्नति होगी यह सर्वज्ञ प्रभु को ज्ञात है। मेरा अपना इस विषय का ज्ञान पूर्ण नहीं है। सम्भव है, मेरी लालसा ऐसे धन की ओर जा रही हो जो मेरे पतन का कारण बन सकता है। अतः अच्छा यही है कि प्रभु जो दे दें उसी में सन्तोष का अनुभव करूँ। वेद कहता है—

"धनमग्नेमत्यसे रयिम् सहसा वाजमर्व।

'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।'

जो तप मृत्यु की सरिता से पार कर दे, वह मानव मात्र के लिए वरणीय है, उपास्य है।

मुण्डक उपनिषद में आत्म प्राप्ति के लिए सत्य ज्ञान और ब्रह्मचर्य के साथ तप का भी उल्लेख किया गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार सूर्य को तप द्वारा ही ब्रह्म तेज की प्राप्ति हुई है। देव तप से ही प्रसन्न होते हैं।

४ स्वाध्याय

स्वाध्याय का यौगिक अर्थ अपना अध्ययन है। आत्म अध्ययन आन्तरिकता का निर्देशक है। आन्तरिकता बाह्य वातावरण की भी प्रेरका है। अतः दोनों दिशाओं में वह प्रभविष्णु बनती है। आन्तरिकता केन्द्र है तो बाह्य वातावरण अपनी अन्तिम सीमाओं में परिधि है। केन्द्र से परिधि सम्बद्ध है। परिधि के नाना बिन्दु केन्द्र की ओर चलते हुये सरल रेखा बनाते हैं और केन्द्र में ही समाविष्ट हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड का केन्द्र चेतन आत्म तत्व है। यदि उसका अध्ययन कर लिया तो मानों सबका अध्ययन हो गया।

वेद समस्त वाङ्मय का मूल है। वेद के अध्ययन पर हमारे ऋषियों ने जो इतना बल दिया है, वह उसकी इसी विशेषता के कारण। प्राचीन साहित्य में जहाँ जहाँ स्वाध्याय शब्द आया है वहां उससे वेद का स्वाध्याय ही अभिप्रेत है। स्वाध्याय के साथ प्रवचन शब्द का भी प्रयोग होता है और उससे ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ लिया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का प्रवचन अर्थात् व्याख्या करने वाले हैं।

स्वाध्याय एक प्रकार का सत्संग है जो मानव मन को निरन्तर संस्कृत करता रहता है। वेद ज्ञान है और अपने व्यापक अर्थ में ज्ञान कर्म एवं उपासना के कारण वेदत्रयी कहलाता है। मानव के अन्दर निहित विज्ञानात्मा प्रकाश-पुंज सूर्य के समानान्तर है। ज्ञान सूर्य है। उसकी प्रकाश किरणों में नित्य प्रति अवगाहन करना स्नान करना रमण करना मानों प्रकाश-बिन्दुओं की उपलब्धि करना है। हम प्रकाश में विचरण करें, ज्योति की उपलब्धि करें ऐसा एक नहीं अनेक बार श्रुति भगवती ने आदेश दिया है। 'ज्योतिरशीमहि' अगन्मज्योति, यत्र ज्योति-रजस्रम् स्वर्विद् ज्योति—आदि श्रुति-वाक्य ज्योति की महीयसी महिमा का वर्णन करते हैं। वेद का अध्ययन आवरणों को दूर करता हुआ, अज्ञान तिमिर का विनाश करता हुआ हमें प्रकाश की ओर ले जाता है। मन के समक्ष विमल विचार आते रहते हैं। मन का संस्कार इसी पद्धति से होता है। जैसे सत् पुरुषों की संगति हमारे मन तथा आचरण दोनों पर प्रभाव डालती है वैसे ही वेदों का स्वाध्याय हमारे जीवन निर्माण का हेतु बनता है। स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन

की देन समझ कर सन्तोष पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये । हमारा अपना अधिकार कर्म करने में ही है । फल तो प्रभु के अधिकार में है । जिस पर हमारा अधिकार नहीं उसके लिए चिन्तित होना ही असन्तोष है ।

हानि-लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ ।

कर्म-फल के रूप में यदि प्रभु ने सामान्वित किया है धन दिया है अथवा यश दिया है तो उसे प्रभु प्रदत्त समझ कर आपे से बाहर न होना ही सतोष है । इसी प्रकार यदि कर्म करने के उपरांत अर्थ-हानि होती है अथवा अपयश प्राप्त होता है अथवा मृत्यु भी आकर उपस्थित हो जाती है तो भी सन्तोष की वृत्ति को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए ।

सन्तोष में चित्तकी साम्यावस्था रहती है । सन्तोष सन्तुलन को सुरक्षित रखता है उसको विकृत नहीं होने देता । सचेतन रहना समचित्तता से संयुक्त रहना मानव की एक ऐसी उपलब्धि है जो उसे विकास के उच्च स्तरों में पहुँचा देती है । यह उपलब्धि प्रभु का अमोघ आशीर्वाद बन जाती है । इससे बल बढ़ता है और सुन्दर प्रजा (सन्तति) बढ़ता सम्पदा विजय आदि अनेक वैभव मनुष्य को प्राप्त हो जाते हैं । सन्तोषी पुरुष का सामर्थ्य क्षीण नहीं होता । वह बलवान से बलवान प्रभु को भी अपने सन्तोष रूपी आयुध से पराभूत कर सकता है ।

सन्तोष में ही सुख है । असन्तुष्ट व्यक्ति सदैव दुखी रहते हैं अभाव का अनुभव करते हैं और फलाकांक्षा से पीड़ित होकर न केवल अपने को प्रत्युत अपने परिवार को भी व्याकुल कर देते हैं ।

जीवन में यदि प्रगति करनी है तो सन्तोष रूपी सहायक को अपना अभिन्न मित्र बना कर यात्रा पथ पर पदार्पण करना चाहिए । आर्य संस्कृति काम को समस्त रोगों का मूल समझती रही है । काम गीता के शब्दों में ऐसा गुस्खड़ है जिसकी भूख कभी शान्त नहीं होती । इसी के कारण मानव पाप में प्रवृत्त होता है । अर्थ इसका विविध लक्ष्य बनता है । कामना यदि न बढ़ने पायी और यथालाभ सन्तुष्ट बने रहे, तो विजय निश्चित है । इच्छाओं का बढ़ाना और उनकी पूर्ति करना अपने बस के बाहर है । इच्छाओं का कम करना अपने हाथ में है । जिस पर अपना बस है जो स्वायत्त है, जिसके लिए अन्य के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता वही हमारे लिए इष्टकर है, उसी से हमारा हित सिद्ध होगा उसी से हम प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे ।

मेरे लिए कौन सा धन उपयुक्त है किस धन से मेरी उन्नति होगी यह सर्वज्ञ प्रभु को ज्ञात है । मेरा अपना इस विषय का ज्ञान पूर्ण नहीं है । सम्भव है, मेरी लालसा ऐसे धन की ओर जा रही हो जो मेरे पतन का कारण बन सकता है । अतः अच्छा यही है कि प्रभु जो देवें उसी में सन्तोष का अनुभव करें । वेद कहता है —

"यमग्नेमग्यसे रयिम् सहसा वसमर्त्य ।

'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रंविरक्षति ।'

जो तप मृत्यु की सरिता से पार कर दे वह मानव मात्र के लिए वरणीय है उपास्य है।

मुण्डक उपनिषद में आत्म प्राप्ति के लिए सत्य ज्ञान और ब्रह्मचर्य के साथ तप का भी उल्लेख किया गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार सूर्य को तप द्वारा ही ब्रह्म तेज की प्राप्ति हुई है। देव तप से ही प्रसन्न होते हैं।

४ स्वाध्याय

स्वाध्याय का यौगिक अर्थ अपना अध्ययन है। आत्म अध्ययन आन्तरिकता का निर्देशक है। आन्तरिकता बाह्य वातावरण की भी प्रेरका है। अत: दोनों दिशाओं में वह प्रभविष्णु बनती है। आन्तरिकता केन्द्र है तो बाह्य वातावरण अपनी अन्तिम सीमाओं में परिधि है। केन्द्र से परिधि सम्बद्ध है। परिधि के नाना बिन्दु केन्द्र की ओर चलते हुये सरल रेखा बनाते हैं और केन्द्र में ही समाविष्ट हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड का केन्द्र चेतन आत्म तत्व है। यदि उसका अध्ययन कर लिया तो मानों सबका अध्ययन हो गया।

वेद समस्त वाङ मय का मूल है। वेद के अध्ययन पर हमारे ऋषियों ने जो इतना बल दिया है, वह उसकी इसी विशेषता के कारण। प्राचीन साहित्य में जहाँ जहाँ स्वाध्याय शब्द आया है वहां उससे वेद का स्वाध्याय ही अभिप्रेत है। स्वाध्याय के साथ प्रवचन शब्द का भी प्रयोग होता है और उससे ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ लिया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का प्रवचन अर्थात् व्याख्या करने वाले हैं।

स्वाध्याय एक प्रकार का सत्संग है जो मानव मन को निरन्तर संस्कृत करता रहता है। वेद ज्ञान है और अपने व्यापक अर्थ में ज्ञान कर्म एवं उपासना के कारण वेदत्रयी कहलाता है। मानव के अन्दर निहित जिज्ञासात्मा प्रकाश—पुञ्ज सूर्य के समानान्तर है। ज्ञान सूर्य है। उसकी प्रकाश किरणों में नित्य प्रति अवगाहन करना स्नान करना रमण करना मानों प्रकाश-बिन्दुओं की उपलब्धि करना है। हम प्रकाश में विचरण करें ज्योति की उपलब्धि करें ऐसा एक नहीं अनेक बार श्रुति भगवती ने आदेश दिया है। 'ज्योतिरशीमहि जगज्ज्योति मम ज्योति रजसम् स्वर्वत् ज्योति—आदि श्रुति-वाक्य ज्योति की महीमसी महिमा का वर्णन करते हैं। वेद का अध्ययन आवरणों को दूर करता हुआ अज्ञान-तिमिर का विनाश करता हुआ हमें प्रकाश की ओर ले जाता है। मन के समक्ष विमल विचार आते रहते हैं। मन का संस्कार, इसी पद्धति से होता है। जैसे सद् पुरुषों की संगति हमारे मन तथा आचरण दोनों पर प्रभाव डालती है वैसे ही वेदों का स्वाध्याय हमारे जीवन निर्माण का हेतु बनता है। स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन

भी अच्छा है, पर सर्व प्रथम हम वेदरूपी मूल का अध्ययन करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन दोनों का सम्बन्ध ऋत सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र आदि अनेक तत्त्वों के साथ जोड़ा गया है। ये तत्त्व जीवन-निर्माण के लिये आवश्यक उपादान हैं, पर इसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य संयुक्त रहने चाहिये। इन उपादानों का भी ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही वांछनीय है। तप अच्छा है पर ज्ञान के अभाव में वह अनिष्टकारक भी बन सकता है। अज्ञान पर आधारित इन्द्रियों का दमन क्लेश-कारक हो सकता है। ज्ञान के प्रकाश में यही उपादान बहुमूल्य शक्ति के स्रोत बन जाते हैं। अतः स्वाध्याय प्रत्येक अवस्था में चलना चाहिये। स्वाध्याय ब्रह्मचर्य आश्रम तक ही सीमित नहीं रहा है गृहस्थ एवं वानप्रस्थ दोनों के लिये वह हितकर समझा गया है। सन्यास आश्रम में भी उसकी अपेक्षा बनी रहती है। जो व्यक्ति किसी भी स्तर पर स्वाध्याय की उपेक्षा करता है, वह अपनी हानि ही करता है। हमें वेद की किसी भी रूप में अवहेलना नहीं करनी है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संकेत इसी वेदाध्ययन-दिशा की ओर है।

मनु ने इस शरीर को ब्राह्म रूप देने के लिये सर्व प्रथम स्वाध्याय का ही नाम लिया है। पंच महायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ वेद के स्वाध्याय का ही अपर नाम है।

वेद दैवी वाणी है वही कल्याणी है। ऐसा सभी ऋषियों का अभिमत है। मानुषी वाणी से दैवी वाणी श्रेयस्कर समझी जाती है। श्रुति भगवती के शब्दों में—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।" तथा "संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।"

हमें पौरुषेय वाणी से हट कर दैवी वाणी की ओर प्रस्थान करना चाहिये। दैवी वाणी का वरण ही हमें दैवी बना सकेगा। मानव वाणी सत्य-असत्य से मिश्रित होती है परन्तु दैवी वाणी अपने गर्भ में सत्यरूपी वत्स का धारण ही नहीं पोषण भी करती रहती है। हमारे मन वचन और कर्म दैवी वाणी के साथ लगे रहें उसका कभी विरोध न करें यही वेद का सन्देश है। गायत्री मन्त्र प्रभु के सर्व श्रेष्ठ प्रकाश के ध्यान और धारण करने का उपदेश देता है और हमारी बुद्धियों को अकुण्ठित तथा प्रेरणामयी बनाने की भावना से भी सम्बद्ध है। स्वाध्याय के बिना इन दोनों में से एक भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। स्वाध्याय की सार्थकता इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

५ ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है प्रभु की शरण में अपने आपको समर्पित कर देना। मानव अपने अल्प सामर्थ्य के कारण किसी के अवलंबन की आकांक्षा किया करता है। बाल्यावस्था में विशेषरूप से माता उससे उतर कर पिता और सामान्यतः

हाथों से कर। इसी से तेरी महिमा बढ़ेगी। कोई अन्य व्यक्ति तुझे इस महिमा को प्राप्त नहीं करा सकेगा।

यह पुरुषार्थ का महत्त्व है। इसी के साथ वेद प्रभु की अनुकम्पा का वर्णन इस प्रकार करता है —

न हि अन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय। हे बलस्वामी! परमैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मन्। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरा सहायक नहीं है। आप ही मुझे सुखी करें।

नियमों के प्रथम अंग शौच का सम्पादन अपने ही प्रयत्न पर आश्रृत है। अपने को पवित्र या अपवित्र रखना मेरे अपने हाथों में है। संतोष की वृत्ति भी अपने ही द्वारा सम्पादित करनी होगी। शौच प्राय शरीर-सम्बन्धी है। संतोष की वृत्ति मानसिक है। नियम का तीसरा अंग इन दोनों की सहायता करता है। तपस्या जहाँ शारीरिक मल का विध्वंस करती है वहाँ मानसिक चाञ्चल्य को शान्त करने में भी सहायक सिद्ध होती है। स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान का प्रकाश मुझे पवित्रता की शिक्षा देता है संतोष के सद्गुणों को सम्मुख प्रस्तुत करके मानसिक पावित्र्य की प्रेरणा देता है और तप की महिमा को भी प्रकट करता है।

अपना प्रयत्न बहुत दूर तक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक बनता है फिर भी कुछ न्यूनता तो रह ही जाती है। महान से महान शक्तिशालियों के पुरुषार्थ अवस्था अकस्मात् विफल होते देखे गये हैं। ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता इसी लिये अनुभूत होती है। पर प्रभु का साहाय्य जब बिगड़े को बना सकता है तो सत्कर्म-शील पुरुष को कितना ऊंचा उठा सकता है इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वेद कहता है —

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरं। प्रेमन्धः ख्यन् निः श्रोणोऽभूत्।

प्रभु नग्न व्यक्ति को वस्त्रों से आच्छादित कर देते हैं आतुर रोगी को औषधि द्वारा स्वस्थ बना देते हैं अन्धा उन्हीं की कृपा से देखने लगता है और पंगु चलने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

अपना पुरुषार्थ और प्रभु का अनुग्रह दोनों मिल कर व्यक्तित्व का विकास करते हैं और मानव को संस्कृति के सोपानों पर चढ़ा देते हैं।

ङ आसन

योग दर्शन में आसन वह शारीरिक स्थिति है जिसमें स्थिरतापूर्वक और सुख सहित योगाभ्यास के काल में बैठा जा सके। शरीर अभ्यास काल में विघ्नकर न हो यह साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के सुस्थिर रखने के लिये सिद्धाचार्यों ने शरीर की ऐसी अनेक स्थितियों का आविर्भाव किया है जो अभ्यास में सहायता पहुंचाने वाली हैं। इन स्थितियों को आसन का नाम दिया गया है। योगी के लिये दो आसन विशेष लाभकारी समझे गये हैं-एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। सिद्धासन में बायें पैर की ऐड़ी लिंग और गुदा के मध्यस्थान में रखी जाती है और

भी अच्छा है, पर सब प्रथम हमें वेदरूपी मूल का अध्ययन करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन दोनों का सम्बन्ध ऋत, सत्य तप, दम शम, अग्निहोत्र आदि अनेक तत्वों के साथ जोड़ा गया है। ये तत्व जीवन-निर्माण के लिये आवश्यक उपादान हैं, पर इनके साथ स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य संयुक्त रहने चाहिये। इन उपादानों का भी ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही वांछनीय है। तप अच्छा है, पर ज्ञान के अभाव मे वह अनिष्टकारक भी बन सकता है। अज्ञान पर आधारित इन्द्रियों का दमन घातक कारण हो सकता है। ज्ञान के प्रकाश में यही उपादान बहुमूल्य शक्ति के स्रोत बन जाते हैं। अतः स्वाध्याय प्रत्येक अवस्था में चलना चाहिये। स्वाध्याय ब्रह्मचर्य आश्रम तक ही सीमित नहीं रहा है गृहस्थ एवं वानप्रस्थ दोनों के लिये वह हितकर समझा गया है। सन्यास आश्रम में भी उसकी अपेक्षा बनी रहती है। जो व्यक्ति किसी भी स्तर पर स्वाध्याय की उपेक्षा करता है वह अपनी हानि ही करता है। हमें वेद की किसी भी रूप में अवहेलना नहीं करनी है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संकेत इसी वेदाध्ययन-दिशा की ओर है।

मनु ने इस शरीर को ब्राह्म रूप देने के लिये सब प्रथम स्वाध्याय का ही नाम लिया है। पंच महायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ वेद के स्वाध्याय का ही अपर नाम है।

वेद दैवी वाणी है यही कल्याणी है। ऐसा सभी ऋषियों का अभिमत है। मानुषी वाणी से दैवी वाणी श्रेयस्कर समझी जाती है। श्रुति भगवती के शब्दों में—

"अपक्रामन पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वच । प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ।।" तथा संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।

हमें पौरुषेय वाणी से हट कर दैवी वाणी की ओर प्रस्थान करना चाहिये। दैवी वाणी का वरण ही हमें बली बना सकेगा। मानव वाणी सत्य-असत्य से मिश्रित होती है, परन्तु दैवी वाणी अपने गर्भ में सत्यरूपी रत्न का धारण ही नहीं पोषण भी करती रहती है। हमारे मन वचन और कर्म दैवी वाणी के साथ लगे रहें उसका कभी विरोध न करें यही वेद का सन्देश है। गायत्री मन्त्र प्रभु के सर्व श्रेष्ठ प्रकाश के ध्यान और धारण करने का उपदेश देता है और हमारी बुद्धियों को अकुण्ठित तथा प्रेरणामयी बनाने की प्रार्थना से भी सम्बद्ध है। स्वाध्याय के बिना इन दोनों में से एक भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। स्वाध्याय की सार्थकता इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

५ ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है प्रभु की शरण में अपने आपको समर्पित कर देना। मानव अपने अल्प सामर्थ्य के कारण किसी के अवलंबन की आकांक्षा किया करता है। बाल्यावस्था में विशेषरूप से माता, उससे उतर कर पिता और सामान्यतः

हाथों से कर। इसी से तेरी महिमा बढ़ गी। कोई अन्य व्यक्ति मुझे इस महिमा को प्राप्त नहीं करा सकेगा।

यह पुरुषार्थ का महत्व है। इसी के साथ वेद प्रभु की अनुकम्पा का वर्णन इस प्रकार करता है —

न हि अन्यं बडाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृडय। हे अनन्तकर्मो! परमश्वर्य-सम्पन्न परमात्मन्। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरा सहायक नहीं है। आप ही मुझे सुखी करें।

नियमों के प्रथम अंग शौच का सम्पादन अपने ही प्रयत्न पर आधृत है। अपने को पवित्र या अपवित्र रखना मेरे अपने हाथों में है। संतोष की वृत्ति भी अपने ही द्वारा सम्पादित करनी होगी। शौच प्रायः शरीर-सम्बन्धी है। संतोष की वृत्ति मानसिक है। नियम का तीसरा अंग इन दोनों की सहायता करता है। तपस्या जहाँ शारीरिक मल का विध्वंस करती है वहाँ मानसिक साम्यस्य को शान्त करने में भी सहायक सिद्ध होती है। स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान का प्रकाश मुझे पवित्रता की शिक्षा देता है संतोष के सद्गुणों को सम्मुख प्रस्तुत करके मानसिक पावित्र्य की प्रेरणा देता है और तप की महिमा को भी प्रकट करता है।

अपना प्रयत्न बहुत दूर तक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक बनता है फिर भी कुछ न्यूनता तो रह ही जाती है। महान से महान शक्तिशालियों के पुरुषार्थ अवस्था अकस्मात् विफल होते देखे गये हैं। ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता इसी लिये अनुभूत होती है। पर प्रभु का साहाय्य जब बिगड़े को बना सकता है तो सत्कर्म-शील पुरुष को कितना ऊँचा उठा सकता है इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वेद कहता है —

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरं। प्रेमन्धः ख्यद् निः श्रोणोऽभूत्।

प्रभु नग्न व्यक्ति को वस्त्रों से आच्छादित कर देते हैं आतुर रोगी को औषधि द्वारा स्वस्थ बना देते हैं अन्धा उन्हीं की कृपा से देखने लगता है और पंगु चलने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

अपना पुरुषार्थ और प्रभु का अनुग्रह दोनों मिल कर व्यक्तित्व का विकास करते हैं और मानव को संस्कृति के सोपानों पर चढ़ा देते हैं।

३. आसन

योग दर्शन में आसन वह शारीरिक स्थिति है जिसमें स्थिरतापूर्वक और सुख सहित योगाभ्यास के काल में बैठा जा सके। शरीर अभ्यास काल में विचलित न हो यह साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के सुस्थिर रखने के लिये सिद्धाचार्यों ने शरीर की ऐसी अनेक स्थितियों का आविर्भाव किया है जो अभ्यास में सहायता पहुँचाने वाली है। इन स्थितियों को आसन का नाम दिया गया है। योगी के लिये दो आसन विशेष लाभकारी समझे गये हैं-एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। सिद्धासन में बायें पैर की ऐडी लिंग और गुदा के मध्यस्थान में रखी जाती है और

दाहिना पैर बायें पैर के ऊपर रखा जाता है जिसकी ऐडी जननेन्द्रिय के मूल भाग के ऊपर और अंगुलियां बायें पैर के जंघा तथा पिंडुली के मध्य में रहती हैं। मेरुदण्ड सीधा तना रहता है और चक्षुओं की दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर की जाती है। पद्मासन में बायां पैर दाहिनी जंघा पर तथा दाहिना पैर बायीं जंघा पर रहता है, शेष स्थिति सिद्धासन के समान ही होती है। इन दो के अतिरिक्त एक सुखासन की भी स्थिति है जो आजकल अधिक प्रचलित है जिसे पल्थीमार कर बैठना कहा जाता है। आसनों की संख्या ८४ तक है जिनमें शीर्षासन सर्वांगासन मयूरासन आदि विशेष रूप से प्रख्यात हैं। आसन की सिद्धि शरीर की मांस-पेशियों तथा विभिन्न अवयवों की समृद्धि एवं नीरोगता की साधिका है।

वेद में इन आसनों का कोई उल्लेख नहीं है। ऋषियों ने आवश्यकता से प्रेरित होकर इनका प्रादुर्भाव किया है परन्तु वेद ऐसी आसन-स्थितियों का उल्लेख अवश्य करता है जो देर तक अभ्यास को सहायता दे सकें। यथा—

उपह्वरे गिरीणाम् संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत्।

विप्रत्व व्यापकत्व तभी सुलभ होगा जब साधक विश्व के कोलाहल से दूर किसी शान्त वातावरण में साधना का अभ्यास करें। वेद ने पर्वत की उपत्यकायें तथा नदियों के संगम इसके लिये उपयुक्त स्थान निश्चित किये हैं। इन स्थानों की एकान्त प्राकृतिक सुषमा मन को शान्त बनाने में सहायता देती है।

हवि स्पृशस्ते आसते, सोम विश्वेषु धामसु।

विश्व के विभिन्न लोक लोकान्तर प्राणियों के आवास धाम हैं। एक ही लोक में एक ही ग्रह में न जाने कितने प्राणी वास करते हैं। इन सबके भिन्न-भिन्न धाम हैं। इन धामों में बैठ कर साधक अपनी साधना में प्रवृत्त होते हैं। मन की हृदय की मनन तथा अनुसाधन पद्धतियों द्वारा वे उस परम तत्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं। उनकी पुकार हृदय-स्पर्शी होती है। आसन जमा कर बैठे हुये ऐसे साधक जो दृढ़ चिन्तन करते हैं ध्यान लगाते हैं अथवा प्रार्थना करते हैं वह उनके लिये निस्संदेह श्रेयस्कर होती है।

इमे हि ते ब्रह्म कृत: सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।

प्रभो! ये हैं तुम्हारा ब्रह्म-निष्पादन करने वाले तुम्हारे स्तुतिकर्ता। वे तुम्हें घेर कर ऐसे बैठ गये हैं जैसे मधु-मक्खिकायें मधु के चारों ओर बैठ जाती हैं। जिस मधु का स्वाद वे लेती हैं उससे कहीं अधिक स्वाद-मधु मधुतर मधुतम, जो स्वादों का भी स्वाद है रसों का भी रस है तुम्हारे भक्तों को प्राप्त होता है।

प्र ब्रह्मणो यन्ति परि ब्रह्मे आसते येषाम् सख्ये असिश्रित:।

प्रभो! तुम्हारे उपासक तो बहुत हैं पर वे सब एक ही श्रेणी के नहीं हैं। कुछ ऐसे हैं जो तुम्हारा नाम लेते हैं पर वस्तुत: तुमको या अपने को धोखा देते हैं। कुछ ऐसे हैं जो दुःख-दग्ध होकर सन्ताप को दूर करने के लिये आर्तरूप में आपके

चरणों में लोट जाते हैं और दुःख दूर होते ही फिर मायावी प्रपंच में फंस जाते हैं और तुमको भूल जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो तुम्हारी टोह में इधर उधर भटका करते हैं। तुम्हारे ज्ञान की यदि एक किरण भी उन्हें कहीं से प्राप्त हो गयी तो उसे सहेज कर अपने हृदय के कोने में रख लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो जान बूझ कर तुम्हारा पल्ला पकड़ कर बैठ जाते हैं और विचलित होने का नाम नहीं लेते। भक्ति के क्षेत्र में कुछ साधक थोड़ी देर के लिये आते हैं और चले जाते हैं परन्तु जिसने अपने को तुम्हारे चरणों में समर्पित कर दिया जो सर्वात्मना तुम्हारा बन गया वह फिर तुम्हारा ही होकर रहता है। तुम्हें छोड़ कर उसे अन्यत्र कहीं भी विश्राम दिखाई नहीं देता। ऐसे समासीन साधक ही तुम्हारे अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। जिनका आसन उखड़ गया वे भक्ति के क्षेत्र से उखड़ गये, पर जिनका आसन जम गया वे तुम्हारे हृदय में सदैव के लिये स्थान पा गये अथवा तुम सदैव के लिये उनकी हृदय भूमि में रम गये। गीता ने ऐसे ही भक्तों को तद् बुद्धय तदा त्मान तन्निष्ठाः तत् परायणा' कहा है। निर्धूत कल्मष ऐसे समाहित चित्त साधक ही पुनरावृत्ति के पाश से मुक्त हो पाते हैं।

घ प्राणायाम

प्राण मानव शरीर में सर्वाधिक महत्वशाली है। ऋषियों ने इसे आत्मा की छाया कहा है। प्राणी सप्राण व्यक्तित्व का नाम है। प्राण प्राकृत है अथवा चेतन, इस सम्बन्धमें अन्तिम निर्णय देना कठिन है। भौतिकवादी इसे प्रकृति का ही एक रूप मानते हैं परन्तु आत्मा के साथ यह इतना अधिक सम्बद्ध है कि शरीर से प्राण निकलते ही शरीर आत्मा के लिये आवास्य नहीं रहने पाता। मृत्यु प्राण निकलने का ही पर्याय है।

इस प्राण को स्वायत्त करना इस महती शक्ति को अपने अधीन तथा अनुकूल बना लेना योग के चतुर्थ अंग प्राणायाम का कार्य है। जैसे धातुओं के मल अग्नि द्वारा दग्ध होते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष प्राण के निग्रह से दूर होते हैं। अथर्ववेद के कई मंत्र प्राण की महिमा का वर्णन करते हैं। नीचे इसी विषय के कुछ मंत्र दिये जाते हैं —

१ प्राणायनमो यस्य सर्वमिदं वशे।
योभूत: सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं ॥ अथर्व ११।४।१

२ नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राणतिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ अथर्व ११।४।७

३ या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥ अथर्व ११।४।९

४ एकं पादं नो रिरवदति सलिलमद्धंस उच्चरन्।

यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः
स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥ अथर्व ११ । ४ । २२

प्राण को प्रणाम है जिसके वश में यह समग्र जगत है। वही सबका स्वामी है। सब उसी में आश्रय पा रहे हैं। प्राण के विविध रूप चतुर्दिक प्रसृत हैं। मेघ में इसका एक रूप है। उसकी गर्जन में बिजली के कड़कने में तथा वर्षा के होने में इसके अन्य रूप हैं। प्राण की वर्षा ओषधियों के गर्भ का कारण है। प्राण से सरस हरीतिमा का दर्शन करके समग्र प्रजा प्रमोद से परिपूर्ण हो जाती है। सब आशान्वित हो उठते हैं यह अनुभव करके कि प्रभूत धन-धान्य उत्पन्न होगा जो जीवन धारण करने का प्रमुख साधन है। प्राण ओषधि है। समस्त रोग प्राण-शक्ति के द्वारा ही नष्ट होते रहते हैं। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, वैसे ही प्राण इन्द्रियों की रक्षा करता है। सूर्य समस्त प्रजाओं का प्राण है। चन्द्रमा ओषधियों का प्राण है। व्रीहि, यव आदि अन्नों में भी प्राण शक्ति कार्य करती है। अथर्ववेद के इसी सूक्त के तेरहवें मंत्र में यव में प्राण शक्ति आहित है तथा व्रीहि अपान है, ऐसा कहा गया है। वात मातरिश्वा आदि प्राण के ही विविध रूप हैं।

प्राण शक्ति को वश में करने का साधन प्राणायाम है। सूक्त के आठवें मंत्र में प्राण के चार रूप वर्णित हुए हैं— प्राण अपान, प्राचीन और प्रतीचीन। प्राणायाम की प्रक्रिया में जो श्वास अन्दर जाती है, वह आगत और जो बाहर फेंकी जाती है, वह परागत कहलाती है। एक से जीवन मिलता है तो दूसरी से आन्तरिक मल बाहर फेंके जाते हैं। प्राण का अर्थ जीवन है और अपान का अर्थ दोषों का अपनयन करना है। पराचीन प्राण प्राची तथा उदय का भाव लिए हुये है। प्रतीचीन प्राण पश्चिम की दिशा तथा अस्त काल का भाव लिये हुये है। अतः जागरण अवस्था के काल को पराचीन तथा शयन काल के प्राण को प्रतीचीन कहा जायगा परन्तु प्राण की शक्ति के रूप में एक से जीवन का उदय होता है और दूसरे से रोगों का शमन अथवा दमन।

प्राण निरन्तर चलता रहता है। इसकी गति में सोऽहम् का स्वर ध्वनित होता रहता है। सोऽहम् को उलट देने से हंस शब्द बन जाता है। प्राण वस्तुतः हंस है। यह शरीर के अन्दर मानस सरोवर में क्रीड़ा करता है और बाहर अन्तरिक्षीय वायु के सरोवर में। जब प्राण अथवा हंस मानस सरोवर से बाहर निकलता है तो एक पैर से उस सरोवर में खड़ा रहता है। वह मानस सरोवर का एकान्त परित्याग नहीं करता। यदि प्राण इस सरोवर को कहीं छोड़ दे तो न उदय का भान होगा न रात्रि का न दिन का न आज का या कल का। अन्य शब्दों में प्राण के इस उत्क्रमण को मृत्यु कहा जाता है।

योगी प्राण के बल से ही मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी को जाग्रत करता है और आठों चक्रों में प्रवेश करता हुआ अन्त में सहस्रार चक्र में पहुँच जाता है। प्राण इस अवस्था में भी एकनेमि बना रहता है। इसकी नेमि स्थिर रहती है। निरिक्षस सृष्टि

प्राण के अर्ध रूप की ही लीला है। इसका दूसरा अर्ध भाग कौन सा है, उसका ज्ञान किस प्रकार होता है यह योगियों के प्रत्यक्ष का विषय है। प्राण शयनावस्था में ऊर्ध्व रूप से जाग्रत रहता है। प्राणी सो जाता है पर प्राण कभी नहीं सोता और यह पहरे दार के रूप में प्रति पल जागरूक रह कर सावधानता से शरीर के संरक्षण में प्रवृत्त रहता है।

प्राण का प्रभाव शरीर व्यापी है। प्राण का जो रूप वक्षस्थल में क्रियाशील रहता है वह मुख्य प्राण कहलाता है। अपान की क्रिया मलमूत्र के विसर्जन में व्यापार-शील बनती है। प्रश्वास छींक आदि में भी उसी का कार्य रहता है। प्राण का एक रूप उदान है जिसमें प्राण शक्ति कण्ठ से ऊपर की ओर जाकर शरीर की वृद्धि का हेतु बनती है। शिशु बड़े होने पर जो पांच, छः या सात फीट के लम्बे शरीर वाला बन जाता है वह उदान का ही कार्य है। समान प्राण आमाशय में कार्य करता है। यह आमाशय की भट्टी में रोटी पूड़ी हलवा दाल साग आदि सबको पकाकर सम रस कर देता है। खाये हुए पदार्थ आमाशय में जाकर समान प्राण के ही कारण रस रूप में परिणत हो जाते हैं जो रक्त-मांस आदि अन्य सात धातुओं का कारण है। अन्य व्यर्थ का द्रव्य जो शरीर का अंग नहीं बन पाता और जिसे विजातीय द्रव्य कहना चाहिये अपान प्राण के द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। व्यान प्राण समग्र शरीर में व्यापक होकर अंग-अंग और रोम रोम की रक्षा किया करता है।

प्राणायाम पूरक रेचक कुम्भक और स्तम्भ वृत्ति रूप से चार प्रकार का कहा गया है। प्राण को बाहर से खींच कर अन्दर भर लेना पूरक है। प्राण को समस्त बल लगाकर बाहर फेंक देना रेचक है। प्राण का देर तक रोक रहना कुम्भक है और जाते या आते प्राण को जहाँ का तहाँ रोक देना स्तम्भ वृत्ति है। अभ्यास करने में सबसे सुगम भस्त्रा प्राणायाम है। लुहार जैसे धौंकनी से अग्नि को प्रज्वलित करता है वैसे ही इड़ा और पिंगला की धौंकनी से आन्तरिक प्राणाग्नि प्रज्वलित की जाती है। सामान्यतः दिन में इड़ा अर्थात् वाम स्वर और रात्रि में पिंगला अथवा दाहिना स्वर चलना चाहिए। प्रातः तथा सन्ध्या की सन्धि वेलाओं में दोनों स्वरों की साम्यावस्था रहनी चाहिये। दिन में सूर्य की ऊष्मा समग्र जगत को उष्ण बनाती रहती है। यदि वाम स्वर चलता रहा तो ऊष्मा का प्रभाव सन्तुलित होता रहेगा। रात्रि शैत्य प्रधान होती है।

चन्द्र की किरणों में भी शीतलता रहती है। अतः दाहिने स्वर से उत्पन्न उष्णता इस शीतलता को सन्तुलित करती। सन्धि वेला में साम्यावस्था रहती है। उससे मन में प्रमाद भी मर जाता है जो शैत्य का परिणाम है और न चञ्चलता की ओर जाता है जो ऊष्मा का परिणाम है। इस साम्यावस्था में ही मन की प्रशान्त अवस्था होती है जो भक्ति भावना उपासना के लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

प्राणायाम की यह प्रक्रिया इन्द्रिय के नियमन के लिये परमावश्यक है। जिसकी इन्द्रियाँ उच्छृंखल हैं असंयत हैं वह अराजक है। जिसने इन्द्रियों को वश में कर

लिया, वही वस्तुतः संस्कृत है।

छ प्रत्याहार

हमारी इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुली हैं और सुन्दर पक्षियों की भाँति बाहर के समुद्र में गोता लगाकर अपना-अपना भाग प्राप्त करती रहती हैं। आँखें रूप में डूबती हैं, श्रवण शब्दों में, घ्राण गन्ध में रसना स्वाद में और त्वचा स्पर्श में। वेद कहता है —

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् अनिमेषम् विदथाभि स्वरन्ति।

सुपर्ण कोमल पंखों वाली उड़नशील इन्द्रियाँ हैं। बाहर से अपने भाग को प्राप्त किये बिना इन्हें चैन नहीं पड़ता। इनकी बाह्योन्मुखता पर यदि मैं प्रतिबन्ध लगा दूँ और आँख-कान आदि को बन्द कर लूँ तो यह अन्दर ही अन्दर अपने गृहीत विषयों में जो स्मृति रूप में सुरक्षित हैं रमण करने लगती हैं। वेद कहता है —

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षु वीदम् ज्योतिर्हृदय आहितम् यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये।

मेरे कान बड़ी दूर तक शब्दों के क्षेत्र में दौड़ लगाते हैं। चक्षुओं का भी यही हाल है। सो जाने पर इनका व्यापार बन्द हुआ जान पड़ता है, पर उस समय भी स्वप्नों के संसार में इनका कार्य चलता ही रहता है। ऐसी दशा में क्या मनन हो सकता है और क्या उत्थान हो सकता है?

महर्षि पतंजलि ने इन्द्रियों को प्राप्त होने वाले बाहर के आहार को प्रत्याहार द्वारा इसी लिये भीतर की ओर मोड़ दिया है। इन्द्रियाँ अपने विषयों से पराङ्मुख होकर भीतर की ओर प्रयाण करें बाह्योन्मुखता से हट कर आन्तरिकता ग्रहण करें, यही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार के लिये आवश्यक है कि हम बाह्य विषयों से विरत रहें। मन के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ स्वयमेव विषयों से विरत हो जाती हैं। मन के निरोध के लिये प्राणायाम और स्वाध्याय दोनों ही हितकर सिद्ध होते हैं। यदि मन ज्ञानपूर्वक अथवा भाव के वशीभूत होकर किसी एक वृत्ति के साथ एकाग्र हो जायगा तब भी इन्द्रियाँ अपने विषयों में रमण करने से वंचित रहेंगी क्योंकि मन का इन्द्रियों के साथ सहकार ही इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होना है। इसके लिये सर्वोत्तम उदाहरण विद्यार्थियों के परीक्षा काल में उपस्थित होता है। विद्यार्थी जिस प्रश्न-पत्र को कर रहा है उसी के साथ उसका मन संलग्न रहता है। ऐसी स्थिति में न आँख रूप की ओर जाती है न श्रवण किसी शब्द की ओर जाता है और न कोई अन्य इन्द्रिय-व्यापार ही उस समय सूझता है। प्रत्याहार के लिये यह अत्यन्त अनुकूल अवसर उपस्थित हो जाता है। जितनी देर तक परीक्षार्थी परीक्षा—भवन में बैठा है, उसकी

देर तक वह इन्द्रियजयी है। इस इन्द्रिय जय के लिये अथवा प्रत्याहार के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इन्द्रिय-जय सांस्कृतिक विकास का मध्य बिन्दु है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में है वही संस्कृत मानव है। इन्द्रिय जय के ऊपर विकास के और भी कई पड़ाव हैं पर संस्कृति प्रत्याहार की सिद्धि में अपने रूप को उन्मुक्त कर देती है। सभ्यता और संस्कृति का अन्तर भी प्रत्याहार में स्पष्ट हो उठता है। सभ्यता समाज-सापेक्ष है और बाह्योन्मुख है संस्कृति अन्तर्मुखी तथा व्यक्ति-सापेक्ष है। उसका सामाजिक रूप भी है वैसे ही जैसे व्यक्ति का एक सामाजिक रूप है। एक-एक संस्कृत व्यक्ति के समुदाय को ही तो संस्कृत समाज कहते हैं। जो देश संस्कृत-व्यक्ति-बहुल हो, उसकी विशिष्ट जीवन-पद्धति ही संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है।

आजकल स्वराज्य का उद्घोष बल पकड़ रहा है परन्तु वास्तविक स्वराज्य इन्द्रियों का आत्मा के आधीन होना है। जब तक इन्द्रियाँ बहिर्वर्ती हैं तब तक शरीर रूपी राष्ट्र में स्वराज्य नहीं है। स्वराज्य में सब सुख पाते हैं। पर-राज्य क्लेशकारक है। हम व्यक्तिगत रूप से जो दुखी होते हैं उसका एक मात्र कारण इन्द्रियों का आत्मा से पार्थक्य और प्राकृतिक विषयों के साथ संयोग है। इस अवस्था में रूप शब्द स्वाद आदि राज्य करते हैं आत्मा नहीं। निम्नांकित मंत्र में स्वराज्य की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है —

स्वादोरित्था विषूवतो मध्व पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् "।

स्वराज्य में अनुवसन करने वाली अनुकूलता पूर्वक निवास करने वाली इन्द्रियाँ वस्तुत गौरी का ही रूप हैं। गौरी शब्द सत्वावस्था का सूचक है। इन्द्रियाँ इस अवस्था में बलवान इन्द्र के साथ आनन्द मनाती हैं। इन्द्र आत्मा है और इन्द्रियाँ उसी की शक्तियाँ हैं। शक्तियाँ शक्तिमान के साथ जब एक होती हैं तभी आनन्द की अनुभूति होती है। उसी समय अंग-अंग में शोभा सुषमा तथा दीप्ति फूट पड़ती है। मंत्र के शब्दों से यह ध्वनि भी प्रस्फुटित हो रही है कि इन्द्रियाँ इन्द्र के साथ ही व्यापक मधु का पान करती है। इस समय के स्वाद को सभी व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते। इस स्वाद को तो वही चखते हैं जिन्होंने इन्द्रियों को अपना बना लिया है जिनकी इन्द्रियाँ आध्यात्मिक स्वराज्य में विचरण करती हैं। विषय-लोलुप प्राणी जो संकीर्ण क्षणिक सुख को ही सब कुछ समझते हैं इस व्यापक स्वाद के स्वारस्य को अनुभव ही नहीं कर सकते।

(ज) धारणा

धारणा का एक विशेष अर्थ योग दर्शन में लिया जाता है। धारणा का सामान्य अर्थ धारण करना है परन्तु योग दर्शन में चित्त का देश विशेष में बाँध देना धारणा कहा गया है। योगी हृदय-पुण्डरीक में भौंहों के बीच में नासिका के अग्र भाग में,

जिह्वा के अग्र भाग पर, नाभि चक्र में या मूर्धा ज्योति में चित्त को आबद्ध कर देते हैं। उनका अनुभव है कि ऐसा करने से चित्त का प्रसादन होता है और प्रसादन ही प्रभु प्राप्ति के आनन्द तक पहुंचा देता है। वेद ने मन को प्रभु के साथ संयुक्त कर देने के लिये कई मंत्रों में निर्देश किया है। यथा —

(१) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।
ऋ० ५-८१ १ यजु० ११ ४

(२) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ यजु० ११ १

(३) युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या । यजु ११ २

(४) युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ यजु० ११ ३

(५) युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

प्रभु विपश्चित है, परमज्ञानी है, चित्स्वरूप है विशाल और व्यापक है। उसके साथ व्यापकता की ओर प्रयाण करने वाले साधक अपने मन और बुद्धियों को जोड़ते हैं। प्रश्न हो सकता है कि जब मन और बुद्धि प्रभु के साथ संयुक्त हो गये तो इन साधकों का शारीरिक होत्र कैसे चलता है? इनके इन्द्रिय-व्यापार, भोजन-छादनादि कैसे सम्पन्न होते हैं? इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि प्रभु वयुनावित् हैं सबके ज्ञानों और कर्मों के तत्त्वज्ञान को जानते हैं। वह अकेले हैं फिर भी सबके होत्रों को, शरीर धारक यज्ञ-कर्मों को विविध प्रकार से और विशेष रूप से धारण करने वाले हैं। वे सविता हैं सबके प्रेरक हैं, देव हैं—सब सुख दानी हैं। उनकी स्तुति प्रशंसा महान है। उनके गुणों की समता नहीं। वे चारों ओर, जहां जाओ वहीं चाहे जिस स्थिति में रहो उसी में प्राप्त हो जाते हैं।

योगी तत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रथम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ते हैं फिर बुद्धियों तथा कर्मों को उसी के साथ संयुक्त कर देते हैं। इस साधना द्वारा वे अग्नि रूप प्रभु की ज्योति को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं।

सर्वोत्पादक, सर्व-प्रेरक दिव्यगुण-सम्पन्न प्रभु का यज्ञ निरन्तर चला करता है। हम साधना-शील प्राणी उसी के साथ अपने मन को संयुक्त किया करते हैं। इस प्रकार साधक को जो अपार शक्ति प्राप्त हो जाती है वह उसके परम सुख मोक्षानन्द का कारण बनती है।

इन्द्रियां मन के साथ सम्बद्ध हैं वे देव हैं दिव्य शक्तियां हैं। प्रेरणाशील साधक स्वर्ग की ओर उन्मुख सुख-विशेष की ओर जाने वाली इन इन्द्रियों को तथा बुद्धि को प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के साथ एक करके प्रभु से महान ज्योति को प्राप्त कर लेता है और दिव्यगुणों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी उसे हस्तगत हो जाता है।

देर तक वह इन्द्रियजयी है। इस इन्द्रिय जय के लिये अथवा प्रत्याहार के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इन्द्रिय-जय सांस्कृतिक विकास का मध्य बिन्दु है। जिसकी इन्द्रियां वश में है वही संस्कृत मानव है। इन्द्रिय जय के ऊपर विकास के और भी कई पड़ाव हैं पर संस्कृति प्रत्याहार की सिद्धि में अपने रूप को उन्मुक्त कर देती है। सभ्यता और संस्कृति का अन्तर भी प्रत्याहार में स्पष्ट हो उठता है। सभ्यता समाज-सापेक्ष है और बाह्योन्मुख है संस्कृति अन्तर्मुखी थी तथा व्यक्ति-सापेक्ष है। उसका सामाजिक रूप भी है वैसे ही जैसे व्यक्ति का एक सामाजिक रूप है। एक-एक संस्कृत व्यक्ति के समुदाय को ही तो संस्कृत समाज कहते हैं। जो देश संस्कृत-व्यक्ति-बहुल हो, उसकी विशिष्ट जीवन-पद्धति ही संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है।

आजकल स्वराज्य का उद्घोष बल पकड़ रहा है, परन्तु वास्तविक स्वराज्य इन्द्रियों का आत्मा के आधीन होना है। जब तक इन्द्रियां बहिर्वर्ती हैं तब तक शरीर रूपी राष्ट्र में स्वराज्य नहीं है। स्वराज्य में सब सुख पाते हैं। पर-राज्य क्लेशकारक है। हम व्यक्तिगत रूप से जो दुखी होते हैं उसका एक मात्र कारण इन्द्रियों का आत्मा से पार्थक्य और प्राकृतिक विषयों के साथ संयोग है। इस अवस्था में रूप शब्द स्वाद आदि राज्य करते हैं आत्मा नहीं। निम्नांकित मंत्र में स्वराज्य की विशद व्याख्या उपलब्ध होती हैं –

स्वादोरित्था विषूवतो मध्व पिबन्ति गौर्य ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् "।

स्वराज्य में अनुवसन करने वाली अनुकूलता पूर्वक निवास करने वाली इन्द्रियां वस्तुतः गौरी का ही रूप हैं। गौरी शब्द सत्वावस्था का सूचक है। इन्द्रियां इस अवस्था में बलवान इन्द्र के साथ आनन्द मनाती हैं। इन्द्र आत्मा है और इन्द्रियां उसी की शक्तियां हैं। शक्तियां शक्तिमान के साथ जब एक होती हैं, तभी आनन्द की अनुभूति होती है। उसी समय अंग-अंग में शोभा सुषमा तथा दीप्ति फूट पड़ती है। मंत्र के शब्दों से यह ध्वनि भी प्रस्फुटित हो रही है कि इन्द्रियां इन्द्र के साथ ही व्यापक मधु का पान करती हैं। इस समय के स्वाद को सभी व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते। इस स्वाद को तो वही चखते है जिन्होंने इन्द्रियों को अपना बना लिया है जिनकी इन्द्रियां आध्यात्मिक स्वराज्य में विचरण करती हैं। विषय-लोलुप प्राणी जो संकीर्ण क्षणिक सुख को ही सब कुछ समझते हैं, इस व्यापक स्वाद के स्वारस्य को अनुभव ही नहीं कर सकते।

(ख) धारणा

धारणा का एक विशेष अर्थ योग दर्शन में लिया जाता है। धारणा का सामान्य अर्थ धारण करना है परन्तु योग दर्शन में चित्त का देश विशेष में बाँध देना धारणा कहा गया है। योगी हृदय-पुण्डरीक में भौहों के बीच में नासिका के अग्र भाग में,

जिह्वा के अग्र भाग पर नाभि चक्र में या मूर्धा ज्योति में चित्त को आबद्ध कर देते हैं। उनका अनुभव है कि ऐसा करने से चित्त का प्रसादन होता है और प्रसादन ही प्रभु प्राप्ति के आनन्द तक पहुंचा देता है। वेद ने मन को प्रभु के साथ संयुक्त कर देने के लिये कई मन्त्रों में निर्देश किया है। यथा —

(१) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।
ऋ० ५।८१।१ यजु० ११।४

(२) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविताधियः ।
अग्नेर्ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ यजु० ११।१

(३) युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या । यजु ११-२

(४) युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धियादिवम् ।
बृहज्ज्योति करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ यजु० ११।३

(५) युजे वाम् ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानिदिव्यानि तस्थुः ॥५॥

प्रभु विपश्चित है, परमज्ञानी है चित्स्वरूप है विशाल और व्यापक है। उसके साथ व्यापकता की ओर प्रयाण करने वाले साधक अपने मन और बुद्धियों को जोड़ते हैं। प्रश्न हो सकता है कि जब मन और बुद्धि प्रभु के साथ संयुक्त हो गये तो इन साधकों का शारीरिक होम कैसे चलता है ? इनके इन्द्रिय-व्यापार, भोजन-छादनादि कैसे सम्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि प्रभु वयुनावित् हैं सबके ज्ञानों और कर्मों के तत्त्वज्ञान को जानते हैं। वह अकेले हैं फिर भी सबके होत्रों को धरीर साधक यज्ञ-कर्मों को विविध प्रकार से और विशेष रूप से धारण करने वाले हैं। वे सविता हैं सबके प्रेरक हैं, देव हैं—अद्भुत दानी हैं। उनकी स्तुति प्रशंसा महान है। उनके गुणों की समता नहीं। वे चारों ओर, जहां जाना चाहें चाहे जिस स्थिति में रहो उसी में प्राप्त हो जाते हैं।

योगी तत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रथम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ते हैं फिर बुद्धियों तथा कर्मों को उसी के साथ संयुक्त कर देते हैं। इस साधना द्वारा वे अग्नि रूप प्रभु की ज्योति को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं।

सर्वोत्पादक सर्व-प्रेरक दिव्यगुण-सम्पन्न प्रभु का यज्ञ निरन्तर चला करता है। हम साधना-शील प्राणी उसी के साथ अपने मन को संयुक्त किया करते हैं। इस प्रकार साधक को जो अपार शक्ति प्राप्त हो जाती है, वह उसके परम सुख आत्मानन्द का कारण बनती है।

इन्द्रियां मन के साथ सम्बद्ध हैं वे देव हैं दिव्य शक्तियां हैं। प्रेरणा और साधक स्वर्ग की ओर उन्मुख सुख-विशेष की ओर जाने वाली इन इन्द्रियों को तप द्वारा भी प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के साथ एक करके प्रभु से महान ज्योति को प्राप्त कर लेता है और दिव्यगुणों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी उसे इससे हो जाता है।

हे अमृत पुत्र जीवो ! सुनो ! तुममें से जो साधक दिव्य धामों के निवासी बनते हैं, उनके मार्ग में कीर्ति विविध रूपों में प्रवेश करती है और वे मनन द्वारा प्रणतिपथ द्वारा भक्ति भाव पूर्वक उस अपूर्व ब्रह्म के साथ जिनके पुत्र और कोई नहीं है, अपने आपको एक कर देते हैं ।

प्रभु बसे तो सर्वत्र हैं पर अपने भीतर के हृदय-कमल में साधक को विशेष रूप से अनुभूत होते हैं । हृदय केन्द्र है जहां से एक सीधी नाड़ी सहस्रार चक्र को गई है । हृदय के स्पन्दन समस्त शरीर को गतिशील रखते हैं । इन स्पन्दनों पर ध्यान केन्द्रित करने से मन एकाग्र होता है बुद्धि निश्चल बनती है और निखिल इन्द्रिय व्यापार समाहित हो जाते हैं । योगी की यह समाहित अवस्था ही प्रपत्ति-अविचल भाव की सम्वाहिका है । समाधि के योग्य यही अवस्था है । इसी अवस्था में आत्मा परमात्मा के साथ एक होने की योग्यता प्राप्त करता है ।

हृदय-पुण्डरीक ही नहीं साधकों ने अभ्यास द्वारा नासिका के अग्रभाग पर आंखों की ज्योति को केन्द्रित करके ऊपर नासिका के केन्द्र तक चलते हुये दोनों भौंहों के बीच में स्थिर किया है और ज्योति के दर्शन किये हैं जिसे शंकर का तीसरा नेत्र कहा गया है । मूर्धज्योति में भी मन को केन्द्रित किया जाता है । धारणा का अर्थ चित्त को देश विशेष में बांधना है । बंधा हुआ चित्त शक्ति का भाण्डार है । जब वह इन्द्रियों के विषयों में फँस जाता है तब उसकी शक्ति भी बिखर जाती है ।

प्रत्याहार से समाधि योग का प्रारम्भ हो जाता है । धारणा में वह प्रत्यक्ष होने लगता है । धारणा ध्यान-समाधि तीनों का एक सह-धर्म है । तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं ।

ग ध्यान

ध्यान में मन एक दम निर्विषय हो जाता है । प्रत्याहार ने जो मस्तमु की भाव उत्पन्न किया था और बाह्योन्मुख वृत्तियों को रोका था उसमें इन्द्रियों को बाहर का आहार न मिलने से क्लेशकर अवस्था नष्ट होने लगी थी । धारणा ने चित्त को देश विशेष में आबद्ध कर लिया और तदाकार वृत्ति होने से एकतानता का मार्ग विशद हो गया । ध्यान में मन विषय-विहीन हो जाता है और उसकी ज्ञान की धारा तैल धारा के समान अविच्छिन्न रूप धारण करने लगती है । यह ज्ञान जिसे योग दर्शन में प्रत्यय कहा गया है प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान नहीं है क्योंकि बाह्य पदार्थों में इन्द्रियों की विषयात्मकता बनी रहती है और इस ज्ञान में निर्विषयता है । अतः इस ज्ञान को हम आत्म ज्ञान के नाम से अभिहित करेंगे । मन का ध्यानस्थ हो जाना विषयबीज भूमियों का नष्ट हो जाना है । यही ध्यान की एकतानता जब स्थिर और गम्भीर रूप धारण कर लेती है, तब उसे निदिध्यासन कहा जाता है ।

प्रभु का अनुग्रह जिस साधक को प्राप्त हो गया वह ध्यान की श्रेष्ठतम अवस्था तक सुगमता से पहुंच जाता है । वेद कहता है —

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योग मिन्वति ।

बड़े से बड़े विपश्चित ज्ञानी का भी यज्ञ प्रभु की कृपा के बिना सिद्ध नहीं होता। वह प्रभु बुद्धियों के योग में प्राप्त होता है।

बुद्धि का योग ज्ञान का योग है। ध्यान में ज्ञान की ही एकतानता रहती है। जब मन और बुद्धि प्रभु-ज्ञान के साथ एक हो जाते है, युक्त हो जाते हैं योग करने लगते हैं तभी ध्यान की सार्थकता सिद्ध होने लगती है।

वेद का सर्वश्रेष्ठ गायत्री मंत्र भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।

प्रभु कृपा करें। वे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें जिससे उनके वरणीय भर्ग का, तेज का हम ध्यान और धारण कर सकें। यदि हमारी बुद्धि प्रेरणा पाकर स्फूर्त एवं सचेष्ट हो गई और प्रभु के ध्यान में उनके तेज के धारण में निमग्न हो गई, तो मानों हमें अपना खोया हुआ घर प्राप्त हो गया।

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ।

जो मन बाहर भटकता हुआ आत्मा से पृथक हो गया था और अपने बल जीवन तथा कर्तृत्व से वंचित था फिर आत्मा के अन्दर प्रविष्ट हो आत्मा के ध्यान में लीन हो, जिससे उसे निरन्तर सूर्य के दर्शन होते रहें, परम ज्योति का साक्षात्कार होता रहे।

यह सूर्य ज्ञान का सूर्य है और यह ज्योति यह प्रकाश भी ज्ञान का ही प्रकाश है। आत्मा का गुण ही ज्ञान है। परमात्मदेव विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञानधारा में अवगाहन करना प्रकाश में ही स्नान करना है। प्रभु अनन्त है। ज्ञान अनन्त है। योग दर्शनकार कहता है —

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्याद् ज्ञेयमल्पम् । । ४–३१ ।

जब ज्ञान समस्त आवरणों के मलों से शून्य होकर चमकने लगता है तभी उसकी अनन्तता प्रकट होती है। तब ज्ञेय स्वल्प सा और ज्ञान अनन्त सा भासित होता है। ज्ञान की यही एकतानता ध्यान है।

प्रभु को वेद में कई बार अन्धस् कहा गया है। यास्क ने इसका अर्थ आध्यान नीय किया है।

प्र वो महे मन्दमानाय अन्धसो अर्चा ।
महीं न धारां अति अन्धो अर्षति ।
तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्य अन्धसः ।

प्रभु को सोम भी कहा गया है। अन्धस् भी सोम है। यह आध्यायनीय सोम

मन्दी, मन्दमान, मोदमान अर्थात् आनन्द से परिपूर्ण है। आप्यायनीय अर्थात् ध्यान के योग्य सोम का ध्यान करने के समय ध्यान की जो एकतान धारा अनवच्छिन्न रूप से उठती है उसके साथ ध्याता भी उठता चला जाता है और प्राकृतिक पाशों से पार हो जाता है। प्रभु का मन्दमान रूप उसे भी हर्ष निर्भर कर देता है।

प्रभु ही ध्यान योग्य है पर यहाँ कितने हैं जो उसकी ओर प्रयाण करते हैं—

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।

क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥

कौन है जो वाणी से प्रभु के समक्ष प्रणत हो ? कौन है जो उसका मनन चिंतन और ध्यान करे ? कौन है जो उसके प्रकाश को अपने अन्दर धारण करे ? है कोई साधक जो प्रभु की संगति सखा भाव भ्रातृभाव कान्ति एवं दीप्ति को धारण करने की कामना करे ?

वेद-मंत्र-गत प्रश्न का उत्तर निम्नांकित ऋचा में पाया जाता है। उच्चावस्था को प्राप्त साधक कहता है —

विश्वा मतीरा ततने त्वाया ॥

मेरी समस्त मतियाँ आज तेरे ही लिये फैल रही हैं।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे

अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥

उस मंहिष्ठ सर्वोत्तम पूजनीय महान से महान विशाल शक्ति से सम्पन्न सत्य बलशाली प्रभु के लिये मैं अपनी मति को समर्पित कर रहा हूँ। मेरे प्रभु का ऐश्वर्य सिद्धिदायक रापस खुला हुआ है। वह साधक के पास वैसे ही स्वतः पहुँच जाता है जैसे जल प्रवण-भूमि में बहता हुआ प्यासे के पास पहुँच जाता है। प्रभु का यह ऐश्वर्य सबको बल प्रदान करता है।

अहमिद्धि पितुः परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ।

मैंने अपनी बुद्धि में ऋतरूप पालक पिता की मेधा को भर लिया है। मेरी बुद्धि प्रभु की व्यापक बुद्धि के साथ आज एक है। इससे जो प्रकाश मुझे प्राप्त हुआ है उसने मुझे सूर्य के समान ही बना दिया है।

अग्नि जिन्वानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।

अग्निमीधे विवस्वभिः ॥

जिसने अपना मन प्रभु में लगा दिया है, जो मनन द्वारा ध्यान द्वारा उस ज्ञानस्वरूप प्रभु को अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रकट करने लगा है वह वस्तुतः प्रभु को ही अपने भीतर धारण करने लगा है— प्रभु उसके द्वारा प्रदीप्त हो रहे हैं प्रज्वलित हो रहे हैं। अब तो वह बुद्धि की सेतीपता तथा उसकी उपलब्धि को भी अनुभव करने लगा है। उसकी बुद्धियाँ भी उसी प्रभु की ओर जा रही हैं। बुद्धि रूप सूर्य की किरणें अब उसको और साथ ही प्रभु को भी प्रकाशित करने लगी हैं।

ध्यान में अपने व्यक्तित्व का बोध बना रहता है– यह तथ्य उपर्युक्त मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है। मैं अपनी बुद्धि को समर्पित करता हूं मैं सूर्य के सदृश बन गया हूं आदि वाक्य इसी सत्य की अभिव्यंजना कर रहे हैं। धारणा ध्यान और समाधि तीनों ही अन्तरंग साधन हैं और तीनों क्रमपूर्वक ऊपर उठाते जाते हैं। व्यक्तित्व का संस्कार होते-होते चित्त मल–विक्षेपादि से रहित तथा उज्ज्वल होता जाता है। संस्कृति इसी आन्तरिक निर्माण के मूल में निहित रहती है।

८न समाधि

ध्यान में स्वरूप–ज्ञान बना रहता है। मैं ध्येय का ध्यान कर रहा हूं ऐसा भासित होता रहता है। समाधि म स्वरूप की शून्यता हो जाती है– अपना भान नहीं रहता— केवल ध्येय का ध्यान रहता है। ध्येय मात्र–अर्थमात्र—का निर्भास ही समाधि है। ध्यान की पराकाष्ठा निदिध्यासन है। समाधि भी ध्यान का चरम उत्कर्ष है। इसमें चित्त की स्थिरता हो जाती है जो परिमार्जन अथवा संस्कृति की सर्वोत्तम अवस्था है।

योग चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम है। चित्त की वृत्तियां जब तक बाहर भटकती हैं तब तक संस्कृति भी अपने से दूर रहती है। इन वृत्तियों का संस्कार संशोधन अन्तर्मुखी वृत्ति में होता है। अन्तर्मुख होने पर बाहर का नहीं अन्दर का, आन्तरिक तत्वों का ध्यान होने लगता है। अपना आपा भी बाहर नहीं भीतर ही है। अपने का भास होना आत्म प्रतीति का जागृत होना मैं शरीर नहीं हूं आत्मा हूं चेतन तत्व हूं – ऐसा अनुभव करना अन्तर्मुखी वृत्ति की विशेष उपलब्धि है। इससे भी ऊपर की एक अवस्था है— परमात्मतत्व का ध्यान सर्व व्यापक ब्रह्म की अनुभूति। समाधि इसी अनुभूति का नाम है जिसमें मैं— पन विस्मृत हो जाता है और ब्रह्मानुभूति अवशिष्ट रह जाती है।

ब्रह्म ही ध्येय है। चित्त को अन्दर चलते हुए इसी ध्येय के स्वभाव में आविष्ट या मग्न होता है। ध्येय में चित्त की अवस्थिति ध्यानी के स्वरूप को भी अभिभूत कर लेती है। आत्म विस्मृति तथा ध्येय ब्रह्म की ख्याति अथवा उपलब्धि समाधि योग द्वारा सम्पन्न होती है। चित्त ब्रह्म में स्थिर हो जाता है। यही भूमा की अवस्था के नाम से भी विख्यात है। अपनी सत्ता की स्वल्पता इसके द्वारा विशालता में परिणत हो जाती है। ब्रह्म का अर्थ ही महान और विकास है।

क्रम की दृष्टि से विचार करें तो जब तक चित्त वृत्तियां बाह्य विषयों में रमण कर रही हैं, तब तक चित्त न स्थिर है और न शान्त। अशान्त मानस समाधि के योग्य होता ही नहीं। जब हम चित्त को बाहर से हटाकर अपने में स्थिर कर लेते हैं तभी वह शान्त हो पाता है। इसी अविचल शान्त अवस्था मे पर ब्रह्म की प्रतीति होती है।

माष्यकार धारणा ध्यान तथा समाधि के एकत्रीकरण को संयम का नाम

देता है। इसी को हम संस्कृति कहते हैं। निरन्तर प्रयास एवं अभ्यास करते हुये साधक को ही इसका साक्षात्कार हो पाता है। इसी संयम से प्रज्ञा का आलोक खिल उठता है। सहजज्ञान के प्रकाश में किसी भी तत्त्व का सम्यक् ज्ञान होने लगता है। नाना विषयों में विचरण करने से चित्त की जो शक्ति कुण्ठित हो गई थी वह सम्यक् ज्ञान के लिए अनुपयुक्त थी। संयम से उत्पन्न प्रज्ञालोक से वह शक्ति चित्त को पुनः प्राप्त हो गई। वेद कहता है —

प्रदीर्घ्व जीवो असुर्न आगात् अप प्रागात्तम आज्योतिरेति।
आरैक पन्थांयातवे सूर्याय अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

चित्त का व्युत्थान चाञ्चल्य बाहर भटकना अब समाप्त हो गया है। अब तो असु का आगमन है जिसमें बाह्य नहीं आभ्यन्तर उत्पत्ति है प्राणवत्ता है। चित्त चाञ्चल्य के समय अन्धकार था अब निरोध में ज्ञान में ज्योति ही ज्योति है। अन्धकार में मृत्यु थी अब जीवन ही जीवन है। और इतना ही नहीं, परमसूर्य, परमात्म देव तक पहुँचने का पन्था भी अब उन्मुक्त है।

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥

यह नाक लोक है। इसके ऊपर वह द्युलोक चमक रहा है। चैतन्याग्नि पर आरोहण करता हुआ संप्रज्ञात साधक आभ्यन्तरिक यज्ञ-साधना में बढ़ता चला जा रहा है। उसे नभ में ज्योतिष्मान स्वर्ग तक पहुँचाने वाले देवयान पथ के दर्शन हो रहे हैं। संप्रज्ञात समाधि से उद्भूत सिद्धियां उसकी सचिव बन रही हैं।

प्रशान्तवाहिता संस्कारात्'-संस्कार से संस्कृति से परिष्कार से आज साधक के अन्दर प्रशान्तवाहिता उत्पन्न कर दी है। कामेनामनयत्सख्ये — यह सुखमयी अवस्था प्रशान्ति दशा है। द्रष्टा आज अपने स्वरूप में अवस्थित है अथवा उस सर्वद्रष्टा के साथ एक है।

अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्यआ।

हे वृत्रहन्! वृत्रों वारकों विघ्नों व्युत्थान-भूमियों के विनाशक! आज आपने मुझे गिहास कर लिया। आज मैं और तुम संयुक्त हैं एक हैं मूल तक एक हैं।

केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिः अजायथाः।

प्रभो! आपके सायुज्य से यह ज्ञान चेतना रहित आज ज्ञान तथा चेतना से परिपूर्ण हो रहा है। यह असुन्दर आज सुन्दर है। आज उषायें उदय कारक शक्तियां इसे नवीन लोकरूप जन्म दे रही हैं। साधक की अभिलाषा थी —

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते॥

प्रभो! मुझे ऐसे लोकों में ले चलो जहां ज्योति हो सुख हो अमृत तथा

अक्षित अवस्था हो। साधक की यह अभिलाषा पूर्ण हो गई।

सम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि के नाम से भी विख्यात है। इसके ऊपर असंप्रज्ञात अर्थात् अबीज समाधि है। प्रथम में ध्येय का ज्ञान रहता है अथवा ज्ञेय और ज्ञान एक साथ भासित होते हैं। दूसरी में ध्येय या ज्ञेय का भी भान नहीं होता शून्यता जैसी बौद्धों के निर्वाण जैसी परन्तु एक विशुद्ध भावात्मक अवस्था रह जाती है। सांस्कृतिक विकास का यह चरम बिन्दु है।

ट योग और उपनिषद

यदि योग चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा मानसिक मलों को समाप्त कर देता है तो सांस्कृतिक विकास में भी यही कार्य सिद्ध होता है। उपनिषद के ऋषि भी यही कहते हैं। कठोपनिषद के निम्नांकित श्लोक इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं —

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथमर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावद्‌ध्यनुशासनम् ॥ १५ कठ वल्ली ६

शारीरिक चेष्टायें प्रायः इन्द्रियों का खेल हैं और इन्द्रियों की चेष्टायें मन का खेल हैं। जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं जब बुद्धि भी विविध एवं विरुद्ध चेष्टाओं से रहित हो जाती है तब इसे परम गति कहा जाता है।

परमगति ही हम सबका ध्येय या गन्तव्य है। सांस्कृतिक यात्रा का यही अन्तिम पड़ाव है। इस गति में इन्द्रियाँ शुद्ध निर्मल तथा स्थिर हो जाती हैं। इन्द्रियों की यही धारणा योग है। इसी अवस्था में उपासक योग द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करता है और अप्रमाद होकर शुद्ध तथा सत्य गुणों के प्रकाश के साथ अशुद्ध एवं असत्य गुणों को विनाश करने वाला बनता है।

जब सब कामनायें जो इसके हृदय में आश्रय पाती थीं, नष्ट हो जाती हैं तभी साधक मृत्यु के पंजों से छूटकर अमृत बनता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है।

कामनाओं के साथ कुछ ग्रन्थियाँ भी हृदय में पड़ी रहती हैं। जिन कामनाओं को मैं बाहर प्रकट नहीं कर सकता वे भीतर ही भीतर मुझे कुरेदती रहती हैं और मेरे मानसिक क्लेश का कारण बनती हैं। यही ग्रन्थियों का रूप धारण करती हैं। योग द्वारा हृदय की ये ग्रन्थियाँ भी छिन्न–भिन्न हो जाती हैं। तभी मानव मोक्षपद

का अधिकारी बनता है।

मुक्त जीव ब्रह्मलोक अर्थात परमेश्वर को प्राप्त करके समस्त लोक-लोकान्तरों में स्वच्छन्द विहार करता है। उसकी सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। उसकी शक्तियाँ अर्थात मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं। जैसे नाव द्वारा समुद्र को पार किया जाता है वैसे ही मुक्तिमार्गी सब दुखों से पार हो जाता है। संसारी जीव अवतरण की अवस्था में रहते हैं तो मुक्तिमार्गी उत्क्रमण की, ऊर्ध्वारोहण की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। योग और संस्कृति का पथ दोनों ही मानव के शुद्ध स्वरूप के सम्पादक हैं। पाप से पृथक और पुण्य-पथ का पथिक बनकर मानव मोक्षसुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

विकास की यह अवस्था विरजा विक्षेपादि से रहित शुभ्र जन्ममरण से विहीन और ध्रुव कहलाती है। इसी को वेद ने तृतीयधाम (तृतीये धामन्नध्यैरयन्त) कहा है। दिव्य गुणधारी प्रकाशस्वरूप साधक ही इसे प्राप्त कर सकते हैं।

समाधिनिर्धूत मलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेनगृह्यते ।

योग-जन्य समाधि में जब चित्त निर्मल हो जाता है समस्त पाप धुल जाते हैं और वह परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है तब जो सुख मिलता है, उसे वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। वह तो स्वयं अन्तःकरण द्वारा ही ग्रहण किया जाता है।



४ । संस्कृति और चतुर्वर्ग

क, चतुर्वर्ग का महत्व

आर्य—संस्कृति में परिमार्जन बाहर से प्रारम्भ होता है। योग के यम नियम के विभागों का वर्णन करते हुये इसे हम स्पष्ट कर चुके हैं। समाज यदि व्यवस्थित है परिस्थिति निरापद है तो साधक सुगमता से संस्कृति में प्रवेश कर जायगा। यदि समाज अव्यवस्थित हुआ मर्यादा के पालन में व्रत-विरत न हुआ तो साधक को भी अपने पथ में अनेक व्यूहों का सामना करना पड़ेगा। नियमित जीवन व्रत और दीक्षा की अपेक्षा रखता है। व्रती व्यक्तियों का समुदाय ही आर्य समुदाय है। जो व्रत—बाह्य हैं, नियम के विरुद्ध कार्य करने वाले हैं और व्यवस्था को पसन्द नहीं करते उन्हें व्रत—हीन दस्यु के नाम से अभिहित किया गया है। चतुर्वर्ग में धर्म इन्हीं नियमों व्रतों और मर्यादाओं का नाम है।

ख धर्म

मानव—व्यतिरिक्त अन्य प्राणि—वर्ग अपनी जिस स्वाभाविक गति में चलता है उसमें न धर्म का ध्यान है न अधर्म का। धर्म और अधर्म की चर्चा मानव समाज में ही की जाती है और इन दोनों के विवेचन में वही समर्थ भी है। पशुओं और पक्षियों को तो पता ही नहीं कि धर्म क्या है। चेतना के निम्नस्तर नीतिशास्त्र से पृथक हैं। मानव की ऊर्ध्व चेतना ही शुभ और अशुभ में भेद कर सकती है। नीतिशास्त्र सदाचार के नियम इसी हेतु मानव ही के लिये हैं। नीतिशास्त्र धर्म और अधर्म सदाचार और कदाचार, शुभ और अशुभ भद्र और अभद्र के विवेचन से सम्बद्ध है और अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करने वाला है। उसने शुभ को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया है और इस क्रम में मानव के सामने एक आदर्श की स्थापना की है जो समस्त सद्गुणों का आश्रय है। धार्मिक प्राणी इसी को ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म की व्याख्या करते हुये लिखा है—यतो अभ्युदयनि:श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः। जो मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करा दे वही धर्म है। अभ्युदय मानव सभ्यता की प्रगति का द्योतक है जिसमें ऐश्वर्य, काम और यश की प्रधानता है। येन मानव [illegible] ।

अदीन बनाना चाहता है। 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'। हम सौ वर्ष तक जीवित रहें परन्तु दीनता पूर्वक नहीं अदीन होकर। दैन्य मानव को सद्‌गुणों से शून्य कर देता है। दीनता के कारण वह सही मार्ग पर नहीं चल पाता प्रतीप पथ का अनुसरण करने लगता है और परिणामतः पतन के गह्वर गर्त में गिर पड़ता है। अतः दीनता नहीं परतन्त्रता नहीं अपितु अदीनता और स्वतन्त्रता मानव को अभ्युदय पथ पर अग्रसर करती है।

वेद निराशा नहीं आशा का सन्देश देते हैं। आत्मा को सम्बोधन करते हुये निम्नांकित मन्त्र कितने उत्साह और प्रेरणा के साथ मानव को ऊर्ध्वगति की ओर ले जा रहा है—

'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासा अन्तरिक्षम् आपृण। ज्योतिषा दिव मुत्तभान तेजसा दिश उद्दृंह।

मानव तेरी आत्मा गुर्वी है महीयसी है। तू कोमल पर्णों वाला है तेरी उड़ान कितनी शोभा—सम्पन्न है। तू मिट्टी का पुतला नहीं इस पृथिवी पर शासन करने वाला है। तू पार्थिवता अथवा यथार्थवाद की पीठ पर बैठ जा। इसे अपना वाहन बना ले और अपने मानसिक विज्ञान द्वारा अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दे। बाहर का अन्तरिक्ष मानव शरीर के अन्दर अन्तःकरण है। इससे भी ऊपर तुझे उठना है। अन्तःकरण रूपी अन्तरिक्ष के उपरान्त विज्ञानमय कोश का द्यौ लोक आता है। इसे प्रज्ञा के प्रकाश से ओत प्रोत करना है। इसकी ऊर्ध्वगति प्रज्ञा के प्रकाश पर ही अवलम्बित है। इतना ही नहीं तुझे एक कार्य उसके भी आगे सम्पादित करना है। ऊपर कही हुई साधन-सम्पदा तेरा उच्चतम विकास कर देगी पर तेरे चतुर्दिक विद्यमान वायु मण्डल को भी तो ऊर्ध्व गति प्राप्त होनी चाहिए। तेरे प्रभाव से वह भी वञ्चित न रहे। ये दिशायें और उपदिशायें जो निराधार खूँटे की तरह आकाश में खड़ी हैं जिनका एकमात्र सहारा ईश्वर है तेरे तेज द्वारा ऊँची उठनी चाहिए शुद्ध और निर्मल बननी चाहिये। तेरे मन का सौरभ उनको भी प्राप्त हो तभी तू वास्तव में उन्नत कहा जायगा। उठ और दूसरों को उठाने का कारण बन।

मानव को अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट न रहना चाहिए। अपने साथ अन्यों को भी उन्नत करना चाहिए। अभ्युदय एक का नहीं सम्पूर्ण समाज का होना चाहिये। यदि एक उठ गया और अन्य अधोगति में पड़े रहे तो अभ्युदय की सही परिभाषा नहीं बन सकेगी। समाज में यदि एक व्यक्ति धनी अथवा बली अथवा यशस्वी है और अन्य व्यक्ति निर्धन निर्बल एवं निन्दित हैं तो एक व्यक्ति का विकास कोई अर्थ नहीं रखता। यही क्यों वह विकास कर ही नहीं सकेगा। क्योंकि विकास के लिये परिस्थिति की अनुकूलता अपेक्षित है। विपरीत वायुमण्डल में विकास नहीं ह्रास की सम्भावना अधिक है। या तो आप सब को अपने साथ लेकर चलिए अथवा अन्यों का साथ दीजिए तब तो आप समाज के घटक बन सकेंगे अन्यथा नहीं। वेद इसीलिए कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषाम् सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

हे मनुष्यो! तुम सब भाई भाई हो। तुम में न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ। अत मिलकर सौभाग्य-श्री की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो। तुम्हारे पिता महान हैं। वे शोभन-कर्मा अपार पुरुषार्थी रोगापहारक सतत युवा, परम देव परमात्मा हैं और माता सुन्दर दुग्ध-देने वाली सुखदायिनी, फल-फूल-मेवा-अन्न-हीरा रत्न आदि द्वारा पुष्ट करने वाली प्रकृति है। मंत्र में आए हुये भ्रातरो संवावृधु शब्द सम्भूय-समुत्थान का सन्देश देते हैं। अकेले नहीं सब इकट्ठे होकर उन्नति करो और सुख भोगो।

धर्म का आधार नीति शास्त्र है ऐसा हम पहले लिख चुके हैं। पुण्य कर्म धर्म है और अपवित्र अशाभु एवं अश्लील कर्म पाप है। हमें अशुभ का परित्याग करके शुभ की ओर प्रयाण करना है। संसार की सरिता विकट वेग से बह रही है। इसे पार करना है, तो अहित का अमाह का, पाप का इधर ही परित्याग कर देना होगा। यह भार है। इसको सिर पर लादे हुये यदि चलेंगे तो मंझधार में बिना डूबे नहीं रहेंगे। अत इस बोझ को इसी किनारे पर छोड़ दें और सब मिल कर पुरुषार्थ-पूर्वक सरिता को पार कर जावें तो दूसरे किनारे पर शिव ही शिव दिखाई देगा।

वेद में अनेक बार पापों से बचने की प्रार्थनायें आती हैं। यथा—

यद स्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेद ।
पाहि तत स्त्वं न प्रचेत शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु न । अथर्व-७/१०६/१

हे प्रकाश स्वरूप ज्ञात मात्र को जानने वाले प्रकृष्ट ज्ञानी परमात्मन्। जो कुछ हमने भूल से पाप किया है और व्यवहार में त्रुटि की है उससे आप हमारी रक्षा करें। सम्भव है मेरे पाप का प्रभाव मेरे सखाओं पर भी पड़ा हो। उनकी भी आप रक्षा करें जिससे वे मृत्यु से हटकर अमृतत्व को प्राप्त कर सकें।

पाप वस्तुत मृत्यु है। पुण्य धर्म का आचरण ही अमृत है। वेद कहता है—

उत देवा अवहितम् देवा उन्नयथा पुन ।
उतागश्चक्रुषम् देवा देवा जीवयथा पुन ॥ अथ० ४/१३/१

देव पाप ने मुझे नीचे गिरा दिया है। आप पुण्य बल देकर मुझे ऊपर उठा दें। पाप ने मुझे मार डाला है। आप मुझे पुन जीवन दान दें।

पापी प्रारम्भ में तो फलता-फूलता दिखाई देता है परन्तु अन्त में मूल सहित नष्ट हो जाता है। मनु लिखते हैं —

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
तत सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

अधर्म भी भौतिक क्षेत्र में पापी को बढ़ा देता है और वह

मदीन बनाना चाहता है। अदीनाः स्याम शरदः शतम्' । हम सौ वर्ष तक जीवित रहें परन्तु दीनता पूर्वक नहीं अदीन होकर। दैन्य मानव को सद्गुणों से शून्य कर देता है। दीनता के कारण वह सही मार्ग पर नहीं चल पाता प्रतीप पथ का अनुसरण करने लगता है और परिणामतः पतन के गह्वर गर्त में गिर पड़ता है। अतः दीनता नहीं परतन्त्रता नहीं अपितु अदीनता और स्वतन्त्रता मानव को अभ्युदय पथ पर अग्रसर करती है।

वेद निराशा नहीं आशा का सन्देश देते हैं। आत्मा को सम्बोधन करते हुये निम्नांकित मन्त्र कितने उत्साह और प्रेरणा के साथ मानव को ऊर्ध्वगति की ओर ले जा रहा है—

'सुपर्णो' सि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासा अन्तरिक्षम् आपृण। ज्योतिषा दिव मुत्तभान तेजसा दिश उदृंह।

मानव तेरी आत्मा गुर्वी है महीयसी है। तू शोभन पंखों वाला है तेरी उड़ान कितनी शोभा—सम्पन्न है। तू मिट्टी का पुतला नहीं इस पृथिवी पर शासन करने वाला है। तू पार्थिवता अथवा यथार्थवाद की पीठ पर बैठ जा। इसे अपना वाहन बना ले और अपने मानसिक विज्ञान द्वारा अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दे। बाहर का अन्तरिक्ष मानव शरीर के अन्दर अन्तःकरण है। इससे भी ऊपर तुझे उठना है। अन्तःकरण रूपी अन्तरिक्ष के उपरान्त विज्ञानमय कोश का द्यौ लोक आता है। इसे प्रज्ञा के प्रकाश से ओत प्रोत करना है। इसकी ऊर्ध्वगति प्रज्ञा के प्रकाश पर ही अवलम्बित है। इतना ही नहीं तुझ एक कार्य उससे भी आगे सम्पादित करना है। ऊपर कही हुई साधन-सम्पदा तेरा उच्चतम विकास कर देगी पर तेरे चतुर्दिक विद्यमान वायु मण्डल को भी तो ऊर्ध्व गति प्राप्त होनी चाहिए। तेरे प्रभाव से वह भी वञ्चित न रहे। ये दिशायें और उपदिशायें जो निराधार खूँटे की तरह आकाश में खड़ी हैं जिनका एकमात्र सहारा ईश्वर है तेरे तेज द्वारा ऊँची उठनी चाहिए शुद्ध और निर्मल बननी चाहिए। तेरे यश का सौरभ उनको भी प्राप्त हो तभी तू वास्तव में उन्नत कहा जायगा। उठ और दूसरों को उन्नत का कारण बन।

मानव को अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट न रहना चाहिए। अपने साथ अन्यों को भी उन्नत करना चाहिए। अभ्युदय एक का नहीं सम्पूर्ण समाज का होना चाहिये। यदि एक उठ गया और अन्य अधोगति में पड़े रहे तो अभ्युदय की सही परिभाषा नहीं बन सकेगी। समाज में यदि एक व्यक्ति धनी अथवा बली अथवा यशस्वी है और अन्य व्यक्ति निर्धन निर्बल एवं निन्दित हैं तो एक व्यक्ति का विकास कोई अर्थ नहीं रखता। यही क्यों वह विकास कर ही न सकेगा। क्योंकि विकास के लिये परिस्थिति की अनुकूलता अपेक्षित है। विकसित वातावरण में विकास नहीं ह्रास की सम्भावना अधिक है। या तो अन्य सब को अपने साथ लेकर चलिए अथवा अन्यों का साथ दीजिए तब तो आप समाज के अग्र बन सकेंगे अन्यथा नहीं। वेद इसीलिए कहता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषाम् सुदुघा पृश्नि सुदिना मरुद्भ्यः ॥

हे मनुष्यो ! तुम सब भाई भाई हो । तुम में न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ । अत मिलकर सौभाग्य-श्री की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो । तुम्हारे पिता महान हैं । वे शोभन-कर्मा अपार पुरुषार्थी, रोमापहारक सदा युवा परम देव परमात्मा हैं और माता सुन्दर दुग्ध-देने वाली सुखदायिनी, फल-फूल-मेवा-अन्न-हीरा रत्न आदि द्वारा पुष्ट करने वाली प्रकृति है । मंत्र में आए हुये भ्रातरो वावृधु शब्द सम्भूय-समुत्थान का सन्देश देते हैं । अकेले नहीं सब इकट्ठे होकर उन्नति करो और सुख भोगो ।

धर्म का आधार नीति शास्त्र है ऐसा हम पहले लिख चुके हैं । पुण्य कर्म धर्म है और अपवित्र असाधु एवं अश्लील कर्म पाप है । हमें अशुभ का परित्याग करके शुभ की ओर प्रयाण करना है । संसार की सरिता विकट वेग से बह रही है । इसे पार करना है, तो मलिन का अभद्र का पाप का इधर ही परित्याग कर देना होगा । यह भार है । इसको सिर पर लादे हुये यदि चलेंगे, तो मंझधार में बिना डूबे नहीं रहेंगे । अत इस बोझ को इसी किनारे पर छोड़ दें और सब मिल कर पुरुषार्थ-पूर्वक सरिता को पार कर जावें तो दूसरे किनारे पर शिव ही शिव दिखाई देगा ।

वेद में अनेक बार पापों से बचने की प्रार्थनायें आती हैं । यथा—

यद स्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेद ।
पाहि तत त्वं न प्रचेत शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु न । अथर्व-७/१०६/१

हे प्रकाश स्वरूप जात मात्र को जानने वाले प्रकृष्ट ज्ञानी परमात्मन् । जो कुछ हमने भूल से पाप किया है और व्यवहार में भूल की है उससे आप हमारी रक्षा करें । सम्भव है मेरे पाप का प्रभाव मेरे सखाओं पर भी पड़ा हो । उनकी भी आप रक्षा करें जिससे वे मृत्यु से हटकर अमृतत्व को प्राप्त कर सकें ।

पाप वस्तुत मृत्यु है । पुण्य धर्म का आचरण ही अमृत है । वेद कहता है:—

उत देवा अवहितम् देवा उन्नयथा पुन ।
उतागश्चक्रुषम् देवा देवा जीवयथा पुन ॥ अथ० ४/१३/१

देव पाप ने मुझे नीचे गिरा दिया है । आप पुण्य बल देकर मुझे ऊपर उठा दें । पाप ने मुझे मार डाला है । आप मुझे पुन जीवन दान दें ।

पापी आरम्भ में तो फलता-फूलता दिखाई देता है परन्तु अन्त में मूल सहित नष्ट हो जाता है । मनु लिखते हैं—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
तत सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

अधर्म भी लौकिक क्षेत्र में पापी को सुख देता है और वह भद्र के दर्शन भी

करने लगता है शत्रुओं पर विजय भी प्राप्त कर लेता है पर अन्त में तो उसके लिये विनाश ही विनाश है। इसलिए मनु ने आज्ञा दी है—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।

धर्म पर चलते हुये यदि कष्ट भी भोगने पड़ें तो भी मन को अधर्म की ओर न जाने दें क्योंकि अधर्म की सन्तति बांस में निकले हुये मद्गों की भांति है जो सूख कर गिर जाते हैं। पाप की प्रवृत्ति रखने वाले अन्त में असफल ही रहते हैं। समृद्धि उनके भाग्य में नहीं है। वेद कहता है—

यमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।

अश्मान स्तस्यां दग्धायां बहुला फट्करिक्रति॥

—अथर्व ४।१८।३

जो व्यक्ति समाज की आंखों में धूल झोंक कर घर में बैठा हुआ चुपचाप पाप किया करता है और उसके द्वारा किसी अन्य की हत्या करना चाहता है वह नहीं जानता कि वह अपनी शक्ति को नष्ट कर रहा है। जब यह शक्ति नहीं रहेगी तो विविध प्रकार के क्लेश रूपी पत्थर फट् फट् करते हुए उसके सिर पर गिरेंगे।

पाप क्या है इसे निम्नांकित पंक्ति प्रकट करती है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जो वस्तु अपने प्रतिकूल पड़ती है उसका आचरण दूसरे के लिये न करे। पाप से दर्शन तथा प्रेरणा की शक्तियाँ मर जाती हैं। पवित्र व्यक्ति की दर्शन-शक्ति कुण्ठित नहीं होती और वह निरन्तर पवित्र प्रेरणाओं से शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त होता रहता है। वेद कहता है—

उभाभ्याम् देव सवितः पवित्रेण सवेन च।

मस्मान् पुनीहि चक्षसे। यजु० १९/१९/३

सबका उत्पादक एवं प्रेरक देव मुझे पवित्र प्रेरणा देकर और पवित्र दर्शन देकर पवित्र करे। जीवन पुरुषार्थ बल प्राणवत्ता और वरिष्ट अथवा आरोग्य के विस्तार के लिए पवमान प्रभु मुझे पवित्र करे। सामान्य अवस्था में मानव पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता और यदि होता भी है तो भय शंका लज्जा उसके सामने आ उपस्थित होते हैं और उसे पाप करने से बचा लेते हैं। यदि मानव ने इनकी उपेक्षा कर के पाप की ओर पैर बढ़ा दिये तो फिर पाप उसे ऐसा जकड़ कर पकड़ लेते हैं कि वह सहसा मुक्त नहीं हो पाता। पाप उसे छोड़ता नहीं और यदि वह भी उसे न छोड़े तो जीवन में पाप का साम्राज्य छा जायगा। वेद की आज्ञा है—

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।

पथामनुव्यावर्तनेऽन्यंपाप्मानुपद्यताम्॥ अथर्व ६।२६।२

यदि पाप आपको नहीं छोड़ता है तो आप पाप को छोड़ने के लिये सन्नद्ध हो जाइये। आपकी कटिबद्धता और आपका उत्साह वाना ही पाप के आवरण को झाड़ डालेंगे। पाप पाप में सम्मिलित हो जायगा और आप निष्पाप हो जायेंगे।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥ यजु० २०। १० ॥

जैसे काठ में बंधा हुआ व्यक्ति छूटने पर आनन्द का अनुभव करता है अथवा जैसे स्नान करके मनुष्य निर्मल हो जाता है अथवा जैसे पसीने द्वारा मल बाहर निकल जाता है वैसे ही भगवान मेरे पाप को दूर कर दें और आनन्द दें।

पाप अनजान में तो होता ही है, जानबूझ कर भी किया जाता है। वेद कहता है —

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मात् मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः ॥

हे देवताओ तुम सब आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हो। ऐसी कृपा करो कि जो पाप हमने सज्ञान अथवा अज्ञान अवस्था में किये हैं उनसे हम मुक्त हो सकें।

अज्ञान असत् है, अनृत है। उससे चिपटना अपने को अनृत बनाना है। अनृत में बल नहीं होता उसे शीघ्र ही दबाया जा सकता है। पापी की आत्मा निर्बल हो जाती है और इसी लिए उसका पराभव भी होता है। इसके विपरीत—"ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः।" ऋत की रक्षा करने वाला सत्य का परिपालन करने वाला सुकृत अर्थात् पुण्यवान होता है। उसे कोई दबा नहीं सकता। पुण्यात्मा का तेज उसे इतना निर्भय बना देता है कि वह जहाँ भी जाता है विजयी बनता है। उसका अभिभव किसी के द्वारा नहीं हो सकता। पुण्यवान व्यक्ति ही यशस्वी होते हैं। अपने पवित्र कृत्यों के कारण वे मनुष्यों में मूर्धन्य बन जाते हैं। उन्हें किसी से द्रोह करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। व व्रतों की रक्षा करते हैं, नियम और मर्यादा में बँध कर चलते हैं और इसी लिये अदम्य होते हैं।

मानव योनि में जन्म लेने से कर्तव्य-पालन का एक महान उत्तरदायित्व हम सब के ऊपर आ जाता है। इस उत्तरदायित्व में दुश्चरित से दूर रहना है और सुच रित का सेवन करना है —

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषा उदस्थाय अमृताँ अनु ॥

हे प्रभो ! आप प्रकाश स्वरूप हैं। मुझे दुश्चरित से सभी प्रकार से हटा कर अच्छे आचरण में लगा दो। मैं अच्छी आयु भोगूँ पवित्र जीवन व्यतीत करूं [illegible]म अमृत स्वरूप दिव्य शक्तियों के अनुकूल चल कर ऊंचा उठ जाऊं। अहि [illegible]रण विषाक्त दंशन के लिये प्रसिद्ध है। दुराचारी का जीवन भी ऐसा ही विषाक्त [illegible]मीपी है। विष से सर्वथा बच कर चलना चाहिये। दुष्टों की संगति दुष्टता की [illegible] जायगी। विषाक्त प्रतिक्रिया का मन्मार्ग मन को निर्बल बना देगा। यह [illegible]पनी को

पति से संयुक्त करने वाले हैं। इस रूप में दोनों का सम्बन्ध अतीव पुनीत रूप धारण कर लेता है। पति और पत्नी मूलतः ऋत और सत्य के ही प्रतिरूप हैं। एक को द्यावा तो दूसरे को पृथिवी एक को ऋक् तो दूसरे को साम भी कहा गया है। दोनों का मिथुनीभाव अथवा युग-सम्प्रकता गृहस्थ की इकाई कहलाता है। इस एकत्व में आर्य संस्कृति का विशिष्ट लक्ष्य सन्निहित है।

परिवार में बच्चे भी होते हैं जो भाई और बहिन दो रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि भाई और भाई इकट्ठे होकर खेलते हैं और बहिनें अपनी पृथक क्रीड़ा-स्थली बनाती हैं। वेद कहता है —

भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे और सभी परस्पर प्रेम पूर्वक घर में निवास करें। संयुक्त परिवार में भाई और भाई मिलकर रहते हैं। जब उनके अपने परिवार कुछ काल के उपरान्त बनते हैं, तब भी संयुक्त परिवार के प्रभाव से वे पृथक पृथक नहीं रह पाते। कम से कम माता-पिता के जीवित रहने की अवधि तक तो वे साथ ही साथ रहते हैं। अपवाद हो सकते हैं और हैं भी फिर भी संयुक्त परिवार की अपनी पृथक विशेषताएं और उत्तर-दायित्व हैं। यह अवस्था बहिनों की नहीं होती। उन्हें माता पिता एवं बन्धुओं के परिवार को विवश होकर छोड़ना पड़ता है और अपना पृथक परिवार बसाना पड़ता है। अतः जब तक वे इस परिवार में हैं तब तक माता पिता और बन्धु सभी का स्नेह उन्हें प्राप्त होना चाहिए। आर्य-परिवार-योजना ने पुत्री के पृथक परिवार-निर्माण को भी स्नेह से वंचित नहीं किया। उसका कुछ न कुछ प्राप्य भाग प्रथम परिवार के साथ बंधा हुआ रहता है और वह उसे जीवन पर्यन्त प्राप्त होता रहता है। हमारे विधि-विधानों में पुत्री के पुत्र को नाना की सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है और वह नाना का श्राद्ध भी करता है। इस प्रकार भाई और बहिन का सम्बन्ध क्षणिक नहीं किन्तु लम्बे काल तक चलता है और दोनों को पारस्परिक प्रेम में आबद्ध रखता है। परिवार में इन सब को मिलकर रहना पड़ता है। यह तभी संभव है जब सबके व्रत समान हों और जो कुछ वाणी द्वारा उच्चरित हो वह भद्र अर्थात् कल्याण का सम्पादक हो। वाणी ही समस्त व्यवहार की साधिका है। अतः उसके प्रयोग में सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

परिवार सम्पूर्ण समाज की आधारशिला है। जो कौटुम्बिकता एक घर में दिखाई देती है वही यदि समाज में दिखाई देने लगे तो विश्व-कल्याण की घड़ियां निकट आ सकती हैं। रूस ने इस युग में जिस कम्यूनिज्म अथवा कौटुम्बिकता का उद्घोष किया है वह हमारी दृष्टि में वैदिक संस्कृति का ही उद्घोष है। कम्यूनिज्म की सिद्धि के लिए रूस ने जिन साधनों का अवलम्बन लिया वे आर्य संस्कृति में मान्य नहीं हैं। हमने वर्ग-संघर्ष का नहीं वर्ग-मैत्री का मंत्र फूंका है पारस्परिक द्वेष का नहीं अन्योन्य प्रेम का सन्देश दिया है। वेद कहता है —

सबका हृदय अर्थात् भाव समान हो सबका मन अर्थात् विचार समान हों सभी

किसी से द्वेष न करे। जैसे गौ सद्य जात बछड़े के साथ व्यवहार करती है उसी प्रकार हम सब एक दूसरे के साथ व्यवहार करें। वेद का यह पवित्र सन्देश मानव मात्र के लिए है। देश और काल के व्यवधान इस सन्देश की अमरता के समक्ष प्रत्यूह बन कर खड़े नहीं हो सकते।

चाहे रूस हो और चाहे अमेरिका चाहे चीन हो और चाहे भारत सबका कल्याण इसी पुनीत कौटुम्बिक विचार धारा के अपनाने में है। यही आर्य जीवन है।

छीना-झपटी लूट-खसोट अत्याचार, बलात्कार आर्य नहीं दस्यु के जीवन की गर्हित विशेषताएँ हैं। हमें दस्यु नहीं, आर्य बनना है अव्रती नहीं, व्रती बनना है। भारतवर्ष की ग्राम संस्था यूरोपीय प्रभाव से पूर्व इसी पावन पारिवारिकता और धार्मिक के वैदिक आदर्शों से अनुप्राणित थी। हम कोरे कथन तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्युत अपने आदर्शों को आचरणों में परिणत किया करते थे। हमारे इस कौटुम्बिकतावाद को यूरोपीय सभ्यता ने बड़ी भारी ठेस पहुँचाई है और हमारी संस्कृति के इस मेरुदण्ड को कुचलनेमें सहायक पापी का कार्य किया है। जो संस्कृति हरियाली खेती के रूप में फल-फूल रही थी उस पर अपने वादों का करका-पात तथा वज्र प्रहार करके उसे विध्वंस के समीप पहुँचा दिया है। प्रश्न हो सकता है कि हमने यूरोपीय वादों को स्वीकार ही क्यों किया? उनकी विचारधारा से हम क्यों प्रभावित हुये? इसमें से कुछ महानुभाव उत्तर देंगे— पराधीनता के कारण क्योंकि बन्धु तव स्वातन्त्र्य में है पारतन्त्र्य में नहीं।" परन्तु प्रश्न फिर उत्पन्न होता है कि हम परतन्त्र हुए ही क्यों? उत्तर इतिहास के पृष्ठों में मिलेगा। हमारी उदारता, हृदय की विशालता असंस्कृत एवं अशिष्ट विजातियों को प्रश्रय देती रही। जब तक हमारा प्राधान्य रहा हम उनके दस्यु अंशों को पराभूत करते रहे पर जब उनका दस्यु अंश बढ़ गया और हमारे कुछ अंश से कुल्हाड़ी के लिए बेंट का काम लेने लगा तो हम परतन्त्र हो गये। फिर भी हमने अपने को सम्हालने का प्रयत्न किया और कतिपय वर्गों में विभक्त होकर अपने सांस्कृतिक ढांचे को सुरक्षित रखने के लिए प्राण-पण से चेष्टा की। अत्याचारी दस्यु के सामने झुकना हमने कभी सीखा ही नहीं। दस्युओं का बल बढ़ा, उनके बल का हमने अपने बल से सामुख्य किया, पर यूरोपीय चकाचौंध के वादों और विचारों की अप्रत्यक्ष मार के सामने हम न जाने कैसे दब गये। दब तो गये हैं, परन्तु बीज अभी बचा है और ईश्वर की कृपा है कि उसे बलिदानी रक्त का खाद भी मिल रहा है जो अवसर पाते ही दुर्गति के दल-दल से निकल कर फिर प्रफुल्ल वृक्ष के रूप में खड़ा हो जायगा। विश्व को उसकी आवश्यकता है।

अभी हम जिस कुटुम्बवाद की चर्चा कर रहे थे, वह भारतीय ग्रामों में अपने सहज रूप में प्रचलित था। कुटुम्बवाद के साथ सहकार की भावना भी संपन्न रहती है। हमारी वर्ण-व्यवस्था सामाजिक सहकार का सर्वोत्तम उदाहरण है। वर्णों के जो कर्तव्य निश्चित किये गये, उनमें भी विभाजन द्वारा सहकार की भावना को

किया गया है । यज्ञ की प्रणाली में चारों ऋत्विजों का कार्य सहकार भाव को ही प्रकट करता है । ग्रामों में सहकार का भाव कई रूपों में प्रचलित रहा है । यदि किसी किसान के पास खेत है, और उसकी जोठ आ गयी है तो भूमि को जोतने के लिये अन्य कृषक अपने हल-बैल लेकर आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता किया करते थे । किसी का छप्पर छाना है या उठाना है तब भी सहकार का भाव क्रिया शील रहता था । विवाह के समय इसका और भी उदात्त रूप दिखायी देता था । घर-घर में पांच-पांच दस-दस सेर गेंहू पिसने के लिये रख दिया जाता था और वे घर कई मन आटा पीस कर लड़की के विवाह में अपना योगदान देते थे । दूध दही या मट्ठे के लिये भी घर-घर घड़े रख दिये जाते थे । प्राय सभी घरों में गायें और भैंसें रहती थीं । इस प्रकार विवाह करने वाले का भार बट जाता था । रुपया भी कार्यसाधन के लिये व्यवहार में आ जाता था । इस सहकार के मूल में मानवता का नाता था और पवित्र कुटुम्बवाद का आधार था । रूस ने सहकार की जिस पद्धति को ग्रहण किया है, उसमें मानवता का नाता नहीं राजनीति की प्रधानता है और इसीलिये वह विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका । रूस हो अथवा चीन मानव सर्वत्र मानव है । वह प्रेम का भूखा है । आप उससे बलात् कार्य लेगें तो वह ऊपरी मन से भले ही उसे कर दे उसका अन्तर मन तो कार्य के साथ नहीं रहेगा । मन को रमाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक यह है कि वह जिस कार्य म हाथ लगा रहा है उसे अपना ही कार्य समझे । फिर मन लगाने के लिये इस के अतिरिक्त मानवता का उच्च लक्ष्य भी उसके सम्मुख प्रस्तुत रहना चाहिये । इन दोनों के अभाव में आज जो सहकार चल रहा है और जिस पर विपुल मुद्रा व्यय की जाती है वह अभिलषित परिणाम को प्राप्त कराने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है । हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपनी समय सिद्ध उपयोगी पद्धतियों का परित्याग करते जाते हैं और नवीन अनुपयोगी पद्धतियों को अपनाने पर उतारू हैं । इससे प्राचीनता का मोह तो छूट ही रहा है नवीन का स्वागत भी हमें असफलताओं की ओर धकेल रहा है । सम्मुख प्रस्तुत पवित्र भोजन का परित्याग किया जा रहा है और उसके स्थान पर विदेशी विचार और आचारों का उच्छिष्ट आस्वादनीय बन रहा है । हम नवीन का तिरस्कार नहीं करते, पर जो हमारे लिये हानिकारक सिद्ध हो रहा है उसे स्वीकार करने के लिये भी हमारी वाणी अग्रसर नहीं हो सकती । 'हर एक चमकते हुये पदार्थ को हमें स्वर्ण नहीं मान लेना चाहिये ।'

जो स्थिति परिवार की है, वही समाज की है । वैदिक संस्कृति जिस सुदृढ़ आधार को लेकर चली है वह विश्व की व्यापक व्यवस्था और शाश्वत नियमों पर अवलम्बित है । जो कुटुम्बवाद और सहकार की भावना परिवार तथा समाज के लिये अपेक्षित है वही समग्र विश्व की एकता के लिये भी आवश्यक है । पारिवारिक धर्म ही समाज और विश्व रूपी बृहद परिवार के लिये उपयुक्त समझे गये हैं । वेद कहता है —

१ ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्त ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोमि ॥

२ समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
३ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि एक श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

प्रभु का मानव मात्र के लिये आदेश है कि तुम क्षुद्रता से पृथक रह कर महान बनो और महान पुरुषों का सम्मान करो। तुम्हारी आयु दीर्घ हो तुम ज्ञान-विज्ञान में ऊँचे उठो और कभी भी भेद भाव को प्रश्रय न दो। मिल कर कार्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करो। एक लक्ष्य रूपी धुरे के नीचे समवेत होकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ो। परस्पर मीठी वाणी बोलते हुये जीवन-यात्रा में बढ़े चलो। मैं तुम्हें समान मन और समान धारणा शक्ति से सम्पन्न करता हूं।

तुम सबकी प्याऊ एक हो। सबकी भोजनशाला समान हो। तुम सबको एक साथ एक ही जुए में संलग्न (संयुक्त) करता हूँ। जैसे नाभि के चारों ओर अरे लगे रहते हैं वैसे ही तुम सब प्रकाश-स्वरूप प्रभु को केन्द्र बनाकर उपासना में जुट जाओ।

समान धारणा शक्ति वाले तथा समान विचार वाले बन कर तुम सब सेवा-भावना से समान ध्येय की पूर्ति में कटिबद्ध हो जाओ। जैसे देव अमृत की रक्षा करते हैं और सायं प्रात प्रसन्न-मन रहते हैं वैसे ही तुम भी अनित्य का निरादर तथा नित्य का सम्मान करते हुये प्रतिदिन आह्लादित रहो।

ऊपर उद्धृत मंत्रों में जिस जीवन चर्या का उपदेश दिया गया है उसमें द्रोह तथा विरोध से पृथक रह कर मानव मात्र को प्रेम पूर्वक जीवन व्यतीत करना है। सबको एक दूसरे के साथ सौहार्द-पूर्वक रहना है। सबके सामने एक ही लक्ष्य है–आनन्द की प्राप्ति। इसके लिये सबको मिलकर प्रयत्न करना है। हम सब एक ही परम पिता परमात्मा की सन्तान हैं। अतः उसके अतिरिक्त हमें अन्य किसी की भी उपासना नहीं करनी है। एक साथ एक स्वर से एक मन से उसी की आराधना में लीन रहना है। जब सब एक ही पिता की सन्तान हैं तो सबको समान बन्धुता के सूत्र में आबद्ध होकर सौभाग्य एवं समृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिए। हम अमृत पुत्र हैं। अपने इस अमर तत्त्व को हमें किसी भी अवस्था में विस्मृत नहीं करना है। विपत्तियों से डट कर जूझना और आनन्द का उपभोग करना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। आर्य को दास्य भाव का तिरस्कार करते हुये स्वतंत्र चेता बनना है। स्वतंत्रता विषय-वासनाओं के स्वच्छन्द उपभोग में नहीं है। इन्द्रियों के वशीभूत हो जाना तो अपने को परतन्त्र कर देना है। स्वतंत्रता में अपना तन्त्र है अपना विधान है। आत्मनियंत्रण ही स्वतन्त्र अर्थात् अपना राज्य है। जहाँ आत्मा दूसरों के तन्त्र को स्वीकार करती है, वहीं वह स्वायत्त शासन से हाथ धो बैठती है। आर्य को इसी आत्म-रति में आत्म-क्रीड़ा में आत्म-साम्राज्य में विचरण करना है। इसी में उसका अमरत्व निहित है। यही स्वतन्त्र स्वस्तिमयी तथा आनन्दमयी अवस्था का द्योतक है। हमारा धर्म इसी अमरत्व की अनुभूति करना है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में भी आर्य

संस्कृति के इसी उदात्त भाव को अभिव्यक्त किया गया है।

मानव जीवन का महत्व धर्म के ही कारण है। आहार निद्रा भय और मैथुन आसुर प्रवृत्तियाँ हैं, जो मानव में भी विद्यमान हैं। मानव इस पशुत्व से ऊपर धर्म साधन के द्वारा ही उठ पाता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के तुल्य है। मनुष्य की परलोक-यात्रा के समय धन भूमि में गड़ा अथवा बैंकों में पड़ा रह जाता है, पशु गोष्ठों की शोभा बढ़ाते रहते हैं स्त्री भी घर के द्वार तक ही साथ देती है कुटुम्बी तथा अन्य जन श्मशान भूमि तक ही साथ जाते हैं केवल धर्म ही ऐसा है जो जीव के साथ परलोक तक जाता है। यह धर्म ही जीवात्मा को धारण करने वाला है।

धर्म की पहिचान मनु के शब्दों में सर्व प्रथम आत्मप्रियता से होती है। जो वस्तु आत्मा को प्रिय है वही उसे धारण भी करती है। स्वभावतः आत्मा सद्गुण और सत्कर्म की ही ओर आकृष्ट होती है। दुर्गुण दुरित अथवा दुष्कर्म की ओर जाने में उसे हिचकिचाहट होती है प्रवृत्त हो जाने पर भले ही उसे दुराचार अपनी ओर खींचे। जब इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो और आत्म प्रियत्व धर्म के निर्णय में बाधक बने तब मनु ने सत्पुरुषों के आचार को ग्रहण करने की आज्ञा दी है। हमारे अपने निर्णय की असफलता में महापुरुषों का आचरण ही अनुकरणीय है और वही सत्पथ का प्रवर्तक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् भी इस सिद्धान्त का समर्थन निम्नांकित शब्दों में करती है—
यदि ते कर्मविचिकित्सा वावृत्तविचिकित्सा वास्यात, ये तत्र ब्राह्मणा।
सम्मर्शिनोयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा स्यु यथाते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः॥

जब कर्म अथवा वृत्त के सम्बन्ध में सन्देह हो तब धर्मात्मा प्रेमी तथा विचारशील ब्राह्मणों के व्यवहार को देखना चाहिये। वे जैसा आचरण करते हों वैसा ही हमें भी करना चाहिये।

मनु ने इसके आगे दो आदर्श-विधायक साधन और भी लिखे हैं। यदि एक ही विषय पर दो महापुरुष दो प्रकार का आचरण करते दिखाई दें तब किसके आचार को ग्रहण करना समीचीन होगा? मनु के अनुसार इस विषय पर स्मृतियों का मत माननीय समझा जाना चाहिये। पर स्मृति से भी ऊपर श्रुति का स्थान है। स्मृतियाँ देश-काल को दृष्टि में रखकर लिखी गयी हैं। सम्भव है उनमें त्रिकालाबाधित सत्य का प्रतिपादन न हो। परन्तु श्रुति तो देश-काल से ऊपर शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करती है और धर्म के विषय में अन्तिम प्रमाण वही है। "वेदोऽखिलो धर्म मूलम" तथा "श्रुतिरेव गरीयसी" आदि वाक्य इसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं। मनु ने वेद को सर्वोपरि स्थान दिया है। वह स्वतः प्रमाण है। अन्य स्मृतियाँ धर्म शास्त्रादि परतः प्रमाण हैं। यदि वे वेद का अनुसरण करते हैं तो प्रामाणिक हैं, अन्यथा नहीं।

वेद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग एक वचन तथा बहुवचन दोनों ही रूपों में हुआ

है। उपनिषदों ने भी वेद का ही अनुसरण किया है। 'अतो धर्माणि धारयन'' तथा ''तानि धर्माणि प्रथमान्यासन ' आदि श्रुति वाक्यों में धर्म का बहुवचनीय प्रयोग है। परन्तु 'धर्मेणा भृतम ' तथा ''सत्य धर्माय दृष्टये' पदों में धर्म का एक वचनीय प्रयोग है। इन प्रमाणों से कर्तव्य के नाना रूपों का ही अभिव्यंजन होता है। मनु ने धर्म के जो दस लक्षण किये हैं वे भी कर्तव्य-परायणता के ही विभिन्न रूप हैं। मनु ने यह भी लिखा है कि जो व्यक्ति अर्थ और काम में अनासक्त हैं धर्म का ज्ञान उन्हीं को होता है। यहाँ धर्म से तात्पर्य उस कर्तव्य-शासन से है जो मानव को प्रवृत्ति से हटाकर निवृत्ति की ओर ले जाता है। धर्म प्रवृत्ति-मूलक भी है और निवृत्ति मूलक भी। जो धर्म प्रवृत्ति-मूलक है उससे अभ्युदय का सम्पादन होता है और जो निवृत्ति मूलक है, वह निःश्रेयस की ओर ले जाता है। अर्थ का अर्जन और काम की तृप्ति दोनों के दो रूप हैं। एक रूप में वे त्याज्य हैं और दूसरे रूप में ग्राह्य। जब अर्थ और काम वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में पतन का हेतु बनते हैं, तब वे त्याज्य हैं। परन्तु जब वे उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन बनते हैं तब ग्राह्य है। चतुर्वर्ग में इनके ग्राह्य रूप को ही स्वीकार किया गया है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण इस प्रकार हैं —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम धर्म लक्षणम ॥

धृति

धृति मन की एक वृत्ति है जिसे धैर्य कहते हैं। जिसके अन्दर यह वृत्ति है वह धीर कहलाता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है— विकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। विकार-हेतु विद्यमान हों फिर भी जिन पुरुषों के चित्त विकृत न हों वही धीर हैं। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में मन का लक्षण करते हुये कहा गया है यद् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च। मन में प्रज्ञान चेतना तथा धृति का निवास है। अतः धैर्य बाहर नहीं मन में है। अन्तस्तल में निहित धृति ही समरांगण में सामाजिक संघर्ष में विद्या एवं धन की प्राप्ति में सहायक बनती है। धृति के बलपर शरीर से निर्बल व्यक्ति भी बड़े से बड़ा कार्य कर जाते हैं। आपदाओं के सिन्धु को धृति रूपी नौका ही पार कराती है। धृति धर्म का प्रथम लक्षण है।

क्षमा

क्षमा भी मन की वृत्ति है। जब हम किसी कलुषित कार्य के वशीभूत होकर पाप-भाजन बनते हैं और परिणामतः दुखी होते हैं, तब प्रभु की क्षमा पर ही हमारी दृष्टि जाती है। हम अनुभव करते हैं कि यदि प्रभु ने हमें क्षमा कर दिया तो हम दुख के दल-दल से निकल सकेंगे। एक ऐसा ही व्याकुल भक्त प्रभु से प्रार्थना करता है —

यस्य ते ष मृडयाकुर्हस्तो योऽस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैवस्य अभीनुमा वृषभ क्षमीथा ॥

हे रोगों के निवारक देव ! तुम्हारा वह सुखद हस्त कहां है, जिसमें शीतलता-प्रदायिनी ओषधि निवास करती है और जो देव-सम्बन्धी पापों को विनष्ट करने वाला है। देव ! मुझसे गर्हित पाप हुआ है। मैं करबद्ध आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे क्षमा प्रदान करें। आप वृषभ हैं साधक की प्रार्थनाओं को पूरा करने वाले हैं। मेरे ऊपर भी आपकी कृपा का वरद हस्त छा जावे और मेरी कामना पूर्ण हो।

क्षमा वही दे सकता है जो क्षम है समर्थ है बलवान है। अक्षम एवं असमर्थ व्यक्ति की क्षमा कोई अर्थ नहीं रखती। क्षमा में इसीलिये क्षमता तथा अनुग्रह दोनों सम्मिलित हैं। प्रभु से बढ़कर बलवान यहां कोई भी नहीं है। वेद में उसे सह इसी आधार पर कहा गया है। इस शब्द में सहन शक्ति तथा बल दोनों विद्यमान हैं। हमें भी क्षमाशील बनने के लिये शक्तिशाली बनना चाहिये। जितनी ही सहन-शक्ति हमारे मन्दर होगी क्षमा का महत्व भी उसी मात्रा में चरितार्थ होगा।

दम

प्रभु ने मुझे शरीर दिया है कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के साथ अन्तःकरण चतुष्टय दिया है। यह सब प्रभु की दी हुई सम्पदा है जिसका मैं स्वामी बनाया गया हूं। जब तक मैं इसका स्वामी हूं तब तक ये मेरे वशवर्ती अनुचर हैं। यदि अनुचर स्वामी और स्वामी अनुचर बन जाय तो यह शरीर रूपी साम्राज्य अस्त व्यस्त हो जायगा। वेद मे इसीलिये आत्मा को गोपति कहा है— गोपतिं गिरा इन्द्रं अर्च यथाविदे। अथवा वयं गोपतिः स्याम। आत्मा गो अर्थात् इन्द्रियों का जिनमें मन भी सम्मिलित है पति या स्वामी तभी कहा जायगा जब उसका पूरा नियन्त्रण इन पर हो। दम दमन है, जिसका अर्थ है स्व-शासित्व। दम से तात्पर्य प्रायः मन के दमन से लिया जाता है क्योंकि मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। यदि मन की प्रवृत्तियां नियंत्रित रहीं और आत्मा के अनुकूल चलती रहीं तो जीव मोक्ष की ओर सुगमता से गतिशील हो सकेगा। उच्छृंखल मन बन्ध का कारण है। वेद कहता है— योऽस्मिं तन्वो धर्मे देवमृतः सपर्यति। तस्मा इद्दिवयद् वसु। जो साधक मन को वशीभूत करके प्रभु की उपासना में निरत होता है उसके समक्ष सात्त्विकी शक्तियां प्रदीप्त हो उठती हैं। वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रत। प्रजावन्तः सचेमहि —हे सोम शरीरों के अन्दर रहते हुये यदि हमने अपने मन को तुम्हारे व्रत में लगा दिया अर्थात् मन तुम्हारे नियमों के अनुकूल चलने लगा तो उसकी सन्तति निश्चित रूप से कल्याणकारिणी होगी। इसी आधार पर वेद के कई मंत्रों में मन को दिव्य तथा पवित्र बनाने के आदेश मिलते हैं। दैवी मन ही पवित्र मोक्ष का साधन है।

कतिपय विद्वानों ने इन्द्रियजय को दम कहा है, परन्तु मनु ने अपने दस लक्षणों में इन्द्रिय निग्रह को दम से पृथक स्थान दिया है। अतः हमने दम का अर्थ मन का निग्रह लिया है।

अस्तेय

किसी के स्वत्व अथवा अधिकार का बलात् अपहरण स्तेय अथवा चोरी कहलाता है। कमावे कोई और खावे दूसरा परिश्रम किसी का और अधिकार तथा भोग दूसरे का इसी का नाम चोरी है। ऐसा करने में चोर छल धोखा आदि अनेक उपायों का आश्रय लेता है और दूसरे की वस्तु को अपनी बना लेता है। यह चोर सामाजिक पाप है। वेद कहता है — मा व स्तेन ईशत–चोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे क्योंकि वह अघशंस अर्थात पापी है या पाप का प्रशंसक है। यदि शासक पापी है और चोर है, तो प्रजा भी उसी के रंग में रंग जायगी और मात्स्य न्याय के आधार पर सभी एक दूसरे के विध्वंसक बन बैठेंगे। वेद माता के शब्दों में— यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने योऽश्वानाम् यो गवां यस्तनूनां रिपुः स्तेन स्तेय कृद्दभ्रमेतु नीय हीयतां तन्वा तनाच। जो हमें अन्न, रस, अश्व, गौ आदि के सम्बन्ध में बाधा देता है वह चोरी करने वाला चोर समाज का शत्रु है। वह नीचता को प्राप्त हो और वह स्वयं तथा उसकी सन्तान विशेष हीनता को प्राप्त हो। प्रतिशुष्यतु यशोऽस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्। जो हमें दिन या रात्रि में धोखा देता है उसका यश पूरी तरह सूख जावे। सात मर्यादाओं में एक मर्यादा अस्तेय अर्थात चोरी न करने की है। मर्यादा का पालन समाज की रक्षा करता है। मर्यादा के उल्लंघन से समाज नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में अस्तेय की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है कि अस्तेय की प्रतिष्ठा में सब रत्नों का उपस्थान हो जाता है।

शौच

शौच शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार का है। शरीर की पवित्रता व्यायाम तथा स्नान से सम्पादित होती है। मन की पवित्रता निर्मल विचार, स्वाध्याय, सत्संग आदि द्वारा सिद्ध होती है। मनु ने मनः सत्येन शुध्यति लिखकर सत्य को साधन माना है और सब प्रकार की शुद्धियों में अर्थ–शुद्धि को सर्वोच्च स्थान दिया है। जो धन न्यायपूर्वक अपने परिश्रम से कमाया गया है, उसी का हमें उपभोग करना चाहिए। अन्याय से अर्जित धन मन में विकार उत्पन्न करता है और परिणामतः विनाश का कारण बनता है। वेद कहता है— पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः। सखित्वमा वृणीमहे।

जिसने प्रभु के सखा भाव का वरण कर लिया वह पवित्र हो गया। उसके शुद्ध अन्तःकरण को पवित्र प्रभु अपनी पावन ऊर्मियों से, भक्ति रस से आर्द्र कर देते हैं।

इन्द्रिय-निग्रह

जब हम संस्कृति शब्द पर ध्यान देते हैं तब इन्द्रिय निग्रह का स्वरूप स्पष्टतया सम्मुख खड़ा हो जाता है जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया उसे हमारे पूर्वजों ने संस्कृत भी नहीं समझा। इन्द्रिय-दोष निश्चित रूप से मानव को संस्कृत नहीं रहने देते। यदि मैं आंखों को अश्लील तथा कुत्सित दृश्यों की ओर जाने से नहीं रोक सकता यदि मैं कानों को गर्हित शब्द सुनने से हटा नहीं सकता यदि मैं ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करता हूं, यदि मैं धर्माचरण के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाता तो संस्कृत जीवन मुझसे कोसों दूर रहेगा। मनु ने एक इन्द्रिय के भी स्खलन को प्रज्ञा का विनाशक कहा है और लिखा है कि जैसे सारथी अश्वों को अपने वश में रखकर ही गन्तव्य तक पहुँच पाता है उसी प्रकार यत्नपूर्वक इन्द्रियों का संयम करने से मनुष्य संस्कृत बन पाता है। इन्द्रियां बड़ी बलवती हैं। ये बल पूर्वक मन को भी विषयों की ओर खींच ले जाती हैं। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इन्द्रियों को अपने वश में रखें।

आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम को सबका आधारभूत होने के कारण विशेष महत्व प्राप्त है। इस आश्रम में प्रविष्ट हुआ बालक यज्ञोपवीत के साथ मेखला को भी कटि में बांधता है। वेद कहता है — "श्रमेण ब्रह्मणा तपसा श्रमेण जनया एनं मेखलया सिनामि।

मेखला ब्रह्मचारी के लिये ज्ञान तप और श्रम की द्योतक है। जो व्यक्ति निरन्तर स्वाध्याय शील बनकर तपश्चर्या में मग्न होता है और श्रम करता रहता है, उसकी इन्द्रियां निगृहीत होकर कल्याण-पथ पर चलती हैं। ऐसा ही व्यक्ति काम सेना पर विजयी होकर प्रभु का आज्ञापालक बनता है और अपने जीवन को धन्य कर जाता है।

धी

धी आत्मा की वह शक्ति है जो ज्ञान और कर्म दो क्षेत्रों में प्रकट होती है। यह शक्ति निरन्तर प्रेरित एवं गतिशील रहे कुण्ठित न होने पावे इसके लिये वेद में अनेक बार प्रार्थनाएं आती हैं। हमारा प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र धी की प्रेरणा से ही सम्बन्ध रखता है। 'धियोयोनः प्रचोदयात्' सबका प्रेरक तेजस्वरूप प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता रहे। 'धामोधियमृषियिमाम् धत्ते मत्स्ये।" देवताओं की दिव्य एवं निर्मल बुद्धि मेरी रक्षा के लिये सर्वेव मेरे पास वर्तमान रहे। बुद्धि अन्य शक्तियों की भांति पापीयसी बन सकती है पाप की ओर प्रवृत्त हो सकती है इसलिये वेद कहता है अन्यत्र पापीरप वेशयाधिय' पापीयसी बुद्धियां हमसे दूर रहें। पवित्र बुद्धि पवित्र कर्मों की जननी है। यही मानव का उत्थान करती है, उसे संस्कृत एवं परिमार्जित बनाती है। यही भद्र बुद्धि हमारे अन्दर क्रियाशील रहे। मानव मन से मनन की अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ धी को प्राप्त करता है। जब

जब मानव के समक्ष संकट की घड़ियां आ उपस्थित होती हैं और उसे भ्रान्त बनाकर पथभ्रष्ट करने लगती हैं, तब-तब अपनी निर्मल बुद्धि का ही अवलम्बन लेकर वह भ्रम एवं द्विविधा से पार हो पाता है। विषम परिस्थितियों में यदि धी स्थिर रही, तो मानव दुर्गति के गर्त में पड़ने से बाल-बाल बच जाता है।

विद्या

धी शक्ति है तो विद्या उसको चमकाने का साधन है। विद्या इस रूप में साधन है और प्रकाश का कार्य करती है। जैसे सूर्य के प्रकाश में हम बेधड़क चले जाते हैं, वैसे ही विद्या के प्रकाश में हमारी बुद्धि भी सक्रिय हो उठती है। विद्या आवश्यक साधन है, परन्तु बुद्धि की शक्ति उससे भी कहीं बढ़कर है। विद्या के अभाव में भी शक्ति से सम्पन्न पुरुष बड़े-बड़े कार्य कर गये हैं। अकबर तथा शिवाजी विद्या सम्पन्न नहीं थे, परन्तु बुद्धिमान अवश्य थे और अपनी बुद्धि के बल पर ही उन्होंने भारतीय साम्राज्य के शासन-सूत्र का कुशलतापूर्वक संचालन किया।

वेद ने विद्या (विद्वत्ता) तथा कर्म में अन्तर दिखाया है। जो व्यक्ति विद्वान है, परन्तु कर्म-शील नहीं है वेद की दृष्टि में वह अन्धतम में प्रवेश करता है, परन्तु जो व्यक्ति अपने बुद्धि–बल से विद्या का कर्म में सत प्रयोग करता है उसका जीवन अमृतास्वादन से परिपूर्ण रहता है। वेद ने विद्या को सरस्वती भी कहा है। यह सरस्वती पवित्र पथ पर प्रयाण करने वाली हो तभी यह वाज से संयुक्त होकर वाजिनी-वती बन सकेगी। सरस्वती यज्ञ की वाहिका भी इसी अवस्था में बनती है। जब हम विद्या के प्रकाश में प्रवेश करते हैं तब हमें विद्या के महान समुद्र का किंचित आभास प्राप्त होने लगता है, और हमारी बुद्धि प्रतिष्ठित होने लगती है। सुमति का यह चैतन्य रूप प्रभु के निकट ले जाने वाला है। 'यां सरस्वती सहधीभिरस्तु' विद्या और बुद्धि दोनों के संयोग का वेद के इस मन्त्र पद में महत्व वर्णित हुआ है। बुद्धि के साथ ही विद्या खिलती है। बुद्धि के अभाव में वह अपने तेज को प्रकट नहीं कर पाती। इसलिये बुद्धि के अभाव से विद्या को सुभाषितकारों ने हेय दृष्टि से देखा है।

सत्य

वेद ने प्रभु को सत्य कहा है। 'सत्यमित् वा उ तं वयम् इन्द्रं स्तवाम।' हम सत्य स्वरूप प्रभु की ही स्तुति करें। 'सत्येनोत्तभिता भूमि' सत्यस्वरूप प्रभु ही इस पृथ्वी को धारण किये हुये हैं। अत व्यवहार में हमें भी प्रभु का अनुगमन करते हुये सत्य का आश्रय लेना चाहिये। यह सत्य संकीर्ण न हो स्वरूप देश अथवा काल तक ही सीमित न हो प्रत्युत सार्वकालिक और सार्वभौम हो। "सत्यं बृहत् ऋतमुग्रम् दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञ पृथिवीं धारयन्ति"। यह बृहत् सत्य ही हम पार्थिव प्राणियों का माता तथा पाता है। सत्य ब्रह्म है। इसका तेज सर्वाभिभावी है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष में जो सत्यवादिता की ओर उन्मुख होता है वह मानों प्रभु की ओर ही उन्मुख हो रहा है। सत्य का पुजारी परमात्मा का पुजारी है। जिसने जीवन में सत्य को धारण कर लिया, प्रभु मानों उसके अपने हो गये। मनुष्य प्राय समझता है—

कि वह झूठ बोल देने से बच जायगा परन्तु होता इसके विपरीत है। "सामा सत्यौक्तिः परिपातु विश्वतः।" सत्य कथन ही हमारी रक्षा करता है। सत्य वचन वह वचन है जिस पर पाप के तीरों का प्रहार कुछ भी प्रभाव नहीं डालता।

व्याहृतियों में सत्य को सबसे अन्त में स्थान मिला है। इसका अर्थ भी यही है कि सत्य सर्वोपरि है। जो असत् का आश्रय लेता है, वह मृतक के समान है। पारसी धर्म के उपदेष्टा महात्मा जरथुष्ट्र के मतानुसार विश्व में सत् और असत् का संघर्ष चल रहा है। दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। इस प्रतिस्पर्धा में कभी सत् ऊंचा उठ जाता है और कभी असत्। परन्तु प्रगति सत् के द्वारा ही होती है। अतः अन्त में असत् का विध्वंस होगा और सत्य की विजय होगी। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' की उक्ति चरितार्थ होगी और उसके साथ यह विश्व भी समाप्त हो जायगा।

अक्रोध

क्रोध न करना धर्म का दसवां लक्षण है। क्रोध काम के साथ रहता है और रजो गुण से समुद्भूत होता है। इसके उदय होते ही आँखें अन्धी हो जाती हैं और ज्ञान तिरोहित होने लगता है। जिस व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हो गया वह अज्ञान के अन्धकार में भटकता हुआ किन किन पाप प्रवृत्तियों में नहीं फंसेगा कौन जानता है? क्रोध सम्मोह अर्थात् अज्ञान का जनक है जो आगे चलकर स्मृति में विभ्रम उत्पन्न करता है जिससे बुद्धि नष्ट होती है और विनाश की भयावह वेला सम्मुख उपस्थित हो जाती है। द्वेष और ईर्ष्या क्रोध के भाई-बहिन हैं। यदि हम क्रोध के स्थान पर प्रेम को अपना लें तो द्वेष और ईर्ष्या दोनों ही समाप्त हो सकते हैं। श्रेयस्कर यही है कि मैं क्रोध का अवसान कर दूं। इससे मेरा विवेक प्रतिष्ठित रहेगा और द्यावा एवं पृथिवी मेरे लिये कल्याणकारी बन सकेंगे। प्रेम क्षमा आदि सद्भावनायें इस विश्व को मेरे लिये असपत्न अर्थात् शत्रुरहित कर देंगी। यह स्पृहणीय अवस्था मेरे लिये, मेरे ही द्वारा बन सकती है। वेद कहता है —

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै। अथर्व ६। ४२। १॥

जैसे धनुष की प्रत्यञ्चा खींची जाती है उसी प्रकार मैं तेरे हृदय से क्रोध को खींचता हूं अर्थात् दूर करता हूं। अक्रोध द्वारा ही हमारे मन सखाओं के मन बनेंगे और मिलकर काम करेंगे। वेद ने यह भी कहा है कि यदि क्रोध करना है, तो अपने क्रोध के ही ऊपर करो। इससे विवेक जाग्रत होगा। मन चिन्तन करता हुआ क्रोध के मूल को पकड़ेगा और उसके उन्मूलन के लिये प्रयत्नशील होगा।

विजेषकृत् इन्द्र इव अनवब्रवो अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मातमुत्सम् यत आबभूथ॥

हे मन्यु। तुम इन्द्र के समान ही विजयशील हो। कोई तुम्हारा विरोध नहीं कर सकता। तुम मेरे अधिपति बन जाओ। तुम्हारा नाम बहुत प्रिय है। तुम बड़े

सहनशील हो। मैं तुम्हारी स्तुति करता हूं। मैंने तुम्हारे उस उद्‌भव-स्थान को समझ लिया है, जहां से तुम प्रकट होते हो।

मन्यु के दो अर्थ हैं। एक अर्थ में वह मनन-शीलता को नष्ट करने वाला है और दूसरे अर्थ में वह मनन-शीलता से सयुक्त है। इस दूसरे अर्थ में वह अपनाने के योग्य है। इसीलिये वेद कहता है — मन्युरसि मन्यु मयि धेहि– प्रभु तुम मन्यु रूप हो। मेरे अन्दर भी मन्यु को स्थापित करो। इसके विपरीत जो क्रोध है उसको दूर करना है। अक्रोध अर्थात क्रोध राहित्य में आया हुआ क्रोध शब्द इसी अपर अर्थ का वाचक है।

बौद्धों का अष्टांग मार्ग

चतुर्वर्ग में धर्म आधार है मोक्ष लक्ष्य है और धर्मानुसार अर्थ तथा काम साधन है। संस्कृति का प्रमुख ध्येय विकास है जो मोक्ष में परिसमाप्त होता है। मोक्ष का अर्थ है दुखों से छूट जाना। सांख्य के अनुसार मोक्ष त्रिविध दुखों की निवृत्ति है। दुख तीन प्रकार के हैं — आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक। महात्मा बुद्ध भी अपनी दीर्घ तपश्चर्या के उपरान्त इसी परिणाम पर पहुंचे थे। उन्होंने जिन चार आर्य सत्यों का उद्‌घाटन किया वे इस प्रकार हैं — (१) संसार में दुख है। (२) इस दुख का कोई कारण है। (३) इसे दूर किया जा सकता है और (४) इसके दूर करने के उपाय हैं। जिन उपायों का उन्होंने वर्णन किया है, वे अष्टांग मार्ग के नाम से विख्यात हैं। अष्टांग मार्ग को प्रमुखतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है — प्रज्ञा शील एवं समाधि। अष्टांग मार्ग के सम्यक दृष्टि तथा सम्यक संकल्प प्रज्ञा के अंग हैं। शील के अन्तर्गत सम्यक वाणी सम्यक कर्म तथा सम्यक आजीविका का समावेश है। समाधि में सम्यक व्यायाम (शोभन उद्योग इन्द्रियों का संयम तथा दुर्भावनाओं से बचकर सद्‌भावनाओं को अपनाना) सम्यक स्मृति (सत्कर्म के स्वरूप को अवगत करना तथा निरन्तर उसका स्मरण करते रहना) तथा सम्यक समाधि आते हैं। यही मार्ग आर्य संस्कृति का भी मार्ग है। शील समाधि और प्रज्ञा त्रिरत्न कहलाते हैं परन्तु इन तीनों में प्रज्ञा का समुद्‌भव मानव जीवन में शील और समाधि के द्वारा ही सम्पन्न होता है। प्रज्ञा का उदय प्रकाश का उदय है। यह प्रकाश ज्ञानमय है। वेद इस प्रज्ञा के प्रकाश का निरावरण शब्दों में प्रख्यापन करता है —

वेदाहमेतम् पुरुष महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।"

यह प्रकाश तम से परे तथा प्रकाश पुञ्ज आदित्य के वर्ण का है। यद्यपि प्रज्ञा इसके लिये साधन भूत है फिर भी प्रज्ञा तक पहुंचे बिना इस आदित्य वर्ण, प्रकाश स्वरूप प्रभु की प्राप्ति भी तो नहीं हो सकती।

प्रज्ञा तक पहुंचने के लिये महात्मा बुद्ध शील को आधार बनाते हैं। बौद्ध में

सर्वप्रथम वाणी का संयम मद् नमता (नम्रता) और मधुरता का परिगणन होता है। वेद कहता है —

वाचा वदामिमधुमत् भूयासम् मधु संदृशः ।
वाचस्पतिर्वाचमन्नः स्वदतु ॥
वाचम् वदत भद्रया । अंशः सत्यस्य पुयमस्पतेः ।
वाचम् पुनन्ति कवयो मनीषिणः । नामानि ते
शतवल्शी विरुहा मिर्पीमिरीमहे

इन मन्त्रों में वाणी के माधुर्य संयम तथा नम्रता की प्रशंसा की गयी है। हमारी वाणी में स्वादु हो मधुरता हो। हमारा कथन सत्य एवं संयम से ओत प्रोत हो और अभिमाति अर्थात महंकार हमारी वाणी से दूर रहे जिससे हम प्रभु के सच्चे उपासक बन सकें। मनीषी कवि सदैव अपनी वाणी को पवित्र किया करते हैं। शील का दूसरा भाग है कर्म की पवित्रता जो मानव को उर्ध्वगति की ओर ले जाती है। वेद के शब्दों में —

सम सुहस्ता सुहस्तानि सन्तु । सम ऋभवः सुकृतः सुहस्ता ः
अच्छ सुम्नान् वृषभराम् स्वप्नसः ।

पुण्य कर्मा मानवों के पुण्य कर्म शान्ति प्रदान करते हैं। जो व्यक्ति अपने सुन्दर हाथों से सुन्दर कर्म करते हैं, वे ही ऋभुओं की भांति स्वर्ग पथ के पथिक बनते हैं। कोमल कर्म करने वाले प्राणी बलवान यशस्वी तथा सफल जीवन से सम्पन्न होते हैं। शील में सम्मिलित आजीविका व्यवहार-साधिका है। ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसासुतः। हमारा व्यवहार तथा जीवनचर्या के साधन श्रद्धा और तप से मण्डित हों। हमारी वाणी में ही नहीं व्यवहार में भी सत्य का समावेश हो।

समाधि में व्यायाम अर्थात शारीरिक परिश्रम सर्व प्रथम आता है। 'इच्छन्ति देवा सुन्वन्तम्'' देव परिश्रमी व्यक्ति को ही चाहते हैं प्रमादी को नहीं।

वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। वाचस्पति ऐसी कृपा करें कि मेरा श्रुत मेरे अन्दर सुरक्षित रहे। मैं उसे विस्मृत न कर बैठूं। समाधि में सम्यक ध्यान अपेक्षित है। धिया विप्रोऽजायत'' 'तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि।' पदों में ध्यान का ही महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। हम प्रभु के सर्व श्रेष्ठ तेज का ध्यान करें। यह ध्यान ही व्यापक ब्राह्मणत्व का जनक ह।

शील और समाधि की साधना साधक के अन्दर सम्यक दृष्टि तथा सम्यक संकल्प को उत्पन्न करती है। सम्यक दृष्टि के लिए दो बातों की आवश्यकता है — एक तो मेरे दर्शन में कोई त्रुटि न हो और द्वितीय उसमें भद्रता ओत प्रोत हो। 'यन्मे छिद्रं चक्षुषः' मंत्र-पद दृष्टि-दोष के दूरीकरण का सन्देश देता है। तथा भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः अथवा भद्रार्या ते रमयन्त संदृष्टौ मंत्र पर हमारी दर्शन शक्ति भद्र अर्थात् कल्याणकारिणी हो इसकी ओर संकेत करता है। स्वस्त्यः सुदृशो दृश

दास । के अनुसार यहाँ हमारा व्यवहार उत्तम हो, वहाँ हमारी दृष्टि भी उत्तम हो। संज्ञानम् नः स्वेभिः संज्ञानम् अरणेभिः । चाहे कोई अपना हो और चाहे पराया, सबके प्रति हमारी सम्यक दृष्टि होनी चाहिये ।

सम्यक संकल्प के सम्बन्ध में भी वेद में कई मंत्र आते हैं, यथा— आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु । 'अनूपमित क्रतवो हृत्सु धीतय ।' यह संकल्प ही हमारे अन्दर जाग्रत हों । हृदय में धारण किये हुए शुभ संकल्प ही संकल्पन करें ।

इस प्रकार बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण आधार स्तम्भ वैदिक शिक्षा पर ही अवलम्बित है और उसमें जीवन निर्माण के सभी उपादान विद्यमान हैं । धर्म जो जीवन को धारण करता है सर्वत्र एक समान है । साम्प्रदायिक रूढ़ियाँ भले ही भिन्नता उत्पन्न करें, परन्तु जो कर्त्तव्य का मूल है प्राण है वह भिन्नता को अभिन्नता में परिणत कर ही देगा। समग्र मजहबों, सम्प्रदायों अथवा मतों का मेरुदण्ड धर्म है, रूढ़ियाँ नहीं । धर्म ही सबको संस्कृत बनाता है ।

ग अर्थ

चतुर्वर्ग में अर्थ को जो स्थान मिला है वह जीवन के व्यापक दृष्टिकोण को सूचित करता है । संस्कृत वाङ्मय में और विशेषरूप से धर्मशास्त्र में अर्थ-शक्ति की निन्दा की गई है । मनु ने स्पष्ट रूप से लिखा है 'अर्थकामेष्वसक्तानाम्धर्म ज्ञानमुविधीयते ।" जो व्यक्ति अर्थ और काम से पृथक है अर्थात् इनमें अनासक्त है, उसी के लिये धर्म के ज्ञान का विधान है । मनु ही क्यों वेद भी इसी स्वर में बोल रहा है । मनु ने तो उसका अनुसरण मात्र किया है 'नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे ।" 'प्रभु धनवानों का सखा नहीं' बनता । वैराग्य-प्रधान बौद्ध मत तथा ईसाई मत इसी प्रकार की उक्तियाँ कहते रहे हैं । बाइबिल का स्पष्ट संकेत है ऊँट सुई के छिद्र में से भले ही निकल जावे पर धनी व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते ।' अर्थ के सम्बन्ध में इस प्रकार के कथन एक विशेष दिशा का अभिव्यञ्जन करते हैं । यह दिशा है धनवानों की येन केन प्रकारेण अर्थ-साधन की लिप्सा । जब अर्थोपार्जन के साधन दूषित हो जाते हैं जब अर्थ प्राप्ति के लिये हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है, प्राणियों को पीड़ित किया जाता है अन्यों के स्वत्व का अपहरण किया जाता है और शोषण-पद्धति के द्वारा अर्थ-सञ्चय की पापीयसी प्रवृत्ति उद्दाम रूप धारण कर लेती है, तब निस्सन्देह अर्थ गर्हित एवं अवांछनीय रूप धारण कर लेता है । ऐसे धनी व्यक्ति वेद के शब्दों में सुरापव अर्थात् मद-मत्त हो जाते हैं और पीयम्ति अर्थात् हिंसा पर उतर आते हैं । वेद इन्हें असुर की संज्ञा देता है । पर जिस अर्थ को हम चतुर्वर्ग में ले रहे हैं वह गर्हित नहीं प्रशंसनीय है त्याज्य नहीं उपादेय है और अपवित्र नहीं पवित्र है । यदि धन निन्दनीय होता सर्वथा परित्याज्य समझा गया होता तो वेद के अनेक मन्त्रों में जो उसे उपलब्ध करने की कामनायें प्रकट की गई हैं वे निरर्थक समझी जातीं । वेद अनावृत शब्दों में कहता है — 'अग्नेनय सुपथाराये" "वयं

स्याम पतयो रयीणाम् ' "योऽस्मभ्यं वसु विद सुदत्र "अहं ददामि द्रविणं हविष्मते" 'येन विदवा परिधियो वृणक्ति विप्रे वसु 'पुत्रस्य कुरुत्या उपवृतस्य पश्या अनु" "मयि देवा द्रविणमायजन्ताम् इषे च रायेधेहि ', ' स आशिषा द्रविणमिच्छमान " "अप्रतीतो जयति सन्धनानि । प्रति जन्यानि उतयासजन्या आप्यायमाना प्रजया धनेन शुद्धा पूता भवत यज्ञियास । वित्तं रमस्व बहुमन्यमान ।' आदि

हम धन के अधिपति बनें । ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रभु हमें सुपथ पर चलावें । जो रत्नों को धारण करने वाला धनवान तथा दानी है । मैं त्यागी पुरुष को धन देता हूं । जो द्वेषों से पार हो गया धन उसी के पास जाता है । जो ऋत के पथ का अनुसरण करते हैं उनके पास घी की नहरें बहती रहती हैं । देव मुझे धन दें, मुझे अन्न और बल के बीच न रखें । वह आशीर्वाद के साथ धन की भी इच्छा करता है । जो व्यक्ति उद्योगशील है पीछे पैर नहीं रखता वह वैयक्तिक एवं सामूहिक धनों पर विजय प्राप्त करता है । सन्तति तथा धन से तृप्त होते हुये तुम शुद्ध और पवित्र हो जाओ । तुम सक्रिय जीवन व्यतीत करते हुये जो धन मिल जाय उसको बहुत समझ कर प्रसन्न रहो । इस प्रकार की उक्तियां धन को वांछनीय एवं आवश्यक सिद्ध करती हैं । इस प्रकार का धन भजनीय है । आवश्यकता केवल इतनी है कि वह धन साधन के रूप में मानव का उत्कर्ष करने वाला हो । उस धन के पथ से हटा कर उत्पथन के मार्ग पर लगाने वाला न हो और मोक्ष के मार्ग में विघ्नरूप न हो ।

मानव को पग पग पर धन की आवश्यकता पड़ती है । शरीर का निर्वाह धन के बिना नहीं होता । शारीरिकता मानसिकता बौद्धिकता आदि सब धन के अभाव में शरीर को पुष्टि न मिलने के कारण दुर्बल पड़ जाती हैं । यह दौर्बल्य मानव के पुरुषार्थ

या ऐश्वर्य जीवन के सबलों मे अन्यतम है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह ऐश्वर्य सब मानवों के पास एक समान नहीं है। समाज में वणिक वृत्ति प्रधान वैश्यों को ही इसका विशिष्ट अधिपति समझा गया है। वही इसके अर्जन एवं विवर्द्धन में विशेष रूप से भाग लेते हैं। अन्य तीन वर्णों में इस धन का विविध रूपों में विविध प्रकारों से विभाजन होता रहता है। इस विभाजन का प्रमुख आधार कर्म है और यह भी कर्म फल के रूप में सर्व प्रेरक प्रभु के आधीन है। वेद के शब्दों में विभक्तारम् हवामहे वसोः चित्रस्य राधस । सवितारम् नृचक्षसम्। देव सविता नृचक्षस हैं सबको देखने वाले हैं। वे ही सफलता के साधन तथा अद्भुत ऐश्वर्य का विभाग करने वाले हैं।

धन प्राप्त तो सबको है परन्तु वैराग्य प्रधान ब्राह्मण वर्ग इस धन में से भी चुने हुये धन का ही प्रयोग करता है। एक प्रकार से ब्रह्म का प्रतिनिधि होने के कारण ब्राह्मण धन मात्र पर अपना अधिकार रखता है और उसी के दिये हुए धन पर सब पालित पोषित होते तथा धनी बनते हैं। फिर भी ब्राह्मण नि स्व होकर जीवन व्यतीत करता है। अधिक से अधिक वह ऋत तथा अमृत कहलाने वाली शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा अपना नितान्त आवश्यक भरण-पोषण मात्र करता है। महाकवि विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस नाटक में महात्मा चाणक्य का जो जीवन चित्रित किया है वह इस प्रकार की ब्राह्मी वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। मनुस्मृति में भी ब्राह्मी वृत्ति के इस रूप का उद्‌घाटन किया गया है और लिखा है कि स्वाध्याय के विरोधी सभी अर्थों को ब्राह्मण परित्यक्त कर देता है। उसके पास जो सम्पन्न है उससे किसी प्राणी को ईर्ष्या नहीं होती न उसके साथ कोई द्रोह ही करता है। अपने प्रशस्त कर्मों द्वारा जीवन यात्रा के निर्वाह मात्र के लिये वह यज्ञ-शिष्ट अन्न का सेवन करता है, जिससे किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुँचे।

हमारे संस्कारों में यज्ञोपवीत संस्कार के विधान के अन्तर्गत ब्राह्मण यवागू अर्थात जौ के सत्तू खाकर तीन दिन तक व्रत रखता है। इसके स्थान पर वैश्य घोड़ मिश्रित पयस आमिक्षा अथवा केशर-मिश्रित खीर का सेवन करता है। वैश्य का यज्ञोपवीत बहुमूल्य रेशम का बना होता है परन्तु ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सन अथवा सूत का होता है। यह विभाग वर्ण मर्यादा में अर्थ और काम के विभाजन पर तो प्रकाश डालता ही है साथ ही यह भी सूचित करता है कि विकास के मार्ग में हम किस प्रकार सस्कृत होते जाते हैं। संस्कृति की यह प्रणाली अर्थ का निरादर नहीं करती उसकी आवश्यकता को कम अवश्य करती जाती है जिससे अंतिम लक्ष्य निःश्रेयस की उपलब्धि में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े और स्थिति निरापद बनी रहे।

वेद कहता है – मम एव मघवा अस्तु देवा-स्तोम यर्य मघवान् श्याम
सं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति सनो भग पुर एता भवेह।

हे ऐश्वर्य–सम्पन्न प्रभु ! आप साक्षात ऐश्वर्य ही हैं। अपने इस ऐश्वर्य से आप हमें भी ऐश्वर्यवान बना दें। यह ऐश्वर्य ही है, जिसके द्वारा हम यज्ञ में आहुति डालते हैं। समस्त प्रस्तुत अग्नि में आहुत-हुआ वसु पुन: अपने विविध रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। निम्नांकित मंत्र भी इसी तथ्य का समर्थन करता है:–

'पूर्णा दर्विपरापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहाइषमूर्ज शतक्रतो ।

हे दर्वि। तुम पूर्ण होकर इस यज्ञ में आहुति डालो। घी का चम्मच भरा हुआ जब अग्नि में घी की आहुति देता है तो वह घी उससे भी बढ़कर याजक को पुनः प्राप्त हो जाता है, जैसे व्यापार में लगायी हुई पूंजी कई गुनी बढ़कर व्यापारी को प्राप्त होती है। हे शतक्रतो। आप अनन्त कर्मा हैं। मेरे लिये भी प्रवित हो जाओ तथा धन के भण्डारों को मेरे लिए उन्मुक्त कर दो। देहि मे ददामि ते। तू दे मैं तुझे दूंगा। 'देवो वो द्रविणोदा। जो होता है आहुति डालने वाला है प्रभु उसे धन देते ही हैं। 'दधाति विधते। वे होता को यज्ञिय रत्नों का धाम बना देते हैं। 'कृधि रत्नं यजमानाय। यजमान रत्नवान बनता है। साधक का अभीष्ट पूरा होता है, क्योंकि भगवान सबको आवश्यकताओं के अनुकूल दे ही रहे हैं। वे ही (संगमनी वसूनाम्) वसुओं का संगमन अर्थात उपलब्धि कराने वाले हैं। वे धन के प्रणेता हैं ऐश्वर्य के देने वाले हैं उन्हीं का दिया धन सत्य है।

धन भी कई प्रकार का है। अन्न धन है फल फूल मेवा रत्न हीरा, माणिक्य स्वर्णादि धन हैं। गो धन है। गो के अतिरिक्त अन्य पशु भी धन ही हैं। बुद्धि विद्या तथा ज्ञान भी धन है पर ये धन तभी सार्थक हैं जब इनके द्वारा हम धन्य कहे जा सकें। वेद में पार्थिव धन से लेकर दैवी धन तक की चर्चा की है। अनेक साधक बाह्य धन की अपेक्षा अपने आन्तरिक धन की अधिक चिन्ता करते हैं, परन्तु आन्तरिक धन भी बाह्य धन की उपेक्षा नहीं करता उसे वह अपना सहायक समझता है। 'वसुर्वसुनां क्षयसित्वमेक इत् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः।" प्रभु वसुओं का भी वसु है। समस्त वसु उसी के अन्दर निहित है। जिस वसु को रोदसी द्यावा पृथिवी पोषण देते रहते हैं वह सामान्य धन से लेकर प्रकाशमयी सम्पदा तक विस्तृत है। पार्थिव धन की इयत्ता को हृदयंगम करना ही हम सब के लिये अशक्य है फिर द्यावा के धन की झांकी लेना तो और भी अधिक कठिन है। प्रभु ने जीवों के लिए कितने वसुओं की वर्षा की है इसे कौन जान सकता है ?

दान की महिमा

दान में त्याग का भाव है और त्याग यज्ञ के मूल में विद्यमान है। सपूर्ण सृष्टि की रचना यज्ञ का ही एक विन्यास रूप है। यज्ञ में वेदी पर बैठे हुए व्यक्ति कुण्ड के केन्द्र-भाग में प्रज्वलित वैश्वानर अग्नि में आहुतियां डालते हैं। सौर्य जगत के केन्द्र में स्थित जाज्वल्यमान सूर्य को भी ग्रहों तथा पिण्डों द्वारा आहुतियां मिल रही हैं। सृष्टि का एक-एक तत्व

त्यागशील है। वायु सृष्टि में झाड़ू लगा रहा है, अग्नि अपावनता को दग्ध कर रहा है, जल कूड़े और कर्कट को बहा कर दूर ले जा रहा है, सूर्य दूषित द्रव्यों के रस को खींच कर उनके संशोधन में लीन है। अपनयन की क्रिया के साथ दान भी चल रहा है। इस प्रकार समग्र जगत यज्ञमय दानशील एवं त्यागी बना हुआ जीवन की प्रणाली को अग्रसर करने में संलग्न है। तो क्या मानव सदैव के लिए स्वार्थी बना रहेगा? क्या वह त्यागशील जीवन को अपनाने के लिए उद्यत न होगा? और क्या वह सृष्टि की यज्ञ-प्रक्रिया में अपना सहयोग न देगा? विज्ञान हमें बताता है कि यहाँ उच्चशक्ति के अंश निरंतर निम्नशक्ति के अंशों के साथ संयोग कर रहे हैं और इस प्रकार विश्व में संतुलन बनाये रखने में अपना योग दे रहे हैं। मानव-सृष्टि के इस नियम से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वेद कहता है—

पृणीयात् इन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसं अनुपश्येत पंथाम्।
ओहिवर्तन्तेरथ्येव चक्रा अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्तरायः॥

ऋ० १०-११७-५

जो सम्पन्न हैं अर्थात धन देने के योग्य हैं उनका कर्त्तव्य है कि वे प्रार्थनाशील याचक को अपने धन का कुछ भाग अवश्य दे दें। उन्हें सोचना चाहिए कि जीवन का पथ विशाल है। इस सुदीर्घ जीवन-यात्रा में न जाने कौन सा दान किस समय काम दे। धन सबके पास एकजैसी दशा में नहीं रहता। वह रथ के पहिये की भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे जाता रहता है। आज यदि वह अकबर के पास है तो कल शिवाजी के पास पहुँच जाता है। न वह हिटलर का सगा बनता है और न मुसोलिनी का संबन्धी। वह कभी पठानों के पास था, तो कभी मुगलों के पास रहा और कभी अंग्रेजों के तो कभी हिन्दुओं के साथ रहा। अतः यदि आज मेरे पास धन है तो मैं उस पर अपना एकान्त अधिकार क्यों समझूँ? वह मेरे उपयोग में जितना आता है उतना अच्छा है, पर जो बचता है उसे उपयुक्त पात्र को दे देने में ही मेरा और उसका कल्याण है। मैं न भी दूँगा तब भी वह मेरे पास नहीं रहेगा फिर उसे देने में संकोच क्यों हो? सामाजिक कर्त्तव्य की भी यही पुकार है कि जहाँ धन की अनिवार्य अपेक्षा है, वहाँ उसे बिना माँगे भी पहुँचा देना चाहिये। ऋ० १०–११७–६ में केवलादी को, जो अपने आप खाता है, दूसरे की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता केवल पापरूप कहा गया है। निम्नांकित मन्त्र भी दान की महिमा का वर्णन करते हैं —

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रादक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयुः॥

ऋ० १।१२५।६

दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपति जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।

ऋ० १०।१०७।

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्र मुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥
ऋ० १०।१०७।७

दान देने वालों के लिये यहां की चित्र विचित्र सम्पदा तो है ही द्यौ लोक की प्रकाशमयी निधि भी उन्हीं के लिये है। दक्षिणा देने वाले मोक्ष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं और मृत्यु को भी मार कर दीर्घायु भोगते हैं। दान देने वाला सभा समितियों में सर्व प्रथम आहूत होता है। सब लोगों की दृष्टि उसी पर पड़ती है। वह ग्राम या समुदाय का नेता बनता है और सबके आगे चलता है। मैं उसी को मनुष्यों का पालक स्वामी या राजा समझता हूं जो दान देने के लिये सर्व प्रथम हाथ बढ़ाता है। दान में घोड़ा दिया जाता है गौ दी जाती है चांदी और सोना दिया जाता है। दक्षिणा का देने वाला अन्न से कभी भी शून्य नहीं रहता है। दक्षिणा उसकी आत्मा में प्रवेश करके सर्व-समर्थ कवच का रूप धारण कर लेती है।

वेद कहता है पूर्ण तो यहां एक ही है। सबका सम्राट, वसुओं का भी वसु दाताओं का भी दाता सबका उपास्य और पूजनीय एक ही है। इसे इन्द्र कहो, अग्नि कहो सविता कहो देव कहो किसी भी नाम से पुकारो ये सब नाम उसके एक-एक गुण का प्रकाश करने वाले हैं। उसी के गुणों के आधार पर प्राकृतिक पदार्थों और प्राणियों के भी गुण देख कर नाम रखे गये हैं। परमेश्वर में गुणों की चरम सीमा है। यहां उनका एक अंश एक झलक है। वह महान् दाता अपनी विस्तृत अपार धनराशि में से कुछ भाग सबको दे रहा है। यद्यपि वह स्वयं एकान्त तपस्वी है तथापि इस प्राणियों के लिये अन्न का जनक और उपभोग्य सामग्री का देने वाला भी है। जिस साधक ने उसके इस गुण को पहचान लिया वह फिर उसी का होकर जीवन व्यतीत करता है और उसके दैवी रक्षण का अधिकारी बनता है। क्या हमें भी उसका दैवी रक्षण प्राप्त होगा ?

दैवी रक्षण दिव्य व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। वैदिक संस्कृति साधक को दिव्यता के अन्तिम सोपान तक पहुँचा देती है। पार्थिव मल और आवरण घटते-घटते साधक को उस दिव्य भूमि में ले जाते हैं जहां स्थूलता नहीं सूक्ष्मता है। अन्त में सूक्ष्मता भी नहीं रहती केवल आनन्दमय कारण शरीर रह जाता है। इसी का आधार लेकर जीवात्मा स्वच्छन्द लोकों में विहार करता है। उसकी गति अव्याहत होती है न कोई रोकने वाला न कोई टोकने वाला। पर्वतों के शिखर और अन्तरिक्षीय बवण्डर कोई भी उसके मार्ग में बाधा नहीं डाल पाते। दिव्य धन का धनी बनना कितना उदात्त है, कितना क्षेमस्कर है !

काम

मनु महाराज ने न तो कामात्मता को ही प्रशस्त माना है और न निरी अकामता को। यदि अकामता को उन्होंने प्रशस्त दिया होता तो सद् कार्यों के मूल में निहित काम को भी उन्हें परित्यक्त करना पड़ता। उनके मतानुसार वही काम श्रेयस्कर है जो मानव के विकास में सहायक बन सके। कामना मोक्ष की भी होती है और उन साधनों की भी जो साधक को मोक्ष तक पहुँचाते हैं। कामात्मता उस समय परित्याज्य समझी जाती है जब वह मानव के उत्थान में बाधक तथा उसके पतन का कारण बनती है।

काम के सम्बन्ध में ऋषियों के ये वाक्य विचारणीय हैं — सर्वान् कामान् अवाप्नवानि, सर्वान्नः कामान् समर्धय, मेरी सब कामनायें पूर्ण हों। मैं जो चाहूँ वह मुझे प्राप्त हो। सामान्य व्यक्ति प्रश्न कर सकता है कि क्या सभी प्रकार की इच्छायें पूर्ण होनी चाहिये। उत्तर स्पष्ट है कि सभी प्रकार की कामनायें किसी भी व्यक्ति की पूर्ण नहीं हो सकती। ऋषियों के वाक्यों में जिन इच्छाओं के पूर्ण होने का उल्लेख है वे उत्तमगण से सम्बन्ध रखती हैं। वे पवित्र कामनायें हैं। यों तो प्रभु की सम्पदा पर उसके सभी पुत्रों का अधिकार है और प्रत्येक पुत्र निम्नांकित मंत्र द्वारा प्रार्थना कर सकता है —

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहो रात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ।
व्यात्तम्। इष्णन् निषाण अमुं म इषाण सर्व लोकम्म इषाण॥

प्रभो! श्री एवं लक्ष्मी आपकी दो पत्नियाँ हैं। दिन और रात्रि आपकी दोनों बगलें हैं। नक्षत्रों में आपका रूप सौन्दर्य है। द्यावा और पृथिवी आपके खुले हुये मुख के समान हैं। आपकी विभूति हम सब पुत्रों के लिये है। आप मेरे लिये इसकी कामना करें। समस्त लोक मेरे अपने बनें।

यहाँ निखिल ब्रह्माण्ड का वसु श्रीलक्ष्मी पुत्र के लिये है। वह उसे प्राप्त होना चाहिये। देखा संकेत मन्त्र से प्राप्त हो रहा है और हमें उस भूमा अवस्था की ओर ले जाता है जहाँ पहुँच कर सब कुछ आत्मा का ही और आत्मा के ही लिये है। खण्डविभूति की उपलब्धि में स्वल्पता है भूमा में सभी कुछ स्वायत्त है।

वेद में भौतिक उपलब्धियों के लिये भी प्रार्थनायें की गयी हैं। नीचे इस विषय के कुछ मंत्र दिये जाते हैं —

शरीर, आयु तथा वर्चस की कामना

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मेपाहि। आयु दा अग्नेसि आयुर्मेदेहि।
वर्चोदा अग्नेऽसिवर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥

प्रभो! आप शरीरों के पालन करने वाले हैं, मेरे शरीर की रक्षा करें। आप

आयु देने वाले हैं मुझे आयु दें। आप वर्चस् देने वाले हैं, मुझे वर्चस दें और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो उसे पूर्ण कर दें।

सन्तति की कामना

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम । सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।

हे सच्चिदानन्द स्वरूप ! हम सन्तानों के द्वारा सुन्दर सन्तान वाले बनें। पोषक शक्तियों के द्वारा सुन्दर पोषण वाले बनें और वीरों के द्वारा सुन्दर वीरों वाले बनें।

इन्द्रियों के स्वास्थ्य की कामना

मयि इदं इन्द्र इन्द्रियं दधातु अस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकं सन्तु आशिषः सत्याः नः सन्तु आशिषः ॥

हे इन्द्र ! आप मेरे अन्दर इन्द्रियों को धारण करें। हे मघवा ! हे धनी ! आप हमें ऐश्वर्यों से संयुक्त करें। हमारी कामनायें सत्य सिद्ध हों।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम।
शरदः शतं अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

प्रभो ! हमारी आँखें इतनी स्वस्थ एवं सशक्त हों कि हम उनसे सौ वर्ष पर्यन्त देखते रहें, कानों से सौ वर्ष तक सुनते रहें, सौ वर्ष तक वाणी से बोलते रहें सौ वर्षों तक अदीन होकर रहें और सौ वर्षों से ऊपर भी हमारी इन्द्रियां इसी प्रकार सचेष्ट रहें।

पापियों और उनके साथियों से बचने की कामना

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत। गवे च भद्रं धेनवे वीरायच श्रवस्यते अनेहसो व ऊतय सु ऊतयो व ऊतयः ।

प्रभो ! पापी हिंसक धर्म से विपरीत चलने वाले तथा उनके समीप रहने वाले अधर्मी कभी सुखी न हों। हमारी गायें तथा धेनु और यज्ञाभिलाषी पुत्र सदैव निष्पाप तथा निरुपद्रव स्थिति में रहें और उनको सदैव आप की रक्षण शक्तियां प्राप्त होती रहें।

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेः अराव्णः ।

हे ईश्वर ! आप हमें राक्षसों से बचायें और अदानी, कृपण तथा धूर्तों से हमारी रक्षा करें।

शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना

वयं जयेम त्वयायुजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे।
अस्मभ्यमिन्द्रवरिवः सुगं कृधि प्रशत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥४१॥ऋ० १।१०२।४॥

हे परमैश्वर्य सम्पन्न प्रभो ! तुम्हारे साथ रहते हुए हम सदैव विजय प्राप्त करें। युद्ध में हमारा जो अंश शत्रु के हाथ में पड़ गया है उसका आप उद्धार करें।

हमारे लिये सम्पदा को सुलभ कर दें और शत्रुओं के बल को नष्ट करें।

ब्रह्म-क्षत्र तथा उत्तम श्री की कामना

इद मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।

मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ २२ ॥ य० ३२ । १६ ॥

हे महामित्र ! राजाधिराज ! आपकी कृपा से मेरा ज्ञान तथा बल विज्ञान तथा राज्य दोनों ही श्री सम्पन्न हों। दिव्य शक्तियों की जो सबसे बड़ी देन है वह सर्वोत्तम श्री भी मुझे प्राप्त हो। गौ-इन्द्रिय तथा अश्व-प्राण की कामना।

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो। स्तवाम त्वा स्वाध्यः ।

हे अनन्तपराक्रम-शील परमात्मन् ! हमारी सभी कामनाओं को पूर्ण करो। हम गौ तथा अश्वों से संयुक्त हों हमारी इन्द्रियाँ तथा प्राण बलवान हों। सुन्दर बुद्धि वाले कोमल कर्म वाले तथा सम्यक ध्यान वाले बनकर हम सदैव आपका स्तवन करते रहें।

राष्ट्र के पालन की कामना

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।

अभि भूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥

हे प्रभो ! मैंने तुझको चारों ओर से धारण कर लिया है। अब तू ही मुझे अन्न बल ओज सहन शक्ति शत्रुओं के पराभव तथा राष्ट्र के पालन करने की शक्ति से सम्पन्न करके सौ वर्षों तक जीने का वर प्रदान कर।

इसी प्रकार की अनेक प्रार्थनायें वेद में भरी पड़ी हैं। इन प्रार्थनाओं में जिन कामनाओं के पूर्ण करने का उल्लेख है वे सत कामनायें हैं। ये कामनायें वैयक्तिक तथा सामूहिक उत्थान करने वाली हैं। जिन्हें असकामनायें कहते हैं वे मानव को उत्थान नहीं पतन की ओर ले जाती हैं। ऐसी कामनाओं का करने वाला पापी बनता है। वेद कहता है—

द्यावा पृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनुमा रभध्वम् ।

अंगिरसः पितरः सोम्यासः पाप मार्छ त्वप कामस्य कर्ता । अथर्व २ १२ ५

ये द्यावा और पृथ्वी मुझे प्रकाश से सम्पन्न करें। समस्त दिव्य शक्तियाँ मुझे सहायता दें। प्राण शक्ति से सम्पन्न पितर और सौम्य शक्ति से सम्पन्न विद्वान देश में फलें-फूलें और जो बुरी कामनाओं का करने वाला है वह पाप को प्राप्त हो। इसी प्रकार से कुटिलता आदि को दूर करने की प्रार्थनायें भी वेद में आती हैं।

"अपद्वेषो अपह्वरो , 'युयोध्यस्मत् जुहुराणमेनः' आदि मन्त्र पदों म हिंसा कौटिल्य आदि दुष्कर्मों तथा दुर्भावनाओं की निन्दा की गयी है। इस प्रकार की अस कामनायें मानव को मरण की ओर ले जाती हैं। वेद के शब्दों म विश्वाहि मर्त्यत्वना अनुकामा शतक्रतो। अगन्म वज्रिन् आशसः । हम अवांछनीय एवं अनावश्यक कामनाओं से घिरे हुए हैं इसीलिए मृत्यु हमें बार बार मारती है। कुत्सित इच्छायें हमें"

पीड़ित करती हैं। यदि इन कामनाओं को हम दूर कर सकें, और इनके स्थान पर आशाओं को, व्यापक एवं शुभ इच्छाओं को आसीन कर सकें विवेक द्वारा क्षुद्र एवं अनुचित कामनाओं पर अंकुश रख कर मंगल कामनाओं को अग्रसर कर सकें तो कुत्सित कामनाओं के निर्मूल हो जाने से शुभ कामनायें शक्ति का रूप धारण कर सकेंगी और हम जरण-मरण से बचकर अमृत धाम के निवासी हो सकेंगे।

ज्योति की कामना

आशसों में ज्योति की कामना प्रमुख है। वेद के कई मंत्रों में ज्योति प्राप्त करने की प्रार्थना आती है। यथा —

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमान् अमृते लोके अक्षिते इन्द्रायेन्दो परिस्रव।
—ऋ० ९/११३/७॥

उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वातइन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता।
ऋ० ६/४७/८ ॥ अथर्व १९/१५/४ ॥

गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि।
—ऋ० १/८६/१० ॥

हे पवमान सबको पवित्र करने वाले प्रभु ! मुझे ऐसे लोक में ले चलो जहां ज्योति हो। यही ज्योति कमनीय है सुखमयी एवं मंगलमयी है। अमृत एवं अक्षीणता का यही निवास स्थान है। प्रभो हमें ऐसे विस्तृत लोक में ले चलो जहां प्रकाश ही प्रकाश है। यह प्रकाश निर्भयता का जनक है। अन्धकार में तो सभी को भय लगता है। स्वस्ति या शुभ अस्तित्व प्रकाश की ही देन है। आनन्द का धाम भी यहीं है। नाथ इस गूढ़ तमस को हरण करो। सघन अन्धकार राक्षसों को प्रिय है, क्योंकि इसी में उनकी बन आती है। चोरी डकैती छीना-झपटी अन्धकार में ही सम्भव है। यह आपदा की निशा है इसमें से निकालो और ज्योतिर्मय स्थिति में ले चलो। हमारी यही कामना है।

निर्भयता की कामना

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु। अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोयः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अन्तरिक्ष में द्यावा में पीछे, आगे ऊपर और नीचे अभय हो। मित्रों से हम निर्भय हों। शत्रुओं से हम निर्भय हों। जाने हुए और अनजानों से हम अभय हों। दिन और रात्रिमें हम निर्भय रहें। सभी दिशायें मुझसे मित्रवत् व्यवहार करें।

अनृण होने की कामना

अनृणा अस्मिन् अनृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणा स्याम।

ये देवयाना: पितृयाणाश्च लोका: सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
—अथर्व ६/११७/३॥

इस लोक में हम ऋण-रहित हों। परलोक तथा तृतीय लोक में भी हम ऋण रहित हों। जो पथ देवयान अथवा पितृयान के नाम से प्रख्यात हैं, उन सभी पथों में हम ऋण-रहित होकर विचरण करें।

तीनों पाशों से मुक्त होने की कामना

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ऋ० १, २४।१५ ।

प्रभो हम तीन पाशों से घिरे हुये हैं। एक अधम पाश है जो तमो गुण से बना है। एक मध्यम पाश है जो रजो गुण से बना है और एक उत्तम पाश है जो सत्व गुण से बना है। ये पाश मुझे अदिति अर्थात अखण्ड अवस्था का अनुभव नहीं करने देते। इनके कारण मैं पाप से घिरा रहता हूं। प्रभो आप इन तीनों पाशों से मुझे मुक्त कर दें जिससे मैं अदिति तथा अनागस अवस्था को प्राप्त कर सकूँ।

सर्वोदय की कामना

अजीतयेऽहतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान सोम । ऋ० ९।९६।४॥

हे सोम! तुम अपनी शक्ति से सदैव समवेत रहते हो। मुझे भी ऐसी शक्ति दो जिससे मुझे कोई जीत न सके मुझे कोई हानि न पहुँचा सके। मेरी यह भी कामना है कि सर्वत्र स्वस्ति का सञ्चार हो और एक बृहत सर्वोदय की कल्याणकारी स्थिति का उदय हो। मेरी ही नहीं मेरे सभी मित्रों की यही कामना है।

प्रभु के सन्दर्शन में जीवन व्यतीत करने की कामना

दृतेदृंह माज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्।

हे सर्व समर्थ परमेश्वर! मुझे इतना दृढ़ बना दे कि मैं तेरे सन्दर्शन में चिर काल तक जीवित रहूं। तू मुझे देख रहा है, यह भावना सदैव मेरे साथ बनी रहे।

प्रभु प्राप्ति की कामना

आते वत्सो मनोयमत् परमात् चित् सधस्थात्। अग्ने त्वाम् कामये गिरा।
प्रभु तुम परम हो और मैं अवम हूं फिर भी मैं तुम्हारा पुत्र हूं। अतः तुम्हारे मन को मैं अपनी ओर खींच ही लूंगा। तुमसे मिलने की यह कामना मात्र वाणी द्वारा अभिव्यक्त हो रही है।

प्रभु से एक हो जाने की कामना

अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्य आ ।
अरातीवा चिदद्रिवो अनुनौ शूरमंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥

तप तपता है, तब रचना का प्रारम्भ होता है। प्रश्नोपनिषद इस काम को "ईक्षण" कहती है।

जो काम सृष्टि के मूल में है वही फैल फूट कर अपनी सन्तति के अंग-अंग में भी रमण करने लगता है। मूल से विस्तार या फैलाव में आकर काम का रूप विकृत हो जाता है। जैसे गंगा हिमालय से निकल कर मैदान में बहती हुई अन्त में बंगाल की खाड़ी में मग्न हो जाती है और अपने मूल स्वच्छ रूप का परित्याग करके कलकत्ते के पास अत्यन्त मलिन रूप में प्रकट होती है वैसे ही काम अपनी शाखा प्रशाखाओं में विकृत होता जाता है। शृंगार में जो काम का रूप है उसे रति की संज्ञा दी गयी है। पति और पत्नी का परस्पर आकर्षण इसी काम का एक रूप है। सन्तति-परम्परा इसी के द्वारा आगे बढ़ती है। अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्रों में भी काम को मन का प्रथम बीज कहा गया है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

स काम कामेन बृहता सयोनिः रायस्पोषं यजमानाय धेहि। १९।५२।१॥

यह काम पहले ही वर्तमान था जो मन का प्रथम रेत कहा जाता है। यह काम बृहत काम के साथ सयोनि है समान मूल वाला है, वह यजमान के लिये धन और पुष्टि दे।

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।

त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि॥

हे काम! तुम अपने बल के साथ प्रतिष्ठित हो। तुम विभु हो और विभावा हो अपने पश्चात उत्पन्न हुये सभी पदार्थों में व्यापक हो और अनेक रूप धारण करने वाले हो। तुम सखा हो और सबको अपना सखा बनाना चाहते हो। तुम उग्र और सेनाओं पर विजय प्राप्त करने वाले हो। तुम यजमान को बल और ओज प्रदान करो।

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये।

आस्मा अशृण्वन्नाशा कामेना जनयन्त्स्वः॥

इस अक्षय प्रभु से अपने प्रतिपालन की कामना करता हुआ मैं कितनी दूर से चलकर आया हूं। कहां कहां नहीं भटका! इच्छायें मुझे कहां कहां ले गयीं परन्तु आज प्रतीत होता है कि इन दिशाओं के कानों में मेरी पुकार पहुँच गयी और जिस काम को लिये हुये जिन इच्छाओं को मन में संजोये हुये मैं पथ पर आगे बढ़ रहा था उन्हीं के परिणाम स्वरूप आज स्वर्ग भी मेरे सम्मुख दिखाई देने लगा है। जो काम स्वर्ग की प्राप्ति कराता है मुक्ति में भी जीव के साथ रहता हुआ उसे इष्ट दैवी भोगों का आस्वादन कराता है वह काम निस्सन्देह स्पृहणीय है। शतपथ ब्राह्मणकार कहता है कि जब जीव मोक्ष में किसी का दर्शन करना चाहता है तो मन की सहायता से चक्षु बन जाता है सुनना चाहता है तो श्रोत्र बन जाता है और काम

स्वरूप ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं से युक्त होता रहता है। वेद में जहां-जहां ऐसी प्रार्थनायें आती हैं कि जिस कामना को ले कर हम यज्ञ करते हैं वह कामना प्रभु की कृपा से पूर्ण हो वहां काम का यही शिव स्वरूप उपस्थित रहता है।

सार युत विचार यही जान पड़ता है कि काम के शिव या भद्र रूप को अपनाना चाहिये और अशिव एवं अभद्र रूप को त्याग देना चाहिये। उसका अशिव रूप कल्याण पथ में विघ्नस्वरूप है मार स्वरूप है और साधक को पतन की ओर प्रवृत्त करने वाला है। अतः उसके छोड़ देने में ही कल्याण है। काम का शिव रूप सभी ओर से और सभी प्रकार से ग्रहण करना है। यदि उसे छोड़ दिया तो पुरुषार्थ ही व्यर्थ सिद्ध होगा।

प्रभु शिव की सीमा हैं भद्र की पराकाष्ठा हैं। उनके अन्दर उत्तमता का चरमबिन्दु है। वे सुभग ही नहीं सुभगता के स्रोत हैं। वे शम्भव के साथ मयोभव भी हैं और शंकर के साथ मयस्कर भी हैं। वे स्वरूप से शिव हैं। उनसे शिव-तर की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जसे वृक्ष से शाखायें फूट-फूट कर चारों ओर फैल जाती हैं वैसे ही प्रभु से शिव के स्रोत से शिवत्व की सौभाग्य की कल्याण की कुल्यायें निकल कर चतुर्दिक प्रसृत हो जाती हैं। जो पात्र हैं, आकर्षण-ग्रहण के केन्द्र हैं वे इन्हें प्राप्त करते हैं और कल्याण के भाजन बनते हैं। उत्तमता के इसी स्रोत शिव स्वरूप परमप्रभु को प्राप्त करने के लिये जीव यहां भटक रहा है। उसके तप दान यज्ञ आदि सभी कार्य इसी एक की सान्निध्य-प्राप्ति के लिए हैं। काम का भद्र रूप इस उद्देश्य में जीव का सहायक बनता है। अत वह ग्रहण करने योग्य है।

शृंगार में आए हुए काम को भी महापात्र विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में शुचि मेध्य तथा उज्ज्वल रूप में स्वीकार किया है और उसे रस की अवस्था तक पहुँचाने वाला माना है। 'रसो वै सः' ऐसा उपनिषद्कार कहते हैं। कामायनी अर्थात श्रद्धा भी काम की पुत्री कही जाती है। यह श्रद्धा जिसके पास है वह रस का आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है। काम का यह रूप हम सबके अन्दर विद्यमान रहे।

ड मोक्ष

जसे शाला की नींव या आधार भूमि होती है और ईंट पत्थर, सीमेंट चूना बालू आदि इसके निर्माण में साधन भूत होते हैं और लक्ष्य होता है उसमें सुख-पूर्वक निवास करना वैसे ही हमारे जीवन की आधार शिला धर्म है, अर्थ और काम उसमें साधन रूप हैं और मोक्ष अर्थात् त्रिविध दुःखों से छूट कर आनन्द प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। वेद के अनेक मन्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति की कामना वर्णित हुई है और स्वर्ग का अर्थात सुख विशेष का काम्य

तत्व के रूप में उल्लेख हुआ है ।

स्वर्ग को त्रिविष्टप तथा तृतीय धाम भी कहा गया है । इस तृतीय धाम में जो मोक्ष रूप अमृत है उसका आस्वादन दिव्य-गुण-सम्पन्न दैवी पुरुष ही किया करते हैं । वेद कहता है —

यत्र देवाः अमृतमानशानाः तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।

इस तृतीय धाम में देव अमृत का उपभोग करते हुये स्वच्छन्द विचरण किया करते हैं । व्याहृतियों में स्व का स्थान तीसरा है । उसके आगे चार लोक या चार स्थितियाँ और हैं । ये स्थितियाँ मोक्ष के ही विभिन्न स्तर हैं ऐसा छान्दोग्य उपनिषत्कार का अभिमत है । प्रथम प्रकार के स्वर्ग में वसुओं का राज्य है द्वितीय में रुद्रों का तृतीय में आदित्य का चतुर्थ में मरुतों का और पंचम में सोम का साम्राज्य है । इन मोक्ष लोकों में देव निवास करते हैं जो न खाते हैं और न पीते हैं अपितु अमृत को देखते ही तृप्त हो जाते हैं । अन्तिम स्थिति में साध्य देव पहुँचते हैं जिनके लिये सूर्य के उदय तथा अस्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं है इनके लिये सदैव दिन ही दिन रहता है । ये प्रकाश के वासी हैं और स्वयं ज्योतिर्मय हैं । वेद कहता है —

धृतव्रता अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवा सोऽमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ।

ये मुक्तात्मा देव सत्य के द्रष्टा हैं मानवता की पहिचान रखते हैं अपलक दृष्टि से सबको देखते हैं पूजनीय हैं और बृहत् अमृतत्व का उपभोग करने वाले हैं । ज्योति इनका रथ है अर्थात् वाहन है । ज्योति के यान पर चढ़े हुये ये स्वच्छन्द गति से सभी दिशाओं में विहार करते रहते हैं । इनकी प्रज्ञा कभी हीनता को प्राप्त नहीं होती । ये अनागस अर्थात पाप से सर्वथ पृथक रहते हैं । इनका शरीर प्रकाश का शरीर है । 'दिवो विनिवर्ष्म' ये द्यौ लोक के निवासी हैं । द्यौलोक ही इनका निकेतन है ।

मन्त्र में मुक्तात्माओं की जो विशेषतायें वर्णित हुई हैं उनमें प्रकाश की प्रमुखता है । विकास के स्तरों में जब साधक प्रज्ञा लोक में पहुँचता है तो स्वयं प्रकाश बन जाता है । सामान्य साधक इस स्थिति में पहुँच कर गिर जाते हैं, परन्तु जिसकी भूमि दृढ़ बन गयी वह गिरता नहीं वहीं स्थिर रहता है । इसीलिये मुक्तात्माओं को अ+हि+माया—कहा गया है । माया का अर्थ प्रज्ञा है । नहीं होती हीन जिनकी प्रज्ञा अर्थात जिनके अन्दर प्रज्ञा का प्रकाश सर्वदा बना रहता है, वे ही दिव्य आत्मा मोक्ष पद के अधिकारी बनते हैं ।

प्रकाश में विचरण करना ही स्वाधीन बनना है । जो व्यक्ति प्रकाश-विहीन है, उसका दर्शन तथा आचरण अधूरे रहेंगे । विश्व में मैं अनेक पदार्थों को देखता हूँ

परन्तु उन पर दृष्टिमात्र जाती है उभरी परत कुछ-कुछ दिखाई पड़ता है, परन्तु वह दृश्य पदार्थ वस्तुतः क्या है उसकी अन्तरात्मा में कौन सा तत्व विद्यमान है यह दृष्टि गोचर नहीं हो पाता। इसी प्रकार मैं जो कुछ करता हूं सामान्यतया उसका भी मुझे सम्यक बोध नहीं होता। जब तक मेरा दर्शन तथा कर्तृत्व विचार-शून्य हैं और प्रकाश की परिधि से बाहर हैं तब तक उनका होना और न होना बराबर है।

प्रकाश में सब वस्तुएं अपने वास्तविक रूप में दिखाई देती हैं। प्रकाश में मैं जो कुछ करता हूं उसका मुझे सम्यक बोध होता है। अन्धकार में स्थिति इसके विपरीत होती है। मानव अपने दैनन्दिन व्यवहार में प्रायः अन्धकार में ही भटकता रहता है। विरल हैं वे मानव जो प्रकाश में विचरण करते हों। प्रकाश की उपलब्धि साधना की अपेक्षा रखती है। दीक्षित होकर व्रती-बनकर, तप और श्रद्धा से समन्वित होकर जो साधक प्रकाश की ओर बढ़ते हैं वे मोक्ष की ओर उन्मुख हैं और स्वाधीनता प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

मोक्ष का अर्थ है 'छूटना'। किससे छूटना? पापों से बन्धनों से आवरणों से जो न जाने कब से आत्मा को आवृत किए हैं। ये आवरण तीन प्रकार के हैं। साधक इन तीनों पापों से मुक्त होने के लिये प्रभु से प्रार्थना करता है —

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥

प्रभु आप वरुण हैं, वरणीय हैं सर्वश्रेष्ठ हैं। आप ही पापों के वर्जक हैं विघ्नों के निवारण करने वाले हैं। मेरे विघ्नों को भी दूर कर दो मेरे बाधकों आच्छादकों का निवारण कर दो। मैं विघ्नबाधा-विहीन परिस्थिति में कल्याण पथ का पथिक बन सकूं। नाथ! परिस्थिति-जन्य विघ्नों के साथ कुछ पाशों ने भी मुझे बाँध रखा है। इन पाशों से मुझे छुड़ा दो। ये पाश उत्तम मध्यम तथा अधम कोटि के हैं। इन्होंने मुझे पापी बना दिया है। अधम पाश तमोगुण का है जो मेरे कर्तृत्व पथ में बाधक बनता है। मध्यमपाश रजोगुण का है जो मुझे अनुचित रागद्वेष का आखेट बनाए हुए है। उत्तम पाश सत्वगुण का है जो मुझे अभिमान में मग्न करता है। इन तीनों पाशों से आप ही मुझे छुड़ा सकते हैं। इन पाशों के कारण मैं अदिति की अवस्था को अनुभव करने से वंचित हो जाता हूं। खण्ड-खण्ड अनुभूतियों का पात्र बनकर मैं व्यापक अनुभूतियों से दूर पड़ा रहता हूं। यह स्थिति मुझे व्रत से पराङ्मुख कर देती है। हे आदित्य! तुम्हारे व्रत से बाहर रहकर मैं प्रकाश की भूमिका में नहीं पहुँच पाता और इसी हेतु अखण्डता की अनुभूति से पराङ्मुख रहता हूं। कभी इस खण्ड में कभी उस खण्ड में कभी इस क्षेत्र में कभी उस क्षेत्र में कभी इस योनि में कभी उस योनि में चक्कर काटते काटते मैं नितान्त परवश एवं दीन बन गया हूं। परतन्त्रता के थपेड़े खाते-खाते ऐसी दुर्दशा में पहुँच गया हूं जो अब असहनीय एकान्त असहनीय सिद्ध हो रही है। मुक्त करो हे वरुण! मुक्त करो प्रकाश दो। हे आदित्य प्रकाश दो।

माँ अदिति ! मुझे अखण्डता की ओर ले चलो।

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड में दशम सूक्त का नाम पाश मोचनम है। इसमें आठ मन्त्र हैं जिनमें प्रथम मन्त्र परवर्ती सात मन्त्रों में प्रथम पंक्ति के आविष्य के साथ रखा गया है। यह मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

> क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
> अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावा पृथिवी उभेस्ताम ॥

ऊपर हम प्रकाश की चर्चा कर चुके हैं। आध्यात्मिक विकास में प्रज्ञा की उपलब्धि प्रकाश की उपलब्धि है। प्रज्ञा स्वरूपतः विशुद्ध ज्ञानमयी है। ज्ञान प्रकाश ही है। सांसारिक पदार्थों का ज्ञान विज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान का अर्थ ही है विविध रूपा सृष्टि का ज्ञान। इसके विपरीत ज्ञान आत्म-ज्ञान है। एक में परिधि ज्ञेय बनती है, द्वितीय में केन्द्र अर्थात् आत्मा। सृष्टि का विज्ञान भी हमें आत्म-ज्ञान तक ले जाता है वैसे ही जैसे परिधि का एक-एक बिन्दु केन्द्र की ओर प्रतिगति द्वारा पहुँच जाता है। ऊपर उद्धृत मन्त्र में ब्रह्म अर्थात् ज्ञान द्वारा निष्पाप बन जाने की प्रतिज्ञा वर्णित हुई है। भगवद्गीता के अनुसार ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। अथवा सर्व ज्ञान प्लवेनैववृजिनं सन्तरिष्यसि। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञानरूपी नौका पर चढ़कर हम पाप रूपी सरिता को पार कर जाते हैं। कर्म चाहे सद् हो अथवा असद्, भोगभूमि को उत्पन्न करता है। असद् कर्म का फल दुःख भोग है। सद् कर्म सुख के उपभोग की ओर ले जाते हैं। आत्मा इन दोनों से निर्लिप्त है। वह चैतन्यमयी तथा ज्ञानमयी है। ज्ञान का सम्पादन ज्ञान रूपी सूर्य की एक-एक किरण ज्ञान-अग्नि की एक-एक ज्वाला आत्म तत्त्व का व्याख्यान है। अतएव मन्त्र में ज्ञान को अनागस अथवा निष्पाप बनाने का जो साधन कहा गया है वह नितान्त उपयुक्त है। यदि मैं ज्ञान द्वारा निष्पाप बन गया हूँ तो द्यावा और पृथ्वी दोनों ही मेरे लिये कल्याणकारी सिद्ध होंगे। मन्त्र में वरुण के पाश से मुक्त होने का भी उल्लेख है। यह पाश क्षेत्रिय निर्ऋति द्रोह तथा बन्धु-बान्धवों के अनुचित पक्षपात से सम्बन्ध रखते हैं। निर्ऋति घोर कष्ट की अवस्था है। इसका एक व्यापक रूप है और दूसरा क्षेत्रिय। मन्त्र में क्षेत्रिय निर्ऋति का वर्णन है जिसे व्यक्तिगत शारीरिक आपदा कहा जा सकता है। अपने बन्धु-बान्धवों का अनुचित संरक्षण मानव में पाप की वृत्ति उत्पन्न करता है अतः परित्याज्य है। यह द्रोह की ओर भी ले जाता है। यदि मैं अपने बन्धुओं का अनुचित पक्षपात करता हूँ तो स्वभावतः अन्य व्यक्तियों के द्वेष का भाजन बनता हूं। और जब अन्य व्यक्ति मुझसे द्वेष करने लगेंगे तो प्रतिक्रिया रूप में मैं भी उनसे द्वेष करने के लिये बाध्य हो जाऊंगा। यह स्थिति क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में अत्यन्त भयावह रूप धारण कर सकती है। ज्ञान इस प्रकार के रोगों की एक मात्र औषधि है। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः की उक्ति प्रख्यात ही है। विद्या

मृतमश्नुते' विद्या या ज्ञान अमृत स्वरूप मोक्ष का प्रदाता है ऐसा वेद स्वयं कहता है। निम्नांकित मन्त्र में मृत्यु से मुक्ति पाने तथा अमृत को उपलब्ध करने की प्रार्थना वर्णित है –

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टि वर्धनम ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।।

हे त्र्यम्बक ! हे त्रिनेत्र ! हे सर्वदर्शी ! आप कोमल गन्ध वाले हैं। आपका यशः सौरभ चतुर्दिक विकीर्ण हो रहा है। सूर्य की रश्मियाँ चन्द्रमसी धवल ज्योत्स्ना, उषा की अरुणिमा तारकावलि की झिलमिलाहट पुष्पों का विकास सभी तो आपका गुणानुवाद कर रहे हैं। महिमामय महापुरुष मनीषी विप्र, विपश्चित कवि अपनी अपनी सौम्य भावनाओं में भाव भंगिमाओं में विचार-वैमल्य में अनासक्त कर्मकाण्ड में आपके ही विरद का वर्णन किया करते हैं। आप ही पोषण-प्रदाता हैं प्रदाता ही नहीं, उसका संवर्धन करने वाले हैं। जैसे ककड़ी (खरबूजा) का फल पकने में स्वतः वृन्त से पृथक हो जाता है वैसे ही हे देव ! मुझे मृत्यु के बन्धन से छुड़ा दो और अमृतगामी बना दो।

अथर्व० १९-४२-३, ४ तथा ऋग्वेद १०-६१-९ में प्रभु को अंहोमुच कहा गया है। वास्तव में पाप से छुड़ाने वाला एक मात्र प्रभु ही है। जो स्वयं नित्य अमृत है, वही दूसरों को भी अमर बना सकता है। जिसके पास आनन्द है वही दूसरों को आनन्द दे सकता है। जीवात्मा सत् चित् तो है ही साथ ही वह आनन्द का भी अभिलाषी है। यह आनन्द उसे नित्यानन्दी परमात्मा से ही प्राप्त होता है। द्विजों के लिये सन्ध्या की उपासना को, जो वैदिक - चर्या में अनिवार्यता प्राप्त है उसका भी यही कारण है। हमारा ध्येय तीनों प्रकार के दुःखों से छूटकर आनन्दमयी अमृत अवस्था को प्राप्त करना है।

अथर्व० १९।४३ में आठ मन्त्र हैं और सभी मन्त्र एक ही आकांक्षा प्रकट करते हैं। साधक चाहता है- उसे भी वह अवस्था प्राप्त हो जो ब्रह्म वेत्ताओं के लिये सुलभ है। दीक्षा और तप दो प्रमुख साधन हैं जो ब्रह्म वेत्ताओं को अमृत लोक में ले जाते हैं। इनके द्वारा मल क्षीण होते हैं। मनन और चिन्तन अध्यात्म क्षेत्र में विचरण करने वाले साधक के अंदर प्रज्ञा का उदय करते हैं। प्रज्ञा का यह प्रकाश आत्मा और अनात्मा की ग्रन्थि को सुलझाता है। प्रज्ञा में प्रविष्ट हुआ साधक प्रभु के अनुग्रह से आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है और मोक्ष फल का भागी बनता है। निम्नांकित मन्त्र में साधक की मोक्षाकांक्षा स्पष्टतः प्रकट हो रही है —

यत्र ब्रह्म विदो यान्ति दीक्षया तपसा सह, ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे।

तप और दीक्षा के साथ ब्रह्मवेत्ता जिस लोक में जाते हैं, ब्रह्मा मुझे वहीं पहुँचा दे। ब्रह्मा मेरे अन्दर ब्रह्म को धारण करे। ब्रह्म ज्ञान है। ज्ञान अनन्त है।

ब्रह्म का अर्थ ही महान तथा अनन्त है। जब तक जीव तीनों देहों से बँधा हुआ अपने को स्वल्प रूप में अनुभव करता है तब तक यह बन्धन—ग्रसित है। इन बन्धनों से मुक्त होते ही उसे आत्म स्वरूप की विशालता भासित होने लगती है। यही ज्ञान है। अज्ञान उसे प्रकृति से हटा कर ब्रह्म की ओर ले जाता है। इस ब्रह्म को ज्ञान कहिये आनन्द कहिए अथवा सबसे ऊपर परमपद का नाम दीजिये बात एक ही है। जैन जिस अर्हत अवस्था में पहुंचते हैं बौद्ध जिसे प्रज्ञा पारमिता का नाम देते हैं असत्वादी जिसे शून्य कह कर पुकारते हैं वैदिक धर्मावलम्बी उसी को ब्रह्म लोक अथवा मोक्ष का नाम देते हैं। इस मोक्ष की आकांक्षा हम सबके अन्दर स्वभावतः निहित है। नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति भी दुखों से छूटना चाहता है। मोक्ष का अर्थ ही छुटकारा है। तीनों प्रकार के दुखों (आध्यात्मिक आधि दैविक और आधि भौतिक) से छूट जाना हम सब के जीवन का एक मात्र ध्येय है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में बन्धनों से छूट जाने के पश्चात् एक भावात्मक अवस्था का भी उल्लेख हुआ है। दुखों से छूट जाना एक बात है, परन्तु आनन्द की उपलब्धि कर लेना उसके उपरान्त की अवस्था है। मन्त्र इस प्रकार है —

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

यह मन्त्र सम्भूति और असम्भूति की त्रिपुटी का तीसरा मन्त्र है। इसी प्रकार का एक मन्त्र यजुर्वेद के इसी अध्याय में विद्या और अविद्या की त्रिपुटी के अन्त में आता है— विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययामृतमश्नुते ॥

असम्भूति को विनाश की संज्ञा दी गई है। यह विनाश प्रकृति से सम्बन्ध रखता है। हमें प्रकृति से पृथक होना है। पार्थक्य त्याग अथवा विनाश द्वारा ही होता है। सम्भूति भावात्मक अवस्था है। उसका अर्थ ही सम्यक अस्तित्व अथवा शुद्ध सत्ता है। आत्मा प्रकृति से छूटकर ही अपने शुद्धस्वरूप में अवस्थित होता है। अविद्या का अर्थ है विद्या से व्यतिरिक्त कर्म और उपासना। प्राकृतिक दोष कई साधनों से क्षीण होते हैं। कर्म और उपासना उनमें प्रमुख है। मन्त्र में इसीलिये कहा गया है कि अविद्या अर्थात् कर्म और उपासना द्वारा साधक मृत्यु को पार कर जाता है। मृत्यु का चक्र विविध प्रकार की योनियों में आना-जाना है। मानव योनि चौरासी लाख योनियों के पश्चात प्राप्त होती है, परन्तु इस योनि में भी कई स्तर हैं जिनमें जन्म और मृत्यु का आवागमन तब तक होता रहता है जब तक मानव देवत्व को प्राप्त न कर ले। देवत्व प्रकाश का द्योतक है। यह प्रकाश जब स्थिर हो जाता है तब उसे वेद के शब्दों में अजस्र ज्योति,

उत्तरत्तर सूर्य अथवा उत्त ज्योति कहा जाता है। मृत्यु को पार करके यह अजस्र ज्योति आत्म ज्ञान द्वारा ही उपलब्ध होती है। जो आत्म ज्ञान तक नहीं पहुँचा, आत्म स्वरूप में स्थित नहीं हुआ यह अमृतमयी अवस्था उसके भाग्य की वस्तु नहीं है। अथर्व के १९वें काण्ड के ४३वें सूक्त में अग्नि वायु, सूर्य चंद्र सोम इन्द्र आप तथा ब्रह्म नामों द्वारा एक विशेष क्रम का उद्घाटन किया गया है। इस क्रम को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है।

अग्नि का स्थान सर्व प्रथम है। यह अग्नि मेधा प्रदान करती है। अग्नियां कई हैं परन्तु जातवेदस् इन अग्नियों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यही मेधा की जननी है इसी के द्वारा श्रवण और मनन अपना बनता है अर्थात आत्म सात् होता है। उस पर अपनी छाप लग जाती है। वह दूसरों का अथवा उधार लिया हुआ नहीं जान पड़ता। आध्यात्मिक विकास के लिये यह प्रथम सीढ़ी है। अग्नि के उपरान्त वायु का स्तर आता है। वायु प्राण प्रदान करती है। प्राण आत्मा की ही छाया है और मेधा से पूर्वस्थिति रखता है। मेधा प्राण के आश्रय से ही अभिव्यक्त होती है। प्राकृतिक सर्ग में भी यही क्रम है। प्रकृति का प्रथम स्पन्द ही प्राण है। महत् तत्व जो मेधा और बुद्धि का व्यापक कोष है प्राण शक्ति के उपरान्त ही आविर्भूत होता है। इसके पश्चात सूर्य तत्व आता है जिससे चक्षु अर्थात् दर्शन शक्ति प्राप्त होती है। दर्शन द्रष्टा के साथ रहता है। इस दर्शन में प्रकृति और आत्म तत्व पृथक पृथक भासित होने लगते हैं। सूर्य के पश्चात चन्द्र आता है। चन्द्र मन प्रदान करता है। यह मन चन्द्र का प्राह्लाद का जनक है ऐसा पुरुष सूक्त में कहा गया है। इसके पश्चात सोम का स्थान है जो पय अर्थात् रस का प्रदाता है। रसो वै स यह कह कर तैत्तिरीय उपनिषद ने जिस रस का नाम लिया है उसी की संज्ञा पय है। अथर्ववेद भी १८। १। ४८ में प्रभु को मधुमान तथा रसवान कहता है। इस रस से भी ऊपर इन्द्र है जो इन्द्रियों का देवों का अधिपति है। देव इस रस का आस्वादन करते हैं परन्तु तभी जब इन्द्र का बल उनके साथ हो। आत्म बल की अनुपस्थिति में रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता। वेद ने अपां सोमं अमृता अभूम कह कर जिस सोम पान का वर्णन किया है वह यही रस है। आत्म बल के ऊपर आप शक्ति है। यह व्यापक भूमा अवस्था की द्योतिका है जिसे हम मोक्ष कहते हैं। उसकी व्यापकता की अनुभूति इसी आप अवस्था में होती है। अन्तिम स्तर पर ब्रह्म आता है। ब्रह्म-लीनता विरल साधकों की प्राप्तव्य भूमि है। इस क्रम पर यदि पाठक गम्भीरता से विचार करेंगे तो उन्हें विविध साधना भूमियों के सामञ्जस्य का किंचित आभास प्राप्त हो सकेगा। मोक्ष हमारे चतुर्वर्ग में अन्तिम तत्व है और मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमारे निखिल साधन-समुदाय हैं।

++++++++

५ । संस्कृति तथा काण्डत्रय

क त्रिगुणात्मक जगत और काण्डत्रय

जगत त्रिगुणात्मक है। उसी के समानान्तर मानस भी तीन धाराओं से संवलित है। वेदागम की वैभव दृष्टि चिति के क्षेत्र में तीन काण्ड वाली बनती है। जहाँ तक प्राकृतिक जगत का सम्बन्ध है वह सत्व रज तथा तम से ओत प्रोत है। तारतम्य अवश्य है जिसके अनुसार कहीं सत्व का आधिक्य है कहीं रज का और कहीं तम का, परन्तु अपनी स्वल्प-बहुत मात्रा में ये सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रकृति से चिति के क्षेत्र की समानान्तरता का जब हम प्रतिपादन करते हैं तब तीन काण्डों में ज्ञान सत्व के आश्रित है और कर्म रज के आश्रित है। उपासना का क्रियात्मक अंश भी कर्म के ही साथ है परन्तु अपने श्रद्धा रूप में वह तम की निष्क्रियता से सम्बद्ध हो जाता है। जैसे श्रद्धा के आत्म समर्पण में अहन्ता का प्रभाव दूर हो जाता है जो निखिल कर्म जाल की जननी है तम में भी वैसी ही शून्यता अथवा अभावात्मकता रहती है।

ख ज्ञानकाण्ड

तीनों काण्डों में सर्व प्रथम ज्ञान का स्थान है। वर्णमाला में यह 'अ' ध्वनि द्वारा सूचित होता है। प्रकाश में जैसे अस्तित्व का भान होता है वैसे ही ज्ञान में भी। सत्ताओं पर दृष्टि जाते ही उनको समझने की इच्छा जाग्रत होती है। जिज्ञासा इसी का नाम है। ज्ञान की इच्छा के प्रतिफलित होते ही उस के ग्रहण की अभिलाषा उत्पन्न होती है। ग्रहण कर्म का सूचक है। ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्मिलित परिणाम उपासना है। इसमें आनन्द का उपभोग अथवा रस का आस्वादन उपस्थित रहता है।

ज्ञान दो प्रकार का है एक ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखता है दूसरा आत्मतत्व से। ब्रह्माण्डीय ज्ञान को हम विज्ञान कह सकते हैं और आत्मज्ञान को विशुद्ध ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक दूसरे के प्रतिरूप हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्माण्ड को समझने के लिये पिण्ड के अध्ययन को ही पर्याप्त माना था और कहा था 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'। ऐतरेय उपनिषत्कार ने पुरुष को समस्त सृष्टियों में सर्वोच्च स्थान दिया है। 'पुरुषो वाव सुकृतम्' पुरुष सर्व श्रेष्ठ रचना है, क्योंकि उसमें ब्रह्माण्ड के सभी अंश विद्यमान हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, दिशाएं, अन्तरिक्ष, द्यौ,

भूमि आदि सभी अंशावतार रूप से पुरुष के शरीर में विद्यमान हैं। अतः पिण्ड का ज्ञान यदि हो गया तो उससे समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को हम जब विज्ञान कहते हैं तब उसका अर्थ होता है विविध रूपता का ज्ञान। सृष्टि विविधरूपा है, यह प्रत्यक्ष का विषय है। इसका विज्ञान हमें इसके रचयिता की ओर ले जाता है। सृष्टि में निहित व्यवस्था तथा सप्रयोजनता एक ऐसे मस्तिष्क की सूचना देती है जो सर्वज्ञ नित्य और सर्वशक्तिमान है। विज्ञान द्वारा जब हम सृष्टि-कर्ता की ओर अपना ध्यान ले जाते हैं तो प्रकृति नहीं, चिति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह चिति अथवा चैतन्य आत्माधित है। आत्म ज्ञान समस्त विज्ञान के मूल में निवास करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान प्रकाश है परन्तु यह भौतिक प्रकाश से भिन्न है। भौतिक प्रकाश प्राकृतिक पदार्थों को ही दिखला सकता है, आत्मा को नहीं। कठोपनिषदकार इसी लिए कहता है —

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥

आत्म प्रकाश के समक्ष सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश नगण्य है। ऋषि आगे कहता है —

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ आत्म प्रकाश से ही इन भौतिक सूर्यादिकों को प्रकाश प्राप्त होता है। इन उक्तियों में दोनों प्रकाशों की समरूपता ध्वनित हो रही है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। दोनों प्रकार के प्रकाशों में आकाश पाताल का अन्तर है।

ज्ञान प्रकाश है परन्तु वह चाक्षुष प्रत्यक्ष से पृथक है। उसे हम मानस प्रत्यक्ष कह सकते हैं। मानसिकता चेतनता का क्षेत्र है। तन्मेमन शिव संकल्पमस्तु' टेक वाले छः मन्त्र मन का विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इनमें मन को ज्योति प्रज्ञान, चेत धृति भूत-भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञाता ज्ञानेन्द्रियों का प्रेरक वेद – निधि तथा नरों का नेता कहा गया है। चेतनता, सज्ञानता प्रकाशरूपता भौतिक प्रकाश नहीं है। चिति का यह क्षेत्र विकारात्मक है और इसीलिये हम उसे प्राकृतिक विपु धात्मकता के समानान्तर रखते हुये भी भिन्न मानते हैं। एक स्थान पर प्रकृति का प्रपंच है तो दूसरे स्थान पर आत्मा की असंगता एकता तथा केन्द्रियता। एक विविध रूपा है तो द्वितीय में एकरूपता है। एक में परिधि है विस्तार है तो द्वितीय में सभे कम। विज्ञान और ज्ञान इन्हीं दोनों दशाओं को प्रकट करते हैं।

सृष्टि विद्या प्राण विद्या तथा आत्म विद्या ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त पुरुष सूक्त नासदीय सूक्त अस्यवामीय सूक्त आदि में विशद रूप में वर्णित हुई है। सृष्टि विद्या के विविध अंगों का वर्णन भी वेद में हुआ है। जगत में तीन प्रकार के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं जिनका उल्लेख निम्नांकित ऋचाओं में हुआ है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते। ...

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।१।
बालादेकमणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया । २ ।।

दो सुन्दर उड़ने वाले पक्षी हैं। वे परस्पर सयुजा और सखा हैं। दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। इनमें से एक वृक्ष के फल को स्वाद लेकर खाता है। दूसरा देखता है साक्षी भाव है परन्तु फलों को नहीं खाता है।

यहाँ दो पक्षी जीव और परमात्मा है। संसार वृक्ष के रूप में है। जीवात्मा कर्म करता है और सुख-दुःख रूप में प्राप्त फलों को भी भोगता है। परमात्मा इस बात में जीव से भिन्न है। वह अनन्त कर्मा है परन्तु फल भोग से पृथक है। जीवात्मा फल भोगने में परमात्मा के अधीन है। प्रभु ही उसे न्याय-व्यवस्था में कर्मों का फल देने वाले हैं। वे सबके ऊपर हैं। उनके ऊपर कोई भी नहीं है।

तीन तत्वों में प्रकृति के परमाणु बाल से भी अधिक सूक्ष्म हैं। दूसरा तत्व जीवात्मा है जो सत्तावान है परन्तु उसकी सत्ता मात्रा की अपेक्षा नहीं रखती। उसे अंगुष्ठमात्र कहा अवश्य गया है परन्तु यह कथन हृदय के अंगुष्ठमात्र होने के कारण है क्योंकि वहीं जीवात्मा का विशिष्ट निवास स्थान है। जीवात्मा की मात्रा न इव नहीं जैसी है। इन दोनों से भी उत्कृष्ट तत्व परमात्मा है जो इन दोनों को सब ओर से व्याप्त किए हुए है। यही देवता मेरा और सबका प्यारा है।

प्रकृति को वेद में कई नामों से अभिहित किया गया है, यथा पृश्नि स्वधा उष्, अदिति अजा आदि। समग्र ब्रह्माण्ड प्रकृति द्वारा ही निर्मित होता है। प्रकृति उसका उपादान कारण है। परमात्मा निमित्त कारण है। जीवात्माओं को जो शरीर प्राप्त होते हैं वे भी प्रकृति के परिणाम हैं। ये शरीर दिखाई देते हैं परन्तु जीवात्मा दिखाई नहीं देता। निम्नांकित ऋचा में इसी भाव को प्रकट किया गया है —

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यम्चिक्युः न निचिक्युरन्यम् ।।

जीवात्मा प्रकृति से पकड़ा हुआ कभी नीचे जाता है और कभी ऊंचे। दुष्कर्म भोग-वासना और कुत्सित कामनाएं उसे पतन की ओर ले जाती हैं। पुण्यकर्म सद् भावनाएं और सत्संकल्प उसे ऊर्ध्व लोकों में ले जाते हैं। जब तक जीव के साथ प्रकृति का प्रेम विद्यमान रहता है तब तक वह कर्म-बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता। प्रकृति के साथ वह कब से बंधा है इसे कोई नहीं जानता। शारीरिक पाशों में आबद्ध जीवात्मा नाना प्रकार की योनियों में जाता है और नाना प्रकार के लोकों में भ्रमण करता है। शरीर को सब कोई देखते हैं परन्तु आत्मा को कोई भी नहीं देख पाता। जिस क्षण जीवात्मा प्रकृति को छोड़ देता है जो उसके अत्यन्त निकट है और प्रभु को देख लेता है जिससे अधिक समीप अन्य कोई भी वस्तु नहीं है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

द्वादशारम् नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य

मापुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥

ऋत का एक चक्र है जिसमें द्वादश अरे लगे हुए हैं। इसे कभी जरा व्याप्त नहीं होती और यह द्यावा के चारों ओर बार बार घूमता रहता है। इसके पुत्ररूप में सात सौ बीस युग्म हैं।

ऋत का यह चक्र प्रकृति का ही चक्र है। ऋत प्रकृति के प्रथम स्पन्दन का नाम है। यह गत्यात्मक है। इसी का जोड़ा सत्य है जिसे सत्तात्मक अथवा स्थिति परक तत्व कहा जाता है। सात सौ बीस जोड़े परमाणुओं के जोड़े हैं। दिन और रात भी वर्ष भर में सात सौ बीस ही होते हैं। परमात्मा का वर्णन अनेक मंत्रों में पाया जाता है। निम्नांकित मंत्र देखिये —

अनुत्तमा ते मघवन्न किर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

प्रभु ऐश्वर्यशाली हैं। विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो उनसे अप्रेरित हो। प्रभु के समान कोई ज्ञाता भी नहीं है। दिव्यता में परमात्मा सर्व श्रेष्ठ है। प्रभु जो भी करते हैं और जो कुछ करेंगे उसे उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों में से कोई भी नहीं जान पाता। निम्नांकित मन्त्र भी प्रभु के गुणों पर प्रकाश डालता है —

विद्माहि त्वा तुवि कूर्मिम् तुविदेष्ण तुवीमघम्।
तुवि मात्रमवोभि ॥

प्रभु अनन्त पराक्रमी, अनन्तदानी और अनन्त ऐश्वर्यशाली हैं। उनकी रक्षण शक्तियाँ भी अनन्त हैं।

सृष्टि विद्या शरीर विद्या आदि से सम्बन्धित अनेक सूक्त वेद के अन्तर्गत हैं। पुरुष सूक्त के अनुसार सूर्य चन्द्र भूमि अन्तरिक्ष आदि सबका स्रष्टा परमात्मा ही है। सूर्य एक नहीं अनेक हैं। हमारे सौरमण्डल का सूर्य सभी ग्रहों का अग्रज है। अग्रज होने के कारण वह अन्य सभी के लिए तप रहा है। उसे ब्रह्मकान्ति प्राप्त है। जो व्यक्ति इस कान्ति को प्राप्त करना चाहता है, उसे सूर्य के सदृश ही परहित में निरन्तर निरत होना पड़ेगा।

अथर्ववेद में अध्यात्म सम्बन्धी कई सूक्त हैं जो त्रयोदश काण्ड के अन्तर्गत हैं। द्वितीय सूक्त का निम्नांकित ३८वां मन्त्र अध्यात्म विद्या के लिए प्रख्यात है —

सहस्राहण्यम् वियतौ अस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
सदेवान्त्सर्वान् उरस्य पदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा।

इस मंत्र में आत्मा को हंस कहा गया है जो सहस्रों दिनों से अपने दोनों पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ रहा है। कहाँ जाना है इसे? कहते हैं इसकी उड़ान में स्वर्ग की कामना भरी पड़ी है। आश्चर्य यह है कि यह स्वर्ग जाना चाहता है और नाना प्रकार के भुवनों में घूम रहा है, परन्तु जहाँ इसे जाना है जिस स्वर्ग की इसे उपलब्धि करनी है वह स्वर्ग और उस स्वर्ग की दिव्य शक्तियाँ सभी इसके अन्दर विद्यमान हैं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त संख्या ७१ ज्ञान काण्ड के विवेचन के लिये सर्वश्रेष्ठ सूक्त माना जाता है। अपनी वेदार्थ चंद्रिका में इस सूक्त की हमने विस्तृत व्याख्या की है। इस सूक्त में चार वेद और उनके विषयों का जो संकेत उपलब्ध होता है वह सांस्कृतिक विकास में अपना पृथक महत्व रखता है। ऋग्वेद स्तुतियों द्वारा पदार्थ के गुण दोष—विवेचन के द्वारा ज्ञान को पोषण प्रदान करता है। सामवेद मान से सम्बन्ध रखता है, जो मन को एकाग्र करने के लिए उत्कृष्ट साधन है। मन की एकाग्रता साधक को स्पष्ट ज्ञान के समीप उपस्थित कर देती है। यजुर्वेद यज्ञ की मात्रा को मापने वाला है। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। यह यज्ञ ज्ञान से वैपरीत्य नहीं रखता ज्ञान के अनुकूल चलता है। अथर्ववेद अविचल स्थिति का द्योतक है। ब्रह्मा से इसका सम्बन्ध है। ब्रह्म का अर्थ है बड़ा महान। जो जितना ही अधिक बड़ा है वह उतना ही अधिक अविचल है। चार विद्या अर्थात उत्पन्न हुए जगत की विद्या तथा प्रसिद्ध आत्म विद्या अथर्ववेद की ही विशेषता है। यज्ञ कर्म में होता ऋग्वेदी अध्वर्यु यजुर्वेदी उद्गाता सामवेदी और ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। इस सूक्त का एक मंत्र नीचे उद्धृत किया जाता है —

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ॥
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥

ज्ञान-धनी ब्राह्मण परस्पर सखा बनकर हृदय की शाण पर तेज किए गये मनन के वेगों में मिलकर चलते हैं। यह चलना पूजा संगति करण और दान तीनों भावनाओं से संश्लिष्ट रहता है। ब्राह्मणों का मनन और उस मन के वेग किसी का अपमान नहीं करते प्रत्युत सत्कार भाव से मण्डित रहते हैं। वे किसी से द्रोह भी नहीं करते सबसे मिलकर चलते हैं और उनका मनन प्रसूत ज्ञान स्वार्थ में नहीं परार्थ में ही प्रयुक्त होता है। ज्ञान का लक्ष्य भी जन-कल्याण है। ज्ञान या विद्या ज्ञेय को दिखलाकर अन्त में ज्ञेय से छूट जाती है। ज्ञेय नहीं केवल ज्ञान ही शेष रहता है। यह ज्ञान त्रयीविद ब्रह्म ब्राह्मणों में' एक प्रकार का वैराग्य भर देता है जिसकी मस्ती में वे निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं।

आयुर्वेद मनोविज्ञान परतत्व आदि के मन्त्र अथर्ववेद में और ऋग्वेद में बाहुल्य से पाये जाते हैं। इच्छा शक्ति का प्रयोग अभिचार सम्मोहन मणि बन्ध आदि में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। अथर्ववेद में इस विषय के अनेक मन्त्र हैं। गुरु का अनुग्रह चाहे वह लौकिकमूलक हो अथवा आध्यात्मिक शक्तिपात के रूप में यजुर्वेद की निम्नांकित ऋचा में वर्णित हुआ है —

यदाकूतात् समसुस्रोद् हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

—यजु० १८ । ५८

शिष्य गुरु के समक्ष उपस्थित है। गुरु शिष्य के अन्दर अपने संकल्प से प्रभाव

के पहले २४ वर्ष हैं। वसु इस सवन का देवता है। प्राण ही वसु हैं। २४ वर्ष की आयु तक किये गये कर्म ही व्यक्ति को वास्तव शक्ति, प्राण शक्ति से पूर्ण करने वाले हैं। मध्याह्न सवन जीवन के ४४ वर्ष हैं। रुद्र इस यज्ञ के देव हैं। प्रथम सवन वृद्धि करता है तो यह दूसरा सवन घोर परिश्रम का समय है। पहला सवन योग्य बनाता है तो दूसरा सवन उस योग्यता के प्रयोग में प्रयुक्त होता है। रुद्र शक्ति रोगों विघ्नों, बाधाओं को हटाने वाली है और साथ ही रुलाने वाली भी है। कठिनाइयों का सामना करना और उन पर विजय प्राप्त करना रुद्र का ही कार्य है। तृतीय सवन का देवता आदित्य है। यह ग्रहण कराता है कठिन परिश्रम का फल देता है।

यहां मनुष्य लोक पितृ लोक और देव लोक हैं। सन्तान से प्रथम शुभकर्मों से द्वितीय तथा ज्ञान से तृतीय लोक जीता जाता है। यह सब पुरुषार्थ और कर्म की ही लीला है। ब्रह्म ज्ञान है, यज्ञ कर्म है और इन दोनों के मेल से लोक का निर्माण होता है अर्थात लोक से नाम होता है कीर्ति फैलती है। कर्म न हो तो यश भी नहीं होता। जीवन कर्म पर ही अवलम्बित है। वेद कहता है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। कर्म की रेखा कर्म से ही कटती है। कर्म करते हुए ही कर्म से निर्लिप्त रहा जा सकता है। चरैवेति चरैवेति यही एक मात्र ओषधि है जो जीवन के चरम गन्तव्य रूप स्वास्थ्य की जननी है।

कर्म की गति अतीव गहन है, पर सदाचरण सुनीति, शुभ एवं भद्र का अनुसरण मानव को ऊंचा उठा ही देते हैं। सहस्रायु सुकृत चरेयम—हम पुण्य कर्मा होकर ही सहस्र वर्षों तक विश्व में विचरण करें। पुण्यकर्मों के लिये कृत-वीर्य बनना पड़ता है। हम वीर्य का सम्पादन करें। वीर्य खाये हुए अन्न का सत है निचोड़ है। हम अपने कमाये हुए अन्न का ही सेवन करें। पराया का मालूम पता नहीं किस मन को बना देगा और वह मन हमें कहां ले जायगा ? अन्न की शुद्धि में सत्व की शुद्धि है और सत्व की शुद्धि में स्मृति विचलित नहीं होती ध्रुव बनी रहती है। अतः सदाचरण के लिये अन्न-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। शुभकर्म शुभ अन्न के सेवन से ही निष्पन्न होंगे।

ज्ञान सत्कर्म का सहायक है। अज्ञान में मनुष्य अकर्म तथा कुकर्म तक कर जाता है। अतः वेद कहता है तं मृतेन प्रमेमहि स्तुता मया वरदा वेदमाता, यत्र ब्रह्म क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह पाकाय पृक्षो अमृतो विवेता ताभ्या मृडत्य वेदमय कर्माणि कृण्महे, मंत्र-श्रुत्यं चरामसि सत्यस्य मार्ग सुकृतमपीपरन आदि। श्रुति के अनुसार ही आचरण करना चाहिये। वरदायिनी वेदमाता की स्तुति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके पवित्रता के पथ पर प्रयाण करना चाहिये। जहां ज्ञान और कर्म, ब्रह्म और क्षत्र मिल कर चलते हैं, वहीं पुण्य का क्षेत्र है। पवित्र बनने के लिये हमें स्तोता गुण-दोष का ज्ञाता बनना चाहिये। व्यापक तथा अव्यापक के रहस्य को जानकर ही

के पहले २४ वर्ष हैं। वसु इस सवन का देवता है। प्राण ही वसु हैं। २४ वर्ष की आयु तक किये गये कर्म ही व्यक्ति को वासव शक्ति, प्राण शक्ति से पूर्ण करने वाले हैं। मध्याह्न सवन जीवन के ४४ वर्ष हैं। रुद्र इस यज्ञ के देव हैं। प्रथम सवन वृद्धि करता है, तो यह दूसरा सवन घोर परिश्रम का समय है। पहला सवन योग्य बनाता है तो दूसरा सवन उस योग्यता के प्रयोग में प्रयुक्त होता है। रुद्र शक्ति रोगों विघ्नों, बाधाओं को हटाने वाली है और साथ ही रुलाने वाली भी है। कठिनाइयों का सामना करना और उन पर विजय प्राप्त करना रुद्र का ही कार्य है। तृतीय सवन का देवता आदित्य है। यह ग्रहण कराता है कठिन परिश्रम का फल देता है।

यहाँ मनुष्य लोक पितृ लोक और देव लोक हैं। सन्तान से प्रथम शुभकर्मों से द्वितीय तथा ज्ञान से तृतीय लोक जीता जाता है। यह सब पुरुषार्थ और कर्म की ही लीला है। ब्रह्म ज्ञान है यज्ञ कर्म है और इन दोनों के मेल से लोक का निर्माण होता है अर्थात लोक से नाम होता है कीर्ति फलती है। कर्म न हो तो यज्ञ भी नहीं होता। जीवन कर्म पर ही अवलम्बित है। वेद कहता है —

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। कर्म की रेखा कर्म से ही कटती है। कर्म करते हुए ही कर्म से निर्लिप्त रहा जा सकता है। चरैवेति चरैवेति यही एक मात्र औषधि है जो जीवन के परम पाथेय रूप स्वास्थ्य की जननी है।

कर्म की गति अतीव गहन है पर सदाचरण सुनीति, शुभ एवं भद्र का अनुसरण मानव को ऊंचा उठा ही देते हैं। सहस्रायु सुकृत चरेयम—हम पुण्य कर्मा होकर ही सहस्र वर्षों तक विश्व में विचरण करें। पुण्यकर्मों के लिये हृष्ट-वीर्य बनना पड़ता है। इस वीर्य का सम्पादन करें। वीर्य खाये हुए अन्न का सत है निचोड़ है। हम अपने कमाये हुए अन्न का ही सेवन करें। पराम का भक्षण पता नहीं किस मन को बना देगा और वह मन हमें कहाँ ले जायगा? अन्न की शुद्धि में सत्व की शुद्धि है और सत्व की शुद्धि में स्मृति विचलित नहीं होती ध्रुव बनी रहती है। अत सदाचरण के लिये अन्न-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। शुभकर्म शुभ अन्न के सेवन से ही निष्पन्न होंगे।

ज्ञान सत्कर्म का सहायक है। अज्ञान में मनुष्य अकर्म तथा कुकर्म तक कर जाता है। अतः वेद कहता है सं श्रुतेन गमेमहि स्तुता मया वरदा वेदमाता, यच्च ब्रह्मच सत्यं च सम्यञ्चौ चरतः सह पावमानीः पुनातु मां मा पतो दिदेशा तान्यो मुद्दरप वेदमय कर्माणि कृण्महे, मंत्र-श्रुत्यं चरामसि सत्यस्य नाव सुकृतमपीपरन् आदि। श्रुति के अनुसार ही आचरण करना चाहिये। वरदायिनी वेदमाता की स्तुति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके पवित्रता के पथ पर प्रयाण करना चाहिये। जहाँ ज्ञान और कर्म, ब्रह्म और क्षत्र मिल कर चलते हैं वहीं पुण्य का लोक है। पवित्र बनने के लिए हमें स्तोता पुण्य-लोक का ज्ञाता बनना चाहिये। व्यापक तथा अव्यापक के रहस्य को जानकर ही

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें जिससे सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति संस्कृत बने विकास पथ पर आगे बढ़ें ।

मानवता के विकास में छ: शत्रु घोर बाधक हैं । इन शत्रुओं का दमन अभीष्ट है । ये शत्रु हैं —

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

उल्लू प्रकाश से घबड़ाता है । उसे अंधकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उल्लू के समान अज्ञान के साथी हैं वे अपने ही शत्रु हैं । शुशुलूक भेड़िया क्रोधी होता है चाहे जिस पर झपट बैठे । जो मानव क्रोधी है हिंसक है वह भी समाज का शत्रु है । कुत्ता मत्सरी अपने ही स्वजनों का बैरी होता है । दूसरों के सामने दुम हिलायेगा पर अपर कुत्ते को देखते ही भूंकने लगेगा । इसी प्रकार जो मानव अपनों के प्रति बैर रखे और दूसरों के सामने झुके वह सभी प्रकार से निन्दनीय है । कोक चकवा-चकवी अपनी कामान्धता के लिए प्रख्यात हैं । कामी पुरुष भी काम के प्रभाव से अंधा-बहरा बन जाता है । उसे अपना-पराया पुण्य —अपुण्य, लाभ-हानि कुछ भी नहीं सूझता । सुपर्ण गरुड़ है । यह अपने गर्व या अभिमान के लिए प्रसिद्ध है । अहंकारी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता । गृध्र लालची होता है बहुत ऊंचे आसमान में उड़ान भरते हुए भी शव पर इसकी दृष्टि हेम से पड़ती है । वेद कहता है इन षड्रिपुओं को पत्थर के नीचे डालकर मसल दो जिससे फिर ये अपना सिर न उठा सकें । काम क्रोध लोभ मोह (अज्ञान) मात्सर्य और अभिमान मनुष्यत्व को मार डालते हैं । अत इनके कुचल डालने में ही कल्याण है ।

दुष्कृतियों से पृथक रहकर सत्कर्मों का सतत संचय करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का पथ है । स्वस्ति का पन्था दान अहिंसा तथा ज्ञानानुकूल आचरण का पन्था है । दिव्य शक्तियां जिस प्राणी को इस पथ पर लगा देती हैं वो धर्म-परायण बनकर समस्त दुरितों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । विश्व में वह बढ़ता है फलता-फूलता है, कीर्ति उसके नाम और काम को दिग्दिगन्त में फैला देती है । ऐसा व्यक्ति दूसरों के लिए आदर्श रूप बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का विवर्धन ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानकाण्ड तथा कर्म काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की मान्यता भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है । हम सृष्टि-विद्या को समझें सत्कर्मों द्वारा अपना उत्थान करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें जिससे सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति सुसंस्कृत बने विकास-पथ पर आगे बढ़े ।

मानवता के विकास में छः शत्रु घोर बाधक हैं । इन शत्रुओं का दमन अभीष्ट है । ये शत्रु हैं —

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

उल्लू प्रकाश से घबड़ाता है । उसे अन्धकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उल्लू के समान अज्ञान के साथी हैं वे अपने ही शत्रु हैं । सुसुलूक भेड़िया क्रोधी होता है चाहे जिस पर झपट बैठे । जो मानव क्रोधी है, हिंसक है वह भी समाज का शत्रु है । कुत्ता मत्सरी अपने ही स्वजनों का वैरी होता है । दूसरों के सामने दुम हिलायेगा पर अपर कुत्ते को देखते ही भूँकने लगेगा । इसी प्रकार जो मानव अपनों के प्रति वैर रखे और दूसरों के सामने झुके वह सभी प्रकार से निन्दनीय है । कोक चकवा-चकवी अपनी कामान्धता के लिए प्रख्यात हैं । कभी पुरुष भी काम के प्रभाव से अंधा-बहरा बन जाता है । उसे अपना-पराया पुण्य —अपुण्य, लाभ-हानि कुछ भी नहीं सूझता । सुपर्ण गरुड़ है । यह अपने गर्व या अभिमान के लिए प्रसिद्ध है । अहंकारी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता । गृध्र लालची होता है बहुत ऊंचे आसमान में उड़ान भरते हुए भी शव पर इसकी दृष्टि वेग से पड़ती है । वेद कहता है इन षड्रिपुओं को पत्थर के नीचे डालकर मसल दो जिससे फिर ये अपना सिर न उठा सकें । काम क्रोध लोभ मोह (अज्ञान) मात्सर्य और अभिमान मनुष्यत्व को मार डालते हैं । अतः इनके कुचल डालने में ही कल्याण है ।

दुष्कृतियों से पृथक रहकर सत्कर्मों का सतत संचय करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का पथ है । स्वस्ति का पन्था दान अहिंसा तथा ज्ञानानुकूल आचरण का पन्था है । दिव्य शक्तियाँ जिस प्राणी को इस पथ पर लगा देती हैं जो धर्म-परायण बनकर समस्त बुराइयों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । विश्व में वह बढ़ता है, फलता-फूलता है, कीर्ति उसके नाम और काम को दिग्दिगन्त में फैला देती है । ऐसा व्यक्ति दूसरों के लिए आदर्श रूप बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का विवर्धन ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानकाण्ड तथा कर्म काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की मान्यता भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है । हम सृष्टि-विद्या को समझें सत्कर्मों द्वारा अपना उन्नयन करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें जिससे सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति संस्कृत बने विकास-पथ पर आगे बढ़े ।

मानवता के विकास में छ: शत्रु घोर बाधक हैं । इन शत्रुओं का दमन अभीष्ट है । ये शत्रु हैं —

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ।।

उल्लू प्रकाश से भड़कता है । उसे अन्धकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उल्लू के समान अज्ञान के साथी हैं वे अपने ही शत्रु हैं । शुशुलूक भेड़िया क्रोधी होता है चाहे जिस पर झपट पड़े । जो मानव क्रोधी है हिंसक है वह भी समाज का शत्रु है । कुत्ता मत्सरी अपने ही स्वजनों का वैरी होता है । दूसरों के सामने दुम हिलावेगा पर अपर कुत्ते को देखते ही भूकने लगेगा । इसी प्रकार जो मानव अपनों के प्रति वैर रखे और दूसरों के सामने झुके वह सभी प्रकार से निन्दनीय है। कोक चकवा चकवी अपनी कामान्धता के लिए प्रख्यात है । कभी पुरुष भी काम के प्रभाव मे अंधा-बहरा बन जाता है । उसे अपना-पराया पुण्य —अपुण्य, लाभ-हानि कुछ भी नहीं सूझता । सुपर्ण गरुड़ है । यह अपने गर्व या अभिमान के लिए प्रसिद्ध है। अहंकारी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता। गृध्र लालची होता है बहुत ऊंचे आसमान में उड़ान भरते हुए भी शव पर इसकी दृष्टि वेग से पड़ती है । वेद कहता है इन षड्रिपुओं को पत्थर के नीचे डालकर मसल दो जिससे फिर ये अपना सिर न उठा सकें। काम क्रोध लोभ मोह (अज्ञान) मात्सर्य और अभिमान मनुष्यत्व को मार डालते हैं । अत इनके कुचल डालने में ही कल्याण है ।

दुष्कृतियों से पृथक रहकर सत्कर्मों का सतत संचय करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का पथ है । स्वस्ति गा पन्था दान अहिंसा तथा ज्ञानानुकूल आचरण का पन्था है । दिव्य शक्तियां जिस प्राणी को इस पथ पर लगा देती हैं वो धर्म-परायण बनकर समस्त दुरितों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । विश्व में वह बढ़ता है फलता-फूलता है कीर्ति उसके नाम और काम को दिग्दिगन्त में फैला देती है । ऐसा व्यक्ति दूसरों के लिए आदर्श रूप बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का विवर्धन ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानकाण्ड तथा कर्म काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की मान्यता भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आ रही है । हम सृष्टि-विद्या को समझें सत्कर्मों द्वारा अपना उन्नयन करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

भक्ति भजन है-ब्रह्माण्ड के नायक और अपने सर्वाधिक समीप अपने सर्वस्व परम प्रभु का। भक्ति-भावना ही साधक को प्रभु के समीप ले जाती है। है तो वह सदैव ही समीप पर हम प्रकृति से आकृष्ट होकर उसकी समीपता को विस्मृत कर देते हैं। भक्ति काण्ड हमें उसका स्मरण कराता है और कहता है, वही हमारा माता-पिता बंधु-धाता-विधाता आदि सब कुछ है।

भक्ति-विषयक कतिपय मंत्र नीचे दिये जाते हैं.—

न हि अन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो । त्वं न इन्द्र मृळय।

हे प्रभो! दुःख दग्ध भक्त को सुख देने वाला इस संसार में तेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। प्रभो! तू ही हमें सुखी कर।

यो नः शश्वत् पुराविथ अमृध्रो वाजसातये। स त्वं न इन्द्र मृळय।

नाथ! कितनी लम्बी जीवन यात्रा है। इस यात्रा में कौन कौन सी यातनायें सामने नहीं आई? पर प्रभो! आपने सदैव रक्षा की यातनाओं को सहने का बल भी आपने ही दिया और आपने ही क्लेश-बहुलता का विनाश किया। आप अमृध्र हैं। संसार में कोई ऐसा माई का लाल नहीं जन्मा जो आपकी हिंसा कर सके। सभी तो आपके पैरों के नीचे पड़े हैं और कर्म-विपाक को भोग रहे हैं। इस जगत के धाता और जीवों के प्रेरक आप ही तो हैं। प्रभो! आप ही हमें सुखी कीजिये। आपसे बढ़ कर सहायक तथा सुखदाता यहाँ और है ही कौन?

परिपूषा परस्ताद् हस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु।

प्रभो! आप पूषा हैं, पोषण करने वाले हैं। आपकी यह पार्थिव और यह दैवी सम्पदा भक्त क्या सभी का पालन-पोषण कर रही है और यह सम्पदा आपकी ही है।

तवेदिद अभितश्चेकिते वसु।
अतुर्वधूना अयसि त्वमेकइत् धावा च यामि पृथिवी च पुष्यत
एवा वस्व इन्द्र सत्य सम्राट्।

आपने यह सम्पत्ति यह खाने-पीने भोजन की सामग्री हम जीवों के कल्याण के लिए ही प्रदान की है। पर नाथ यह सामग्री अब मुझे नहीं चाहिए। इसने मुझे आप जैसे दानी का ज्ञान करा दिया है और स्मृति दिला दी है अपने उस वास्तविक भवन की घर की जिसे मैं खो चुका हूँ। प्रभो अब तो अपना दक्षिण हाथ मेरे सिर पर रखकर कर दो कि मेरा खोया हुआ घर मुझे पुनः प्राप्त हो जाय। आपको जानकर ही तो यह धाम प्राप्त होता है।

इन्द्र प्रणो रथमव पश्चाच्चित् सन्तमद्रिवः। पुरस्तादेनम्मे कृधि।

हे इन्द्र! मेरा रथ इस यात्रा में कितना पीछे पड़ गया है। कोई पितृयान पर चढ़कर इस दुःख सिन्धु को पारकर गये और कुछ ज्योतिर्मय देवयान में बैठकर ऊर्ध्व लोकों के अधिपति बन गये पर मैं अभी यहाँ का यहाँ खड़ा हूँ। मेरा रथ आगे नहीं बढ़ रहा। आपके अवलम्बन की इस समय एकान्त आवश्यकता है। आपका आश्रय ही मुझे आगे बढ़ा सकेगा। यह पीछे छूटा हुआ रथ आपके सहारे ही खिसकेगा और तीव्र वेग पकड़ेगा।

हस्तो नु किमाससे प्रथमंनोरथं कृधि। उपमं वाजयुश्रवः।

हे देव! चुप क्यों हो? मुझे आश्वासन दो जिससे मेरा रथ दौड़ में सबसे प्रथम, सबसे आगे निकल जाय। विजय और यश दिलाने वाला बल तो आपके समीप ही है। फिर चुप क्यों बैठे हो? मेरी प्रार्थना क्यों नहीं सुनते? मेरे रथ को आगे क्यों नहीं बढ़ाते?

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित्परि।
अस्मान् सुजिग्युष्टु कृधि॥

वाज की कामना लिए हुये शक्ति की अभिलाषा से संयुक्त यह मेरा रथ आपके द्वारा ही सुरक्षित होगा और घर्घर की ध्वनि करता हुआ सबके आगे निकल जायगा। क्या मेरी अयोग्यता की ओर दृष्टिपात कर रहे हो? क्या यह सोचते हो कि यह आगे बढ़ने में असमर्थ है? असमर्थ हूं निस्सन्देह अशक्त हूं इसी लिए तो आपको पुकार रहा हूं आपकी बलिष्ठ भुजाओं की ओर सतृष्ण नेत्रों से ताक रहा हूं और मैं असमर्थ ही नहीं नितान्त अयोग्य ही सही पर आप तो सर्वसमर्थ हैं सब कुछ करने में क्षम हैं—ऐसा कौन सा कार्य है जो आपके लिए सुकर न हो? तो नाथ! अब देर न करो। आप तुवीमघ तुविदेष्ण और तुविकूर्मि हैं। आप की रक्षण-शक्तियां भी अनन्त हैं। आपकी दया—दृष्टि जिस पर पड़ती है, वह पलक मारते ही महान सौभाग्यशाली बन जाता है। आज मेरी बारी भी आ गई है। विजय का आकांक्षी मैं भी आज आपकी चरण-शरण में पड़ा हूं। मेरा भी उद्धार करो। मेरे रथ को भी विजय-श्री प्रदान करो। मुझे भी वरदान देकर यशोऽभिमण्डित बनाओ।

त्वावतो ह्यभिन्द्र पूरराता।

प्रभो मैं तुम्हारा ही हूं। तुम्हारे जैसे शूरवीर रक्षक के रहते हुए भी मैं तुम्हारे विजय-दान से वंचित रहूं यह तो मजाक है। अपना लो नाथ! अपना लो। जन्म जन्म के इस क्लेशाक्रान्त अपने पुत्र के बन्धनों को आज छिन्न-भिन्न कर दो। आप आनन्दमय हैं। आप के समीप आकर क्लेश रह ही कैसे सकता है? हे क्लेशापहारक हे आनन्दघन। हे सर्वसुख प्रदाता। सुखी करो आनन्दित करो अपनी शरण दो।

वेद में ऐसे अनेक मंत्र हैं जो ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति की महत्ता के प्रवर्तक हैं। ईश्वर प्रणिधान भगवान का प्रसाद परम पिता का अनुग्रह जीव की संसृति—यात्रा के अन्त में आता है। कभी—कभी बीच में भी उसकी झलक दिखाई दे जाती है। जीवात्मा इससे कल्याण भाजन बन जाता है।

प्रभु की दृष्टि स्वादिष्ट है— सबसे अधिक मधुर है। जिस पर यह दृष्टि पड़ गयी वह निहाल हो गया। जो साधक प्रभु की इस मधुर संदृष्टि में रमण किया करते हैं वे दिन हो या रात्रि—सर्वदा अमृतानन्द में मग्न रहते हैं। प्रभु उनके सच्चे सखा बन जाते हैं। स न इन्द्र शिव सखा।

वैदिक संस्कृति साधक को कोरा ज्ञानी या कोरा कर्मकाण्डी ही नहीं बनाती, वह उसे प्रभु का सच्चा भक्त भी बनाती है। हमारे पूर्वजों ने एकांगिता नहीं,

समन्वय को अपनाया है। अकेला ज्ञान मानव को आलस्य की ओर ले जा सकता है। अकेला कर्म कीचड़ का रूप धारण कर सकता है और अकेली भक्ति भी मानव को अंधा बना सकती है। भ्रम या अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञान, आगे बढ़ने के लिये कर्म और अन्तिम पड़ाव तक पहुँचने के लिये भक्ति का अवलम्बन लेना ही पड़ेगा।

सांस्कृतिक विकास काण्डत्रय के समन्वय से ही हो सकता है, एक-एक का हाथ पकड़ने से नहीं। संस्कृत व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिर्मय, कर्म-श्रम से तेजोदीप्त और भक्ति-आत्मनिवेदन आत्मसमर्पण द्वारा असंग-निरहंकार बनकर प्रभु-प्रेम से परिप्लावित हो उठता है। वह प्रभु का ही था प्रभु का ही बन जाता है। वैदिक संस्कृति का यह साधन-समूह अपने सामञ्जस्य में समरसता का सम्पादक है और सर्वतोभावेन स्वीकरणीय है।

८ त्रिगुण-लीला

हमारे दार्शनिकों ने जगत की गुण-परक व्याख्या करके जटिल से जटिल ग्रन्थियों का सरल से सरल समाधान प्रस्तुत किया है। जगत में जड़ पदार्थ हैं तथा चेतन शरीर हैं। दोनों के चार-चार भेद हैं। एक में चार लोक हैं— द्यौ पृथ्वी, स्वर्ग तथा नाक। दूसरे में चार प्रकार के प्राणी हैं निमिषवान प्राणवान, द्विपद तथा चतुष्पद। दोनों के चार-चार विभाग प्रकृति के तीन गुणों के तारतम्य पर आधारित हैं। तीन गुण हैं सत्व, रज तथा तम। तीनों गुण रहते सर्वत्र हैं, पर उनकी मात्रा में न्यूनाधिक्य होता है। लोकों में द्यौ सत्व-प्रधान है। उसमें सात्विक गुणों की अधिकता है। पृथ्वी तम-प्रधान है। द्यौ में तम कम से कम है, तो पृथ्वी में तम अधिक से अधिक है। इसी प्रकार पृथ्वी में सत्व कम से कम है, तो द्यौ में वह अधिक से अधिक है। मध्य वाले लोकों में सत्व तथा तम की न्यूनता, किन्तु रज की अधिकता है।

प्राणियों के शरीरों में प्राणवत्ता की विशेषता है। यह निमिष से आरम्भ होती है। सबसे निम्न स्तर पलकों के झपकने के समान संकोच एवं प्रसारण अथवा खुलने और मुँदने में है। उससे ऊर्ध्व स्तर श्वास एवं प्रश्वास के साथ बढ़ने और फैलने में दृष्टिगोचर होता है। वनस्पतियाँ-ओषधियाँ आदि इसके अन्तर्गत हैं। तीसरे स्तर पर मानसिकता का राज्य प्रारम्भ होता है जो चतुर्थस्तर में पहुँच कर अत्यन्त विकसित हो जाता है। चतुष्पद तथा द्विपद क्रमशः इन दोनों के अन्दर आते हैं, जिन्हें पशु तथा मानव की संज्ञायें प्राप्त हैं। शरीरों में निमिष वाले तम प्रधान और प्राण वाले रज-प्रधान हैं। चतुष्पदों में रज के साथ किञ्चित मानसिकता का प्रकाश वाला सत्व अंश भी आ जाता है और द्विपदों में-मानवों में-वह अंश खिल उठता है।

गुणों के तारतम्य से इन दोनों के चार-चार विभागों के और भी अनेक विभाग हो जाते हैं। पार्थिव पदार्थों में कोयला निरा तम है, तो हीरा सत्व के

प्रकाश से ओत प्रोत है। पशुओं में भी सत्व प्रधान है तो कुछ तमोगुणी है। मानवों में भी गुणों के न्यूनाधिक्य पर ही चार वर्णों की स्थापना हुई है। ब्राह्मण सात्विक है क्षत्रिय राजस है वैश्य राजस और तामस का सम्मिलित रूप है और शूद्र तामस है ज्ञान से रहित है। मानव की मनोवृत्तियों में क्रोध ज्ञान का विनाशक है, अतः उसे तामस कहा जाता है। मनोवृत्तियों के विभाजन पर भी गुणों के ही न्यूनाधिक्य का प्रभाव पड़ता है। विश्व की विविधरूपता गुणों के वैषम्य का परिणाम है। साम्यावस्था में तो विश्व के संहार अथवा समाहार की ही लीला दृष्टिगोचर होती है।

हम सब इन्हीं गुणों को लेकर इन्हीं गुणों के नाना रूपों में रमण किया करते हैं। ग्रीष्म में जिस प्रचण्ड आतप का अनुभव होता है, वह हेमन्त एवं शिशिर की ठिठुरन में कैसे परिवर्तित हो जाता है इसकी शोध-पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। एक में रज था तो दूसरे में तम। बसन्त आते ही तम को भगा देता है और सत्व के अभिनव उदय के साथ नवीन किसलय तथा कुसुम उद्भिन्न होकर प्रकृति की गोद तथा मानवों के मन को आह्लाद से ओत-प्रोत कर देते हैं। हमारे साथियों में कोई सरस है कोई उद्दण्ड कोई चपल और कोई आलसी। किसी से मिलकर हम प्रसन्न होते हैं किसी की भेंट हमें दुख देती है तथा किसी का सम्पर्क कर्मण्यता का प्रेरक बन जाता है। यह सब गुणों का ही खेल है।

मानवों में यदि असुर, राक्षस तथा पिशाच हैं स्वार्थ-परायण हिंसक तथा पीड़क हैं, तो करुणा-परायण परहित-साधक साधु-सज्जन भी हैं। एक तमो गुण की आराधना में लीन रहते हैं तो दूसरे सत्व की उपासना में निरत हैं। एक की प्रवृत्ति अधोगामिनी है तो दूसरे की ऊर्ध्वगामिनी। इनमें गुणों का न्यूनाधिक्य ही सक्रिय है। ऐसा नहीं कि एक में तम ही तम हो। तम के साथ थोड़ा सत्व भी किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहता है। तभी तो जैसे शिला में जल फूट पड़ती है वैसे ही असुर में सुरत्व तथा दानवता में दिव्यता जाग्रत हो उठती है। प्रह्लाद जैसा भक्त हिरण्यकशिपु का ही तो पुत्र था। अशोक यदि कलिंग में युद्ध निरत हुआ तो उससे विरत होकर अपनी सन्तान तथा प्रजा को करुणा का अमोघ मन्त्र भी तो दे गया।

जिन ग्रन्थों का हम अध्ययन करते हैं वे भी अपने रचयिताओं की गुण गरिमा के ही निदर्शक हैं। कुछ ग्रन्थ ज्ञान देते हैं आपको अज्ञान के अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में ले आते हैं, तो कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिन्हें पढ़कर आप वासनाओं के जाल में फँस जाते हैं मोह-मुग्ध हो उठते हैं। कुछ ग्रन्थ मनको विकृति की ओर ले जाते हैं तो कुछ उसका परिमार्जन भी करते हैं। कुछ ग्रन्थ

आपको बलिदान की ओर प्रवृत्त कर देते हैं तो कुछ मधुप-गीता भी सिखा जाते हैं। कुछ कवि शृंगार परक हैं कुछ वीरता के गायक तो कुछ भक्ति के धनी बनकर प्रभु की ओर ले जाने वाले भी। किसी किसी कवि में विलक्षण प्रतिभा देखी जाती है और वह एक साथ उसके कर्तृत्व में फूट पड़ती है। वह शृंगारी, वीर, भक्त समाज का उन्नायक तथा मानव मनोवृत्तियों का अद्भुत चितेरा एक साथ होता है और सब के चित्रण द्वारा अपनी प्रतिभा शक्ति का मांसपेशिक प्रयोग कर जाता है।

त्रिगुण की यह माया त्रिमात्रिक ओ३म् से प्रारम्भ होकर सृष्टि के उद्भव, स्थिति तथा संहार, त्रिलोकी वेदत्रयी आदि में विस्तार पा रही है। इसने जड़ जगत को आरम्भ किया है, चेतन जगत को प्रेरणा दी है और गति तथा क्रिया का सञ्चालन किया है। यह नीति शास्त्र मनोविज्ञान तथा परतत्त्व विवेचन में प्रकट होती है सत् चित तथा आनन्द का आभास देती है और अवतरण, उत्क्रमण तथा समस्वता का ज्ञान कराती है। त्रिगुणों में चिपटे हुए हम सब स्थावर तथा जायावर इस उन्मीलित अभिनय के अभिनेता हैं और तब तक बने रहेंगे जब तक या तो इन त्रिगुणों में साम्य नहीं हो जाता अथवा हम इनके साक्षात द्वारा इनसे विमुक्त नहीं हो जाते।

ख ऋतपथ

प्रजापति की प्रजा के दो स्थूल विभाग हैं विश्वाभुव तथा विश्वानर। विश्वाभुव के दो मोटे विभाग हैं द्यावा और पृथ्वी। विश्वानर के दो विभाग हैं देव और मानव। पृथ्वी पर रहते हुये हम द्यौ की ओर अपनी दृष्टि ले जाते हैं। मानव चोले में रहते हुये भी हम देवत्व की आकांक्षा करते हैं। यह हमारी प्रकृति के अन्तर्गत है हमारा स्वभाव है हमारी जन्म-जात आकांक्षा है। हम जहां हैं वहां से ऊपर उठना चाहते हैं। उत्क्रमण ऊर्ध्वारोहण उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम बनना हमारा ध्येय है, आदर्श है गन्तव्य है।

अवतरण में फिसलने या नीचे गिरने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता पर ऊंचे उठने में प्रयत्न अपेक्षित है। प्रयत्न आत्मा के ६ लिंगों में एक है। आत्मा शब्द अत् सातत्य गमने धातु से निष्पन्न होता है। अवतरण होता है, पर आत्मा की स्वाभाविक आकांक्षा उत्क्रमण की ओर रहती है। अवतरण नाना यातनाओं की योनि है। क्लेशाक्रान्त जीवन किसे प्रिय है ? सभी क्लेशों से मुक्ति चाहते हैं। इस मुक्ति के लिये आत्मा को प्रयत्न करना पड़ता है।

प्रयत्न की दो दिशायें हैं एक सत् तथा दूसरी असत्। असत् दिशा अवांछनीय है। सत प्रयत्न स्वीकरणीय है। सत प्रयत्न ही सात्विक वातावरण को उत्पन्न करके कल्याणकारी फल की उपलब्धि कराता है। मंगल पथ का विस्तार इसी प्रक्रिया द्वारा

सम्पन्न होता है । सत हमारे निर्दिष्ट निर्माण को आधार मिलता है । हमारा विकास, हमारा उन्नयन, हमारा उत्थान इसी सत की प्रतिष्ठा पर अवलम्बित है । सत ही दुख से हटाकर आनन्द की ओर उन्मुख करता है । आचार्य वल्लभ ने सत को संधिनी शक्ति कहा है । वियुक्त आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करने में सत का संबल सबसे अधिक महत्व रखता है ।

गीता में सत् के पांच रूप व्याख्यात हैं –

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। १७—२६ २७ ।।

अस्तित्व अथवा वर्तमानता साधुता अथवा सौजन्य प्रशंसनीय कर्म यज्ञ—तप तथा दान में संलग्न रहना और इनके लिये कर्म करना सत कहा जाता है । यज्ञ तपा दान भी कर्म के अन्तर्गत आते हैं और इनके सम्पादन के लिये जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह भी कर्म है । कुछ प्रशंसनीय कर्म और भी हैं जो यज्ञ तप तथा दान की सीमा में नहीं आते । स्वाध्याय, प्रवचन निबल की रक्षा आग बुझाना दो सहोदरों के मनो मालिन्य को मिटा कर उनमें सौहार्द की स्थापना करना जननी तथा जन्मभूमि की रक्षा में प्राणों की आहुति चढ़ा देना आदर्श की उपलब्धि के लिये अग्रसर होना आदि ऐसे ही कर्म हैं जो समाज में प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं ।

सत्कर्म आगे बढ़ाते हैं सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करते हैं पाप को दूर करते हैं और इस प्रकार मानव को ऊंचा उठा ले जाते हैं । दुष्कृति अर्थात असत कर्म करने वाले उठते नहीं गिरते हैं । उनके कुत्सित कृत्य उनके लिये तो अहितकर हैं ही समाज में उनके कारण जो दूषित वातावरण बनता है उससे अन्य व्यक्तियों पर भी मलिन प्रभाव पड़ता है । समुद्र के जल में फेंकी हुई कंकड़ी जैसे विक्षोभ उत्पन्न करके उसे उद्वेलित एवं तरंगित कर देती है और जल की शान्ति तथा साम्यावस्था को नष्ट कर देती है उसी प्रकार नीच व्यक्ति के कुकर्म सामाजिक स्थिति में बवंडर उपस्थित कर देते हैं और परिणामत मानव-समाज विचलित हो उठता है । कर्म की प्रणाली ही ऐसी है । यदि वह शुभ है तो शुभ वातावरण को जन्म देती है और यदि अशुभ है तो अशोभन परिस्थिति को उत्पन्न करती है । हम सब का कल्याण शुभ को अपनाने और तदनुकूल आचरण करने में है ।

शुभ कर्म को स्फूर्ति देने के लिये आवश्यक है कि हमारा मन निर्मल हो । उस में जो संकल्प उठें वे शिव हों जिससे संचित शुभ संस्कार उद्बुद्ध होते रहें और हमारे आचरण को प्रेरित करते रहें । हृदय की भूमि सद्भावों की क्रीड़ा-स्थली बने । शुभ संस्कार शुभ भाव और शुभ संकल्प मिलकर मेरे सर्वांग को शोभन बना दें जिससे मेरे शोभन व्यक्तित्व से शुभ कर्मों की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहे । समाज की

सत प्रवृत्तियों को इसी से अनामय आहार प्राप्त होगा और वे पुष्ट होकर भद्र समाज का निर्माण करेंगी ।

भद्रभाव तथा विमल विचार किसी उच्चादर्श के समक्ष रहने से शीघ्र विकसित होते हैं । वेद इसीलिये कहता है —

' समेत विश्वे वचसा पतिं दिव '

प्रकाश के पति के सम्मुख हम सब एकत्र हों और वाणी द्वारा उनका स्तवन करें ।

' अनामौ येता मघवाकराद् वृधा '

वे अभीष्ट की वर्षा करने वाले हैं और हमारी बुद्धियों तथा कृतियों को बल देने वाले हैं । वे जिसके सत्कर्मों यज्ञों सत्कर्मों में रमण करने लगते हैं वह अपने तीव्र सोमों यज्ञफलों बलिष्ठगणों द्वारा बड़े से बड़े शत्रुओं का भी पराभव कर देता है । यदि यह दैवी आदर्श यह प्रकाश निरन्तर चमकता हुआ सूर्यों का सूर्य हमारे सम्मुख विद्यमान रहा तो हम प्रसन्न मन द्वारा, प्रसन्न भावों द्वारा, प्रसन्न प्रवृत्तियों से परि पूर्ण निरापद जीवन में सुरक्षित यात्रा के पथिक बने हुये सदैव शुभ के धनी बने रहेंगे ।

शुभ रूप में असत से सत की ओर प्रयाण और तम से ज्योति की ओर प्रस्थान हमें मृत्यु के मुख से निकाल कर अमर बना देगा । सत या शुभ की प्राप्ति नीति शास्त्र का लक्ष्य है ज्योति या प्रकाश की ओर मनोविज्ञान ले जाता है और परतत्त्व दर्शन आदर्श के निकट पहुँचा देता है । तीनों में प्रगति का एक क्रम भी है और अन्योन्य साहाय्य भी । इनका साहित्य ही सुख—साहित्य का पथ है सुख का साधक है । शुभ कर्म सब की नींव है । दुष्कर्म तो भव—पन्थ को पार करा ही नहीं सकता । सत्कर्म ही इस सम्बन्ध में हमारे सहायक बनते है । यज्ञिय भाव दैवी यान इन्हीं के ऊपर पर्याय हैं । शुभ को पकड़ लिया तो बेड़ा पार है अन्यथा भवसागर के थपेड़े खाते रहना और क्लेश-पाश में आबद्ध रहना ही हाथ लगेगा । आनंद का आस्वादन तो शुभ के ही साथ है । उसी के हाथों हमारा त्राण है । शुभ ही आराध्य है । शुभ ही उपास्य है । शुभ ही आचरणीय है । शुभ शुभ शुभ यही ध्वनि हम हमारे मन वचन एवं कर्म से ध्वनित होनी चाहिये । संस्कृति एवं काव्यत्रय का प्राण ऋतपथ है ।

छ. मानवता

मानवता वह भाव है जिसके कारण मानव मानव बना रहता है नीचे नहीं गिर पाता । मानव से नीचे पशु-पक्षी हैं जिनमें चेतना का विकास तो दिखाई देता है पर सत असत के निर्णय का विवेक तथा शुभ—अशुभ के अन्तर का ज्ञान उन्हें नहीं होता । वृक्ष एवं वनस्पति में अन्तश्चेतना तो है पर उसका बाह्य अभिव्यंजन नहीं है । अतः जब हम मानवता के पतन की बात करते हैं तब पशु — पक्षियों का स्तर ही सामने रहता है । मानवता का पतन है पशु—पक्षियों के स्तर पर उतर आना अर्थात सत—असत के विवेक तथा शुभ—अशुभ के ज्ञान से शून्य हो जाना । एक तीसरा तत्व

और इन दोनों में सम्मिलित किया जा सकता है वह है सौन्दर्य पर रीझना और उसकी पहिचान तथा परीक्षा करना। मृग तथा सर्प वीणावादन पर रीझते तो हैं पर एक राग को दूसरे राग से पृथक करने पहिचानने तथा उसकी सूक्ष्मताओं की परीक्षा करने से वंचित हैं। कोकिल का मधुर गान मयूर के सुन्दर पक्ष कपोत का कम्र कंठ चीते का वर्तुं रित वपु हमें आकर्षित ही नहीं करते अपने अभिनय का ज्ञान भी देते हैं। ललित कलाओं की जो मनोवैज्ञानिक परीक्षा हम कर सकते हैं, वह पशु पक्षियों के भाग्य की बात नहीं है।

प्रथम सत्-असत् के विवेक को लें। सत् नित्य है और असत् अनित्य है। मानव नित्य और अनित्य अमर्त्य और मर्त्य अविनश्वर और विनश्वर में विवेक कर सकता है और विवेक के उपरान्त नित्य के ग्रहण तथा अनित्य के परित्याग में समर्थ भी हो सकता है। यह शक्ति मानव के अन्दर है। इस शक्ति के रहते हुये भी यदि वह विवेक न कर सके और अनित्य के पीछे बसता रहे तो वह मानवता के विकसित स्तर से नीचे तो उतर ही रहा है। पशु-पक्षियों को यह शक्ति प्राप्त नहीं है। अत उनसे पतन की बात कोई कहने भी नहीं जाता पर जब मानव अपनी शक्ति तथा योग्यता से वंचित होता है तो कहने की योग्यता रखने वाले उससे कहते ही हैं। यदि मानव विकास पथ से दूर नहीं है तो यह कथन उसे अपमान नहीं चेतावनी के रूप में भासित होगा और अपनी कर्तृत्व शक्ति के द्वारा वह सत् को अपनाने की भर सक चेष्टा करेगा। जब वह ऐसा नहीं कर सकेगा तभी मानवता से पतित होकर पशु-पक्षियों के स्तर पर खड़ा दिखाई देगा। मानवता पशु-स्तरीय भूख से ऊपर उठकर मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक भूख को प्रशान्त करने में परिलक्षित होती है।

अब शुभ और अशुभ को लें। मानव स्वभावत शुभ का प्रेमी आकांक्षी तथा अशुभ से घृणा करने वाला है। शुभ या भद्र के प्रति उसका अनुराग ही उसे शुभ को अपनाने के लिये प्रेरित करता है। शुभ जहां भी है वहीं उसकी वृत्ति आश्रय पाती है। वह शुभ ही नहीं शुभ से शुभतम की भी कल्पना करता है। शुभ की जहां पराकाष्ठा हो वहीं उसकी श्रद्धा एवं निष्ठा को विश्राम प्राप्त होता है। वह उसकी ओर बढ़ता है और अपने को अशुभ एवं असत के कोलाहल से दूर करना चाहता है। अशुभ एव असत दोनों से ही उसे संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि ये दोनों ही उसे उलझाने वाले हैं उसके पैरों में बेड़ियां डालकर उसे विकास-पथ पर अग्रसर नहीं होने देते। सतत संघर्ष ही उसे इनके चंगुल से निकाल पाता है सुदृढ़ संकल्प ही उसे विजयी बनाता है। नीति या सदाचार का मार्ग निर्बलों के लिये नहीं सबलों के लिये है। निर्बल अथवा दृढ़ संकल्प शक्ति से शून्य कायर एवं भीरु शुभ का अनुगमन नहीं कर पाते। अत दृढ़ता प्रायवत्ता पवकी भून एव लगन ही मानव को भद्र की ओर ले जाती है। शुभ की ओर प्रयाण प्राणशक्ति के अभाव में असम्भव है।

सौन्दर्य में कला है। मानव के कान और नेत्र दोनों ही इसके पारखी हैं।

अन्धे और बहरे सुन्दर दृश्यों तथा संगीत के माधुर्य को क्या समझेंगे ? सौन्दर्य सम न्वय में है व्यवस्था तथा क्रम-बद्धता में है। पैथागोरस को यह समन्वय सृष्टि में दिखाई देता था। ब्रह्माण्ड की अद्भुत व्यवस्था में उसे सौन्दर्य का भान होता था। सर जेम्स जीन्स को भी इस युग में ऐसा ही भान हुआ। दोनों की श्रुति में नक्षत्र अपनी गति में संगीत की तान निकालकर भरते हैं। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार आदित्य उद्गीथ का गान करता है। कवीन्द्र रवीन्द्र की कल्पना में खिले हुये फूल उस अद्भुत व्यवस्थापक एवं सुभगता के स्रोत प्रभु के दूत बनकर आते हैं। सौन्दर्य कोलाहल में शोर में नहीं है। ध्वनियाँ जब विशेष क्रम के साथ आरोह एवं अवरोहण करें, तब संगीत उत्पन्न होता है। सौन्दर्य इस संगीत में है। रंग-बिरंगे फूलों की एक माला जब एक सूत्र में पिरोई जाकर सामने आती है तो अपने सौन्दर्य से सबको प्रभावित कर देती है। चित्रवाटिका का माली जब पुष्पों के अन्दर बैठा हुआ उन्हें व्यवस्थित रंग प्रदान करता है तब फूलों में सौन्दर्य की छटा छा जाती है। यह सौन्दर्य यह समन्वय यह व्यवस्था जिस मानव को आकर्षित न कर सके वह भी क्या मानव कहलाने के योग्य है ?

मानवता के तीन पक्षों पर अभी तक हमारी दृष्टि गई है। इन तीन पक्षों में ललित कला नीति या आचारशास्त्र और तत्व दर्शन आ जाते हैं। सच्चे मानव के जीवन में इन तीनों का समुचित विकास होना चाहिये। उसे सौन्दर्य का प्रेमी शुभ का आकांक्षी तथा सत का जिज्ञासु होना चाहिये पर इच्छा मात्र तक ही वह सीमित न रहे, प्रयत्न करके इन्हें अपने जीवन में अवतरित भी करे इन्हें अपने जीवन का अंग बनाये अपने चरित्र में भी ढाले। इच्छा कर्म या आचरण की प्रेरिका है। अतः उसकी स्थिति मूलतः वांछनीय है। इच्छा ही नहीं होगी तो मानव विकास पथ पर अग्रसर ही नहीं हो सकेगा ?

मानव आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त समझा जाता है। उसमें आत्मा का अस्तित्व है—यह ६ चिन्हों (लिंगों) से जाना जाता है। यह ६ चिन्ह हैं—इच्छा द्वेष सुख दुख ज्ञान और प्रयत्न। इन्द्रियों का अस्तित्व भौतिक पदार्थों की गुण-ग्राहिता पर अवलम्बित है। मन संश्लेषण तथा विश्लेषण द्वारा इन्द्रिय बोधों का एकीकरण करता है। आत्मा के जो ६ चिन्ह न्याय दर्शन के आधार पर ऊपर लिखे गये हैं, उन्हें तीन भागों में भी विभक्त किया जा सकता है —ज्ञान भाव और कर्म। ज्ञान का नामोल्लेख छः चिन्हों के अन्तर्गत विद्यमान है। सुख एवं दुख भावरूप हैं। इच्छा द्वेष एवं प्रयत्न कर्म में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इच्छा भी कर्म को प्रेरित करती है और द्वेष भी। शुभ प्राप्ति के लिये इच्छा करणीय है अशुभ के लिये त्याज्य है। अशुभ एवं अभद्र के लिये मानव के हृदय में द्वेष और घृणा की भावनाएं होनी चाहिए। प्रयत्न के उपरान्त जो उपलब्धि होती है वह कभी सुखद होती है और कभी दुखद। आत्मा इन्द्रिय तथा मन के अतिरिक्त प्राण का भी अस्तित्व है

जिसे आत्मसम्भूत या आत्मा की छाया कहा जा सकता है। प्राण पोषक है, जीवन है और पहरेदार है। यह शुभ तथा अपेक्षित अंशों को पचाता आत्मसात करता और अनवरत शरीर की रक्षा करता रहता है। जो अंश अशुभ तथा अनावश्यक हैं, उन्हें शरीर से बाहर फेंकता रहता है। इन सब पर विचार करते हुये हम कह सकते हैं कि मानवता उस मनुष्य में है जिसकी इन्द्रियाँ शुभ को ग्रहण करती हैं जिसका मन शिव संकल्प करता है जिसकी प्रज्ञा पोषण कारी और जिसका आत्मा इन सबके साथ कल्याणकारी पथ का पथिक है। वह आपात रमणीय दृश्यों में उलझकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता प्रत्युत श्रेय को पकड़ कर ऊर्ध्वगामी बनता है।

ऊर्ध्व गमन के प्रथम उद् फिर उत्तर और अन्त में उत्तम ज्योति की उपलब्धि होती है जिससे संकीर्णता हटती है, असत्यता के बन्धन नष्ट होते हैं उदारता एवं विशालता का समावेश होता है और आत्मा राज्य तथा वैराज्य से निकलता हुआ स्वाराज्य की भूमा अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ अन्यता की भावना नहीं रहती अनन्यता आ जाती है। अभेद की यह अवस्था सबसे ऊँची अवस्था है। इस धरा-धाम पर ऐसे पुरुष हम सबके बीच समय-समय पर अवतीर्ण होते रहे हैं, जिन्होंने अपने आदर्श जीवन द्वारा ऐसी अवस्था की ओर निर्देश किया है और मानवता की कल्याणकारिणी प्रणाली को अपनाने की प्रेरणा दी है।

संक्षेपतः—मानवता स्वार्थ साधन में नहीं परहित साधन में है दुर्गुण नहीं सद्गुण—सम्पादन में है दुःशील में नहीं सुशीलता में है दुराचार में नहीं सदाचार में है, दर्प तथा औद्धत्य में नहीं सहिष्णुता में है उद्दण्डता में नहीं संयम में है उच्छृङ्खलता में नहीं अनुशासनमें है अकर्तव्य में नहीं कर्तव्य-पालन में है विकारों में नहीं संस्कारों में है कार्पण्य में नहीं औदार्य में है प्रतिशोधन में नहीं क्षमा में है। मानवता अन्याय में नहीं न्याय में है। मानवता वसुधा की विरोधनी और व्रत परायणता दीक्षा श्रद्धा, तप तथा समर्पिता की पोषिका है। मानवता पाशव हिंसा एवं बर्बरता से दूर बुद्धि-पूर्ण स्वाधीन वायुमण्डल में विचरण करती है। उद्वेग उसे उभाड़ नहीं पाते न वह स्वयं किसी को उद्विग्न करती है। मानवता शान्ति एवं स्वस्ति का वरण करने वाली है पर साथ ही उपद्रव, कलह दौर्जन्य शोषण आदि कुप्रवृत्तियों का डटकर विरोध भी करती है। मानवता सहअस्तित्व सिखाती है, वैमनस्य या वैर उसकी परिभाषा में नहीं आते। मानवतावादी मानव विश्व मण्डल का एक महत्वपूर्ण महिमामय सदस्य है। मानवता मानव को उत्थान उन्नयन या उत्कान्ति की ओर ले जाती है और उसे अवपात या पतन से बचाती है। संस्कृति और मानवता इस अर्थ में एक हैं।

ज मानवता के पुजारी

सृष्टि के मूल में यज्ञ है। समग्र सृष्टि यज्ञरूप है। मानवता का उपासक अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। वह पूजा सगतिकरण तथा दान को विस्तृत अर्थों में लेकर मानव जीवन में सबके प्रति सम्मान सद्भाव तथा समुत्सर्ग को स्थान देता

है। 'कुत्सित' के प्रति घृणा उसके अन्दर निहित पाविन्य के प्रति पूजा की भावना है। 'कु' अपने 'सु' की ओर उमटकार कर सके यही मानवता की उपासना का लक्ष्य है। कोई सपूर्णत 'कु' नही है, सत कहीं न कहीं उसके भीतर छिपा पड़ा है। यह सु-सत या शुभ छिपा न रहकर प्रकट होने लगे, तभी तो मानवता विजयिनी बनेगी 'कु' के साथ युद्ध करने में सफलता प्राप्त करेगी। पूजा में श्रद्धा रहती है, संगति करण से विशालता का विकास होता है और दान से आत्मसमर्पण द्वारा मानव इष्ट के साथ एक हो जाता है। मानव की मानवता इसी ऐक्य इसी अभेदत्व इसी प्रपंचोपशमता में पर्यवसान पाती है। मानवता के पुजारी इसी प्रशामनीय पथ के पथिक बनकर विश्व में पूजाह बनते हैं और चिरकाल तक भूले-भटके मानव के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते हैं।

विकास क्रम में हम सब एक ही स्तर पर नहीं हैं। सबकी अपनी-अपनी कर्म सम्पदा है। विकास के विभिन्न स्तर, गुण कर्म स्वभाव की अनेकरूपता बुद्धि मन हृदय शरीर की विविध श्रेणियाँ सिद्ध करती हैं कि सबने समान तप नहीं किया है, सबकी दिशा—दीक्षा श्रद्धा-निष्ठा एक सदृश नही रही है सबके व्रत एवं संकल्प एक दिशा में नहीं लगे हैं। मानवता का पुजारी इन नाना स्तरों में विश्वास रखता हुआ किसी के साथ विवाद में नहीं पड़ता। वह अपने सामर्थ्य के अनुकूल सबकी सेवा करता है सबका उत्थान चाहता है सबको अपनाता है। वह अपने व्यक्तित्व का विलय सर्व में करना चाहता है क्यों कि उसका आदर्श उसका गंतव्य, उसका लक्ष्य सर्व है खण्ड नही। सर्व से पार्थक्य ही उसके दुःख का कारण है।

सर्वमय हो जाने में ही उसके ध्येय की पूर्ति है। मानवता की पूजा या उपासना मानव के अन्दर निहित सर्वव्याप्त तत्व की अर्चना है। मानवता के पुजारी का हृदय इसी हेतु विशाल होता है। सर्वसहिता उसके स्वभाव की प्रमुख परि-भाषिका है।

मानवता के पुजारी का हृदय उन्मुक्त होता है। जो बन्द है, खुला नही है वह चमकता भी नहीं है। मानवता का पुजारी चमकता है विशेष रूप से चमकता है और अन्त में अच्छी तरह चारों ओर चमकता है। उसकी पद्धति में प्रथम राज्य फिर वैराग्य और अन्त में स्वाराज्य आता है। वसुगण उसे राज्य देते हैं, रुद्रगण उसे वैराग्य देते हैं और आदित्यगण उसे स्वाराज्य में प्रतिष्ठित कर देते हैं। वह बाधक शक्तियों से मुक्त होता है रोगों को दूर करता है स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित होता है और अन्त में सबको ग्रहण कर लेता है अदिति अर्थात् अखण्डता का सगा सम्बन्धी बनता है। पार्थिव अग्नि मानसिक विद्युत तथा विज्ञानात्मा की सूर्य ज्योति में वह क्रमश प्रवेश पाता है और वहीं महत्ता या ब्रह्मभाव से सम्पन्न होता है। जैसे प्रातःकाल उदय का समय है, मध्याह्न काल घोर क्रिया या प्रचण्ड अभिव्यक्ति का समय है और सायंकाल अमन-संप्राप्ति का समय है वैसे ही मानवता का पुजारी उदय

होता है अपने कर्मकाण्ड से प्रथित यशस्वी बनता है और अन्त में अपने अयन में पर ब्रह्म में समासीन हो जाता है ।

मानवता का पुजारी अंश या कला नहीं, अकल या अंशी की ओर चलता है सीमित नहीं असीम या अनन्त पर दृष्टि रखता है अन्धकार नहीं प्रकाश से प्यार करता है और परिमाण नहीं अपरिमेय को अपनाता है । मानवों के बीच वही ज्येष्ठ है और वही श्रेष्ठ है । अत सभी की आँखें उसी की ओर जाती हैं उसी पर केन्द्रित होती हैं सबको अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति उसी के माध्यम से सम्भव होती जान पड़ती है । वह सर्वप्रिय है सबका है और सबके लिये है । समाज उसको मान देता है तो वह समाज को मान देता है । समाज उसके कारण प्रतिष्ठा पाता है तो वह भी समाज के कारण प्रतिष्ठित होता है । अपने आविर्भाव से वह तो चमकता ही है अपने समाज को भी चमका जाता है । सदियों से पददलित देश उसके तेज से प्रदीप्त हो उठते हैं पराधीन जातियाँ स्वातन्त्र्य सुख का उपभोग करने लगती हैं । यह सब होते हुए भी वह एक जाति समाज या देश का नहीं होता वह मानव मात्र का होता है । निखिल वसुन्धरा उसका परिवार है उदार चरित महाभाग विशाल हृदय मानवता के पुजारी का आत्मा परमात्मा के समकक्ष ही है ।

ख मानवता का विकास और सस्कृति

पीछे जो कुछ लिखा गया है, वह मानवता के स्वरूप को स्पष्ट करता है । यह स्वरूप सत्य में प्रतिष्ठित है । सात्त्विकता मानवता के विकास की ऊर्ध्व स्थिति है । आचार्य वल्लभ इसे महत्त्व देते हैं, क्योंकि यही आत्मा को परमात्मा से मिलाती है अथवा दोनों में सन्धि कराती है । संस्कृति का भी यही कार्य है । अत मानवता को हम संस्कृति का पर्याय कह सकते हैं । पर संस्कृति वस्तुत मानवता से भी ऊपर ले जाने वाली है । मानवता से ऊपर के स्तरों में ऋषित्व देवत्व तथा साम्यत्व की गणना की जाती है । इनका कुछ आभास मानव योनि के ब्राह्मणत्व में परिलक्षित हो जाता है पर वह आभास ही है । ब्राह्मण को जब हम भू-देव या भू-सुर कहते हैं तब उसका अर्थ व्यतिरेक द्वारा यही होता है कि देव भू-देव से भिन्न अस्तित्व रखते हैं ।

मानवता के लिये अभिप्रेत गुण निश्चित रूप से संस्कृत व्यक्ति की विशेषतायें हैं । इन गुणों से समन्वित मानव को हम संस्कृत मानव कहेंगे । मानव जैसे-जैसे बाहर से भीतर तक संस्कृत होता जाता है वैसे ही वैसे वह प्रदीप्त होता जाता है । आणव मलों का बहिष्करण तथा मानसिक भ्रमों का निराकरण उसे अपने चेतन रूप के निकट ले जाता है । हाँ बहिष्करण और चेतनता का आधान एक ही वस्तु नहीं है । बहिष्करण के साथ आचार के अभ्यास के लिये कतिपय आचारात्मक तत्त्वों के समावेश की आवश्यकता है । अप न शोशुचदघम् के साथ तन्मे मन शिव संकल्पमस्तु के अभ्यास की ओर भी साधक को उन्मुख ही नहीं तल्लीन भी होना चाहिये । अपामीवामप स्रिधमपाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायत । आरे देवा द्वेषो

अस्मत् । के साथ 'देवानां भद्रा सुमतिर् ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् । देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम् ।' के पाठ नहीं साधन या सम्पादन की आवश्यकता है । तभी हम धर्म तथा जीवन में प्रतिष्ठित हो सकेंगे । दुःख से छूटना सुख प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है । यह मन्युओं का करना और अमङ्गता से हटना दो स्तर हैं । एक का अपनयन तथा दूसरे का संयमन किया बिना मुक्ति नहीं स्वाधीनता नहीं आनन्द नहीं है । आनन्द के अवरोधकों में वेद प्रमुख रूप से तीन पाशों का वर्णन करता है जो पृथक पृथक स्थितियों में अनेक रूप धारण कर लेते हैं । इन्हें वरुण के पाश या बन्धन कहा गया है ।

वरणीय वरुणदेव के ये पाश व्रतभंग करने वालों को सभी स्थानों और कालों में आबद्ध कर लेते हैं । जो पाप करता है वह इन पाशों में जकड़ा जाता है । व्रत कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ नैतिक हैं । इनमें से किसी भी व्रत को तोड़ने वाला दण्ड का भागी बनता है । स्वास्थ्य के नियमों का न पालन करना प्राकृतिक व्रत का भंग है । झूठ बोलना चोरी करना आदि नैतिक व्रत-भंग के अन्तर्गत हैं । हम चाहे जितना भी छिपकर व्रत–भंग करें पृथ्वी पर पृथ्वी के ऊपर या उससे भी परे, वरुण के सहस्राक्ष स्पश (दूत) हमें देख ही लेते हैं ।

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (अथ० ४।१६।५)

वरुण देव के पाश सैकड़ों और सहस्रों हैं अर्थात अगणित हैं, पर ये सब तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं । ऋ० १।२४।१५ के अनुसार ये उत्तम मध्यम और अधम पाश हैं । ये त्रेधा पाश अथर्व की निम्नांकित ऋचा के अनुसार सप्त सप्त प्रकार के भी वर्णित हुये हैं —

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ॥
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं
यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु (अथ० ४।१६।६७)

वरुण देव के तीन प्रकार के पाश ही सात–सात प्रकार के हैं । ये सात प्रकार के पाश सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः । (ऋ० २।१।६) सात मर्यादाओं का भी स्मरण दिला देते हैं । सात मर्यादाओं को तोड़ना मानों सात प्रकार के पाप करना है । ये सात मर्यादायें प्राकृतिक भी हैं और नैतिक भी । अतः दो बार सप्त शब्द का प्रयोग हुआ है । प्राकृतिक क्षेत्र में इनका सम्बन्ध महत्तत्व अहंकार तथा पंचतन्मात्राओं से है । इन सातों को स्वस्थ रखना तथा समृद्ध करना प्राकृतिक मर्यादा है । नैतिक क्षेत्र में इनकी स्वस्थता तथा समृद्धि के सदुपयोग करने की मर्यादा है । यह उपयोग चेतना की अपेक्षा रखता है अतः नीति के अन्तर्गत आता है । पर ये सात-सात प्रकार के पाश अनुवृत्त तीन ही प्रकार के हैं । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । उसके ये तीन गुण अपने तो हैं ही पर जब ये चेतना पक्ष पर छा जाते हैं, तो उसे

६ । संस्कृति और विकास-पद्धति

क विकास-चक्र

जीवन पल—पल में ह्रास को प्राप्त हो रहा है। प्रकृति एक दिन इसे अपने में मिला लेगी पर यह इतना बलवान है कि यह उसमें मिलकर भी फिर फूट पड़ेगा। यह क्रम बराबर चलता रहेगा जब तक इसे विकास का मार्ग दिखाई देता रहेगा। वस्तुतः यह विकास पद्धति-की खोज में ही ह्रास विलय तथा पुनः प्राकट्य के चक्र तमक में पड़ा करता है। इस चक्र में भोग और उस भोग के अनुकूल कर्मसंहृति चलती रहती है। भोग के स्थान पर जब यह तपश्चर्या को वरण करता है तभी विकास का आरम्भ होता है।

ख शरीर

तपश्चर्या द्वन्द्व—सहन के साथ संयम विशेष का नाम है। संयम में हम बाहरके भोगों से विरत होते हैं जिनमें शारीरिक भोगों की प्रमुखता है। इन भोगों में सर्व प्रथम आहार आता है। कुछ व्यक्ति एकादशी के दिन अन्न का सेवन नहीं करते। कुछ ऐसे हैं जो रविवार को लवण—विहीन एकाहार करते हैं। कोई मंगल का व्रत रखते हैं, कोई पूर्णिमा का अथवा अमावस्या का। कुछ व्रत सामाजिक भी हैं। श्री कृष्ण जन्माष्टमी तथा शिवरात्रि के व्रत आर्य जाति में सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं। इन व्रतों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर को आहार न मिलने से अन्तड़ियों को थोड़ी देर के लिये आराम मिल जाता है और जो भोजन पच नहीं पाया था वह पच जाता है। भोजन के बाद जो भारीपन या प्रमाद की अवस्था आती है, वह भी नहीं *रह पाती। आलस्य के अभाव में शरीर की कार्य—शक्ति भी तीव्र हो जाती है। इन्द्रियों* के वेग भी पूर्णतया शान्त नहीं तो कम तो हो ही जाते हैं। मन की चंचलता भी पूर्व जैसी नहीं रहती। विकास के लिये ये सभी परिस्थितियां लाभकारी हैं। इनसे शरीर दृढ़ बनता है बाधक शक्तियों से वियुक्त होता है तथा दिव्यता की ओर प्रयाण करता है। वेद इसी हेतु कहता है —

योऽग्नि तन्वो दमे देव मर्तः सपर्यति ।
तस्मा इदीदयद् वसु । ऋ० ८/४४/१५

जो मानव शरीर के दमन द्वारा परमपति परम धाम एवं परम प्रकाश रूप देव की पूजा करता है उसके लिये वसु वासक तत्व धन या ऐश्वर्य चमक उठता है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्त, तत्समाशत ॥

ऋ० ९८/३/१

प्रभु ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं। उनकी पवित्रताकारिणी नैर्मल्य विधायिनी शक्ति चारों ओर फैली हुई है। वह हमारे शरीरों को सब ओर से परिव्याप्त किये है। पवित्रता की इस पावक मे विमलता को इस वह्नि में डालकर जिसने अपने शरीर को तपा नहीं लिया, जो कच्चा ही बना रहा, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाता। जो पक जाता है तप की भट्टी में डालकर शरीर को कुन्दन बना लेता है, वही कार्य भार को वहन करता हुआ कर्त्तव्यपालन करता हुआ, उस प्रभु को प्राप्त करता है।

हठयोगी इस शारीरिक सिद्धि को आसन द्वारा चरितार्थ करते हैं जिससे वे इस स्थूल शरीर को घण्टों एक ही स्थान पर एक ही स्थिति में बिठाये रखते हैं। शरीर का यह संयम ध्यान में सुकरता उत्पन्न करता है।

ग प्राण

स्थूल शरीर को सूक्ष्मशरीर के साथ मिलाने वाला प्राण है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर यहीं पड़ा रहता है जिसे या तो जला दिया जाता है या दफ़ना दिया जाता है या जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। कहीं कहीं यह चील गृध्र आदि के खाने के लिये किसी वन या स्थान विशेष में रख दिया जाता है। प्रत्येक अवस्था में प्राण इसे छोड़ कर सूक्ष्म शरीर के साथ अन्यत्र चला जाता है। मृत्यु को कोई पसंद नहीं करता। सभी चाहते हैं कि प्राण इस शरीर में निरन्तर चलता रहे। वैदिक ऋषि भी कहते हैं —

आ यासि इन्द्रवन्त सबोवसो हिरण्यरथा" सुवितायममस्तन।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मति तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

ऋ० ४/३/२१

प्राण! आओ। तुम इन्द्रवन्त हो आत्मशक्ति से युक्त हो सेवा-परायण हो तुम्हारी गति हितकर और रमणीय है। तुम हमारे सुवित के लिये उत्तम अवस्था के लिये यहीं रहो। जैसे प्यासा चातक स्वातिनक्षत्र के वैबीजल के लिये लालायित रहता है वैसे ही मेरी मति तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो रही है।

प्राण का कार्य दस प्रकार का है पर उसके पांच प्रकार तो अतीव महत्व पूर्ण हैं। इन पांच में भी दो रूप सर्वश्रेष्ठ हैं जिन्हें प्राण और अपान कहा जाता है। समस्त प्रजा का प्राण सूर्य है। जब यह प्राण-पु ज अपनी सहस्रों किरणों के साथ उदय होता है, तो विश्व का कण कण एक-एक पदार्थ एक-एक व्यक्तित्व सप्राण हो उठता

है, निराशा के स्थान पर आशा और तम के स्थान पर प्रकाश का संचार होने लगता है। दिन और रात्रि में २१६०० बार श्वास का प्रवेश और निष्क्रमण होता है। जो सांस बाहर से अन्दर जाती है, वह बाहर के प्राण—सिन्धु में डुबकी लगा कर आती है, अतः अन्दर पहुंच कर शक्ति का संचार करती है। जो सांस अन्दर से बाहर जाती है, वह हृदयसिन्धु के मंथन से उत्पन्न मल को शरीर के बाहर फेंक देती है। पहली सांस को प्राण और दूसरी को अपान कहते हैं। जीवन-प्रदायी एवं मलापहारिणी श्वास प्रश्वास को इसीलिए दो अश्विनी कुमार देव वैद्यों की संज्ञा दी गई है। अथर्व वेद के अनुसार —

> द्वौ इमौ वातौ वात आसिन्धो आपरावतः ।
> दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
> आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः ॥
> त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ॥
>
> ऋ० १०/१३७/२१

ये दो वायु चल रही हैं — एक बाहर के सिन्धु से अन्दर के सिन्धु तक और दूसरी अन्दर के सिन्धु से बाहर के सिन्धु तक। अन्दर का सिन्धु हृदय है, बाहर का सिन्धु अन्तरिक्ष। एक दक्ष अर्थात् बल लाती है तो दूसरी दोष दूर करती है। एक से प्राणन अर्थात् जीवन आता है तो दूसरी से अपनयन दोषापहरण होता है। दोनों ही रूपों में प्राण औषध का कार्य करता है। वेद तो इसे देवताओं का दूत भी कहता है। प्राण का संयम दिव्यता का आह्वान है। जैसे अग्नि की ज्वालाओं में पड़कर धातुओं के मल भस्म हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष प्राण के निग्रह से नष्ट हो जाते हैं। प्राण की तपस्या प्राण को वशीभूत करने में है। जिस प्राण के वश में सारा संसार है, उसे वश में कर लेना मानों विश्वविजयी होने की घोषणा करना है। हठयोगी प्राणायाम के अभ्यास द्वारा अन्दर के चक्रों का उद्घाटन करते हुये आज्ञाचक्र पर पहुंच कर ज्योति के दर्शन करने लगते हैं।

प्राण—संयम से जब इंद्रियों के पाप दूर हो जाते हैं तो इन्द्रियों की संज्ञा ऋषि हो जाती है। इन्द्रियों का यही ऋषित्व आगे चलकर विकास क्रम में देवत्व की संज्ञा प्राप्त करता है। पांच ज्ञान की और पांच कर्म की मिलकर दस बाहर की इन्द्रियां हैं। मन बुद्धि चित् तथा अहंकार नाम से चार अन्दर की इन्द्रियां हैं। ये चार कभी—कभी अकेले मन में भी सम्मिलित कर ली जाती हैं और इस प्रकार समस्त इन्द्रियों की संख्या ग्यारह हो जाती है। इन इन्द्रियों का संयम अपूर्व शक्ति रखता है।

संयमशील इन्द्रियां आत्मा के साथ एक होकर उसी के अनुकूल आचरण करती हैं। उनकी चंचलता, स्वच्छन्दता उच्छृंखलता नष्ट हो जाती है। इसी कारण उनका बल भी बढ़ जाता है। बल बढ़ने से उनमें एक शोभा एक दीप्ति आ जाती है और आत्मा जिस मधु के साथ संयुक्त रहता है, उसका भी वे पान करने लगती हैं। इन्द्रियाँ

की आस्वादन शक्ति भी व्यापक हो जाती है। चक्षु दूर दूर देशों का दर्शन करने लगते हैं। श्रोत्र विविध शब्दों के श्रवण में समर्थ हो जाते हैं। मन सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर लेता है। समस्त इन्द्रियों की समवेत शक्ति का चमत्कार संयमी योगियों के ही अनुभव की वस्तु है।

संयम पूर्वक इन्द्रियां यदि आत्मा के साथ चलने लगीं तो आत्मा का स्वराज्य सिद्ध हो गया। यही तो जीवन यात्रा का अभीष्ट गन्तव्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम सबका पुरुषार्थ है। स्वराज्य में एक नहीं सब आनन्द के भागी बनते हैं। जिस राज्य में थोड़े व्यक्ति सुख भोगें और अधिक संख्या क्लेश कष्टों को सहन करे, वह स्वराज्य नहीं सुराज्य भी नहीं परराज्य और कुराज्य है।

घ मन

इन्द्रियों में मन प्रधान है। बाहर की सभी इन्द्रियों के निखिल व्यापारों का समेकन यही करता है और यही उनका तथा आत्म-सम्बन्ध का माध्यम है। पर, मन में आसुरी तथा दैवी दोनों सम्पदायें भरी पड़ी हैं। एक के अपनाने से हमारा ह्रास तथा दूसरी के अपनाने से विकास होता है। असुरों के नीचे दबकर हम स्वयं ही नहीं मरते दूसरों को भी मारते हैं। दैवी संरक्षण में सबको सुख ही सुख है। वेद इसी लिये मन को दैवी मन बनाने का आदेश देते हैं।

मन को दिव्यता की ओर ले जाने का शिवसंकल्प हमारे अन्दर अटूट लग्न और तीव्र वेग के साथ जागृत होना चाहिये। इस संकल्प का बाह्य बिन्दु श्रवण है। मन दैवी विचार सुने देवों का संसर्ग करे दिव्य भावों के अनुशीलन में रमे तो दिव्यता के इस आसंग से उसमें दैवरुचि उत्पन्न हो जायगी। श्रवण के उपरान्त दूसरा बिन्दु मनन है जो श्रवण की हुई सामग्री को हमारा अंग बना देता है। मनन आन्तरिक है पर इससे भी अधिक आन्तरिक निदिध्यासन है जिसे हम निबिड़ सघन, बिना तार टूटे ध्यान की अवस्था कह सकते हैं। प्रज्ञा का प्रकाश इसी अवस्था में होता है। श्रवण से पाण्डित्य मनन से मुनित्व, निदिध्यासन से ऋषित्व तथा प्रज्ञा से देवत्व प्राप्त होता है।

मन को दैवी बनाने की प्रेरणा कई मन्त्रों में पाई जाती है, यथा —

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयिश्रुतम ॥ अथर्व १ १ २

हे वाणी के अधिपति निखिल वाङ्मय के स्वामी तुमने बहुत कुछ सुना दिया है विविध शाखाओं वाले ज्ञान का प्रवचन किया है। अब ऐसी कृपा करो जिससे यह सुना हुआ मेरे अन्दर रम जाय। तुम वासक शक्तियों के भी पति हो स्वामी हो रक्षक हो दैवी मनन तुम्हारा शाश्वत साथी है। यदि तुम आ गये और मेरे अन्दर निरन्तर रमण करने लगे तो मेरा मन भी दैवी बन जायगा और अपने सुने हुए ज्ञान को अपने अन्दर पचा सकेगा।

संज्ञानामहै मनसा सचिकित्वा मा युष्महि मनसा दव्येन ।
मा घोषा उत्स्थु बहुले विनिर्हते, मा इषुः पप्तद इन्द्रस्य अहनि आगते ॥
अथर्व० ७–५२–२

हम सम्यक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करें, उस पर भलीभांति विचार करें दैवी मनन से कभी पृथक न हों इसकी पहिचान का लक्षण यह होगा कि जब विपत्ति आवे तब हम हाहाकार न कर उठें और जब सुख के दिन आवें तो इन्द्र का वज्र हमारे ऊपर न गिरे—अर्थात दुख में हम विचलित न हों और सुख हमें इन्द्रत्व से आत्मतत्व से, अपने आपे से बाहर न कर सके।

तन्तु तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम । ऋ० १०–५३–६

हम ज्ञान का ताना और कर्म का बाना बुनते हुये दिव्य सूर्य के पीछे पीछे चलें। ज्योतिष्मान ज्ञानधनी अपने बुद्धि-बल से जिन प्रकाश पथों का निर्माण कर गये हैं, उनकी रक्षा इसी विधि से होगी। हमें उलझन-रहित होकर, बिना गांठें डाले, कवियों-ऋषियों के पुनीत पद-चिह्नों पर चलना है। यदि हम मननशील मनु बन गये, तो दैव्य जन की प्रसूति भी संभव हो जायगी। दिव्यता की संतान, दैवी स्थिति की उत्पत्ति मनन-शीलता के पश्चात ही सम्भव है।

अग्नि मिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः । ऋ० ८ १०२ २२

मन से अग्नि प्रज्वलित करता हुआ मानव धी को प्राप्त करता है। अतः हम ज्ञान-किरणों द्वारा इस अग्नि को प्रकाशित करें। जहां से हमें ज्ञान की रश्मियां उपलब्ध हो सकती हैं वहां से हम उन्हें प्राप्त करें फिर मनन सम्यन द्वारा उस ज्ञान को अपने अन्दर प्रज्वलित करें। प्रत्येक ज्ञान रश्मि उस ज्ञान-निधान परमसूर्य प्रभु की ओर संकेत करती है। मनन की यह अग्नि धी को भी प्राप्त कराती है। ज्ञान और आचरण की कथनी और करनी की एकता इसी के द्वारा सम्पादित होती है।

ङ बुद्धि

धी में ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाते हैं। महात्माओं का लक्षण भी यही है कि जो कुछ उनके मन में है जिस विचार को वे अन्दर रखते हैं, उसी के अनुकूल आचरण भी करते हैं। दुरात्मा दुष्ट जन की पद्धति इसके विपरीत होती है।

ज्ञान और कर्म की एकता अर्थात धी की उपलब्धि दिव्यता की सुदृढ़ सीढ़ी है। यह धी प्रेरित, गतिवती सचेष्ट बनी रहे कुण्ठित न होने पावे, हमारी सुबुद्धि सतत शुभ भद्र और कल्याणकारी कार्यों में प्रवृत्त रहे इसी की प्रार्थना गायत्री मन्त्र में की गई है।

यह धी यज्ञिय होती है। देवताओं की तो यह सतत संगिनी है। याजक इसी की पूजा करते हैं। इसी से उनकी रक्षा होती है। जैसे जौ के खेत में चर कर बाढ़

हुई गौ सहस्रधार दुग्ध देकर हमें पुष्ट कर देती है उसी प्रकार यह धी भी उस मही यशी गौ के समान हमारी कामनाओं को फलवती कर हमें आप्यायित कर देती है।

आवोधियं यज्ञियां वर्तऊतये देवादेवीं यजतां यज्ञियामिह।

सा नो दुहीयत् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥ ऋ० १०-१०-१-९

जैसे मन में दैवी एवं आसुरी दोनों भाव रहते हैं वैसे ही धी भी यज्ञिय एवं अयज्ञिय दोनों प्रकार की हो सकती है। वेद ने जहां धी को यज्ञिय पवित्र कहा है, वहां उसे पापीयसी भी कहा है 'अप्सव पापीरपवेशयाधियं।" यज्ञिय धी से विकास होगा पापीयसी धी ह्रास की ओर ले जायेगी। पाप प्रवृत्ति वाली धी में कपटी और करनी दोनों ही अपवित्र होंगी। यदि धी को ऋत की ओर चलने की प्रेरणा मिलती रही तो अपवित्रता कम होती जायगी और पुण्य का प्रकाश वर्द्धमान रहेगा। वैसे पुण्य और अपुण्य का जोड़ा तब तक चलता रहता है जब तक प्रज्ञा का प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता। प्रज्ञा के पार चले जाने पर पुण्य और अपुण्य का प्रश्न ही नहीं रहता क्योंकि यह युगम प्राकृतिक क्षेत्र तक ही सीमित है।

मनन के उपरान्त यदि हमारा ध्यान पवित्र हो गया तो दिव्यता का आवास हमारे अन्त एवं वाह्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगेगा। यह आवास सुरक्षित रहे, दिव्यता पर दानवता का आक्रमण न हो सके हमारा प्रकाश पतमासु न बने इसके लिए धी से भी ऊपर मेधा के क्षेत्र में रहेंचने की आवश्यकता है। वेद के शब्दों में —

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।

तयामामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ यजु० ३२-४१

देव और पितर इस मेधा की उपासना करते रहे हैं। उनका ज्ञान और ध्यान योग एवं त्याग कर्म तथा धर्म मेधा के द्वारा ही पूर्णता तक पहुँचे हैं। प्रभु इस मेधा से आप मुझे भी मेधावी बनायें।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम्।

प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानामवसे हुवे ॥ अथर्व। ६ १०८ २

मेधा ब्रह्मण्वती वेदवती ज्ञानवती, ज्ञानी ब्राह्मणों द्वारा सेवित ऋषियों द्वारा स्तुत, प्रकाशित और ब्रह्मचारियों द्वारा प्रपीत है आत्मसात् की गई है। जिन देवताओं को मैंने शारीरिक तप प्राण-निग्रह इन्द्रिय दमन संयम मनन एवं ध्यान द्वारा अपने अन्दर बसा लिया है, उन पर कोई आंच न आने पाये वे सुरक्षित रहें मेरे अन्दर बने रहें इसके लिये मैं मेधा देवी की शरण आता हूं उसका आह्वान करता हूं। मेरी पुकार पर मेधा महारानी आवे और मेरे दैवी भक्तों की सुरक्षा का कवच पहिना दे।

दिव्यता मेरी संगिनी ही नहीं मेरा एक अंग बने अपृथक रूप से मेरे अन्दर निहित रहे इस सिद्धि का सम्पादन मेधा द्वारा होता है। मेधा का मेधन (सम्मन,प्राप्ति) प्रभूत पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। इसके लिये वारण शक्ति (वारक वध द्वारा पापों को हटाना और पवित्रता को वरण करना) आग्नेय शक्ति (निरन्तर प्रगति, पाविष्य एवं ज्ञान का अभ्यास) माधानाप्य (आविर्भूत एवं संचित दैवी सम्पदा या

संतति का संत्राण) ऐन्द्री शक्ति (दैवी ऐश्वर्य को बढ़ाना इन्द्र की भांति सबलपति से ऊपर शतक्रतु बनना) वायवी शक्ति (दिव्यता का प्रसारण) और भानु शक्ति (अर्जित किये हुए को अपने अन्दर धारण कर लेना, पचा लेना) की आराधना करनी पड़ती है। मेधा प्राप्त हो गई, तो दिव्यता सुरक्षित हो गई प्रज्ञा का पट खुल गया।

मेधा के ऊपर प्रज्ञा का प्रकाश है स्वतः ज्योति का प्रकट हो जाना है। वैज्ञानिक एक महासूर्य को और वेद हिरण्यगर्भ को निखिल ब्रह्माण्ड का जनक मानते हैं। पिंड में प्रज्ञा का भी यही स्थान है। प्रज्ञा पर पहुंचते ही पाप समाप्त हो जाते हैं जैसे ही जैसे हिरण्यगर्भ ज्येष्ठ ब्रह्म या महासूर्य तक जाकर प्रकृति की विकृतियाँ निःशेष हो जाती हैं। पाप का यह रूप सूक्ष्म दशा में राग एवं द्वेष और स्थूल दशा में लोभ एवं क्रोध में दिखाई देता है। प्रज्ञा के प्रकट होते ही यह विलीन हो जाता है। वेद कहता है –

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसासह ।

द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्, मा च अहं द्विषते रधम् ।। ऋ० १ ५०-११

प्रज्ञारूपी आदित्य अपने समस्त तेज के साथ उदय हो गया। इसने मेरे शत्रु (राग-द्वेष) को समाप्त कर दिया। अब मैं द्वेष के वशीभूत नहीं हो सकता।

अपाम सोममृता अभूम अगन्म ज्योति रविदाम देवान्।

किं नूनम् अस्मान् कृणवदराति: किमु धूर्ति अमृत मर्त्यस्य।। ।। ऋ० ८-४८ ३

मैंने सोमपान कर लिया। अब मैं अमर हूं। ज्योति मेरे सामने है। देव मेरी संनिधि में हैं। अब अराति शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? मरण धर्मा मानवों के द्वन्द्व छल-कपट धूर्तता अब मेरे चरणों के नीचे दबे हैं अपना बल खो चुके हैं।

प्रज्ञा के रूप में साधक को सबसे ऊंची सिद्धि प्राप्त हो गई। उसे देव ज्योति अमरत्व सोमपान सब कुछ तो मिल गया। अब और क्या चाहिए? शत्रु कोई अवशिष्ट नहीं रहा मर्त्यों की धूर्ति उस पर चल नहीं सकती कैसी स्पृहणीय अवस्था है! कितनी उदात्त! कितनी श्रेष्ठ!! पर साधक तू जिन शब्दों में अपनी सिद्धि का उल्लेख कर रहा है क्या उन शब्दों पर भी तेरा ध्यान गया है? क्या इन शब्दों में तेरा अहंकार नहीं बोल रहा? अहंकार जो पहली गाँठ है जिसने तुझे प्रकृति के साथ सर्व प्रथम ग्रथित किया अब भी बना है। तू बहुत ऊपर उठ गया है इसमें सन्देह नहीं, पर अभी विकृति से नहीं तो प्रकृति से तो चिपटा ही है। यह अहंकार तुझ उठे हुए को गिरा देगा। तुझे देव मिल गए हैं अमरत्व का तू अनुभव कर रहा है पर यह स्वर्ग-अमरों और देवों का स्वर्ग, भोग की ही तो वस्तु है। इसे भोगने के बाद तू पुनः माता-पिता की आकांक्षा करने लगेगा। क्या कोई ऐसी अवस्था नहीं जहां इस अहंकार का भी शमन हो सके?

घ अहंकार शमन

महर्षि पतंजलि ने चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध द्रष्टा के में माना है और अस्मिता या अहंकार को क्लेशों में स्थान दिया है।

अपरामृष्ट रहता है। यह पुरुषविशेष ईश्वर है। यदि साधक ईश्वर के साथ अपने को एक कर दे तो प्रकृति से एक दम अलग हो जायगा। प्रभु की भक्ति अहंकार शमनार्थ इसीलिये अनिवार्य समझी गई है। वह कहता है

त्वयाद् इन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ॥ ऋ० ८–९२–३२

हे ईश्वर ! तुमसे युक्त होकर ही हम अहन्ता पर आश्रित स्पर्धाओं का सामना कर सकते हैं। वस्तुत प्रकृति माया अविद्या मेरी नहीं और न मैं उसका हूं। मैं तो तेरा हूं और तू मेरा है। यही सम्बन्ध सत्य है। अन्य सब सम्बन्ध असत्य हैं।

त्वावते हि इन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥ ऋ० ७–२५–४

प्रभु ! अब मैं तेरे ही कार्य करूंगा अथवा तेरे लिए जो कार्य किए जाते हैं उन्हीं को करणीय, कर्तव्य कार्य समझूंगा। तू दूर है सच्चे वस बाता है अब तेरे जैसे रक्षक के दान में ही मैं अपने को समर्पित करता हूं। हे बलवती रक्षा शक्तियों के भण्डार परम तेजस्वी परम-दुरणशील अब सब दिनों के लिए तुम मेरे अन्दर अपना घर बना लो तुम्हारे अतिरिक्त अब यहां अन्य कोई न रह सके तुम सबको यहां से अपहृत कर दो निकाल दो। तुम्हारे निवास से तुम्हारे संसर्ग से हे अमृत मैं मरने से बच जाऊंगा। जो मुझे बार-बार मारते रहे तथा मरण की ओर प्रेरित करते रहे वे तुम्हारे बस जाने से ही नाम सकेंगे मर सकेंगे।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥
ऋ० १ ५७-४

हे इन्द्र हे पुरुष्टुत हे प्रभूवसो ! तुम्हारा ऐश्वर्य ही सच्चा है ऐसा प्रभूत ऐश्वर्य विपुल वैभव अनन्त आनन्द और किसी पर भी नहीं है। अतएव मैंने तुम्हारा ही आश्रय लिया है। अब मैं तुम्हारा ही बन गया हूँ। हे वाणी के भजनीय वाक् शक्ति के आराध्य देव ! आपके अतिरिक्त मेरे वचनों को मेरी आर्त पुकार को सुनने वाला भी और कोई नहीं है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की भांति मेरे वचन आपके ही कानों में पड़े। उन्हें आप ही सुनें।

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः ॥
ऋ ७-३२ २

देखो, ये ब्रह्म को, आपको अपना बनाने वाले तुम्हारे लिये निर्मित किये गये सोम में मिल कर बैठ गये हैं, जैसे मधु के चारों ओर मक्खियां बैठ जाती हैं। ये स्तोता ये भक्त ये तुझे वसु के प्रेमी अभिलाषी तुझे पाकर ऐसे निश्चिन्त हो गये हैं जैसे रथ में बैठ कर कोई पथिक निश्चिन्त हो जाता है।

अस्या रुरुं न क्षिवयो ररभ्मा शवसस्पते ।

क एमस्य

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में निम्नांकित मंत्र आता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

विज्ञानी के सामने विकास के रूप्ये स्तरों में एक ऐसी अव जिसमें समस्त भूत आत्मा ही हो जाते हैं—आत्मा ही जान पड़ते हैं। न मोह रहता है न शोक। एकत्व के दर्शन होने लगते हैं। जिस और शोक नष्ट हो जाते हैं यह अवस्था कैसी हो सकती है? मं भविष्य के लिये कामनायें खड़ी करता है। शोक हुआ है जो अतीत पर के नष्ट होने पर होता है। जिस न पुरातन का दुःख हो न भविष्य वह वर्तमान में ही संतुष्ट रहता है। परमात्मा न भूत है न भविष्य भूत की भाँति समाप्त हो गया है और न अविद्यमान होकर भविष्य होगा। न उसकी मृत्यु है न उसका जन्म। वह सतत वर्तमान है वर्तमान था वर्तमान न भी वर्तमान है और भविष्य में भी वर्तमा निकालाबाधित है। सब समयों और सब स्थानों में एक सम है उस पर प्रभाव नहीं डाल पाते। ये तो उसके वश में हैं पर वह है। वह विश्व-वशी है स्वभाव से सबको अपने वश में रखने किसी का वश नहीं चलता। साधक विज्ञानी भी अन्त में उ किसी का वश नहीं चलता। साधक विज्ञानी भी अन्त में उ देखता है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता उसके शोक और मोह से शून्य एकत्व-दर्शन की यह अवस्था निश्चय

एकत्व दार्शनिकों की दृष्टि में मूल भावना है। विश्व का एकत्व की ही माया है। एकत्व में अनेकत्व समाविष्ट है। एक से जैसे एक बीज अंकुरित होकर द्विदलात्मक फिर अनेक दल-म बनता है वैसे ही एक पुरुष भाव तथा सत्य अथवा प्राण तथा रयि होकर अनेक रूप धारण करता है। यही कारण है कि विभिन्न

एकत्व की खोज में अनन्तकाल से संलग्न है।

सुख और दुख द्वन्द्वात्मक हैं, इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं। इन दोनों से ऊपर जो आनन्द है, वह एकमुखी है। वही सबका मूलाधार है। संसार के किसी एक पदार्थ पर मन अपने राग को एकान्त रूप से स्थापित नहीं कर पाता। वह एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर, इसी प्रकार निरन्तर दौड़ लगाता तथा भटकता रहता है। स्थायी रूप से कहीं पर भी नहीं टिक पाता और तब तक घूमता ही रहता है जब तक उसे अपना एकाधार मूल-तत्व प्राप्त नहीं हो जाता। उसका राग अनेक दिशाओं के दर्शन करता है पर तोष या तृप्ति उसे एकत्व की अनुभूति में ही होती है। यही तृप्ति आनन्द है। मानव के निखिल प्रयत्न इसी के लिये हो रहे हैं। उसके प्रयासों का एकमात्र लक्ष्य, अन्वेषणों का एकमात्र गन्तव्य लिप्साओं की लिप्सा, कामनाओं की कामना केवल एक आनन्द है अद्वत है एकत्व है।

दे। नीति के पक्ष में जो शिव है कला के क्षेत्र म जो सौन्दर्य है, दर्शन की दृष्टि

में। जो सत्य है वही अध्यात्म के प्रदेश में आनन्द है और आनन्द की भूमिका भावएकत्वमयी है। वहां बहुत्व का प्रवेश एकान्त असम्भव है। बहुत्व जब एकत्व की

ओर उन्मुख होता है, तभी उसके सहज स्फुरण में आनन्द की ज्योति झलकने लगती है।

न बार हम बाहर की ओर देखते हैं वहां अनेकता है। हम बाहर के शब्दों को सुनते

। ध्वनियां विरूपी हैं, विविध हैं। फूल में अनेक पंखुड़ियां हैं, उन पंखुड़ियों में अनेक वर्ण

न में को रंग हैं भिन्न हैं उनमें परिमल है कोमलता है। इन सब बातों का ज्ञान पृथक

ह स्पर्श रूप से एक एक ज्ञानेन्द्रिय को होता है, परन्तु इन सबका सामूहिक ज्ञान मन को

कार्य संस है। मन के अन्दर बाहर के ऐन्द्रियज्ञान का समेकन होता है। इसी प्रकार प्रेम

उ की मन भाष्ठ है। उसमें भी बहुत्व का समेकन होता है। यह समेकन ही आनन्द का है।

प्रेम भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। भौतिकता की बहुरूपता आध्यात्मिकता लीन होकर अभेद की सृष्टि खड़ी करती है। वहां विषय तथा विषयी का भेद त हो जाता है। प्रथम तो बहुत्व कुछ वर्गों में विभक्त हो जाता है, फिर वर्ग कुछ का निर्देश करने लगते हैं और अन्त में नियम एक नियामक का ज्ञान ते हैं। इस प्रकार विषयी विषयों स होता हुआ अन्तमु ख होकर नियम निवर्तन उससे नियामक पर टिक जाता है। वह स्थिति ज्ञान के अथवा अनुभूति के र स्तर मे एकत्व-विधायिका है। चिन्तक चिन्तन और चिन्तित इस स्थिति ग नहीं रहते एकत्व में मग्न हो जाते हैं।

भौतिकता में नाम और रूप हैं। आध्यात्मिकता म नाम-रूप का अभाव है। उपाधियां हैं ऊपर मे निरुपाधि अवस्था है। भौतिक बन्धनों को अति क्रान्त करता साधक आत्म दर्शन मे नाम-रूपात्मक उपाधियों से ऊपर उठ जाता है। व्यक्ति और

समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास की इस उदात्त दशा में एकत्व का दर्शन ही अखंड आनन्द की भूमि है।

सूर्य जब अपनी किरणें विकीर्ण करता है तो वे भिन्न-भिन्न पदार्थ पर पड़ती हैं, उस पदार्थ में उनके रंग मिल जाते हैं पर जब सूर्य अस्त होता है तब उसकी किरणों के साथ उनके समस्त रंग भी सूर्य में केन्द्रस्थ हो जाते हैं। बहिर्मुखी पुरुष भी इसी प्रकार बहुत्व में रमण करता है पर जब अन्तर्मुखी होता है तब केवल आत्मक्रीड़ एवं आत्मरति होता है।

ध्वनियाँ बैखरी रूप में अनेक हैं। मन में भी उनका बहुत्व है पर बुद्धि के क्षेत्र में दर्शन की प्रधानता उन्हें एकत्व की ओर ले जाती है और परावस्था में एकत्व के अतिरिक्त कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता।

केन्द्र से अनेक रेखायें निकल कर परिधि की ओर जाती हैं और परिधि के नाना बिन्दुओं पर समाप्त होती हैं पर जब परिधि से केन्द्र की ओर चलती हैं तो सबकी सब अपना रूप और नाम भूलकर केन्द्रस्थ हो जाती हैं। इस एकत्व में ही उनकी मूलावस्था है।

हम सब भी तो एक एक एकमेवाद्वितीय—से मिलकर एक हो जाते हैं। बहुत्व में भटकना था। एकत्व में विश्राम है विराम है आनन्द है। आनन्द से ही सब निस्सृत होते हैं उसी में प्रतिष्ठित रहते और अन्त में उसी में समा जाते हैं। आर्य संस्कृति हम सबको इसी एकत्वमयी आनन्दमयी अवस्था की ओर ले जाती है।

जब हम इस विशाल ब्रह्माण्ड को देखते हैं तो अपनी लघुता पर क्षोभ उठते हैं। हम कितने लघु हैं कितने क्षुद्र हैं इसका भान हमें हीनता की ओर ले जाता है। पर जब हम यह विचार करते हैं— कि यह समस्त ब्रह्माण्ड हमारे लिये है, हमी इसके उपभोक्ता हैं तो हमें अपनी महत्ता का भी बोध होने लगता है। कान्ट इस बोध को spiritual invigoration आध्यात्मिक नवस्फुरण कहता है। यह बोध हमें भूमात्व की ओर ले जाता है। भूमात्व में ही सबका पर्यवसान है एकत्व-निमज्जन है। मनुष्य की भूमा में परिणति भी यही है।

अन्तः दर्शन में बाहर की वस्तुयें अन्तः संचरित होकर अपनी बाह्य सत्ता को मन में मग्न कर देती है। उषा की अरुणिमा-सुषमा हृदय में संचरित होने लगती है। हृदय के साथ वह तद्रूप हो जाती है। पहले हृदय उधर जाता था। उषा-दर्शन के लिये नयन उद्वेग उठते थे। अब उषा हृदय में बैठी है उसके साथ एक है, संगति कर रही है। यह संगति तृप्ति प्रदान करती है। इस तृप्ति में आनन्द का संगीत मुखरित हो उठता है। एकत्व में यही तो आनन्दमयी उपलब्धि है।

प्रेम की बहिर्मुखता वासना है। वासना की अन्तर्मुखता प्रेम है। एक स्थान पर विकर्षण है दूसरे पर आकर्षण। विकर्षण में फैलाव है, आकर्षण में केन्द्रीयता।

फैलाव जब सिमटने लगता है तब एक-एक इन्द्रियव्यापार अपनी सत्ता खोकर केन्द्र के साथ समस्वर हो जाता है। प्रेम में नेत्र श्रवण, त्वचा आदि सब अपनी सत्ता खो बैठते हैं प्रेम के वशीभावन में डूब जाते हैं। वासना पशुता है, तो प्रेम दैवी है। एक उद्दाम है तो दूसरा शान्त। एक मलिन है तो दूसरा उज्ज्वल। एक दुख है तो दूसरा आनन्द। एक बहुप्रिय है तो दूसरा अनन्य। एक में भोग है तो दूसरे में बलिदान। एक में दौड़ धूप है तो दूसरे में विश्राम। एक में प्रवृत्ति है तो दूसरे में निवृत्ति। एक में विकेन्द्रीकरण है, तो दूसरे में तन्मयीभाव। एक में विस्तार है तो दूसरे में आत्मलय। एक में विलोम है तो दूसरे में तल्लीनता। एक में ग्रहण है तो दूसरे में समर्पण।

ख कुछ प्रश्न

संस्कृति मानवता की आन्तरिक उपलब्धि है। इमर्सन और स्पिनोज़ा इसे बौद्धिक परिपूर्णता कहते हैं। उद्वेग नहीं बुद्धि और विवेक के शासन में जीवन व्यतीत करना संस्कृति का उदात्त रूप है। मैथ्यू आर्नल्ड ने संस्कृति में भावना तथा सौन्दर्य-बोध को सम्मिलित किया है। यहाँ भावना का तात्पर्य परोपकार करुणा विश्व मैत्री तितिक्षा आदि से है। इसका अर्थ उद्वेग– काम क्रोधादि नहीं है। सौन्दर्य-बोध पर हम पीछे लिख चुके हैं। यह भौतिक छवि से निकल कर निखिल सौन्दर्य के स्रोत परम तत्त्व तक पहुँच जाता है। प्राकृतिक तथा शारीरिक सौन्दर्य उसी परम सौन्दर्य से फूटकर निकली हुई धारायें हैं।

संस्कृति जहाँ एक दृष्टि से अविचल है और विकृति के साथ सामंजस्य नहीं कर पाती वहाँ वह अपनी उदारता में सर्वसहा भी है। जैन धर्म का स्याद्वाद इसका उदाहरण है। इसे हम अहिंसा भी कह सकते हैं। अहिंसा अन्यों के बाह्यविरोध को ही नहीं आन्तरिक मानसिक विरोधी मान्यताओं को भी सहन कर जाती है। तो क्या हमें विकृति के साथ समझौता कर लेना चाहिए? क्या संस्कृत व्यक्ति असंस्कृत व्यक्ति के साथ सहनशीलता का व्यवहार करे? क्या वह चोर तथा अत्याचारियों, व्यभिचारियों का चुप रहकर समर्थन करे? क्या ऐसा करना उनकी पापीयसी वृत्तियों एवं कृतियों का अनुमोदन करना नहीं माना जायगा? कदाचित ऐसा सोचकर ही संस्कृति के परिपूर्ण विकास को कल्पनाभास कहा जाता है।

महात्मा गांधी ने इस दिशा में जो नवीन प्रयोग किये उनके अनुसार संस्कृत व्यक्ति को असंस्कृत व्यक्ति से नहीं उसकी वृत्तियों तथा कृतियों से घृणा करनी चाहिए। उनकी दृष्टि में सत एवं असद् में कभी समझौता नहीं हो सकता। पर यह दृष्टि कोण भी अव्यावहारिक सा लगता है। आप चोर से नहीं चोरी से घृणा करते हैं। क्या चोरी से घृणा करने में चोर का शरीर आपकी घृणा का भाजन होने से बच जायगा? यह अतिवादिता है जो सामान्यतः अनुभव में नहीं आती। महात्मा गांधी ने इस दिशा में प्रयोग अवश्य किया, पर वह प्रयोग मात्र था, जो

उन्हीं के साथ रहा सामान्य जनता के हृदय तथा शरीर तक नहीं उतर सका। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने इसीलिए लिखा था —भावी पीढ़ियाँ महात्मा गांधी के प्रयोगों के विषय में पढ़कर यह विश्वास कठिनाई से कर सकेंगी कि ऐसा व्यक्ति हाड़ मांस के शरीर को लेकर कभी इस पृथ्वी पर भी विचरण करता था।

यह निर्विवाद है कि संस्कृति की परिपक्वता में समन्वय औदार्य, सहिष्णुता, सौन्दर्य-बोध आदि की वृत्तियाँ रहती हैं। आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक विकास इसी का अपर नाम है। अहिंसा जिसने भारत वसुन्धरा पर अमृतरस की वर्षा की है, इसी का मधुर फल है। संस्कृति के विपरीत प्राकृत वस्तुओं के उपयोग की वह अधम अवस्था आती है जिसमें हिंसा, छीना-झपटी स्वार्थ परायणता आदि का साम्राज्य है। भौतिकता का यह रूप संस्कृति के विकास में अवांछनीय ही नहीं असभ्य भी समझा जा सकता है। इसने यूरोप के वातावरण को विषाक्त बनाया है। तो क्या संस्कृति भौतिकता का तिरस्कार करेगी? क्या भौतिकता और आध्यात्मिकता एक साथ नहीं चल सकतीं?

भारतीय साधना ने इसका उत्तर निषेधपरक नहीं दिया। उसने विचार और व्यवहार में एकता का प्रतिपादन किया है। सभ्यता को उसने संस्कृति का बाह्य रूप समझा है। संस्कृति उसके लिए वह वृत्त या आधार है जो भीतर रहता है। सभ्यता वह व्यवहार है जो बाहर हमारे साथ दिखाई देता है। सभ्यता संस्कृति का ही प्रतिरूप है। घोर व्यावहारिकता में डूबा हुआ व्यक्ति भी सुसंस्कृत हो सकता है जिसका उदाहरण राजर्षि जनक हैं।

हम अपनी बात किसी के ऊपर थोपने नहीं जाते। विचार-विमर्श के लिए अवश्य हम सबका आह्वान करते हैं। जिसे हमारे विचारों में औदार्य दृष्टिगोचर हो वह उन्हें अपनाने के लिए बाध्य नहीं स्वतन्त्र है। संस्कृति को हमने सूक्ष्म एवं शाश्वत समझा है। सभ्यता के रूपों में परिवर्तन होता रहता है। इन परिवर्तनों से हम घबड़ाते नहीं और जब तक कोई अपनी विशिष्टता रखता हुआ भी हमारी आध्यात्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं पर आघात नहीं करता हमें अपदस्थ करने का षडयन्त्र नहीं रचता तथा हमारी सत्ता के उन्मूलनार्थ प्रयत्न नहीं करता तब तक वह सुख से हमारे साथ रह सकता है। पर यदि उसने हमारे मूल पर ही आघात किया, तो उस आकांक्षा आततायी के लिए हमारे शस्त्र भी सुरक्षित हैं। आर्य सम्राट भिक्षु बनकर करुणा की अजस्र वर्षा भी सब पर करते रहे हैं पर निरंकुश आततायी के उच्छृंखल क्रूरों को समाप्त करने के लिये उनके वज्रबाहु भी सदैव समुद्यत रहे हैं। हमारी उदारता हमारी सक्षमता इसी हेतु शकों हूणों कुषाणों यवनों मंग्रं वों सभी के सौहार्द्र-मर्मों को सहती हुई आज तक आर्य संस्कृति को जीवित रूप दे रही है। अवशिष्ट स्फुलिंगों ने समय आने पर नाबामस तथा वक्रबामस का रूप भी धारण किया है और सब को आत्मसात करके अपनी पाचन शक्ति का भी परिचय दिया है। आर्य संस्कृति की जड़ें

भी गहरी है। इन्हें आज तक कोई उखाड़ नहीं सका। भविष्य इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए आगे आ ही रहा है।

स्याद्वाद सभी प्रकार की मान्यताओं की सत्य संभाव्यता का समर्थक है। जो बात आज सत्य प्रतीत नहीं होती यह संभव है कल सत्य का रूप धारण कर ले। त्रिकाल का ध्यान इस वाद में विशेष रूप से रखा गया है। आर्य संस्कृति का इसके साथ इतना ही मतभेद है कि यह मौलिक सत्य को सभी देशों और कालों के लिए समान रूप से मान्यता देती है। उसके बाह्य आवरण में भिन्नता दिखाई भी दे तो उसे यह अधिक महत्व का नहीं समझती। नर और नारी का वैवाहिक सम्बन्ध एक सामाजिक मान्यता है। वह उष्ण देशों में २५ तथा १६ वर्षों के अनुपात में तो शीत देशों में अपेक्षाकृत कुछ अधिक वर्षों के अनुपात में घटित होगा। पर यदि कोई दो और दो को मिलाकर चार के स्थान पर पांच की संभावना करे तो ऐसा स्याद्वाद आर्य संस्कृति को मान्य नहीं होगा।

हम कर्म-विपाक तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते रहे हैं। हमारे अन्दर ईश्वर विश्वास तथा विविध नामों से उसकी उपासना का भी प्रचार रहा है। पंच महायज्ञ, वर्णाश्रम मर्यादा, आनन्द वादिता अतिथि सत्कार, सबकी कल्याण-कामना नियममय व्यवस्था हमारी चेतना के विकास की रम्य भूमिकायें हैं। हमारे अन्दर ईश्वर अविश्वासी भी रहे हैं पर चार्वाकों को छोड़ कर वेद पर अन्य सबकी आस्था बनी रही है। इसका एक मात्र कारण है– आर्य संस्कृति का सार्वभौम एवं शाश्वत स्वरूप। हमने संस्कृति को विश्वधारा अर्थात् विश्व द्वारा वरणीय कर दिया है।

संस्कृति के साथ धर्म शब्द का भी प्रयोग होता रहा है। वेद में कृष्टि शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है जिसमें आज भी शब्द कल्चर का प्रयोग होता है। संस्कृति आन्तरिक परिशोधन और परिमार्जन है तो कृष्टि खेती है जिसके द्वारा आन्तरिक या बाह्य क्षेत्र का शोधन होता है तथा उसमें बीजवपन के द्वारा अभिमत फसल तैयार की जाती है। परिणाम दोनों का एक है-आध्यात्मिक विकास रूप फल की उपलब्धि।

मनु ने जो धर्म के दश लक्षण[1] लिखे हैं उनमें भी सांस्कृतिक विकास की पर्याप्त सामग्री आ जाती है। पतञ्जलि के योग दर्शन में जिन पांच यमों और पांच नियमों 'अहिंसासत्य अस्तेयब्रह्मचर्य अपरिग्रहा इति यमा'। शौचसंतोषतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः'॥ की गणना है, वे व्यवस्था की दृष्टि से सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करते हैं और उपर्युक्त धर्म के १० लक्षणों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं।

कभी कभी अनेक प्रकार की संस्कृतियों की चर्चा की जाती है जो भ्रमात्मक है। आन्तरिक विकास सभी देशों सभी कालों और सभी जातियों में एक ही प्रकार

१— धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म–लक्षणम्॥ ६—९२

का रहा है। सत्य अस्तेय अहिंसा अद्वेष, क्षमा, तितिक्षा आदि का ग्रहण सर्व सम्मत है एक देशीय या एक कालिक नहीं।

ग अमृत पुत्र

अमर पिता की अमृत सन्तानो! क्या तुम पग–पग पर और पल-पल में विनश्वरता की ठोकरें ही खाते रहोगे? क्या तुम मरण के वक्षस्थल पर पैर रखकर, उसे विमर्दित करते हुए अपने अमरत्व का शंखनाद नहीं फूकोगे! तुम अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठे हो। भौतिकता के संभार में तुम ऐसे लिप्त हो गये हो कि अपने को पहिचान ही नही पाते। भौतिक वैभव के बढ़ने पर तुम गर्व से सिर ऊंचा करने लगते हो और उसके न्यून होने या नष्ट होने पर हाहाकार में डूब जाते हो। भौतिकता की छीना-झपटी में तुम अपने ही बन्धु के शत्रु बन जाते हो और भूल जाते हो कि यह वैभव कभी किसी के साथ नहीं रहा। आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास है। यदि तुम अपने स्वरूप का ज्ञान कर सको तो देखोगे कि तुम्हारी आध्यात्मिक सम्पदा के समक्ष यह प्राकृतिक सम्पदा एकान्त हेय है।

तुम हम सब का पिता वह एक परमात्मा है। वह देश-गत तथा काल-गत सभी भेदों से दूर है। उसके नाते हम सब भी भाई भाई हैं। हमारी बन्धुता में देश-गत भेद नहीं होने चाहिये। अथर्ववेद के शब्दों में माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः यह भूमि यह पृथ्वी हमारी माता है। भूमि एक है। उसे भारत जर्मन अमरीका आदि खण्डों में हमने विभक्त किया है अपनी बर्बरता तथा अल्पीयसी भवान्धता या ममता के कारण। अन्यथा मानव मानव मे भेद कैसा? समग्र मानव जाति एक है और उसकी संस्कृति एक है। एक ही क्रम से सबका विकास होता है। ह्रास के क्रम या कारण अनेक हो सकते हैं विकास के नहीं। कोई काम से पतित होता है कोई द्यूत मद्य या अर्थ लिप्सा के कारण गिर जाता है पर ब्रह्मचर्य के संयम से लेकर संन्यास तक तथा शूद्र से ब्राह्मण तक जो सांस्कृतिक क्रम है, उसी से सबका विकास होता है। विकास के इस क्रम को हम अहम-अहमिका में पड़कर छोड़ बैठे हैं। जिस क्षण हम आत्मस्थ होते हैं उसी क्षण हमें इसका बोध होता है और हमारे उद्धार की बेला भी तभी समुपस्थित होती है।

गीता मे ह्रास या विनाश का एक क्रम दिया है जो विषयों के ध्यान से प्रारम्भ होता है। विषय-ध्यान से विषयासक्ति आसक्ति से काम काम से क्रोध क्रोध से सम्मोह या अज्ञान उससे स्मृति विभ्रम और अन्त में बुद्धि का विनाश यह क्रम अपने में पूर्ण है। पर जैसे प्रपञ्च विविध रूप भासता है वैसे ही ह्रास भी। यह ह्रास योनियों की विविधता में स्पष्टत अनुभूत होता है। जिसे हम विविध प्रकार का विकास कहते हैं वह भौतिकता से सम्बद्ध है और परिणामत विकास नहीं है। आध्यात्मिक विकास ही वास्तविक विकास है। अपनी चरम परिणति में वह एक

है। वहाँ भेद नहीं, अभव है।

यदि हम आत्मौपम्येन के सिद्धान्त को लागू करें, तो मानव मानव के बीच की खाई क्षण भर में पट सकती है। हम एक दूसरे से घृणा करते हैं—क्यों ? शारीरिक तथा मानसिक असमीमता के कारण ही न ? यदि इनके अन्तराल का भेदन करते हुये हम शरीर और मन के स्वामी पर अपनी दृष्टि टिका दें तो घृणा के सभी कारण दूर हो सकते हैं। ऐसी दशा में सभी अपने प्रतीत होंगे और प्रेमपूर्वक एक दूसरे का सहयोग करते हुये विकास पथ पर सहज ही अग्रसर हो सकेंगे।

छोटे बड़ों का अनुकरण करते हैं। स्वामी पिता, माता ज्येष्ठ भ्राता राजा आदि सभी का प्रभाव संतति अनुज प्रजा आदि पर पड़ता है। यदि बड़े विद्रोही अन्यायी स्वार्थी मदमत्त तथा पापी होंगे तो छोटे भी वैसे ही बनेंगे और यदि बड़े बड़े होकर, बड़प्पन का निर्वाह करते हुये त्यागी परोपकारी प्रेमी विनम्र तथा धर्मात्मा हुये तो छोटे भी उनके सद्गुणों को अपनावेंगे। यथा राजा तथा प्रजा की उक्ति इसी आधार पर प्रचलित हुई है। अत हम सबका कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने प्रभु के सद्गुणों का ध्यान करें और उन्हें अपने जीवन में धारण करें। हमारा प्रभु एक का नहीं सब का प्रभु है माता-पिता है, धाता-विधाता है बन्धु और सखा है। उसके होकर हम कल्याण-पथ के पथिक बनें इसी में शोभा है।

मेरा प्रभु मुझसे दूर नहीं नेदिष्ठ है समीपतम है। उसके और मेरे बीच में कोई परदा नहीं है। हमने प्रकृति के आवरणों में लिपटकर अपने और उसके बीच में अपनी ओर से व्यवधान खड़ा कर लिया है। संस्कृति इसी व्यवधान को दूर करने का नाम है। इस विषय का ज्ञान मुझे अपने गुरुजनों से होता है। इन्हें अपने गुरुओं से हुआ होगा और पीछे की पीढ़ियों ने भी इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त किया होगा। परन्तु सृष्टि की आदि में गुरु कौन था ? किसने हमें सिखाया पढ़ाया और सज्ञान बनाया ? वह गुरु गुरुओं का गुरु आदि गुरु परमात्मा है। उसका गुरु कोई नहीं है। वही वेद द्वारा मानव को ज्ञान देता है और आज भी देता है। जिस क्षण हम अपने में केन्द्रित होते हैं, उसी क्षण हमारा संपर्क प्रभु से हो जाता है। ज्ञान के स्रोत से संबद्ध होकर कौन ज्ञानी नहीं बनेगा ? संस्कृति की विशेषता यही है कि वह आपको प्रकृति से पृथक करके विकास की श्रृंखलाओं में से निकालती हुई प्रभु के साथ संयुक्त कर देती है।

अमृत पुत्रो ! अपने अमृत रूप का ध्यान करो। संस्कृत होते हुये सभी प्रकार के मलों से रहित हो जाओ। शुचिता, पवित्रता दीप्ति चमक प्रकाश ज्योति आपके साथी संगी हों। अभाव पारतंत्र्य, अंधकार आदि के कारण जो भय आक्रान्त किये रहता है वह इस ज्योति के द्वारा ही होगा। संस्कृति के पथ में ज्योति का साम्राज्य है, भक्तिभावना की प्रदीप्ति है, अनवरत अभ्यास का संबल है। इनसे समवेत हो कर

उठो, बढ़ो और आनन्द का प्रभु की, अमृत तत्त्व की, प्राप्ति करो। तुम अमृत पुत्र हो, इस गौरव को अनुभव करो और अपने अमृत पिता के योग्य अमृत पुत्र बनो।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।
आये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

अमृत पुत्रों को नरक नहीं मर्त्य लोक भी नहीं दिव्य धामों का वासी बनना है। नरक दुःख है बन्धन रूप परवशता का जनक है, स्वच्छता एवं निर्मलता का विनाशक है। अन्धतामिस्र से पूर्ण स्थान आपको कैसे प्रिय हो सकता है? मर्त्य लोक भी जनन-मरण-शील है? अमृतपुत्रों को यह कैसे शोभा दे सकता है? जो अमृत है ज्योति है सत है उसे अमृत ज्योति और सत के साथ ही रहना चाहिये। आर्य संस्कृति का यही संदेश है। वह आपको वहीं ले जाना चाहती है, जहाँ आपका अपना धाम है— अपना ही अपना कोई पराया नहीं चेतनता ही चेतनता-आत्मा ही आत्मा।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्।



द्वितीय भाग

वैदिक सभ्यता

१ । वैदिक सभ्यता

क वैदिक सभ्यता

जब हम वैदिक सभ्यता पर विचार करते हैं, तो स्वभावतः दो प्रश्न खड़े हो जाते हैं। आस्तिक भावना वाले कहते हैं कि वेद सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुए जब न सभा थी न समाज। सभ्यता सभा के योग्य बनने का भाव है। सभा के अभाव में यह भाव उत्पन्न ही नहीं होता। विकासवाद को मानने वाले प्रश्न की गति को ही उलट देते हैं। उनके मतानुसार मानव का विकास हुआ है और उसके साथ कलाओं का। सभ्यता का सीधा सम्बन्ध कलाओं से है। जब कलाओं का विकास ही नहीं हुआ था तब सभ्यता की बात कहना निरर्थक ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में अथवा आज से लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व सभ्यता का नाम भी नहीं था। मानव असभ्य था। न उसे पहिनना आता था न घर बना कर रहना। भोजन के लिए जो कुछ प्रकृति दे देती थी उसी पर संतोष करना पड़ता था। सभ्यता में परिगणित इन तत्त्वों का विकास शनैः शनैः हुआ है। अतः वैदिक सभ्यता की बात करना व्यर्थ है।

प्रथम प्रश्न आस्तिकों का है और कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा विकासवादियों का। विकास वाद के अनुसार सभ्यता का विकास हुआ है पर आस्तिकवादियों के मत में वेद सांस्कृतिक तत्त्वज्ञान की तो बात कह सकता है भौतिक सभ्यता रहन सहन वस्त्र-परिधान कृषि-वाणिज्य आदि की नहीं। इनका सम्बन्ध ज्ञान के साथ नहीं मानव व्यवहार के साथ है। वेद ज्ञान है। व्यावहारिकता की बातें उसके क्षेत्र के बाहर हैं। प्रश्न कुछ जटिल सा है, पर जब हम व्यवहार पर विचार करते हैं तो वह भी ज्ञान पर आश्रित जान पड़ता है। और जब ज्ञान व्यवहार के लिए अपेक्षित है तथा उसके मूल में है तो उसका वेद में विद्यमान होना व्यर्थ क्यों सार्थक ही समझा जायगा। अतः आस्तिकों का प्रश्न वैदिक सभ्यता के सम्बन्ध में निराधार हो जाता है। विकासवादियों का प्रश्न भी साधार नहीं है। यदि वेद सभ्यता के अंगों पर प्रकाश डालता है तो वे क्यों चौंकते हैं? यदि वेद आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों की ओर संकेत करता है उसमें नाव विमान प्रकाश की लहर, वैद्युत–चमत्कार, विशाल भवन आदि की चर्चा है तो उससे उनका मत निराकृत क्यों हो सकता

है ? ये समझ लें कि वेद कालीन सभ्यता इस प्रकार की थी। हां, इससे यह निष्कर्ष कोई भी विद्वान नहीं निकाल सकेगा कि वर्तमान सभ्यता पुरातन काल की सभ्यताओं से श्रेष्ठतर है। संभव है पुरातनकाल में सभ्यता का रूप आधुनिक सभ्यता से श्रेष्ठतर रहा हो। मानव इतिहास अनेक उतार चढ़ाव देख चुका है। हो सकता है, सभ्यता विकसित होकर ह्रास को प्राप्त हो गई हो और अब पुनः उसका विकास हो रहा हो।

जिन वादियों के मत में सृष्टि का इतिहास चार-पांच हजार वर्ष का ही इतिहास है उनके लिए प्रश्न कठिनाई पैदा कर सकता है पर जो भूगर्भ विद्या या ज्योतिष के आधार पर सृष्टि के इतिहास को करोड़ों वर्ष पूर्व ले जाते हैं उनके सामने विकास ह्रास या ह्रास-विकास का द्वन्द्व समस्या खड़ी नहीं कर सकेगा। पृथ्वी का धरातल आज जैसा है वैसा कुछ करोड़ वर्ष पहले नहीं था। अमरीका और अफ्रीका की क्रमशः पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा रेखाओं को देख कर भूगोल के विद्वान अनुमान लगाते हैं कि ये दोनों महाद्वीप किसी सुदूर काल में मिले हुये थे। प्राकृतिक परिवर्तन हुए और उन्होंने दोनों को एक समुद्र द्वारा पृथक् २ कर दिया। जहां आज कस मरु या रेगिस्तान है वहां कभी समुद्र थे और जहां समुद्र है वहां स्थल था। इस प्रकार इतिहास कुछ हजार का नहीं करोड़ों वर्षों का है। अतः वेद यदि किसी विकसित सभ्यता का संकेत देता है तो इसमें आश्चर्य क्यों होना चाहिये ? आस्तिक वादियों से हम यह कहेंगे कि वेद जैसे आध्यात्मिक उत्थान का ज्ञान देता है वैसे ही भौतिक का भी। निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों का सम्पादन उसके समग्र अभीष्ट है। बीजांकुर रूप में यदि ज्ञान विधाओं का संकेत नहीं करेगा तो मानव कैसे उन्नत हो सकेगा ? प्रभु पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। वही वास्तविक उपदेष्टा है। वही हमारा सच्चा सहायक और सखा है। उससे बढ़कर हमारा हितकारी अन्य कोई भी नहीं हो सकता। उसी ने हमारे लिए, हमारे विकास सुख और सुविधा के लिये सृष्टि की रचना की है। वही वेद ज्ञान द्वारा हमारा पथ प्रदर्शन करता है। वही हमें अभ्युदय की प्राप्ति कराता है और वही हमें निःश्रेयस की ओर ले जाता है। उसकी करुणा का अजस्र अनवरत प्रवाह हम सबके लिये बह रहा है। उसी के सहारे हम साधन सबसित हो कर विकास-पथ पर अग्रसर होते हैं।

ख सभ्यता

सभ्यता सभ्य का भाव है। सभ्य उसे कहेंगे जो सभा के योग्य हो। सभा वह समिति समज्या या परिषद् है जहां सभी सदस्य साथ-साथ चमकते या शोभित होते हैं। सह भान्ति शोभन्ते यत्र अथवा—

> यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
> राज्ञः प्रतिनिधो विद्वान् ब्राह्मणः तां सभां विदुः।

जिस देश में तीन वेदविद् विप्रों के साथ राजा के प्रतिनिधि स्वरूप एक विद्वान

ब्राह्मण बैठे हों तो उसे सभा कहेंगे। संसद आस्थानी आस्थान सद, समाज, पर्षत आदि इसके पर्याय हैं। परिषद में दस श्रेष्ठ समासद होते हैं—

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्म पाठक ।
त्रयश्चाश्रमिण पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा ॥ मनु० १२ । १११

तीन वेदों के विद्वान एक सद्‌युक्ति का व्यवहार करने वाला एक तर्क (न्याय) में निपुण एक नैरुक्तिक, एक धर्म शास्त्र का वेत्ता और एक ब्रह्मचारी, एक गृहस्थ तथा एक वानप्रस्थ—इस प्रकार दस श्रेष्ठ जनों से मिलकर परिषद का निर्माण होता है। भा कहते हैं दीप्ति प्रकाश या ज्ञान को। उसके साथ जो वर्तमान हो वह सभा है। वेद सप्त संसद या सभाओं का उल्लेख करता है। यथा-विश्वा वधि धियो रक्षन्ति सप्त संसद ।ऋ०८।१२ २०तथा सप्त संसदो अष्टमी भूतसाधनी । मनु०२१ १।ऋ०१ १८ ६ में तीन राज सभाओं का उल्लेख है। यथा त्रीणि राजाना विदथे सदांसि।

सभा इस प्रकार सुशिक्षित व्यवहार-निपुण धर्मशास्त्र तथा न्याय में निष्णात विद्वानों के समाज का नाम है। ऐसे विद्वानों के आचरण तथा व्यवहार को सम्यता कहेंगे।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।

इस उक्ति के अनुसार सभा वही है जिसमें वृद्ध अर्थात अनुभवी पुरुष विद्यमान हों और उनकी वृद्धता भी तभी है जब वे सभा के अन्तर्गत धर्म अर्थात सदाचार और न्याय की बात ही कहें।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वासमंजसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४
धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥ १५-मनु० अ० ८

जिस सभा में धर्म अधर्म से विद्ध होता है और समासद बैठे-बैठे ताका करते हैं, उस कर्षक अर्थात् अधर्म का छेदन नहीं करते तो उस सभा के सब सभासद विद्ध अर्थात् घायल समझे जाते हैं।

सभा में या तो प्रवेश नहीं करना चाहिये और करे तो सत्य ही बोलना चाहिये, असमंजस बात नहीं कहनी चाहिये। जो व्यक्ति सभा में अन्याय होता देखकर न बोले अथवा न्याय के विरुद्ध बोले वह पापी होता है।

जिस सभा में सब सभासदों के देखते हुये अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य की हत्या की जाती है, उस सभा के सभी सभासद मृतक के समान हैं।

मारा हुआ धर्म मारने वालों का नाश और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है। अतः धर्म का वध कभी न करना चाहिये इस भय से कि मारा हुआ धर्म हमें न कहीं मार डाले।

ग सभ्यता और धर्म

सभा के सम्बन्ध में व्यक्त मनु की यह धारणा हमारी सभ्यता का केन्द्रबिन्दु है। यह सभ्यता धर्म पर आधारित है। आज जिस प्रजातंत्रीय सभ्यता की घोषणा की जाती है वह भी प्रशंसनीय है पर यदि प्रजातन्त्र के प्रतिनिधि अधर्म का आश्रय लेकर स्वार्थ-साधन करने लगें तो वह प्रजातंत्र हमें कदापि स्वीकार्य नहीं है। मनु की स्पष्ट आज्ञा है—

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥१२ ११

एक वेदवेत्ता धर्मात्मा जिस कर्तव्य का निर्णय कर दे वही करणीय है। भेड़ चराने वाले हजारों अज्ञानी जिसके लिये हाथ उठा दें स्वीकृति दे दें वह माननीय नहीं हो सकता।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥१२ ११४

सभा अव्रतियों से नहीं व्रतसम्पन्न पुरुषों से शोभित होती है। जो व्यक्ति मन्त्र हीन हैं मननशक्ति से शून्य हैं और दीक्षा रहित हैं जातिमात्र से उपजीवी हैं अर्थात् जन्मना अपने को बड़ा मानकर दूसरों का धनहरण करते और जीविका चलाते हैं—वे *यदि सहस्रों की संख्या में ही क्यों न हों परिषद का महत्व तब भी उनसे स्थापित* नहीं हो सकेगा। ऐसे व्यक्ति सभा या परिषद को मार डालेंगे। अथर्ववेद इसीलिये कहता है — सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः। काण्ड १९ हे सभ्य ! तू सभा की रक्षा कर। हे सभ्य सभासदो ! तुम सब इस सभा की रक्षा करो। यह रक्षा तभी सम्भव है जब सभासद धर्मात्मा हों सदाचारी और कर्तव्य निष्ठ हों।

धर्म हमारी समस्त जीवन प्रणाली में ओत प्रोत है। कलायें जो इस प्रणाली की बाह्य अभिव्यक्ति हैं धर्म से पृथक नहीं जातीं। ललित कलायें तो धार्मिकता के सौन्दर्य से मंडित हैं ही उपयोगी कलायें भी धर्म का नाम लेकर ही प्रारम्भ हुई हैं। भव्य भवन नहीं क्योंकि वे वास्तुकला में परिगणित होंगे जो ललितकलाओं में सबसे निम्न स्तर पर है साधारण घर भी प्रभु का नाम लेकर ही बनाये जाते हैं और उनकी नींव में शेषनाग की मूर्ति रखी जाती है। कृषक हल चलाता है तो ईश्वर का नाम लेकर। व्यापारी उद्योग-धन्धों में हाथ डालता है तो उसी परम सत्ता के विश्वास पर। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही धर्म का कोई न कोई रूप आपको दृष्टिगोचर हो जायगा।

सभ्यता से धर्म का यह रूप आज तिरोहित होने लगा है। पाश्चात्य भौतिक विचारधारा ने सब लोगों को ऐसा आक्रान्त कर लिया है कि मानव का परोक्ष सत्ता की ओर ध्यान ही नहीं जाता। जो प्रत्यक्ष है बस वही उसके लिये सब कुछ है। पीछे क्या हो चुका है इससे तो उसका कोई प्रयोजन ही नहीं रहा आगे क्या आने वाला है, भविष्य हमारे प्रत्यक्षवाद से बनेगा या नहीं इस ओर से भी वह उपेक्षायु

है। हमारी संस्कृति की छाप हमारी सभ्यता पर जब पड़ती थी तो हम सोचते थे शत हस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। पर आज समाहर समाहर एकत्र करो भर भरो की ध्वनि ही चतुर्दिक व्याप्त है संकिर, वितीर्ण कर का बोध कोई करना तो दूर सुनना भी नहीं चाहता। सभ्यता का वर्तमान रूप इसीलिये सबको खाये जा रहा है। भ्रान्ति पर भ्रान्ति हो रही है पर मानव शान्त नहीं आश्वस्त नहीं स्वस्थ नहीं है। ऊपर से देखिये मानव सभ्य दिखाई देता है अच्छे वस्त्र पहिने है वाणी भी आकर्षक है, पर उसका मन और हृदय अज्ञात है। पता नहीं किस दुर्भावना को छिपाये वह घूम रहा है। आज की इस असंस्कृत सभ्यता को क्या नाम दिया जाय ?

असंस्कृत-व्यक्ति भी समाज बनाकर रहते हैं पर उनके व्यवहार सभ्यता की श्रेणी में नहीं आते। जिस सभ्यता पर हम लिखने जा रहे हैं वह सुसंस्कृत समाज की सभ्यता है। संस्कृति पर प्रकाश डालते हुये हम सभ्यता को बाह्य-व्यवहार को उसका परिणाम या बाह्य परिवेश लिख चुके हैं। हमारी सभ्यता का लक्ष्य सुसंस्कृत जीवन ही है। संस्कृति हमारा आन्तरिक विकास करती है। सभ्यता हमारे बाह्य रूप को संवारती है। इस बाह्य रूप का अलंकरण किस क्षेत्र में किस प्रकार का हुआ है हमारी भौतिक आवश्यकतायें किन कलाओं द्वारा सम्पादित हुई हैं कौन-कौन से बाह्य प्रयोग हमें अभ्युदय के लिये करने पड़े हैं वेद अपने शब्दों में हमें इस विषय की किन किन दिशाओं का संकेत देता है यही हमारे लेखन का लक्ष्य है हमारी गन्तव्य भूमि है। पाठक इसी दृष्टिकोण के साथ आगे आई सामग्री का अवलोकन करें।



२ । दैनिक जीवन और व्यवहार

क खानपान

प्रलय के उपरान्त जब सौरमण्डलों का निर्माण हो चुका और पृथिव्यादिग्रह ओषधियों तथा वनस्पतियों से सम्पन्न हो गये तब ऋषि उत्पन्न हुए और उनके उपरान्त पितर, देव मानव तथा पशुगण । यह अवतरण कहा जाता है । अवतरण के साथ ही जीवों को अशना-पिपासा ने विद्ध कर दिया । उनकी भूख-प्यास की शान्ति के लिये परमात्मा ने पूर्व से ही सामग्री उपस्थित कर दी थी-पीने के लिये सरिताओं और निर्झरों का जल खाने के लिये फल फूल तथा अन्न । यह सब प्रकृति जात था । मानव की बुद्धि ने इस प्रकृति के साथ सहयोग किया और वर्षा के जल को सरोवरों में एकत्र किया । भूमि खोद कर कूप बनाये बावड़ियां बनाईं तथा जहां जल नहीं था वहां जल पहुंचाया । अन्न फल तथा फूलों का भी उसने विकास किया । इसके अतिरिक्त वन्य पशुओं में से कतिपय उपयोगी पशुओं को पालतू बनाया । वे आरम्भ से ग्राम्य बने और उचित आहार पाकर किसी ने दूध और घी दिया किसी ने वाहन का कार्य किया और किसी ने गृह–रक्षा तथा कृषि में सहयोग दिया । वेद खान पान के सम्बन्ध में क्या कहता है इसी पर सर्व प्रथम विचार किया जाता है ।

आर्यों के भोजन में बलकारक जीवनवर्धक तेजोदायक तथा पुष्टिकारक सामग्री रहती थी इसका संकेत हमें यजुर्वेद के नीचे लिखे मन्त्र से प्राप्त होता है —

> ऊर्ज्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
> स्वधास्थ तर्पयत मे पितृन ॥ २ – १४

स्वधा वह शक्ति है जो मानव को अपने में धारण करे, स्थापित करे । पितरों का तर्पण इसी शक्ति द्वारा होता है । जो व्यक्ति इस शक्ति से वंचित हो जाते हैं वे पितरों को तृप्त नहीं कर सकते । पितर प्रसन्न होते हैं स्वस्थ संतान से जो उनके नाम को अमर बनाती है । स्वस्थ संतान की उत्पत्ति बहुत कुछ स्वस्थ आहार पर आधारित है । स्वस्थ आहार के गुण ऊपर लिखे मंत्र में इस प्रकार वर्णित हुए हैं–

१ ऊर्जं वहन्ती – भोजन सामग्री बलवाहिका अर्थात शक्ति-प्रवाहिनी हो ।

२-अमृतं वहन्ती— आयु को बढ़ाने वाली दीर्घायुष्य प्रदायिनी हो। ३-घृतं वहन्ती— स्निग्धता अर्थात् तेज उत्पन्न करने वाली हो। ४-पयः वहन्ती— दुग्धादि द्वारा पुष्टि कारिणी हो और ५-परिस्रुतम् कीलालं वहन्ती— भलीभांति स्रवित मधु आदि से युक्त अर्थात् आह्लादन कारिणी हो। कीलाल का अर्थ मधु है और परिस्रुतम् से सोम-रस का भी ग्रहण किया जा सकता है।

आर्य जनों ने इसी वैदिक पद्धति पर अपने भोजन का आयोजन किया था। वर्णों के विशिष्ट गुणों को ध्यान में रखते हुए भी भोजन का विभाजन था। ब्राह्मण विशुद्ध सात्त्विक आहारी था। क्षत्रिय को सत्त्वमिश्रित रजोगुणी आहार की आवश्यकता थी। वैश्यवृत्ति की प्रधानता सात्त्विकता की ओर रहती है पर अर्थ की अभिलाषा और धन का अर्जन उसे तम की ओर भी ले जाते हैं। शूद्र तमोगुण प्रधान है और वह उसी प्रकार के अन्न का सेवन करता है। ब्राह्मण के लिये मधु क्षत्रिय के लिये तेजो दीप्ति प्रदाता घी वैश्य के लिये दुग्धादि और शूद्र के लिये अन्नादि की अपेक्षा अधिक रहती है। यह सामान्य परिस्थिति के लिए है। विशेष परिस्थितियों में तदनुकूल तथा यथोपलब्ध सामग्री ही काम देगी। निम्नांकित मन्त्रों में सेवन-योग्य भोज्य पदार्थों का उल्लेख है —

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्त मुक्थिनम् ।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ १ ॥
प्रति धाना भरत तूयमस्मै पुरोडाशं वीरतमाय नृणाम् ।
दिवे-दिवे सदृशी रिन्द्र तुभ्यं वर्धन्तु त्वा सोमपेयाय धृष्णो ॥ ८ ॥

करम्भ—जौ या चावल को भूनकर तथा पीसकर और दही में मिलाकर खाया जाता था। पुरोडाश—यज्ञ की आहुतियों में विशेषरूप से प्रयुक्त होता था और यज्ञ शेष के रूप में खाया भी जाता था। इसका निर्माण चावल को पीसकर किया जाता था। धानावन्त—धान के चावल का बना हुआ पदार्थ है। अपूप—इसे पुआ कहा जाता है। इसके निर्माण के भी कई प्रकार हैं जो अभी तक भारतीय ग्रामों में प्रचलित हैं। अपूपवान के साथ अथर्व० १८–४–१६ में क्षीरवान १८–४–१७ में दधिवान, १८ ४ १८ में द्रप्सवान १८ ४ १९ में घृतवान १८-४ २१ में अन्नवान १८ ४ २२ में मधुमान १८ ४ २३ में रसवान और १८ ४ २० में मांसवान शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त पक्ति अर्थात् पकाई हुई रोटी का भी उल्लेख ऋग्वेद ४ २४ ५ में है। पुरोडाश का एक प्रकार क्षीरोदन या खीर है जिसका प्रयोग आज भी यज्ञ में होता है। अथर्व० ११ १ १९ तथा ११ ११ १ में ओदन-भात का और २० २२ ६ में गवाशीर का उल्लेख है।

यज्ञों में व्रीहि यव आदि का उल्लेख निम्नांकित मन्त्र में है —

व्रीहयश्च मे, यवाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे, अणवश्च मे, श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे, गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्

यजु० १८–१२

व्रीहि=चावल, यव=जौ, तिल, मुद्ग = मूंग, खल्व = चना, प्रियंगु = मालकांगुनी अणु=मड़ुआ या भूरा चावल, श्यामाक=सावां, नीवार=बिना बोये अपने आप उत्पन्न होने वाला चावल, गोधूम= गेहूं मसूर।

सक्तुमिवतितउना पुनन्त । ऋ० १०—७१—२ में सत्तू का वर्णन है जो देहातों में आज भी प्रिय भोजन बना हुआ है। यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में भी इसका उल्लेख है —

धाना करम्भः सक्तवः परीवापः पयोदधि।
सोमस्य रूपम् हविष आमिक्षा वाजिनम्मधु॥ १९—२१

सत्तू भुने हुये जौ को पीसकर बनाया जाता है। धान को लावा या खील भी कहते हैं। करम्भ दही—मिश्रित भुने हुए जौ या चावल का आटा– इसे ग्राम में अपसी भी कहते हैं। दुग्धपसी दूध को मिलाकर बनाई जाती है। परीवाप वह धान्य या अन्न है जो क्यारी या खेत के चारों ओर बोया जाता है जैसे तिल। विशिष्ट अर्थ में यह एक प्रकार का हविष्यान्न है। पय, दधि मधु, प्रख्यात हैं। आमिक्षा फटे हुए दूध का स्थूल भाग है और शेष रस-रूप भाग को वाजी कहा जाता है। फलों में कर्कन्धू—उन्नाव का सुगन्धित फल, उर्वारुक या खरबूजा तथा बदर (बेर) के नाम वेद में आते हैं यथा-वन्धो रूपं कर्कन्धुभि। (यजु० १९२१) सक्तूनाम् रूपं बदरम्। (यजु १९ २२) तथा उर्वारुकमिव बन्धनात् (यजु० ३—६०)।

पेय पदार्थों में जल तो पेय है ही पय अर्थात् दूध और मट्ठा भी पेय हैं। सोम और सुरा का भी उल्लेख पेय पदार्थों में है। सत्तू नमक या मीठा मिलाकर खाये भी जाते है और द्रव रूप में पिये भी जाते हैं। इक्षु का उल्लेख 'परित्वा परितत्नुना इक्षुणा' अथर्व० १ ३४ ५ में है। इसका रस भी चूसा या पिया जाता था। फलों के रस भी तैयार किये जाते थे। सोमरस एक बल्ली को कूटकर निकाला जाता था जो मुजवान (यथारिम्या मूजवद्भ्य । अथर्व ५ २२ १४) पर्वत पर उपजती थी। इस रस को भेड़ के ऊन के बने 'पवित्र' से छाना जाता था। दूध मिलाने पर इसे गवाशीर, दही मिलाने पर दध्याशीर और यव के सत्तू मिलाने पर इसे यवाशीर कहा जाता था। सोमरस का पान पीने वाले के अन्दर उत्साह तथा आह्लाद उत्पन्न कर देता था। सोमलता अब उपलब्ध नहीं है। यजु० १८—९ में पय, रस घृत और मधु का एक साथ उल्लेख है। यजु० ११—१४ में अतिथि को भात खिलाने का वर्णन है। यह चावल शष्प तोकम लावा आदि का मिश्रण था। यजु० १९—१३ में शष्प नये उगे धान्य का नाम है। तोकम नये जौ को कहते हैं। लावा खील और मधु प्रसिद्ध है।

निम्नांकित मन्त्र में विभीदक पासे अथवा जुआ खेलने के साथ सुरापान की निन्दा की गई है।

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरामन्युर्विभीदको अचित्तिः।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ...

अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता । ऋ० ७-८६ ६

हे वरणीय देव ! यहाँ अपना बल नहीं चलता । मूर्खता या पाखण्ड क्रोध जुआ अज्ञान या सुरापान मानव को नीचे गिरा देते हैं, पापी बना देते हैं । कनिष्ठ के ऊपर यह ज्येष्ठ का सा आतंक फैला देते हैं और कभी-कभी स्वप्न कल्पना या भ्रम भी मानव को अनृत या पाप की ओर ले जाते हैं ।

सुरापान आर्य जाति में वर्जित है । केकय देश के राजा अश्वपति ने तभी तो गौरवपूर्ण शब्दों में कहा था — न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यप । मेरे राज्य में कोई चोर, कायर या शराबी नहीं है । न कोई मूर्ख है और न कोई अयाज्ञक है । और जब व्यभिचारी ही नहीं तो व्यभिचारिणी की तो बात ही क्या ? आर्यों का राज्य ऐसा ही आदर्श राज्य था । मद्य या सुरा मानव को पागल बना देती है उसकी चेतना को भ्रष्ट कर देती है और जब चेतना ही नहीं रही तो मानवता कहाँ रही ? सभ्य राष्ट्र इसीलिये सुरापान पर कठोर नियन्त्रण रखते हैं और औषधि के अतिरिक्त अन्यत्र उसका उपयोग वर्जित कर देते हैं ।

ख कृषि

खान-पान का सम्बन्ध कृषि के साथ विशेष रूप से है । इस कृषि का उल्लेख वेद में कई स्थानों पर है । कृषि कर्म को कृष्टि कहा जाता था । कृष्टि का सामान्य अर्थ मनुष्य भी है परन्तु अपने वास्तव में यह कृषि — कर्म की ओर ही संकेत करता है । यथा—

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्चकृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥ अथर्वकाण्ड १२

भूमि पर्जन्य-पत्नी है । पर्जन्य ही उसकी रक्षा करता है और वही वर्षा-धाराओं से उसे सींचता है । जो तथा धान्य पृथ्वी पर उसी के कारण उत्पन्न होते हैं और पाँच प्रकार के कृषि कर्म करने वाले इसी भूमि पर निवास करते हैं । यह पृथ्वी पंचजनों की माता है ।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥

माता भूमि है पर्जन्य पिता है हम सब पुत्र हैं । दोनों ही हमारी कामना पूर्ण करें । भूमि माता मुझ पुत्र के लिये दूध दे ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आज कल सभी वर्गों के व्यक्ति ग्रामों में खेती करते हैं वैसे ही प्राचीन काल में भी करते रहे होंगे ।

जिस भूमि में खेती होती है, उसको उर्वर बनाये रखने के लिये खाद की आवश्यकता पड़ती है । भूमि इच्छानुकूल जब तभी पैदा करेगी जब उसे खाद मिलता रहेगा । यह खाद पशुओं के विशेषकर गाय के गोबर से तैयार होता था । अथर्व ३ १४ ३ में, पृथ्वी का विशेषण करीषिणी (संजग्माना अबिभ्युषी अस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः

बिभ्रती सौम्यं मध्वन्नमीवा उपेतन । अथर्व० ३ ।१४ । ३) इसी लिये आया है । करीष गोबर का नाम है । इसके कण्ड भी बनते हैं जिन्हें देहात में कस्सी कहते हैं । कस्सी करीष का अपभ्रंश है ।

कृषि-कर्म समाज को बलवान बनाता है । यदि कृषि सफल है तो समाज भी धन-धान्य से सम्पन्न है । कृषि के अभाव में समृद्धि समाज से भाग जाती है । राष्ट्र में यदि दीप्ति आती है तो कृषि से । जिस देश में विपुल धन-धान्य उत्पन्न होता है वह विश्व में ऊंचा सिर करके खड़ा होता है । जो भूमि माप अन्न के लिये दूसरे मार्गों के समक्ष हाथ फैलाता वह दीन है । दीनता मानव को सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है । वेद में इसीलिये प्रार्थना की गई है —"यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते । प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥' अथर्व १२ । १ । ४३ जिस भूमि पर देव-निर्मित नगर हैं, जिसके खेतों में पवमान खेती करते हैं धन-धान्य मणि-माणिक्य फल फूल मेवा सब जिसके गर्भ में हैं उस भूमि को प्रजापति परमात्मा हम सब के लिये रमणीय बनावें ।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

जिस पृथ्वी की चारों दिशायें उन्मुक्त हैं जिसमें कृषक अन्न पैदा करते हैं, और जो गतिशील प्राणधारियों का विविध प्रकार से धारण-पोषण करती है वह हमारे लिये गौ तथा अन्न प्रदान करे । निम्नांकित मन्त्रों में साधारण मानव ही नहीं विद्वान विप्रों का भी कृषि करने का आदेश है —

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ३ ॥
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् धीरा देवेषु सुम्नया ॥४॥
निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन । ५ ऋ० १-१० १

कृषि कर्म यज्ञ ही है । उसे उत्तम यज्ञ भी कहा जा सकता है । विद्वानो ! इस यज्ञ को करो । हलफालों को संयुक्त करो । जुओं को फैलाओ । तैयार किये गये खेत मे बीज बोओ जिससे भरपूर अन्न पैदा हो । तुम्हारे सृणि अर्थात् हंसुवे खेत को काटें । हलों से भूमि जोती जाती है, तदनन्तर कृषक जुओं को खोल देते हैं । इस यज्ञ में विप्र कृषक स्तोम-पाठ करते हैं । बैलों या पशुओं के लिये प्रपा अर्थात् जल पान स्थान तैयार करो । वरत्र (चर्म वरियत या मोटी रस्सी) को पुर में बांधो और अक्षय सेचनयोग्य जल से परिपूर्ण कुयें से जल निकाल कर खेतों को सींचो ।

कृषक के लिये कीनाश शब्द का प्रयोग भी वेद में हुआ है । यथा—

शुनं न फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥
ऋ० ४ । ५७ । ८

हल में लगे हुये फाल भूमि को गहरा खोदें, कृषक-जन सुखपूर्वक वाहनों को चलावें मेघों से मधुमय जल की वर्षा हो और सुखदायक अन्न हम सबको प्राप्त हो।

जब अन्न पक जाता था, तो उसे हंसुये अथवा दात्रों से काटा जाता था, खलिहान में इकट्ठा किया जाता था दांय चलती थी और अनाज भूसे से अलग किया जाता था। ऋग्वेद १०।१०१।११ में रथों का वर्णन है। जो अन्न खलियान में तैयार होता था वह रथों या छकड़ों में भरकर घर पर लाया जाता था। जिसमें अनाज भरा जाता था उसको ऊर्दर कहते थे यथा— तमूर्दरं न पृणता यवेन। (ऋ० २।१४।११) और खत्ती या भिंडौरे को स्थिवि कहा जाता था यवमिव स्थिविभ्य। (ऋ० १०।६८।३) ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्र में उर्वर तथा अनुर्वर खेतों का वर्णन है। यथा—

सहि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः ।

ऋ० १।१२७।६।

अप्नस्वती उर्वर भूमि का नाम है और आर्तना परती या अनुर्वर भूमि का। हल चलाने से भूमि में जो गहरी लकीर बनती है उसे अथर्व० ३।१७।८ में सीता कहा गया है।

खेती ऋतुओं पर आश्रित है। वेद कहता है सभी ऋतुयें हमारे लिये रमणीय हों—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्य ॥ साम० ६१६

वसन्त हमारे लिये रमणीय हो। ग्रीष्म हमारे लिये रमणीय हो। वर्षा के पश्चात शरद हेमन्त तथा शिशिर ऋतुयें हमारे लिये रमणीय हों। ऋतुओं के साथ ही उत्तरायण और दक्षिणायन का भी सम्बन्ध है। इनका वर्णन भी वेद में पाया जाता है।

सिंचाई भारतीय कृषक कृषिकर्म की सफलता के लिये वर्षा पर अवलम्बित रहते हैं। वर्षा का देवता इन्द्र माना गया है। वही वृत्रों विघ्नों को दूर करता हुआ वर्षा करता है। इन्द्र इस संदर्भ में सूर्य है। वेद में इसी हेतु प्रार्थना आती है—
शन्नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शन्नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः। शन्नो देव सविता त्रायमाणः शन्नो भवन्तूषसो विभातीः। शन्नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ ऋ० ७।३५ ॥ इन मंत्रों में सूर्य पर्जन्य तथा क्षेत्रपति का उल्लेख है जो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

निम्नांकित मंत्रों में चार प्रकार के जलों का उल्लेख है—

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति।
खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजा ॥ ऋ० ७।४९।२ ॥

दिव्य जल स्वाति नक्षत्र में बरसते हुये जल का नाम है। स्रवणशील जल नदियों

में होते हैं। खनित्रिमा जल खोदे हुये कूप या बावड़ी का जल है। स्वयंजा जल पर्वतीय निर्झर जल है। सभी प्रकार के जल कृषि कर्म के लिये उपयोगी हैं।

निम्नांकित मन्त्रों में खोद कर बनाये गये कूपादि का वर्णन है—

सिञ्चामहा अवतम् उद्रिणं वयं सुषेकमनुप क्षितम् ॥ ५

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम् ॥ ६

द्रोणाहावमवतम् अश्मचक्रं अंसत्रकोश सिञ्चता नृपाणम् ॥ ७ ॥ ऋ० १० । १०१

त्रित कूपे अवहितो देवान् हवतऊतये ॥ ऋ० १ १ ५ १७

ये मंत्र सिञ्चन किया अवत—पोखरा गड्ढा या बावड़ी द्रोण आहाव—काठ के बने हुये बड़े बड़े पात्र वरत्र—माटी बत्त बरियम या रस्सी अक्षित—कम न होने वाले जल उद्रिण—ऊपर निकाले हुये जल अश्मचक्र—पत्थर के बने चक्र कोश पेटियां जो चक्र में बंधी रहती हैं और जिनके द्वारा जल नीचे से ऊपर आता है तथा कूप—कुआं आदि की ओर संकेत करते हैं। जल की प्रणालिकायें भी होती थीं जिन्हें बरहा कहा जाता है। मंत्र ५ में एक शब्द अनुपक्षित आया है। देहात में पुर का पानी जहां पहले उड़ेला जाता है उसे पान्छा कहते हैं। संभव है यह शब्द अनुपक्षित का ही अपभ्रंश हो। यजुर्वेद में १६ मन्त्र ३७ ३८ में सुत्यार (नाला), कुल्या (नहर) वैशन्त (तालाब) नीप्य (गहरा जल) काद्य—बम्बा या गूल (जिसमे से पानी काट कर खेत सीचे जाते हैं।) सर—ताल कुप्य-कुए का जल आवट्य—गड्ढों पोखरों का जल मेघ्य—मेघ जल अवर्ष्य—बिना बरसा जल आदि का वर्णन है।

पशु पालन— ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त में आरण्य आरण्य तथा ग्राम्य पशुओं का उल्लेख है। इनमें ग्राम्य पशु पालतू ही हो सकते हैं। इसी सूक्त में चार विशिष्ट पशुओं के भी नाम हैं— तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥

इन नामों में एक अश्व है दूसरा गौ है तीसरा बकरी है और चौथा अवि या भेड़ है। उभयादत से तात्पर्य उन पशुओं से है जिनके मुख में ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत होते हैं जैसे मनुष्यों के। इससे स्वभावतः यह निष्कर्ष भी निकल आता है कि कुछ पशु ऐसे भी हैं जिनके मुख में केवल एक ओर दाँत होते हैं।

निम्नांकित मन्त्रों में भी पशुओं के नाम आते हैं—

अश्वो वृषीवाश्विनो वर्तिका या मात्सी मत् सीसमुञ्चतम् वृकस्य ॥ १६

शतमेषान् वृक्ये मामहानम् ॥ १७ ॥

शुनमन्धाय भर मह्यत्सा वृषीरश्विना वृष्णावरेति ॥ १८ ऋक १—११७

आयुः शिशानो वृषभो। अथर्व० १९ १३ २

सहस्रम् स एक मुखा ददाति ।

यो ब्राह्मण ऋषभमा जुहोति । ९ ॥

य इन्द्र इव देवेषु गोषु एति विवावदत् ।
तस्य ऋषभस्य अंगानि ब्रह्मा सस्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥ अथर्व ९ ४
अथ धेनुं सुदुघाम् नित्य वत्सां वशां दुहाम् विपश्चितम् परोदिव ॥
२१ ॥ अथर्व ९ ४

पाद सन्तु प्रज्ञा सन्तु मनोऽस्तु तनू वसम्
तत् सर्वमनुमन्यन्ताम् देवा ऋषभ दायिने ॥ २० अथर्व ९ ४

इसी सूक्त के मन्त्र ६ में सोम से पूर्ण कलश तथा मन्त्र ७ में आज्य घृतादि का भी वर्णन है । यजु० २१–२९ ९ में मेष तथा ऋषभ के साथ छाग (अज बकरा) का भी उल्लेख है ।

बैल के लिये वृषभ ऋषभ अनड्वान उक्षा आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । बैल खेती के काम में भी आते थे और रथ में भी जोते जाते थे । घोड़ों को भी रथ में जोता जाता था । अश्व और गो इन दो शब्दों का प्रयोग वेद में कई अर्थों में हुआ है । अश्व शरीर में प्राण है तो गो इन्द्रिय है । अन्तरिक्ष में अश्व सूर्य है और गो उसकी किरणें । समाज में दोनों पशु के रूप में दिखाई देते हैं । आर्य जन गोधन के लिए प्रख्यात हैं । ऋग्वेद के कई सूक्तों में (६/२८ १ /६१ आदि) धेनु की प्रशंसा तथा उत्पत्ति का वर्णन है । गो को यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अघ्न्या कहा गया है । अघ्न्या का अर्थ है जो मारने के योग्य न हो । एक अन्य मन्त्र में इसे अनागा भी कहा गया है । अनागा का अर्थ है निष्पाप । आर्य गाय का बड़ा आदर करते थे । उनकी दृष्टि में गायें ऐश्वर्यमयी हैं । उनमें दैवी मन्त्र है । उनका दुग्ध अश्रीर अर्थात् श्री—रहित को श्री—सम्पन्न करने वाला है । गाय का घी तेज-प्रदायक है । गाय का गोबर सुन्दर खाद है । गोमूत्र में रोग—विनाशक तत्त्व हैं । गाय के बच्चे बड़े होकर मानव के विभिन्न कामों की साधना करते हैं । ऐसी गौ का आदर यदि आर्य समाज में हुआ है, तो वह उपयुक्त ही है । अथर्व १९—२—३ में तथा अन्यत्र भी कई स्थानों पर गोपा शब्द आता है जो गोपाल (ग्वाले) का संकेत देता है । गोपाल गोपालन किया करते थे । अथर्व ३—१४ तथा ४—२१ गोवर्धन से ही सम्बन्ध रखते हैं । वेद में शाला तथा गोष्ठ का भी वर्णन है । गायें कभी–कभी चुरा ली जाती थीं । ऋग्वेद १ । १२० मे पणियों द्वारा उनके चुराये जाने का उल्लेख हुआ है । कभी–कभी गायों की पहिचान के लिये उनके कानों पर कुछ चिन्ह बना दिये जाते थे । आठ के अंक से चिन्हित गऊ का नाम अष्टकर्णी था यथा—

शतं गोमस्त मविनं सहस्र मे ददतो अष्टकर्ण्यः भद्रोदेवेषु क्रतुः ।।
—ऋग्वेद १०–६२–७ ।।

व्रज बाड़े का नाम है जिसमें गायें रखी जाती थीं । गाय के दूध की समता माता के दूध से की गयी है । गाय के कई नाम वेद में आते हैं यथा—

धेनु वशा धेनुष्टरी गृष्टि आदि जो उसकी विशेषताओं को प्रकट करते हैं ।

अपने बछड़े के लिये रंभाती हुई गाय की उपमा देवों के आह्वान के लिये प्रयुक्त हुई है यथा—

अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातरः । ऋ० ९–१२–२

यजुर्वेद के अष्टादश अध्याय के निम्नांकित मंत्रों में आयु तथा कार्य की दृष्टि से भी गोसन्तति के नाम आये हैं —

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे
पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे
तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। २६
पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे वशा च मे
ऋषभश्च मे वेहच्च मे अनड्वांश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पंताम्–२७ ।।

इनमें दित्यवाट दो वर्ष का बछड़ा और दित्यौही दो वर्ष की बछिया है। त्रिवत्स तीन वर्ष का बैल और त्रिवत्सा तीन वर्ष की गाय है। इसी प्रकार तुर्यवाट तथा तुर्यौही चार वर्ष के बैल तथा गाय हैं। पष्ठवाट और पष्ठौही पीठ से बोझा ढोने वाले हाथी बैल घोड़ा आदि नर और मादा के नाम हैं। उक्षा सांड तथा वशा वंध्या गाय है। ऋषभ बलवान बैल है। वेहत् गर्भ—घातिनी गाय है। अनड्वान बोझ ढोने वाला या शकटवाही बैल है। धेनु दुधार गाय है। त्र्यवि और त्र्यवी तीन भेड़ें और भेड़ा हो सकते हैं अथवा डेढ़ वर्ष के बछड़ा और बछिया। इसी प्रकार पञ्चावि और पंचावी पांच भेड़—भेड़ा या ढाई वर्ष के बछड़ा और बछिया। अवि भेड़ के साथ अर्थार्थ का भी द्योतक है। धेनुष्टरी=बहुत अधिक दूध देने वाली तथा पुष्टि=प्रशंसनीय गाय है।

वेद में उष्ट्र का भी नाम आया है। यथा—

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो । अथर्व० २० । १२७ । २
शीर्षि उष्ट्रस्य नामानि हिरण्य इति एके अब्रवीत् ।
नीस शिखण्ड वाहुन । अथर्व० २० । १३२

सिंह व्याघ्र वराह वृक जैसे पशुओं के साथ हस्ती मृग महिष आदि का उल्लेख भी वेद में पाया जाता है। द्रष्टव्य अथर्व ८–७ १–२२ तथा ऋ०—१—६४ आदि। यजु० १९–१० में व्याघ्र विनूचिक वृह श्येन और सिंह जैसे हिंसक जन्तुओं के नाम आए हैं। यजुर्वेद का अध्याय २४ अनेक प्रकार के जलजन्तुओं, पशुओं तथा पक्षियों के नामों से भरा हुआ है। पक्षियों में कपिञ्जल कलविंक तित्तिरि, वर्तिक (बटेर) कुक्कुट, तित्तिर, हंस बलाका कुञ्च मद्गु चक्रवाक कंक कुटक उलूक, चाष (नीलकण्ठ) मयूर कपोत तथा कौसीक (बया) गोषादि (गो पर बैठने वाली गुलमन चिड़िया) कुलीक पारुष्ण (बच्चों का अपने उष्ण अंगों से सेया कर पालने वाले) पारावत शुक पिक लौवाकु अजू (चमगादड़) दार्वाघाट (कौवा) सुपर्ण (गरुड़) आदि। पशुओं में गवय गैंडा खड्ग मय गर्दभ (रासभ), तरक्षु

(चीता) सूकर, सिंह, उष्ट्र स्थिम बाध्रीनस सुमर, रत बाजी, रोहित (मृग) कुम्भुबाबी (हस्तिनी), गौलत्तिका (चिमिमी) ऋक्ष लोपाशा (लोमड़ी) शादूल वृक, कृमु म (मृग) बक गौर मृग मर्कट ऋषम नील गौ महिष श्यम्य भवय हस्ती भादि। जल जंतुओं में शिशुमार मण्डूक मत्स्य कुलीपय (मुर्गाबी) नाक ककट, प्लव (बतक) कूर्म आदि। इनके अतिरिक्त नकुल बक अजगर, कोष्ट (सियार) मशक कृकलास (गिरगिट) मंग आदि के नाम भी आये हैं।

पशु अरण्य में विचरण करते थे। यह मानव बुद्धि का चमत्कार है जिसने उन पालतू बनाया। जिस व्यक्ति ने श्वान से चौकीदार का काम लिया होगा, वा निस्संदेह अपने विज्ञान पर गर्व कर सकता था। आज कुत्तों से चौकीदारी ही नहीं बल्कि चोरों की खोज का काम भी लिया जाता है। गाय के दुग्ध में कौन-कौन गुण हैं, इसका ज्ञान भी मानव ने अपने बुद्धि—प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किया होगा। पशु पालन मानव के सर्व—विकास में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हुआ है और आज भी हो रहा है। यह उसके सभ्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। पशुओं को अप माना वहाँ मानव के लिये सहायक सिद्ध हुआ वहाँ पशुओं के लिये भी।

ग शाला

यजुर्वेद में अठारहवें अध्याय में निम्नलिखित मंत्र आता है—

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च
म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। १५ ।।

यजुर्वेद यज्ञ-प्रधान है। यज्ञ की व्यापकता भी प्रख्यात है। हमारा एक-एक कर्म, पुरुषार्थ का एक—एक रूप तथा उपलब्धियों के सभी सुखद—स्वरूप यज्ञमय हों, ऐसी —प्रार्थना अनेक बार की गयी है। इस मन्त्र में कहा गया है कि वहाँ मेरी गति तथा इत्या अर्थात मेरा सामर्थ्य और उस सामर्थ्य के साधन यज्ञ द्वारा परिकल्पित हों वहाँ मेरा धन और एम (पहुंच), कर्म और शक्ति तथा वसु और वसति भी यज्ञ रूप हों। वसु धन गृह आदि का नाम है और वसति निवास—स्थान के लिये आया है। अथर्व ७—७१—१ के बुष्टोवमूना अतिथि पद में दमूना तथा ऋग्वेद १—१—८ के अर्यमालंस्वेदमे पद में दम शब्द घर के लिये आये हैं। वेद में क्षय दुर्य दुरोण अम आदि शब्द भी गृह के लिये प्रयुक्त हुए हैं। गृह शब्द भी अनेक बार आया है। दुर्ग शब्द ऐसे घर (यजु० १—११ तथा ४—३७) का द्योतक है, जिसमें कठिनाई से प्रवेश किया जा सके। दुर्य शब्द का भी यही अर्थ है। दुरोण यजु० ११—७२ में घर के अर्थ में आया है। धाम और सदन नाम भी आते हैं। यजु० ५—२८ में छत को छदि कहा गया है।

यजुर्वेद में नाना प्रकार के पदार्थों के नाम आते हैं। वायु जल काम रस यान सेना राजकीय-व्यवस्था अन्तरिक्ष यात्रा आदि से सम्बद्ध जीवन व्यवहार से सम्बद्ध, यज्ञ और तप से सम्बद्ध गणित और दर्शन से सम्बद्ध न जाने कितनी शब्

राशि इस वेद में विद्यमान है। वसु और वसति दोनों का सम्बंध निवास के साथ है। शाला भी इसी अर्थ की द्योतक है।

निवास किस प्रकार का हो यह तो मानव की रुचि पर अवलम्बित है। वह उन्मुक्त आकाश के नीचे भी रह सकता है पार्वत्य गुहाओं में निवास कर सकता है सामान्य झोपड़ी अथवा भव्य भवन भी उसके वासस्थान बन सकते हैं। सभ्यता इन सबका मूल्यांकन करती है। गुहा–निवासी तपस्वी को हम असभ्य नहीं कह सकते। कुटीचर चाणक्य को सभ्य मनुष्यों में गौरव का स्थान प्राप्त है। उसकी झोपड़ी के ऊपर भले ही उपले सूखते हों अथवा अग्निहोत्र की समिधाएँ रखी हों वह भले ही कौपीन धारण करता हो पर वह एक विशाल साम्राज्य का महामात्य है। उसे असभ्य कौन कह सकता है? वह सभा तथा समाज के योग्य है। वदेशिक दूत उसकी कुटी पर ही आकर मन्त्रणा करते हैं। अत निवास के लिये रुचि ही मापदण्ड है भोग–विलास की सामग्री नहीं।

वेद ने 'उपह्वरे गिरीणां सगमे च नदीनाम्' कह कर सभ्य व्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित किया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्यजन विपुल धनधान्य से अपरिचित थे और अपने निवास स्थानों को व्यवस्थित एवं वसंकृत करना नहीं जानते थे। एतद्विषयक ऋग्वेद ७–५४ के तीनों मंत्रों का भाव नीचे दिया जाता है। इन मन्त्रों में वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे आवेशों को निवास गृहों को अनमीव अर्थात रोग–रहित रखें। दूसरे शब्दों में हमारे घर ऐसे होने चाहिए जिनके कोने–कोने में सूर्य की किरणें प्रवेश करती रहें। सूर्य की किरणों में रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की अपूर्व शक्ति है। अन्धकार से आच्छादित स्थानों में ही रोग के कीटाणु पनपते हैं। हम जो आकांक्षा करते हैं उसे प्रभु पूर्ण करें। द्विपद मानव ही नहीं हमारे चतुष्पद पशु भी नीरोगता लाभ करें।

पशु–पालन के लिये आवश्यक है कि हमारे पशु स्वस्थ हों। मानवों के साथ पशु भी घरों में रहते हैं। शालाएं पृथक–पृथक होती है, पर मानव स्थान की विभिन्नता होते हुये भी पशुओं के साथ रहता है। अत स्वास्थ्य की कामना वह अपने ही लिये नहीं अपने पशुओं के लिए भी करता है। मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है –

हे वास्तोष्पते जैसे पिता पुत्र का पालन करता है वैसे ही तुम हमारा पालन करो धन को बढ़ाओ। हम गाय और घोड़े रखें तथा जरा–रहित जीवन व्यतीत करें।

हमारे सदन अर्थात बैठने और रहने के स्थान सुखमय सुन्दर और शोभन पुरुषार्थ की प्रेरणा करने वाले हों। योग और क्षेम हमारे लिये सदैव वरणीय बनें और हम स्वस्ति से सम्पन्न रहें।

अथर्व वेद काण्ड ९ का तीसरा सूक्त शाला निर्माण से ही सम्बन्ध रखता है। अतः उसका पूर्ण विवरण देना यहां असंगत न होगा।

१– शाला विद्वानों द्वारा उपमित अर्थात प्रशंसित हो प्रतिमित अर्थात दूसरों के लिये प्रतिमान या आदर्श रूप हो अथवा एक द्वार कोण या कक्षा के सम्मुख दूसरा द्वार, कोण या कक्षा हो परिमित अर्थात परिमाण की दृष्टि से एकसम हो और वह विश्ववारा अर्थात सब ओर की वायु तथा प्रकाश को ग्रहण करने वाली हो। शाला के बन्धन और बिनाई नद्ध अर्थात सुसंबद्ध और दृढ़ हों।

२– शाला दिव्य हो। उसमें हविर्धान अर्थात् होम करने के पदार्थ रखने का स्थान अग्निशाल—अग्निहोत्र का अथवा आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि रखने और स्थापित करने का स्थान पत्नि—सदन या स्त्रियों के रहने का स्थान, अन्तःपुर या हर्म्य और देवसद पुरुषों विद्वानों तथा अतिथियों के बैठने तथा संवाद करने का स्थान तथा भोजन स्थान आदि करने का स्थान सभी पृथक्-पृथक् हों।

३– जैसे द्यावा और पृथिवी के बीच विस्तारमय अन्तर है, वैसे ही शाला में छत और फर्श के बीच में हो। जैसे अन्तरिक्ष में लोकलोकान्तर नाप-तौल के रखे गये हैं, वैसे ही घर के सब कक्ष कमरे और बरामदे अनुपात के अनुसार नपे-तुले हों और जैसे उदर में रक्तादि की निधि सुरक्षित रहती है वैसे ही शाला में गर्भगृह हो जहां गृहस्वामी अपनी निधियों को सुरक्षित रूप में रख सके।

४– शाला ऊर्जस्वती अर्थात धनधान्य से पूर्ण तथा पराक्रम नीरोगता और बल को बढ़ाने वाली हो। वह पयस्वती दूध—रस आदि से परिपूर्ण अर्थात दुधारू गाय आदि पशु तथा मधु, घृत आदि से भरी रहे। पृथिवी पर परिमित स्थान में बनी हुई भी सम्पूर्ण अन्नों को धारण करने वाली हो। उसमें निवास करने वाले कभी हिंसित या पीड़ित न हों। न पारिवारिक व्यक्ति एक दूसरे को पीड़ा पहुँचावें और न बाहर वाले पहुँचा सकें— ऐसी उस शाला की स्थिति तथा वातावरण हो।

५– शाला मूर्ख या अनाड़ी द्वारा नहीं चतुर जानकार शिल्पी द्वारा ठीक माप करके बनाई गई हो। शिल्पी जानकार ही नहीं भावना सम्पन्न भी हो। मंत्र में चतुर या जानकार के लिये ब्राह्मण और भावना-सम्पन्न के लिये कवि शब्द का प्रयोग हुआ है। जानकार न होगा तो शाला को बिगाड़ देगा और भावना सम्पन्न न हुआ तो शाला अमृत या टिकाऊ नहीं होगी। अतः शिल्पी में दोनों गुण होने चाहिये। वह शाला या सद अर्थात निवास स्थान सौम्य—सर्वदा सुख दायक, आह्लाददाता तथा ऐश्वर्य-वर्धक हो। इन्द्र और अग्नि वायु और पावक

निरन्तर उसकी रक्षा करते रहें। उस शाला के निवासी शील और सभ्यता से सदैव बंधे रहें।

६– पत्नी के गर्भाशय में जैसे गर्भ ठहरता है वैसे ही शाला में सभी व्यक्ति ठहरें गर्भ की भाँति वे सुरक्षित रहते हुए अपनी वृद्धि करें। जैसे मान-सम्मान को बचाया जाता है, वैसे ही शाला को भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये और लिपाई-पुताई-सफाई के द्वारा उसे अलंकृत तथा टिकाऊ रूप देना चाहिये। यह शाला द्विपक्षा अर्थात मध्य में एक और उसके पूर्व तथा पश्चिम में एक-एक शाला हो। इसी प्रकार चतुष्पक्षा षट् पक्षा, अष्टपक्षा अथवा दशपक्षा शाला होनी चाहिये। चतुष्पक्षा का अर्थ है— मध्य में एक और उसके पूर्व पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में एक-एक शाला हो। दस पक्षा के मध्य में दो शाला और उनके अगल-बगल सभी दिशाओं में दो-दो शालायें होंगी।

७– मैं शाला के पूर्व द्वार से पश्चिमी द्वार की ओर प्रवेश करता हूँ। इस क्रिया में शाला मेरा हिंसन नहीं करती और मैं उसे कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसका तात्पर्य यही है कि शाला पूर्वाभिमुखी पश्चिमाभिमुखी या उत्तराभिमुखी हो, दक्षिणाभिमुखी न हो। पूर्व में ही हम उत्तर की दशा को भी सम्मिलित कर सकते हैं क्योंकि दोनों सहयुक्त हैं। पश्चिम में दक्षिण को इसलिये सम्मिलित नहीं करेंगे कि पश्चिम की ओर से प्रविष्ट व्यक्ति दक्षिण की ओर नहीं जा सकता पूर्व या उत्तर की ओर ही उसकी गति होनी चाहिये। और यदि उत्तर की दिशा का नाम न लें तब भी कोई हानि नहीं है। पूर्वाभिमुखी अथवा पश्चिमाभिमुखी ही शाला रहे, तो शुभ है।

८ शाला में पहुँचने पर हमारा गुरु भार लघु हो जाना चाहिये। बाहर चाहे कितनी चिन्ता हो पर घर में प्रवेश करते ही चिन्ता छूट जाय और चित्त प्रसन्नता का अनुभव करे, ऐसा शाला का वातावरण होना चाहिये। शाला के साथ हमारा पाश अर्थात सम्बन्ध विच्छिन्न न हो। उसके प्रति हमारी ममता बनी रहे। जैसे मानव नारी को वधू रूप में स्वीकार करता है जो उसको जीवन भर ममता-पाश में बाँधे रहती है और कामना के अनुकूल व्यवहार करती है, वैसे ही हम शाला को स्वीकार करें। शाला की रक्षा इसी विधान से हो सकेगी।

शाला अश्वावती गोमती तथा सूनृतावती हो। उसमें अश्वों तथा अजादि पशुओं के लिये पृथक्-पृथक् स्थान हों। वह सूनृत अर्थात सत्य व्यवहार पर टिकी हो। उसमें निवास करने वाले हम सब महान सौभाग्य को प्राप्त करते हुये ऊपर उठें। —— में शिशु किलकारियाँ भरते हों तथा दुधारु गायें रम्भाती हों।

शाला रहने वालों के लिये भुवन की नाभि या केन्द्र है। उसमें वसुओं, धनों,

वैभवों की धारा प्रवाहित रहनी चाहिये । घृत आदि के सेवन द्वारा पराक्रमी बने हुए हम लोग शाला में क्षेम पूर्वक निवास करें ।

शाला वास्तुकला के अन्तर्गत स्थान पाती है । इसी हेतु शाला के निर्माता को वास्तोष्पति कहा जाता है । यजु० १६ १६ में इसे स्थपति भी कहा गया है । वह हमें गृह के रूप में ऐसी वास्तु, कमनीय कला देता है जो हमें सुख तथा कल्याण प्रदान करती है । ज्ञान-संतान की रक्षा शाला में रहकर ही सुगमता पूर्वक की जा सकती है । समस्त देवता दिव्य शक्तियाँ प्रभु की अनुगामिनी बनकर दिव्यशाला में आश्रय पाती हैं । श्री तथा यश मन्त्र तथा वशिमा मन्त्र तथा ब्राह्मज्ञान और बल तथा सत्य सभी दिव्य रूप हैं और वे शाला में प्रतिष्ठित होकर उसकी रक्षा करते हैं । शाला सम्बन्धी यह विवरण आधुनिकतम शाला-निर्माण विधि के समकक्ष ही नहीं उससे एक पग आगे है । विज्ञान के चमत्कारों पर आधारित गृह केवल स्वास्थ्य पर दृष्टि रखकर बनाये जाते हैं । हमारी शाला स्वास्थ्य के साथ दिव्यता का संचार भी करती है ।

ऋग्वेद के नीचे लिखे मंत्र में व्रज तथा वर्म के साथ आयसीपुर:—लौह नगर अथवा लौहगढ़ों का भी नाम आया है । यथा–

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।

पुर: कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा व: सुस्रोत् चमसो दृं हता तम् ॥ऋ०१० १०१/८

व्रज या गोष्ठ बनाओ । वह मनुष्यों के लिए पान का भी योग्य स्थान होगा । अनेक पृथु कवचों को सींओ । लोहे के अभेद्य दुर्ग या पुर बनाओ और चमसों को दृढ़ करो जिससे पानी न टपके ।

पुर और गढ़ नाम भी पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं । गढ़ एक प्रकार का पुर ही है । जोधपुर के पुराने किले के आस-पास सभी प्रकार के पेशे वाले व्यक्ति रहा करते थे । गढ़ रूसी भाषा में ग्राड हो गया है । ऋ० ७-३-७ में भी आयसीभि: पूर्भि: अर्थात लौह नगरों का नाम आया है । अथर्व १०-२ ३१ में अयोध्या को देवनगरी आठचक्रों वाली तथा सुवर्ण मयी कहा गया है । इतिहास लंका को तो स्वर्ण पुरी कहता ही है ।

निम्नांकित मंत्र भी वास्तु कला की दृष्टि से विचारणीय हैं—

१—स धार्म पत्तापदृप्यदा यन्तुस्वर्वातः परियवत् सनिष्यन् ।

अनर्वायत् शतधुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवां अभिवर्पसा भूत् । ऋ० १०-९९ ३

२—अग्रहस्तो अमृता विश्वदेवस: शर्मनोर्यसन् त्रिवरुथं मंहस: । १०-६६-५

३—यावीजिरे वृषणो देवयज्यया ता न: शर्म त्रिवरुथं वियंसत: । १०-६६-७

४—त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान् वय स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ८-४०-१२

५—बृहन्तम् मानम् वरुण स्वधाव: सहस्र द्वारं जगमा गृहं ते ॥ ७-८८ ५

६—इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरुथं स्वस्तिमत् ।

पुरविर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः । ६ ४६-९
७—राजाना सम्रमद्रुह्यीममाना सहस्र स्थूर्णं बिभृथः सह द्वौ ॥ २ ६२ ६ ।
८—हिरण्यनिर्णिक् अयो अस्य स्थूणा विभ्राजते दिवि मश्वाजनीव । ५ ६२-७
९—राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे ।
सहस्रस्थूण आसाते ॥ २ ४१।५
१० भवन्ती विश्वामुवनानि हर्म्या चित्रो वो यामः । १ १६६ ४

प्रथम मन्त्र में सौ दरवाजों वाली पुरी का उल्लेख है । द्वितीय तथा तृतीय मंत्रों में त्रिवरूथ अर्थात तीन तल्लों वाले मकान (त्रिभूमिक) का नाम आया है ।

चतुर्थ मन्त्र म त्रिधातु अर्थात तीन कोनों वाले घर का और पांचवें मन्त्र में सहस्र द्वारों वाले गृह का उल्लेख है । छठें मन्त्र में त्रिधातु का तात्पर्य काष्ठ इष्टिका और प्रस्तर है । त्रिवरुथ का तात्पर्य है शीत ताप और वर्षा से बचाने वाला । स्व स्तिमत् का अर्थ है कल्याणकारी । इस प्रकार के घर निश्चित रूप से शत्रु के प्रहार से सुरक्षित रहेंगे । सातवें मन्त्र में सहस्र खम्भों वाले महल का आठवें मन्त्र म लौह स्तम्भ या खम्भे का नवम मन्त्र में सहस्र स्तम्भों वाले सद अर्थात निवास स्थान का और दशम मन्त्र में हर्म्य अर्थात अन्तःपुर या अट्टालिका का वर्णन है ।

अन्य विशेषतायें तो आज भी कहीं न कहीं मिल सकेंगी परन्तु सहस्रों खम्भों वाले विशाल सभा-गृहों का दर्शन आजकल नहीं होता । प्राचीन भारत तथा रोम में इस प्रकार के भवन अवश्य होते थे ।

वेद के इसी प्रकार के मन्त्रों के आधार पर विश्व में वास्तुकला का प्रसार हुआ । पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारत वर्ष का बृहत इतिहास द्वितीय भाग के पृष्ठ २४ पर वास्तु शास्त्र के १८ उपदेशकों के नाम मत्स्य पुराण अध्याय २५२ के अनुसार इस प्रकार दिये हैं — भृगु अत्रि वशिष्ट विश्वकर्मा मय नारद नग्नजित विशालाक्ष पुरन्दर, ब्रह्मा कुमार नन्दीश शौनक गर्ग वासुदेव अनिरुद्ध शुक्र और बृहस्पति ।

घ पात्र और वस्त्र

संभव है, पात्रों का कार्य सर्व प्रथम पत्तों के बने हुये दोनों से लिया जाता रहा हो । वैदिक द्रोण शब्द का ही अपभ्रंश दोना है । आज भी इसका प्रयोग बाहुल्य से होता है । पर दोना भी पत्तों का बनाया जाता है और उसी के साथ पत्तल भी बनाई जाती है । बहुधा पलाश के पत्तों का प्रयोग इनके निर्माण में होता है । केले का पत्ता बिना किसी कलात्मक प्रयोग के ही उपयोग में आता है । जो कार्य हम थाली और कटोरी से लेते हैं वही केले के पत्ते या पत्तल और दोनों से । धातुओं से इन वस्तुओं का निर्माण संभव है परवर्ती युग की देन हो ।

आर्य यज्ञप्रिय थे । यज्ञ में पात्रों का प्रयोग अनिवार्यत होता है । थाली स्रुवा और स्रुक तो नितान्त आवश्यक पात्र हैं । इनका निर्माण काष्ठ धातु आदि द्वारा ही

होता है। आज भी काष्ठ की बनी कठोती प्रोक्षणी स्रुवा तथा स्रुक प्राप्त होते हैं और प्रयोग में लाये जाते हैं। धातु-निर्मित पात्र भी संख्या में अनेक हैं। ये सभी कला-अपेक्षित हैं। कला सभ्यता की जननी है। अतः पात्रों की विद्यमानता सभ्यता की परिचायिका है।

यजुर्वेद के निम्नांकित मंत्र में कई पात्रों के नाम आये हैं—

वायव्यं र्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोण कलशम्।

कुम्भी भ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभ्यः स्थाली राप्नोति। १९.२७।

इस मंत्र में आरण्यक कला द्वारा निर्मित पात्रों की तुलना राजकीय यज्ञ-पात्रों से की गई है। यज्ञ में वायव्य द्रोणकलश अम्भृण तथा स्थाली का प्रयोग होता है। आरण्यक वैखानस या वानप्रस्थ इसी प्रकार के पात्रों को रखता है परन्तु वे वनधातु काष्ठादि के बने होते हैं। सोम यज्ञ सौत्रामणि यज्ञ आदि अनुष्ठान नागरिक धनी गृहस्थों वैश्यों क्षत्रियों आदि द्वारा ही सम्पादित होते थे। इन यज्ञों में वायव्य पात्रों का सम्बन्ध सम्भवतः अग्नि-धूपन की क्रिया से रहा होगा। यह भी हो सकता है कि वायव्य कोण में किन्हीं विशेष पात्रों को रखा जाता हो और इसी आधार पर उनका यह नाम पड़ गया हो। सत की तुलना द्रोण कलश से की गई है। द्रोण और कलश दोनों शब्दों तथा तन्नामा पात्रों का प्रयोग अभी तक प्रत्येक गृह में होता है। द्रोण काठ या धातु का बना एक पात्र था। उसमें जितना अनाज आ सकता था, उसकी तौल भी इसी शब्द द्वारा आँकी जाती थी। कलश पानी भरने का पात्र था। सत वनस्था के पास रहता था। इस नाम के पात्र का निर्माण बेत की लकड़ी द्वारा होता था। बेत की बनी हुई डोलची आज भी बाजारों में बिकती है। अम्भृण पात्र का प्रयोग यज्ञ में होता था। इसकी समता कुम्भी—मिट्टी के बने छोटे घड़े से की गई है। स्थाली (थाली) की समता स्थाली से की गई है। थाली अब तक सामान्य प्रयोग की वस्तु है और आर्थिक स्थिति के अनुसार पीतल कांसा फूल चाँदी सोना आदि किसी भी धातु से बनाई जा सकती है। अथर्व० २०–११४–१ में स्थाली पाक का वर्णन है।

अथर्ववेद ४ १४–७ में चार कुम्भों का वर्णन है। गृहस्थ में उलूखल मुसल सूप चलनी आदि का प्रयोग सामान्यतः होता ही है। सक्तुमिव तितउना पुनन्त मन्त्र इसके पूर्व उद्धृत किया जा चुका है जिसमें तितउ अर्थात् चलनी का नाम आया है जिससे सक्तु को छाना जाता है और भूसी पृथक की जाती है। अथर्व ९ ६ १६ में 'शूर्प पवित्र तुषा' मंत्र में सूप का उल्लेख है। सूप से भी अनाज के दाने और भूसा या अन्य कूड़ा करकट पृथक्-पृथक् किये जाते हैं। अथर्व० १० ९ २६ में 'उलूखले मुसले यश्च' तथा अथर्व० ९ ६ १७ में यान्युलूखलमुसलानि मंत्रों में उलूखल और मुसल शब्द आये हैं जो आज तक इन्हीं नामों द्वारा प्रयुक्त होते हैं। अथर्व० १९ १ १

में 'चर्मवत्व मा चमसत्व मा' मन्त्र में चमस प्याले के लिये आया है जो चमचे के आकार का होता था और सोमपान करने के काम आता था। आजकल चाय के प्यालों की आकृति भी इसी प्रकार की होती है। ये काष्ठ या धातु द्वारा बनाये जाते थे। ऊर्व किस पात्र का नाम था कहा नहीं जा सकता।

अथर्व ११ ३ १८ में चरु पञ्चबिलमुखं मन्त्र में चरु शब्द आया है। ग्रामों में इसे चरुआ कहा जाता है। पुत्रेष्टि यज्ञ के मन्त्र में भी अग्निदेव हाथ में चरु लेकर ही उपस्थित होते हैं जिसमें पुत्र प्रदा खीर या अन्य ओषधि युक्त पदार्थ जो पुत्र उत्पन्न करने के गुण रखता है भरा रहता है।

यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में भी पात्रों के नाम आये हैं —

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च म ग्रावाणश्च मे अधिषवणे च मे पूतभृच्च मे आधवनीयश्च मे। १८–२१।

आगे वेदि बर्हि, अवभृथ आदि शब्द आये हैं जो पात्र नहीं हैं। पात्रों में स्रुक का उल्लेख ऋग्वेद के भी कई मंत्रों में है। इसे स्रुव और जुहू भी कहा जाता है। शतपथ ७-४ १ ३६ में बाहुओं को भी स्रुक कहा गया है। चमचे का आकार बाहु जैसा ही होता है। चमस वायव्य और द्रोणकलश पात्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है। ग्रावा सिल बट्टा है जिस पर रखकर सोम या कोई अन्न-मसाला पीसा या कूटा जाता है। अधिषवण कूटे हुये सोम या अन्न को रखने वाला पात्र है। साम के निष्पादक दो सिला फलकों को भी अधिषवण कहते हैं। पूतभृत वह पात्र है जिसमें छने हुये सोम या अन्न को रखते हैं। आधवनीय पात्र में मिष्ठान्न या मेवादि पदार्थ रखे जाते होंगे।

अथर्व० ११ २८ ३ में घर्म इव अभितपन ८-८ १७ में धर्म समिद्धो अग्निना ऋग्वेद १० १०६-८ में घर्मेव मधु जठरे तथा ऋग्वेद १ १६४ २६ और अथर्व ७-७३ ७ एवं ९ १० ४ में समीद्धो धर्म तदुपु प्रवोचम में धर्म शब्द चूल्हे के लिये आया है। यजु० ११ ५९ में उखा या ऊखा शब्द हविष्य के पकाने में प्रयुक्त मृण्मय पात्र के लिये आया है जो सम्भवतः मिट्टी की बनी हांडी होगी। अथर्व० ९ ३ ६ में शिक्य का अपभ्रंश छींका आज भी देहातों में चलता है जो रस्सी आदि द्वारा बनाया जाता है और छत से लटका कर रोटी आदि रखने का काम देता है। ऋग्वेद १ ११७-१२ में हिरण्यस्येव कलशं निखातम में जिस स्वर्ण कलश को भूमि में गाड़ देने का उल्लेख है वह आज भी ग्रामों में प्रचलित है। रुपये मुहरें अर्थात चांदी और सोने के सिक्के तथा आभूषण इसी प्रकार जब तब गाड़ कर रखे जाते रहे हैं।

ऋग्वेद ६ ४८ १८ म दृंतरिव मन्त्र में दृति शब्द का प्रयोग हुआ है जो संभवतः चमड़े की बनी मशक थी। ऋग्वेद १ ११२ ९ में उपलप्रक्षिणी नना में उपल शब्द अनाज पीसने की चक्की के लिये आया है। ऋ० ७ १०४ २२ (अथर्व ८ ४ २२) में दृषदेव प्रमृन में आया हुआ दृषद शब्द भी चक्की के लिए ही प्रयुक्त हुआ है जो पत्थर की बनाई जाती है।

अथर्ववेद १४ २ ३१ के आरोह तल्पं सुमनस्यमाना पद में जिस तल्प अर्थात शय्या का वर्णन है वह सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित की जाती थी। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में प्रोष्ठ वह्य तथा तल्प तीन शब्द आये हैं जो शयन-पलंग का अर्थ देते हैं—

प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरी ।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धा ता सर्वा स्वापयामसि ॥ ७-५५-८

प्रोष्ठ संभवत बड़ा पलंग रहा होगा। वह्य वहन करने योग्य पलंग है या डोली है। तल्प वर-वधू के शयन-पलंग का कहते हैं। इन सभी के ऊपर बहुमूल्य चादरें बिछाये जाते थे जिन्हें उपस्तरण कहा जाता था। यथा–

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरु प्रथतामसम स्वर्गम ।
तस्मिं छ्रयाते महिष सुपर्णो देवा एनं देवताभ्य प्रयच्छान् ।
अथर्व १२–३ ३८

इस लोक या स्थान पर उपस्तरण अर्थात बिछौना (चादर आदि) बिछा दिया है। यह असम अर्थात अनुपम और सुख देने वाला है। इसकी ख्याति चारों ओर फैले। इस पर महिष—राजा या पूजनीय व्यक्ति और सुपर्ण—सुन्दर ज्ञान और कर्म रूपी पंखों वाले पुरुष शयन करत या आश्रय लेते हैं। यह दिव्यगुण वाले दैवी कारीगरों ने दिव्यशक्ति वाले पुरुषों के लिये दिया है।

शय्या पर उपस्तरण के साथ उपबर्हण या अपिधान भी रहता था जिसे तकिया कहते हैं। यथा—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमि कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ अथर्व० १४ १ ६

जब सूर्या पति को प्राप्त हुई तब उसकी चेतना ही तकिये का कार्य कर रही थी आंख अञ्जन बन गई थी और द्यावा पृथिवी कोष या स्वर्णमंजूषा बन गये थे।

सूर्या (१४ १-७) भद्र अर्थात मांगलिक वास अर्थात वस्त्र धारण किये हुये थी। युवा पुरुष को भी सुन्दर, स्वच्छ वस्त्र धारण करना चाहिये इसका संकेत युवा सुवासा परिवीत आगात् ऋ ३-८ ४ मंत्र से प्राप्त होता है। सूर्या (१४ १ १० से १२ अथर्व) पति के घर रथ पर बैठकर गई थी जिसके चक्र शुचि थे अक्ष महत था छत द्यौ के समान दमक रही थी और जिसमें बैल जुते हुये थे। मन्त्र ६१ के अनुसार यह रथ सुकिंशुक-सुन्दर फूलों से सुशोभित था। वह हिरण्य-वर्ण अर्थात् सुवर्ण के रंग का था सुवृतं सुचक्रम्—उस पर सुन्दर झालरें लटक रही थीं और उत्तम चक्र थे।

पति को वधू के वस्त्र नहीं पहिनने चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उसका शोभन शरीर भी शोभा रहित हो जाता है। (अथर्व १४ १ २७) अथर्व १४ १ २८ में आशसन शारीरिक वस्त्र है विशसन शिर का वस्त्र है और अधिविकर्तन सर्वांग को

में 'उर्वारुक मा चमसश्च मा' मन्त्र में चमस प्याले के लिये आया है जो चमचे के आकार का होता था और सोमपान करने के काम आता था। आजकल चाय के प्यालों की आकृति भी इसी प्रकार की होती है। ये काष्ठ या धातु द्वारा बनाये जाते थे। ऊर्व किस पात्र का नाम था कहा नहीं जा सकता।

अथर्व ११ ३ १८ में 'चरु पञ्चबिलमुखं' मन्त्र में चरु शब्द आया है। ग्रामों में इसे चरुआ कहा जाता है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अन्त में भी अग्निदेव हाथ में चरु लेकर ही उपस्थित होते हैं जिसमें पुत्र प्रदा खीर या अन्य ओषधि युक्त पदार्थ जो पुत्र उत्पन्न करने के गुण रखता है भरा रहता है।

यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में भी पात्रों के नाम आये हैं —

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मे अधिषवणे च मे पूतभृच्च मे आधवनीयश्च मे। १८–२१।

आगे वेदि बर्हि., अवभृथ आदि शब्द आये हैं जो पात्र नहीं हैं। पात्रों में स्रुक का उल्लेख ऋग्वेद के भी कई मंत्रों में है। इसे स्रुव और जुहू भी कहा जाता है। शतपथ ७-४ १ ३६ में बाहुओं को भी स्रुक कहा गया है। चमचे का आकार बाहु जैसा ही होता है। चमस वायव्य और द्रोणकलश पात्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है। ग्रावा सिल बट्टा है जिस पर रखकर सोम या कोई अन्न-मसाला पीसा या कूटा जाता है। अधिषवण कूटे हुये सोम या अन्न को रखने वाला पात्र है। सोम के निष्पादन की शिला फलकों को भी अधिषवण कहते हैं। पूतभृत वह पात्र है जिसमें छने हुये सोम या अन्न को रखते हैं। आधवनीय पात्र में मिष्ठान्न या मेवादि पदार्थ रखे जाते होंगे।

अथर्व ११ २८ १ में घर्म इद्ध अभितप्त ८ ८ १७ में धर्म समिद्धो अग्निना ऋग्वेद १ १ ९–८ में धर्मेव मधु जठरे तथा ऋग्वेद १ १६४ २६ और अथर्व ७-७३-७ एवं ९ १ ४ में समीद्धो धर्म तदुपु प्रवोचम में धर्म शब्द चूल्हे के लिये आया है। यजु ११ ५९ में उखा या उख्या शब्द हविष्य के पकाने में प्रयुक्त मृण्मय पात्र के लिये आया है जो सम्भवतः मिट्टी की बनी हांडी होगी। अथर्व०९ ३ ६ में शिक्य का अपभ्रंश छींका आज भी देहातों में चलता है जो रस्सी आदि द्वारा बनाया जाता है और छत से लटका कर रोटी आदि रखने का काम देता है। ऋग्वेद १ ११७-१२ में हिरण्यस्येव कलशं निखातम में जिस स्वर्ण कलश को भूमि में गाड़ देने का उल्लेख है वह आज भी ग्रामों में प्रचलित है। इसमें मुहरें अर्थात चांदी और सोने के सिक्के तथा आभूषण इसी प्रकार अब तक गाड़ कर रखे जाते रहे हैं।

ऋग्वेद ९-४८ १८ में 'दृतेरिव' मन्त्र में दृति शब्द का प्रयोग हुआ है जो संभवतः चमड़े की बनी मशक थी। ऋग्वेद १ ११२ ३ में 'उपलप्रक्षिणी नना' में उपल शब्द अनाज पीसने की चक्की के लिये आया है। ऋ० ७-१ ४ २२ (अथर्व ८ ४ २२) में दृषदेव प्रमृण में आया हुआ दृषद शब्द भी चक्की के लिये ही प्रयुक्त हुआ है जो पत्थर की बनाई जाती है।

अथर्ववेद १४ २ ३१ के आरोह तल्पं सुमनस्यमाना पद में जिस तल्प अर्थात शय्या का वर्णन है, वह सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित की जाती थी। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में प्रोष्ठ वह्य तथा तल्प तीन शब्द आये हैं जो शयन पलंग का अर्थ देते हैं—

प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरी ।
स्त्रियो या पुण्यगन्धा ता सर्वाः स्वापयामसि ॥ ७-५५-८

प्रोष्ठ संभवतः बड़ा पलंग रहा होगा। वह्य वहन करने योग्य पलग है या डोली है। तल्प वर-वधू के शयन-पलग को कहते हैं। इन सभी के ऊपर बहुमूल्य चादरें बिछाये जाते थे जिन्हें उपस्तरण कहा जाता था। यथा—

अपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिं छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्य प्रयच्छान् ।

अथर्व १२-३ १८

इस लोक या स्थान पर उपस्तरण अर्थात बिछौना (चादर आदि) बिछा दिया है। यह असम अर्थात अनुपम और सुख देने वाला है। इसकी ख्याति चारों ओर फैले। इस पर महिष—राजा या पूजनीय व्यक्ति और सुपर्ण—सुन्दर ज्ञान और कर्म रूपी पंखों वाले पुरुष शयन करते या आश्रय लेते हैं। यह दिव्यगुण वाले दैवी कारीगरों ने दिव्यशक्ति वाले पुरुषों के लिये दिया है।

शय्या पर उपस्तरण के साथ उपबर्हण या अपिधान भी रहता था जिसे तकिया कहते हैं। यथा—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ अथर्व० १४ १ ६

जब सूर्या पति को प्राप्त हुई तब उसकी चेतना ही तकिये का कार्य कर रही थी आंख अञ्जन बन गई थी और द्यावा पृथिवी कोष या स्वर्णमंजूषा बन गये थे।

सूर्या (१४ १-७) भद्र अर्थात मांगलिक वास अर्थात वस्त्र धारण किये हुये थी। युवा पुरुष को भी सुन्दर, स्वच्छ वस्त्र धारण करना चाहिये इसका संकेत युवा सुवासा परिवीत आगात् ऋ० ३ ८ ४ मंत्र से प्राप्त होता है। सूर्या (१४ १ १० से १२ अथर्व) पति के घर रथ पर बैठकर गई थी जिसके चक्र शुचि थे, अथ बहुत या द्यु द्यौ के समान चमक रही थी और जिसमें बैल जुते हुये थे। मन्त्र ६१ के अनुसार यह रथ सुकिंशुक-सुन्दर फूलों से सुशोभित था। वह हिरण्य-वर्ण अर्थात् सुवर्ण के रंग का था सुवृतं सुचक्रम्—उस पर सुन्दर झालरें लटक रही थीं और उत्तम चक्र थे।

पति को वधू के वस्त्र नहीं पहिनने चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उसका शोभन शरीर भी शोभा-रहित हो जाता है। (अथर्व १४ १ २७) अथर्व १४-१-२८ में आशसन शरीर का वस्त्र है, विशसन सिर का वस्त्र है और अधिविकर्तन सर्वाग को

कहो का उल्लेख है। इस मीत्र में सूतों का म्न लगातार का रहा था। [illegible] लिए न तरी का बुना बनाकर नई प्रकार से प्रजापत्य-मानसो द्वारा उन सुसज्जित किया करती थी।

[illegible] सूक्त के मंत्र १० तथा ११ वधू के बुने हुये वस्त्रों को स्वर्ण-सुसज्जित कहा है। प्राचीन स्त्रियाँ आज भी कपास का ओटी थी, रूई की पोनी बनाती और चरखा कात कर सूत तैयार करती है। कपास के अतिरिक्त ऊन के वस्त्र भी बनते थे, क्योंकि ऊनवाली भेड़े पाली जाती थी। ऋग्वेद ३ ८३-६ के अनुसार कन्या सुनाम मातरा [illegible] सूतों के [illegible] वस्त्रों का निर्माण माताएँ करती थी।

अथर्व १२ ३ में [illegible] का वर्णन है। जब [illegible] भर [illegible] गया तो वेद बाल [illegible]! बैठा क्यों नहीं हो? प्राप्य बाता — [illegible] मेरे लिए आगरी लाओ। [illegible] के चार पैर थे। उनमें चार ही [illegible] थी का [illegible] तथा दो ऊपर से नीचे। जिस [illegible] भी प्राय और तिर्यक् ही और तिरछे थे। उस पर वेद [illegible] आस्तरण [illegible] थी [illegible] अर्थात तकिया था [illegible] अर्थात [illegible] थी उपर्युक्त [illegible] का सहारा सने का साधन था। अथर्व १८ ३० में [illegible] अर्थात स्वर्ण-खचित या रत्न-जटित बिछौने का प्रयोग है। यजु० १९ ८३ में तसर और पेमा [illegible] कर [illegible] (रोहित) बनाने का उल्लेख है। यजु० १९ ८० में ऊर्णासूत्र तथा ऋग्वेद २ २ ८ में ऊर्णम्रदा ऊन के बने मृदुल वस्त्रों का नाम आया है। ऋग्वेद ५ ५२ ६ में परुष्णयाम् ऊर्णा वसत ऊनी वस्त्रों का परुष्णी नदी के तटवर्ती [illegible] बनाया करते थे-ऐसा लिखा है। अथर्व १८ ४ ११ में तार्प्य वस्त्र का उल्लेख है। यह संभवत क्षौम या रेशम का बना वस्त्र था। ऋ० १०-२६ ६ के [illegible] वासोवाय अर्थात [illegible] भेड़ से ली गई ऊन से वस्त्र बुनता है। [illegible] का अर्थ है स्वच्छ करना धोना चमकाना। ये वस्त्र धोये तथा चमकाए जाते थे। [illegible] भी वस्त्र का नाम देता था। अथर्व ४-७-६ में अजिन शब्द आया है जिसका अर्थ मृगचर्म होता है —[illegible] [illegible]। यहाँ अजिन मृगचर्म है। [illegible] चादर है। मन्त्र में दूष शब्द भी आया है जिसका [illegible] शब्द आज भी ग्रामों में इसके [illegible] के लिये प्रयोग में आता है।

वस्त्र भद्र हो इसका ध्यान विशेष रूप से आर्यों को रहता था। निम्नांकित मन्त्रों से यही संकेत प्राप्त होता है —

[illegible] सुवसा [illegible] वस्त्रा [illegible] ॥ ऋ० १-११४-४

[illegible] वस्त्राणि [illegible] वसाना। ऋ०३ ३९ २

[illegible] वस्त्रा समन्या [illegible] । ऋ० ९ ९७-२ साम १४००

[illegible] वस्त्रा सुवसनानि। ऋ० ९-९७-५० साम १४२७

यजु० ४ १० में अधोवस्त्र को नीवि और ऋग्वेद १ १४० ९ में ऊपर के वस्त्र को अधिवासम् कहा गया है । ऋ० १ १४० १० अथर्व ११ २० २ तथा अन्य भी कई मन्त्रों में वर्म अर्थात् कवच का नाम आया है । यजु० १६ ३५ मे कवच धारण करनेवाले तथा वर्म धारण करने वाले भिन्न-भिन्न हैं । कवच सामान्य और वर्म संभवत लोहे का बनता होगा । ऋ० १ १२२ २ म अत्क १ २५ १३ में हिरण्य द्रापि अर्थात् सोने की बनी द्रापि ऋ० ९ ८६ १४ तथा ९ १० ९ आदि में भी द्रापि का नाम आया है । ये सब एक प्रकार के ओवर कोट रहे होंगे । वास अनाहत अर्थात् बिना पहिना हुआ, कोरा और बिना फटा पहिनना चाहिये । यजु० ३८ ३ तथा अथर्व काण्ड १५ में उष्णीष का वर्णन है जिसे मुड़ासा या पगड़ी कहा जाता है । ऋत्विज लाल पगड़ी बांधते थे । पंजाब में विवाह के अवसर पर लाल पगड़ी अभी तक बांधी जाती है । दाक्षिणात्य जूता नहीं पहनते थे उन्हें असवायु ने जूता पहिनने के लिये बाधित ही नहीं किया परन्तु उत्तराखण्ड तथा विन्ध्य के निवासी जूता पहिनते थे । ऋ० १ १३३ २ में वल्गूरिणा तथा महावल्गूरिणा पदों का उल्लेख है जो उपानह के भेद प्रतीत होते हैं । अथर्व० ५ २१ १० में पत्सङ्गिनी शब्द जूते के लिये ही आया है । यही पैरों का सहायक और साथी है । स्त्रियां सुकपर्दा सुकुरीरा तथा स्वोपशा (यजु० ११ ५०) होती थीं । कपर्द जटाजूट को कहते हैं । पुरुषों में भी कुछ जटाजूट धारी होते थ । कुरीर स्वर्णभूषण है जिसे स्त्रियां विवाह के अवसर पर सिर पर धारण करती थीं । इसे शृंगाकृति केश रचना भी माना गया है । कुम्ब (अंग्रेजी की Comb क्रिया इसी शब्द से बनी है और यही अर्थ देती है ।) या कंघी से केश सवारे जाते थे । ओपश शिरो भूषण है । ऋ ८ १ ५ तथा अथर्व ७ १७-५ में बभ्रम ओपश विधि कहकर इसी विधा की ओर संकेत किया गयाहै । एक प्रकार की केश रचना भी ओपश कहलाती थी । अथर्व ७ ११८ २ ३ के अनुसार पुरुष को क्लीब बनाने के लिये उसे ओपश कुरीर तथा कम्ब सिर पर धारण कराने का वर्णन है ।

ङ व्यापार

व्यापार-समस्या मानव के ही लिये है—अन्य प्राणियों के लिये नहीं । हम अनेक हैं । हमारी आवश्यकतायें अनेक हैं । इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन अनेक हैं । हम सब एक रुचि के नहीं हैं और सब अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल ही कार्य करना चाहते हैं । इन कार्यों में एक कार्य दूसरे का सहयोगी बने यही समाज को देखना है । सभ्य समाज एक बृहत परिवार के रूप में है । जसे परिवार का एक व्यक्ति दूसरे के हित में संलग्न रहकर कार्य करता है वैसे ही समाज के एक-एक घटक को अन्यों के हित-सम्पादन में संलग्न रहना चाहिये ।

सभ्य सभा के योग्य बनने का नाम है । सभा में सब साथ-साथ चमकते हैं और एक दूसरे को चमकाते हैं । यह चमक बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर जाती है । वेद कहता है—हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि । मनुष्य के हाथों में ऐश्वर्य राशि

निहित है। नाना प्रकार के चमत्कार मानव हाथों द्वारा ही सम्पादित होते हैं। जहां मनुष्य के हाथ लग गये, वहां ऐश्वर्य छा गया चमक-दमक आ गई, माटी माटी न रहकर देवता बन गई। ऐसा कैसे संभव होता है? वेद कहता है— अमे देवान् धात् गुहा निषीदन्। हृदय की गुहा में जो देव छिपे बैठे थे वे हाथों के सहारे बाहर प्रकट हो गये। अन्दर दिव्यता न हो तो बाहर भी नहीं आ सकेगी। मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। मन में उत्साह है तो बाहर शरीर भी स्फूर्तिमय दिखाई देगा। मन में यदि विषाद भरा है तो शरीर की सभी मुद्रायें मरी हुई दिखाई देंगी। मानव की मानवता कर्तृत्व में है, पुरुषार्थ में है दिव्यता की ओर उन्मुख होने और उसके सम्पादन में है।

मानव का कर्तृत्व विभिन्न दिशाओं में जाता है। व्यापार इस कर्तृत्व का एकीकरण करने वाला है। मैं ग्रन्थ लिखता हूं। यह ग्रन्थ छपता है और व्यापार उसे अनेक स्थानों में पहुंचा देता है। मेरे विचार मुझ तक ही सीमित न रहकर सबकी सम्पदा बन जाते हैं। तन्तुवाय कपड़ा बुनता है जिससे न जाने कितने व्यक्तियों के शरीर आच्छादित और सुरक्षित ही नहीं शोभायमान भी होते हैं। किसान कपास बोता है पर व्यापार उस कपास को रुई में और रुई को वस्त्रों में परिणत कर देता है। भगवती वसुन्धरा में अनेक वस्तु भरे पड़े हैं। मानव हाथ उन्हें बाहर लाते हैं और व्यापार उन्हें अनेक स्थानों में पहुंचा देता है। श्रम और व्यापार एक दूसरे के साथी हैं।

श्रम और व्यापार ही क्यों ज्ञान भी इनका साथी है। ज्ञान आंखें न खोले तो कुछ भी दिखाई न दे। ज्ञान के अभाव में न श्रम आगे बढ़ सकता है और न व्यापार चल सकता है। इन तीनों को पुन रक्षा की आवश्यकता है। निरापद स्थिति में ही सब अपना–अपना कार्य साध पाते हैं। सभ्यता–भवन के ये चार स्तम्भ हैं। सभ्यता इन्हीं पर टिकी है और इन्हीं के पारस्परिक सहयोग द्वारा वह विकसित एवं परिवर्धित होती है।

श्रम की महत्ता इस युग में एक वाद के रूप में उपस्थित हुई है। वस्तुतः मानव का प्रत्येक कार्य श्रम–साध्य है। श्रम शरीर से ही नहीं मन से भी होता है। फिर शारीरिक श्रम को ही महत्त्व क्यों दिया जाय? सभी प्रकार के श्रम महत्त्वपूर्ण हैं। अकेला शारीरिक श्रम कुछ कर भी नहीं सकता जब तक उसके साथ अन्य प्रकार के श्रम सहयोग न करें। हमारी वर्णव्यवस्था इसी पारस्परिक सहयोग का सभ्य एवं संस्कृत रूप है।

वर्णों में भी कई अवान्तर भेद हो जाते हैं क्योंकि उनमें श्रम-विभाजन का कार्य अनिवार्य होता है। एक ही व्यक्ति कवि वैद्य दार्शनिक ज्योतिषी अथवा याज्ञिक एक साथ नहीं हो सकता। स्थल जल तथा वायु में काम करने वाले सैनिक

पृथक्-पृथक् ही होते हैं। किराने के व्यापारी कपड़े बेचने वाले, बिसाती, लोहे के व्यापारी, पुस्तक-विक्रेता आदि सभी पृथक्-पृथक् हैं। बढ़ई, लुहार कुम्भकार, तेली आदि एक नहीं हैं। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य है उसमें उतने ही अधिक कलाकार, व्यवसायी अथवा उद्योग-धन्धों में काम करने वाले होंगे। व्यापार का सम्बन्ध इन सबके साथ है।

व्यापार का कार्य है, एक वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना। कभी इस देश का बना कपड़ा ईरान काबुल, मिस्र यवन तथा रोमन देशों में जाता था, अब बाहर से यहाँ आता है। कभी हमारे देश के बने जहाज बाहर के देशों में पसंद किये जाते थे अब हमें पनडुब्बी आदि बाहर से लेनी पड़ती हैं। ऐसा आवश्यक है क्योंकि सभी राष्ट्र मिलकर एक बृहत् विश्व-परिवार का निर्माण करते हैं। जो वस्तु जिसके पास है उसे वह वस्तु वहाँ पहुँचा देनी चाहिये जहाँ उसकी आवश्यकता है। समग्र प्रकृति धनात्मक तथा ऋणात्मक शक्तियों के माध्यम से यही कार्य कर रही है और ब्रह्माण्ड का चक्र निरन्तर गतिशील है।

व्यापार के लिये नितान्त उपयोगी उद्योग-धन्धों को हम सर्व प्रथम लेते हैं। यजुर्वेद अध्याय ३० के वसो' विजास्य रायस' विमक्तारम् पद में विश्व-विविध ऐश्वर्यसाधक वसु के विभक्ता का आह्वान है। प्रभु ही विश्वस्य धनदा—विश्वभर को धन देने वाले हैं। वे ही प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते समस्त उत्पन्न प्राणियों में पोषण-सामग्री का विभाजन करने वाले हैं। उन्होंने ज्ञानधन ब्राह्मण को दिया है, रक्षण शक्ति क्षत्रिय को दी है, मरुत के समान गमनागमन अथवा यातायात रूपी व्यापार का धन वैश्य को दिया है और शारीरिक तप या श्रम रूपी धन शूद्र को दिया है। नृत्य वादित्र गीत आदि कलाओं में दक्ष कतिपय कलाकारों के नाम भी इस अध्याय में आये हैं। उद्योग-धन्धों के लिये निम्नलिखित मंत्र ध्यान देने योग्य है—

तपसे कौलालं मायायै कर्मारं रूपाय मणिकारं शुभे।
वपं शरव्याया इषुकारं हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं॥ ७

कुलाल या कौलाल कुम्भकार है जो मिट्टी के कच्चे बड़े या अन्य बर्तन बनाकर उन्हें आवा या पजावे की आँच में रखकर तपाता है। इससे कच्चे बर्तन पक्के और अधिक देर तक टिकाऊ हो जाते हैं। ताप देने के इस कर्म को मंत्र में 'तपसे' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। कर्मकार लुहार है। वह लोहे से हल का फाल भाला तलवार आदि बनाता है जिनसे जीवन मायामय ही नहीं मायामिश्रित भी बनता है। खेती तथा युद्ध सबसे बड़ी माया है। एक बीज से अनेक बीजों का उत्पन्न होना कितना अद्भुत चमत्कार है। अपने प्राणों को हथेली पर रखकर युद्ध करना और अपनी मृत्यु को अपनी आँखों से देखना माया जादू या चमत्कार नहीं तो और क्या है? मणिकार जौहरी या सुनार है जिसके बनाये हुये आभूषण रूप-सौन्दर्य प्रदान करते हैं। कहावत प्रख्यात है— भूषन बिनु न बिराजई कविता

वनिता मित्र। वस्त्रा वासित है जो वाग बनाकर आपके मुख को शुभ रंग रूप देता है। इषुकार शर या बाण बनाने वाला है। धनुष्कार हेति धनुष फेंकने वाले शस्त्रों को तैयार करता है। ज्याकार धनुष की प्रत्यञ्चा या डोरी बनाने वाला है। आगे के मंत्रों में धीवर, निषाद दाश कैवर्त मिचग नक्षत्र-दर्शी अध्यापक, हस्तीपाल महावत, अश्वपालक गोपाल अविपाल अजपाल, सुराकार सारथी दार्वाहर=लकड़हारा, वास पल्पूली =धोबी रजयित्री=रंगरेज किरात=पार्वत्य गुहाओं के रक्षक, जम्भक=पर्वत शिखरों के रक्षक किंपुरुष=किन्नर पर्वतों के रक्षक, हिरण्यकार =सुनार, वणिक=तुलाधार बहुवादी वीणावादी शंखवादी, गणक, ग्रामीण आदि का उल्लेख है और उनके कार्यों का भी निर्देश है। वाणिज्य व्यापार की ओर भी स्पष्ट संकेत है।

उद्योग-धन्धे कुछ तो सीमित आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं और कुछ व्यापार के लिये। ग्रामों में बढ़ई हल या जुआ बनाता है तो अपने कृषक आसामी के लिये। इसे हम व्यापार नहीं कहते। व्यापार की क्रिया तब होगी जब बढ़ई अधिक मात्रा में हल तैयार करे और उन्हें बिक्री के लिये प्रस्तुत करे हाट में ले जाय या अपने घर पर ही उनकी दूकान लगा दे। कासी मोकी कासीफस आदि खेत में तैयार करता है और अपने घर पर ही या घर-घर घूमकर बेचता है तो उसका कार्य व्यापार है। महाजन गुड़ मसाला आदि बाहर से मोल लेकर अपनी दूकान में सजाता है या बकुचिया में भरकर बेचने जाता है तो वह व्यापारी है। यही दशा कपड़े बर्तन आभूषण आदि के व्यापार की है।

निम्नांकित मंत्र में वस्न तथा विक्रय का उल्लेख है—

पूर्णादर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।

वस्नेवविक्रीणावहा इषमूर्जंशतक्रतो ॥ यजु ३—४९।

उपमा अलंकार द्वारा यहाँ अग्निहोत्र की क्रिया की समता वाणिज्य से की गयी है। व्यापार में लेन—देन होता है। देहि मे ददामि ते। तू मुझे वस्न=वाँसनी में से मुद्रा निकाल कर दे। मैं तुझे विक्रेय वस्तु दूँगा। अग्निहोत्री दर्वि अर्थात चम्मच से कहता है— हे दर्वि। तू घी से पूर्ण होकर प्रज्वलित अग्नि में गिर और फिर पूर्ण होकर हमें भी प्राप्त हो। हमें इष=अन्न तथा ऊर्ज=बल से ओतप्रोत कर दे। जैसे वस्न और विक्रेय वस्तुओं में विनिमय होता है वैसे ही यहाँ भी हो। यजु० ४–२६ में शुक्रेण त्वा शुक्रेण क्रीणामि ... प्रजास्त्वेर्वर्ग: परमेण पशुना क्रीयसे शब्दों द्वारा क्रय-विक्रय का संकेत मिलता है। आगे मंत्र २७ में सोमक्रयण का उल्लेख है।

व्यापार में रुपया ब्याज पर भी दिया जाता है। वेद में पणियों और वेकनाटों को व्यापारी तथा ब्याजोजीवी कहकर निन्दित किया गया है। पणि और वणि में उच्चारण भिन्न है, पर अर्थ एक ही है। दक्षिण भारत से व्यापारार्थ गये हुये पणि ही

१ पल्पूली की अपभ्रंश क्रिया फलफलाना धोने के अर्थ में आज भी ब्रज में प्रचलित है।

असीरिया में फानीशियन कहे गये हैं। ये जहाजों द्वारा भारत का माल पश्चिमी देशों में ले जाते थे और विनिमय में वहां का माल यहां लाते थे। बौद्ध जातकों में भी बैबिलोनिया (बावुरु) जाने वाले व्यापारियों का वर्णन आता है। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में पणियों का उल्लेख है —

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम् ।
इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि । ८ ६६-१०

इन्द्र की महती सेना ने कब किसका मर्दन नहीं किया ? प्रभु के बल के सामने सभी पराजित होते रहे हैं। भगवान बिना किसी अवरोध के पापियों सूर्यों जारकों को मारने वाले हैं। वे सभी बेकनाटों (बेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति वा। निरुक्त। ६ २७।) सूदखोरों व्याजोप जीवियों समाज-शोषकों तथा धन एकत्र करने वाले वणिजों को जो अपने धन का प्रयोग समाज के हित में नहीं करते बुरे दिन दिखाते हैं।

पणियों का उल्लेख और भी कई स्थानों पर है। वे सर्वत्र वणिज व्यापार करते प्रदर्शित किये गये हैं। पर उनका यह व्यापार तस्कर व्यापार था। कभी वे गायों को चुरा ले जाते थे और कभी व्याज पर रुपया देकर निर्धन तैयार करते थे। इसी कारण समाज उन्हें गर्हित दृष्टि से देखता था और आज भी देखता है। पर वेद ऐसे वाणिज्य का भी वर्णन करता है जो समाज को सुखी और सम्पन्न बनाता है। यजु० ३० १७ में वाणिजाय शब्द ऐसे व्यापार करने वाले के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद काण्ड ३ का सूक्त १५ वाणिज्य सूक्त के नाम से प्रख्यात है। इस सूक्त के कतिपय मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं —

इन्द्र महं वणिजं चोदयामि स न एतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् । १
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मां जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ।। २
शुनं नोअस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनंमा कृणोतु । ४
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धन मिच्छमान ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध । ५
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेनदेवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमादधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः । ६

मैं ऐश्वर्य-सम्पन्न वणिक को प्रेरित करता हूं। वह हमारे पास आये। वह हमारे आगे चले। वह चलते हुये अदानशील शत्रु को मार्ग से हटा दे। वह समर्थ है। हमारे लिये धन देने वाला बने।

अनेक मार्ग जो देवयान अर्थात विमानों द्वारा पार किये जाते हैं द्यावा और पृथिवी के मध्य चलते रहते हैं। इन अन्तरिक्षीय मार्गों द्वारा भी हम व्यापार करें

जिससे घी और दूध हमें प्राप्त हो और क्रय विक्रय द्वारा हम अपने घर में बाहर से धन ला सकें।

हमारा क्रय तथा विक्रय लाभकारी हो और प्रत्येक पण (व्यवसाय) हमें फलीभूत हो।

मूलधन लगाकर उससे जिस बढ़े हुये धन की मैं इच्छा करता हूं और जिस धन को मैं व्यापार में लगाता हूं वह लगाया हुआ धन अधिक हो बढ़े थोड़ा या कम न हो। हे अग्र मत्सा देवो। मेरी हवि आपको स्वीकार हो। उस हवि द्वारा आप लाभ के विनाशक बुभुक्षुओं को दूर कर दें।

धन से धन की इच्छा करता हुआ मैं जिस धन से व्यापार करता हूँ उसमें ऐश्वर्यवान प्रभु मेरी रुचि को स्थिर करें। वे प्रजापति हैं, सबके उत्पादक और प्रेरक हैं सोम अर्थात अपनी शक्ति से समवेत हैं और अग्नि अर्थात हमारे पथ-प्रवर्तक हैं। पूर्व उद्धृत यजु० ४ २६ में क्रीणामि तथा क्रीयते शब्द आये हैं जो पारस्परिक लेन-देन के भाव को प्रकट करते हैं। यथा शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि। पशुना क्रीमते। शुक्र से शुक्र को मोल लेता हूं। पशु देकर पोषण का द्रव्य लिया जाता है।

व्यापार धन पुष्टि और अन्न लाने वाला है ऐसा कथन यहां स्पष्ट है। व्यापार से लक्ष्मी बढ़ती है। वाणिज्य अर्थ से अर्थ का साधक है। प्रत्येक व्यक्ति वणिक नहीं बन सकता। जिसकी रुचि वाणिज्य में हो उसे ही इधर पग बढ़ाना चाहिये। जिस प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं उसी प्रकार समस्त वर्णों का भरण पोषण वैश्य के ऊपर है। वह धन पैदा करता है पर उसे अपने पास ही नहीं रखता दान कर, परोपकार आदि के द्वारा वह उसे समाज के एक-एक घटक के पास पहुंचा देता है। ज्ञानियों को उस धन में से दक्षिणा मिलती है। रक्षक राजन्य का पोषण कर द्वारा होता है। शूद्र को भृति प्राप्त होती है। इस प्रकार सबका भागधान वैश्य के धन से निकल कर समाज को प्राप्त हो जाता है। सब सुखी और स्वस्थ रहते हैं।

भारतीय सभ्यता में दान की महीयसी कीर्ति है। दान यज्ञ का एक भाग है जो दान नहीं करता उसे अमुव्रत कहा गया है। वह अदान द्वारा मानों अपना ही वध कर रहा है। दानी के आगे ज्योति रहती है, अदानी के आगे अंधकार। दानी का धन नष्ट नहीं होता अदानी का धन नष्ट हो जाता है।

वेद में दान-स्तुति के कई सूक्त हैं। ऋग्वेद १ १२५ में स्वनय के दान की स्तुति है। सूक्त १२६ में भी दान की महिमा वर्णित हुई है। ऋग्वेद १० १ ७ दक्षिणा सूक्त है और ११७ धनान्नदान सूक्त है। इनमें से कुछ मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः। ऋ० १–१२५ १
उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वतः ॥ ४

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ् छतमश्वान् प्रयतान्त्सद्य आदम् ॥
शतं कक्षीवान् असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमाततान ॥ १ १२६ २

स्वनय प्रातः काल उठ कर रत्नादि दान देता है। विद्वान कक्षीवान उन्हें ग्रहण कर लेता है। इससे प्रजा और आयु की वृद्धि होती है।

यज्ञ किये हुये और यज्ञ करने वाले के पास दुधार तथा सुखदा धेनु विपुल दूध एकत्र कर देती है। पयोन्वी घृत-धाराएँ दानी के पास सब ओर से जाती हैं। दानी दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और जरा-रहित लोकों में स्थान पाते हैं।

प्रार्थना करने पर राजा ने १०० निष्क, १०० अश्व और १०० गायें दे दीं। इससे राजा की अक्षय कीर्ति द्यौ लोक तक विस्तृत हो गई। आगे दान में दी गयी १०६० गायों और १० रथों में जुते ४० अश्वों का वर्णन है।

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः। १० १०७-२ ऋ०
दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणी रग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामा विवाय। ५
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः यज्ञन्यं सामगामुक्थ शासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो य प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ६

दानी स्वर्ग में स्थान पाते हैं। अश्वों का दान करने वाले सूर्य के साथी बन जाते हैं। स्वर्ण के दानी अमर हो जाते हैं। वस्त्रों का दान करने वालों की आयु बढ़ जाती है। दक्षिणा दैवीपूर्ति करने वाली है। दानी का आह्वान सर्वप्रथम होता है। जो दक्षिणा—दान में प्रथम आगे आता है वही मनुष्यों में राजा है। वही ऋषि है, वही ब्रह्मा है, वही यज्ञन्य सामगायक और ओंकार का जाप करने वाला है। वही शुक्र की तीन देहों रूपों को जानता है, जो सर्व प्रथम दान देने के लिये अपने हाथ बढ़ाता है।

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयु न रिष्यन्ति न व्यथन्तेह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्च एतत् सर्वं दक्षिणा एभ्यो ददाति ॥८

दूसरों को भोजन कराने वाला मरता नहीं अमर हो जाता है। वह अर्थहीन तथा व्यथित नहीं होता। उसका कभी विनाश नहीं होता। यह समग्र भुवन तथा स्वर्ग उसी के लिये है। दक्षिणा इसको सब कुछ दे देती है—

स इद्भोजो यो गृहवे ददाति अन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ऋ० १ —११७—३
पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्। ५

दानी वही है जो अन्न-कामना से विचरण करते हुये और घर आये हुये दुर्बल व्यक्ति को अन्न देता है। समय पड़ने पर यह दान उसकी इस लोक में तो सहायता करता ही है, उस लोक में भी सखा बनकर सहायक सिद्ध होता है। अन्न अर्पित

धनिकों को चाहिये कि वे याचक को प्रसन्न करें। जीवन–यात्रा का पथ बहुत लम्बा है। पता नहीं कब कौन सा दान काम आवे।

दान लेने वाले को भी अपने ढंग से आवश्यकता पड़ने पर समाज के हित-साधक व्यक्ति या संस्था को दान करना चाहिये। हमारी वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण दान लेता है पर वह दान देता भी है। विद्या दान तो वह देता ही रहता है, साथ ही अन्नदान भी देता है –

गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वी' नर' इन्द्र प्रदि शिक्षन्ति अन्न'।

—ऋ० १०—२९—५ अथर्व० २०—७६—५

प्रख्यात प्रभो! मनुष्यों का नेता ब्राह्मण तुम्हारी अपूर्व वाणी वेद का तो उपदेश करता ही है वह अन्नदान द्वारा भी छात्रों को पुष्ट करता है।

दान की यह महिमा संस्कृति के रूप में वैयक्तिक विकास करती है, तो सभ्यता के क्षेत्र में वह मंगलमयी सामाजिक उपयोगिता भी रखती है।

पीछे जिन पणियों का हमने उल्लेख किया है, वे अपनी कृपण वृत्ति के कारण ही समाज में अनादृत हुए। ऋग्वेद ६–५१–१४ में जहां व्यक्तिगं पणिं वृको हि स –पणियों को भेड़िया और खाने वाले कहकर त्याज्य माना गया है। ऋग्वेद ४ २५-७ में पणियों को रेवता=धनसम्पन्न तथा अमुन्वता=यज्ञ–भाव से शून्य कहा गया है। ऐसे समाज–शोषकों का भारत में कभी आदर नहीं हुआ।

व्यापार सिर पर विक्रेय वस्तुओं की गठरी बांधकर भी किया जाता है और अश्व, बैल शकट, जलयान विमान आदि द्वारा भी। यह सब व्यापारी के धन सामर्थ्य पर अवलम्बित है। पणि लोक जलयान द्वारा दूर–दूर देशों की यात्रा करते थे। ऐसा इतिहास से सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार के व्यक्तियों द्वारा भारतीय अभिजात मिस्र सीरिया आदि देशों में पहुँचे हैं। ईरान तो आर्य प्रदेश ही है। उनके पुरोहित आचर्वण है। उनकी प्राचीन भाषा वैदिक शब्दों से ओतप्रोत है। यूनान और लातिन प्रदेशों की भाषायें संस्कृत के समतुल्य ही थीं ऐसा भाषा विज्ञान कहता है। यह सब पारस्परिक आवागमन तथा आवास—प्रवास का ही परिणाम था।

अश्व बैल आदि वाहनों के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं। यहां जल यान विमान आदि की विद्यमानता वेदों से सिद्ध करेंगे।

रथ– आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।

सहस्र केतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभिप्रयः। ऋ० १ ११९ १

मंत्र में रथ के विशेषण हैं — पुरुमायं—बहुत माया अर्थात कौशल से बना हुआ मनोजुवं—मन के समान वेगवाला जीराश्वं—गतिशील अश्वों से अथवा अश्व शक्ति से युक्त यज्ञियं=अभिनन्दनीय सहस्रकेतु—सहस्रों ध्वजाओं वाला वनिनं=सेवनीय शतद्वसु —सैकड़ों वसुओं वाला अथवा सैकड़ों को अपने अन्दर निवास देने वाला श्रुष्टीवानम्—सुखदायक वरिवोधाम्—धन को धारण करने वाला अर्थात धन लाने

वाला। ऐसे रथ का जीवन के लिये आह्वान किया गया है। यह रथ आज की रेल हो सकता है अथवा कोई अन्य बड़ा यान हो सकता है। धन तथा जीवन दोनों शब्द इसे व्यापार के योग्य सिद्ध करते हैं।

अश्विना परि वा मिषः पुरूची रीयुर्गीर्भि र्यतमाना अमृध्रा।
रथो ह वामृतजा अद्रिजूत परिद्यावा पृथिवी याति सद्य ॥
ऋ० ३—५८—८

इस मंत्र में जिस रथ का वर्णन है वह द्यावा और पृथिवी के बीच में शीघ्रता पूर्वक गमन करने वाला है। अद्रि अर्थात बादल की जैसी गति अर्थात गति होती है वैसी ही गति इसकी है। अन्तरिक्षगामी यह रथ विमान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? निम्नांकित मंत्र में विमान शब्द का स्पष्ट उल्लेख है—

विमान एष दिवो मध्य आस्ते आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्। यजु० १७ ५९।

यह विमान आकाश के मध्य में द्यावा-पृथ्वी के बीच अन्तरिक्ष में चारों ओर घूम रहा है। ऋग्वेद २ ४ १ में सप्त चक्रवाले रथ का वर्णन है जो रजसो विमानं अर्थात अन्तरिक्ष की माप करने वाला है। ४ ३६ १ में त्रिचक्र रथ का वर्णन है जिसमें न घोड़े जुते हैं और न कोई लगाम ही लगी है। पर वह रथ अर्थात अन्तरिक्ष में घूम रहा है। यथा— अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्र परिवर्तते रज। यह त्रिचक्र रथ विमान ही है।

निम्नांकित मंत्रों में विद्युत रथ का स्पष्ट उल्लेख है—

आ विद्युन्मद्भि मरुत स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भि अश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमाया ऋ० १—८८—१
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयास।
सरस्वती शृणवन् यज्ञियासो धाता रयिं सहवीर तुरास। ऋ० ३ ५४ १३

हे मरुतो! वैश्यो या सैनिको! तुम बिजली वाले रथों के द्वारा आओ। इन रथों की गति शोभन है। इनके पंख अश्वों की तरह गति करते हैं। इन पर शस्त्र रखे हैं— व्यापार रक्षा के लिए अथवा शत्रुओं का सामना करने के लिए। इन रथों द्वारा तुम श्रेष्ठ अन्न या धन हमारे लिये लाओ। पक्षी जैसे आकाश में उड़ता है, तुम भी वैसे ही उड़ते हुए हमारे पास आओ। हे मरुतो! तुम विद्युत रथ वाले हो शस्त्र से सज्जित हो, तुम दिव्य मानव हो 'ऋत—सत्य के लिये जात—प्रसिद्ध हो गति—शील हो। तुम पुत्रों-सहित हमारे धन को धारण करो।

ये विद्युत रथ बिजली से चलने वाले हैं। आज कल रेलें तथा विमान दोनों ही विद्युत शक्ति द्वारा संचालित होते हैं। नावों तथा समुद्री जहाजों का वर्णन भी वेद में आता है। ऋग्वेद १ ११६-५ में शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्—सौ डांड या पतवार वाली नाव का उल्लेख है। ऋ० १ २५-७ में समुद्रिय नाव का वर्णन है। पक्षी जैसे आकाश में तैरते हैं, वैसे ही यह नाव समुद्र में तैरती है। अथर्ववेद ५,४ ५ में नाव

को हिरण्मयी कहा गया है। संभवतः इस पर स्वर्ण मढ़कर आता जाता होगा। नावों द्वारा व्यापार होता था इसका संकेत निम्नांकित मंत्रों से भी मिलता है–

स पूर्व्यो धनस्पृत इव परीवस समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः।
सनो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे युञ्जाथामश्विना रथम ॥

ऋ० १ ४६-७

जैसे धनाभिलाषी वणिक समुद्र में (नावों द्वारा) संचरण करते रहते हैं वैसे ही स्तोता प्रभु को घेरे रहते हैं। हे अश्विद्वय ! बुद्धिपूर्वक बनी नाव द्वारा हमें मार्ग से पार समाज के लिये आओ। पनडुब्बियों का संकेत निम्नांकित मंत्र में है–

यास्ते पूषन नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययी रन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ॥ ऋ० ६ ५८ ३

हे पूषन ! तुम्हारी जो नावें समुद्र के अन्दर चलती हैं अथवा स्वर्ण की बनी हुई ज्योतिर्मयी विमानरूपा नावें अन्तरिक्ष में चलती हैं उनके द्वारा तुम चलते हो और सूर्य का दौत्यकार्य करते हो। तुम यश के आकांक्षी हो। समुद्र के अन्दर पनडुब्बियाँ ही चलती हैं। सूर्य के प्रकाश का कोई न कोई सम्बन्ध इनके साथ रहता है। तभी तो इन्हें सूर्य का दूत-कार्य करने वाली कहा गया है। ऋग्वेद १ ६६-७ में एक अनश्व अरथी तथा मनमीतु यान का वर्णन है जो द्यावा पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के मार्ग से चलता है। ऐसा यान अभी तक आधुनिक वैज्ञानिक नहीं बना सके हैं। ऋग्वेद १ ३४ ११ में अन्तरिक्षीय मार्गों का स्पष्ट उल्लेख है जो रेणु-रहित थे तथा जिनमें यातायात सुगमता से हो सकता था।

व्यापार के लिये धन चाहिये जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। धन के द्वारा ही क्रेय वस्तुयें खरीदी जाती थीं। धन के दो रूप थे – एक तो एक माल देकर दूसरा माल लेना जैसे गेहूं जौ ज्वार आदि देकर गुड़ सब्जी आदि का लेना। ग्रामों में यह प्रथा अब तक चल रही है। दूसरे सिक्के देकर वस्त्रादि का मोल लेना। सिक्के सोने चाँदी ताम्र आदि के होते हैं। वेद में इनका हिरण्यगर्भ (ऋ० १ ३५ ४) तथा (१ १२६ ४) निष्क (ऋ० १ १२६ २) मना[1] (ग्रीक मना, रोमन मिना) आदि सिक्कों के नाम आये हैं। कृशन मोती है। सोना आदि तौलने के लिये हिरण्य शतमान जैसे लघु बाट होते थे। हिरण्य आज कल की रत्ती या गुंजे का नाम है। वर्णिका—चाँदी भी विनिमय का काम देती थी। अथर्व २० १२७-३ (कुन्ताप सूक्त) में सौ निष्क दस मालायें तीन सौ घोड़े तथा दस सहस्र बैलों का कथन है जो विनिमय द्वारा ही गृहीत हो सकते हैं। हिरण्य का वर्णन बाहुल्य से है। ऋ० १ ९८ ११ में हिरण्यत्वचि ८ १ ३२ में हिरण्यपरष ८ ५ २१ में हिरण्ययी रश्मि, १० १८४ ३ में हिरण्ययी अरणी ऋ १ ३३ ८ में हिरण्य मणि २ ३४ २ में रुक्म वक्ष्म जो वक्षस्थल पर पहना जाता था ८ ७८ ३ में कर्ण शोभन ४ १० ५ में रुक्म ५ ६० ३ में हिरण्यनिर्णिज् मरु १ १२२ १४ में हिरण्यकर्ण तथा मणिग्रीव, १ १६३

[1] सचा मना हिरण्यया (ऋ८ ७८ २)।

१ में हिरण्य शृ म १० १४१ १ में हिरण्यस्तूप आदि का वर्णन आया है। हिरण्यमयी नौकाओं तथा विमानों के सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है। निम्नांकित मन्त्र में कतिपय धातुओं के भी नाम आये हैं —

हिरण्यं च मे अयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपुच मे यज्ञेन कल्पन्ताम । यजु० । १८–१३ ।

हिरण्य चमकते हुए स्वर्ण या चांदी का नाम है। अय फौलाद है। श्याम काला लोहा है। लोह लाल लोहा या कान्तिसार है। सीस सीसा है। त्रपु टीन या रांगा है। ये सभी धातुएँ व्यापार से सम्बद्ध हैं। यजुर्वेद २१ ३७ में रजत शब्द भी आया है जो चांदी का द्योतक है।

व्यापार में ऋण भी चलता था पर वह अच्छा नहीं माना जाता था। अनृणा अस्मिन्न अनृणा-परस्मिन (अथर्व ६ ११७-३) आदि शब्द अनृण-रहित रहने की भावना को महत्व देते हैं। ऋ ४ २४-९ में भूयसा वस्न मचरत् कनीयो अविक्रीतं शब्द प्रकट कर रहे हैं कि विक्रेता तथा क्रेता में कभी कभी विवाद भी चल पड़ता था। भूयसा वस्न=बड़े मोल की वस्तु, कनीयः=कम मूल्य पर दे दी। अब उसे अविक्रीत=बिना बिकी कैसे समझा जा सकता है ? 'दीना दक्षा विदुहन्ति प्रवाणम्=चाहे दीन हो चाहे दक्ष चाहे चालाक हो और चाहे सरल भाव जो तै हो गया वही रहेगा। यह यथार्थवाद जैसा पूर्व था वैसा ही अब भी है। इसे आदर्शवाद नहीं माना जा सकता। आदर्श निहित है सत्य भाव तथा तौलमाप में। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो किसी भाव पर भी नहीं दी जा सकतीं। ऋ ८ १ ५ में महे चन त्वामद्रिवः पराशुल्काय देयाम । न सहस्राय नायुताय कहकर किसी भी मूल्य पर न देने का निर्णय अभिव्यक्त हो रहा है। शुल्क वह धन है जो किसी वस्तु के मोल लेने में दिया जाता है।

वेद दिशाओं का संकेत करता है। उसने विवादी तथा असत्य का आश्रय लेने वाले व्यापारियों की ओर भी निर्देश किया है परन्तु व्यापार हो या अन्य कोई कार्य सबका आधार सत्य है। सत्य ही परमेश्वर है अनृत नहीं। सत्य ही उपासनीय है—'सत्यं त्वावाम न अनृतम्। जो व्यापारी सत्य व्यवहारी नहीं है, उसकी साख उठ जाती है। विश्वास उसी का रहता है जो सत्य पर आश्रित है। धन वही टिकता है जो सत्यता पूर्वक अर्जित हुआ है। वही द्युम्न=दिव्यता का आधान करता है। दीप्ति और तेज उसी से आते हैं। असत्य पर आधारित धन पूँजी और पुष्टि को (सो अर्य पुष्टीर्विज इव आमिनाति) परमात्मा वैसे ही ध्वस्त कर देते हैं जैसे भूचाल बड़े से बड़े महलों को धराशायी कर देते हैं। आर्य जीवन सत्यव्रत पर टिका है। सूदखोरों शोषकों का सम्मान आर्य समाज ने कभी नहीं नहीं किया।

++++++++

३ । युद्धकला

क युद्ध और राज्य-व्यवस्था

यहाँ व्यक्ति व्यक्ति में, वर्ग वर्ग में, राष्ट्र राष्ट्र में युद्ध होता रहता है। कोई ऐसा समय नहीं, कोई ऐसा स्थान नहीं जिसमें अब तक युद्ध न हुआ हो। अविकसित प्राणियों में प्रकृतित तथा विकसित प्राणियों में चैतन्यत संघर्ष हुआ करता है। वैयक्तिक क्षेत्र में भी मानसिक धरातल पर सत-असत प्रवृत्तियों में युद्ध चलता है। मानव इस युद्ध के द्वारा ही असत पर विजय प्राप्त करके प्रभु के आधिपत्य को प्राप्त करता है। वैयक्तिक क्षेत्र का यह युद्ध ही आदर्श रूप में आगे बढ़कर वर्ग-वर्ग और राष्ट्र राष्ट्र का युद्ध बन जाता है। लक्ष्य एक ही है सत की असत पर विजय।

क्षुद्र स्वार्थ के लिये भी युद्ध होते हैं और हुये हैं। दस्युओं दानवों तथा अनार्यों के युद्ध इसी प्रकार के थे। इन युद्धों का लक्ष्य था भोग-दूसरे की रोटी छीन कर अपने मुख में ले जाना, अन्य राष्ट्रों की भूमि को आत्मसात करना, निर्बल को दबाकर अपने उपभोग में सहायक बनाना। ऐसे युद्ध मानव की विजिगीषा नहीं भोग-लिप्सा के द्योतक हैं और गर्हणीय हैं। विजिगीषा भी तभी श्लाघनीय रूप धारण करती है, जब उसके समक्ष सत के संरक्षण तथा संवर्धन का आदर्श हो। मानवमात्र का सुख उसका लक्ष्य हो। इस लक्ष्य के अभाव में उसे भी परित्याज्य समझा जायगा।

श्रीजेम्स ऐसन ने The Great Illusion (भारी भ्रम) नाम का एक अमूल्य ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने युक्तियों तथा उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि युद्ध-विजिगीषा विजेता तथा पराजित दोनों ही के लिये हानिकारक है। युद्ध से लाभ किसी को नहीं होता। पराजित तो मारा ही जाता है उसकी जन समृद्धि तथा धन-धान्य की हानि होती ही है विजयी को भी विजय बड़ी महँगी पड़ती है। उसे भी जन-धन की हानि सहन करनी पड़ती है। शक्ति इतनी अधिक क्षीण हो जाती है कि उसकी पूर्ति महर्घ साधनों द्वारा तथा दीर्घकाल में हो पाती है। जिन व्यक्तियों की सम्मति में युद्ध मनुष्यों की जनसंख्या के अतिरेक का प्राकृतिक परिणाम या उपचार है वे भूल जाते हैं कि यह मनुष्य की कृति है और बड़ी भयंकर भूल है। इससे सुख नहीं दुख उत्पन्न होता है। अतः अब हम युद्ध कला की चर्चा करते हैं, तब पाठकों को

स्मरण रखना चाहिये कि वेद जिन युद्धों का संकेत देते हैं वे मानवता के त्राण के लिये, सदाचार के संरक्षण के लिये तथा उसके विकास में सहायता देने के लिए हैं।

युद्ध हुए हैं और होंगे। न एंजिल महोदय उन्हें रोक पायें और न किसी अन्य व्यक्ति की लेखनी ही उन्हें रोकने में समर्थ है। महात्मा गांधी हिंसा के घोर विरोधी थे पर हिंसकों का सामना करने के लिये वे भी कटिबद्ध हो जाते थे। उनका अहिंसात्मक असहयोग साथ ही प्रतिरोध भी युद्ध का ही एक रूप था। दीन बनकर दबने के स्थान पर वे वीर बनकर हाथ में हथियार लेने को भी श्रेयस्कर समझते थे। असत से उन्होंने कभी समझौता करने के लिये नहीं कहा। हां वे मानव नहीं मानव के अन्दर निहित दानव के विरोधी थे। वे अंग्रेज को नहीं अप्रगतिशीलता को उसकी दुर्गुण राशि को शोषण-पद्धति को दूर करना चाहते थे। रहने को भारत का विशाल हृदय सबके लिये खुला है पर अनाचार, कदाचार परोपजीविता अथवा दुःशासन के लिये नहीं फिर वे चाहे अपनों की ओर से हों और चाहे परायों की ओर से।

भारत ने अपनों से भी युद्ध किये हैं और परायों से भी। कौरव तथा पाण्डवों का युद्ध भाई भाई के बीच का युद्ध था। महाकवि व्यास ने जय अथवा महाभारत नाम के काव्य में उसे लिखबद्ध किया है। राम और रावण का युद्ध जिसे आदिकवि वाल्मीकि ने अपने काव्य का विषय बनाया आर्य एवं अनार्य पद्धतियों के युद्ध का रूप था। आर्य संतति रामायण को उत्साह पूर्वक पढ़ती है पर महाभारत का नाम सुनते ही वह कानों पर हाथ रख लेती है। गृह-युद्ध की विभीषिका उसे सहन नहीं होती। घोर यथार्थ उसके हृदय को झकझोर देता है शोक से अभिभूत कर देता है। पर ध्यान से देखा जाय तो आदर्श की सरक्षा तो इस युद्ध का भी लक्ष्य है। यदि राम की रावण पर विजय आर्यत्व की अनार्यत्व पर जंलध्वनि है तो पाण्डवों की कौरवों पर विजय भी धर्म की अधर्म पर विजय है, सदाचार का कदाचार पर दुंदुभि-घोष है।

वेद में इन्द्र के जिन युद्धों का वर्णन है वे ऐतिहासिक युद्ध नहीं। वेद ने इन युद्धों का माया कह दिया है (माया इत् सा ते यानि युद्धानि आहु) अर्थात् इनके बहाने वह आज्ञा देता है कि सत को असत के विरोध में खड़ा होना चाहिये। इन्द्र अर्थात् प्रभु का न कोई शत्रु है न हो सकता है। इन्द्र या वरुण के व्रत अदाम्य हैं। उन्हें कोई दबा नहीं सकता। जो दबाने चलता है वह स्वयं दब जाता है। जो अपने को बाहुबल से धनबल से जनबल से अच्युत समझता है प्रभु उसे भी च्युत कर देते हैं। उनके व्रतों का उल्लंघन पाप है। पाप फिर उठाता है तो उसे कुचला भी जाता है। प्रभु पाप की नहीं पुण्य की विजय चाहते हैं। वे स्वयं पाप–पुण्य से परे हैं, पर पाप-पुण्य की अपेक्षा हमारे लिये तो है ही। पाप की पराजय और पुण्य की विजय मानों मानवता की पोषिका है। मानवता का पोषण दिव्यता के द्वार का

उद्घाटन है । सभ्य समाज इसी दिशा में आता है, इसी द्वार में प्रवेश करने का आकांक्षी है ।

अच्छा आइये इन्द्र-वृत्र युद्ध पर विचार करें । ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में वृत्र की विभीषिका वर्णित हुई है —

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥ ८-९६-७

हे इन्द्र ! देखो तो वृत्र के उच्छ्‌वास से भयभीत होकर ये सभी देव जो तुम्हारे सखा थे तुम्हें छोड़कर भाग रहे हैं । यदि मरुतों की मैत्री, सहायता तुम प्राप्त कर लो, तो वृत्र की समस्त सेना पर तुम विजय प्राप्त कर लोगे ।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह एक ऐतिहासिक युद्ध का रूप जान पड़ता है । पर जब वेद युद्ध की ऐतिहासिकता को माया कहता है तब हमें मन्त्र-गत शब्दों की आत्मा में प्रवेश करके देखना होगा कि वास्तविकता क्या है । नैरुक्तिक प्रणाली से वृत्र का इन्द्र के साथ युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों ही क्षेत्रों में घटता है । प्रथम क्षेत्र में वृत्र वारक या आच्छादक पाप वृत्ति है । यही इन्द्र अर्थात इन्द्रियों के अधिपति आत्मा को जब अभिभूत कर लेती है तो समस्त देव अर्थात दिव्य शक्तियां आत्मा को छोड़कर भाग जाती हैं । ये शक्तियां पुन लौट आती हैं यदि हमारी मरुत अर्थात प्राणों की, शक्ति प्रबल हो जाय । जैसे ही हम प्राण शक्ति के सहारे अपने मनोबल को बढ़ाते हुए सत की ओर प्रयाण करते हैं असत या पाप की प्रवृत्ति पराजित हो जाती है । पाप को पछाड़ने के लिये प्राणशक्ति की प्रबलता परमावश्यक है । प्राण आत्मा की छाया है । आत्मा के साथ रहने में ही उसकी सार्थकता है । असुर प्राण का प्रयोग या विनाश भोग में करते हैं । सुर उसका प्रयोग त्याग मय अथवा आत्मशक्ति के विवर्धन में करते हैं ।

आधिदैविक क्षेत्र में वृत्र मेघ है जो सूर्य को आच्छादित कर लेता है । इन्द्र ही सूर्य है । मरुत वायु है । वायु के सहारे सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है और मेघमय अंधकार को हटाकर प्रकाश करता है । इस प्रकार यह युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक क्षेत्रो म चलता रहता है ।

इसी प्रकार के युद्ध वर्गों एवं राष्ट्रों के मध्य भी होते हैं । इन युद्धों का उद्देश्य दुख के स्थान पर सुख और अंधकार के स्थान पर प्रकाश होना चाहिये । यदि मानव इस उपलब्धि से वंचित रहता है तो युद्ध निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है । जैसा हम लिख चुके हैं वेद में युद्धों का रूप इसी उपलब्धि का ज्ञापक है ।

ऋ १-५१-८ में आर्य तथा दस्यु का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है —
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् । आर्य बर्हिष्मान है याजक है व्रती है मर्यादा

का घातक है। इसकी रक्षा के लिये आवश्यक है कि अवती दस्युओं को शासन में, नियन्त्रण में रखा जाय और न रहें तो उन्हें दण्डित किया जाय। इससे भी वश में न रहें तो उनका विनाश किया जाय। अवती चुप बैठकर आपके शासन या दण्ड को स्वीकार कर लेगा यह उसकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। वह प्रतिरोध करेगा अकेले भी और अपने समानधर्मा दस्युओं का संगठन करके भी। संभव है कुछ भले आदमी भी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर उसका साथ देने लगें। ऐसी दशा में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है।

युद्ध नाना क्लेशों तथा आपदाओं का जनक है। यह आवश्यक नहीं कि सर्वदा भले आदमी ही जीतें। असुर अपने भौतिक बल द्वारा अनेक बार देवों पर विजयी हुये थे पर अन्त में विजय सत्य या देवत्व की ही होती है इसमें सन्देह नहीं। इसके लिये देवों मर्यादा पालकों आर्यों को भी संगठन करना पड़ता है और ऐसा शासक चुनना पड़ता है जो आर्य हो और जो देश में सदाचार की स्थापना कर सकता हो। वेद में संगठन की महत्ता प्रदर्शित करने वाले– समेत विश्वे वचसा पतिं दिव संगच्छध्वं संवदध्वं संजानाना अभिभूयुवी आदि अनेक मंत्र हैं। राजा का चुनाव भी सावधानी से करना चाहिये। राजा ऐसा हो जो प्रजा को अपना समझे। अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तम अथर्व १–९–२ राजा अभी वर्ग अथवा कुलीन आभिजात्य वर्ग में उत्तम तो होता ही है, वह राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्थापित करता है। जब राजा इस प्रकार का व्यवहार करेगा तो प्रजा जन भी उससे समान आचरण करेंगे वे भी राष्ट्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ अपनेपन का सम्बन्ध जोड़ेंगे राष्ट्र में कोई पराया जन कर नहीं रहेगा। राष्ट्र का हित और अहित उनका अपना हित और अहित होगा।

प्रजा विविधरूपा होती है। बहुधा विरूपा सर्वा (अथर्व १–४–७) यह सभी प्रकार की प्रजा समस्त एकत्र होकर राष्ट्र का का निर्माण करती है। विशि है क्षेम अधीयताम् (अथर्व १– –२) राष्ट्र और राजा का क्षेम इसी विविध रूपा प्रजा में निहित है। विशि राजा प्रतिष्ठित (यजु० २ –९) प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित है। अथर्व १–१–१ के अनुसार राष्ट्र को स्वयं आत्मरक्षा में समर्थ होना चाहिये। जो राष्ट्र अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं करते विलास और प्रमाद में डूबे रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ अथर्व १–४–२

प्रजा राजा का वरण करती है, उसे चुनती है। पंच जन पांच प्रकार की जनता ग्रामी वसी वनी धनी तथा अधन्य वनस्थ वर्ग का चुना हुआ राजा राष्ट्र

उद्घाटन है। सभ्य समाज इसी दिशा में जाता है इसी द्वार में प्रवेश करने का आकांक्षी है।

अच्छा आइये इन्द्र-वृत्र युद्ध पर विचार करें। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में वृत्र की विभीषिका वर्णित हुई है —

वृत्रस्य त्वा श्वसथा दीयमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।

मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥ ८–९६–७

हे इन्द्र! देखो तो वृत्र के उच्छ्वास से भयभीत होकर ये सभी देव जो तुम्हारे सखा थे, तुम्हें छोड़कर भाग रहे हैं। यदि मरुतों की मैत्री, सहायता तुम प्राप्त कर लो तो वृत्र की समस्त सेना पर तुम विजय प्राप्त कर लोगे।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह एक ऐतिहासिक युद्ध का रूप जान पड़ता है। पर जब वेद युद्ध की ऐतिहासिकता को माना कहता है तब हमें मंत्र–गत शब्दों की आत्मा में प्रवेश करके देखना होगा कि वास्तविकता क्या है। नैरुक्तिक प्रणाली में वृत्र का इन्द्र के साथ युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों ही क्षेत्रों में घटता है। प्रथम क्षेत्र में वृत्र वारक या आच्छादक पाप वृत्ति है। यही इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के अधिपति आत्मा को जब अभिभूत कर लेती है तो समस्त देव अर्थात् दिव्य शक्तियां आत्मा को छोड़कर भाग जाती हैं। ये शक्तियां पुन लौट आती हैं यदि हमारी मरुत् अर्थात् प्राणों की, शक्ति प्रबल हो जाय। जैसे ही हम प्राण शक्ति के सहारे अपने मनोबल को बढ़ाते हुए सत की ओर प्रयाण करते हैं, असत या पाप की प्रवृत्ति पराजित हो जाती है। पाप को पछाड़ने के लिये प्राणशक्ति की प्रबलता परमावश्यक है। प्राण आत्मा की छाया है। आत्मा के साथ रहने में ही उसकी सार्थकता है। असुर प्राण का प्रयोग या विनाश भोग में करते हैं। सुर उसका प्रयोग त्याग यज्ञ अथवा आत्मशक्ति के विवर्धन में करते हैं।

आधिदैविक क्षेत्र में वृत्र मेघ है जो सूर्य को आच्छादित कर लेता है। इन्द्र ही सूर्य है। मरुत् वायु है। वायु के सहारे सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है और मेघजन्य अंधकार को हटाकर प्रकाश करता है। इस प्रकार यह युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक क्षेत्रों में चलता रहता है।

इसी प्रकार के युद्ध वर्गों एवं राष्ट्रों के मध्य भी होते हैं। इन युद्धों का उद्देश्य दुख के स्थान पर सुख और अंधकार के स्थान पर प्रकाश होना चाहिये। यदि मानव इस उपलब्धि से वंचित रहता है तो युद्ध निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है। जैसा हम लिख चुके हैं वेद में युद्धों का रूप इसी उपलब्धि का ज्ञापक है।

ऋ १–५१–८ मे आर्य तथा दस्यु का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है — 'बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। आर्य बर्हिष्मान है याजक है व्रती है मर्यादा

का पालक है। इसकी रक्षा के लिये आवश्यक है कि अव्रती दस्युओं को शासन में, नियंत्रण में रखा जाय और न रहें तो उन्हें वर्जित किया जाय। इससे भी वश में न रहें तो उनका विनाश किया जाय। अव्रती चुप बैठकर आपके शासन या दण्ड को स्वीकार कर लेगा यह उसकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। वह प्रतिरोध करेगा अकेले भी और अपने समानधर्मा दस्युओं का संगठन करके भी। सम्भव है कुछ भले आदमी भी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर उसका साथ देने लगें। ऐसी दशा में युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है।

युद्ध नाना क्लेशों तथा आपदाओं का जनक है। यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र भले आदमी ही जीतें। असुर अपने भौतिक बल द्वारा अनेक बार देवों पर विजयी हुये थे पर अन्त में विजय सत्य या देवत्व की ही होती है, इसमें सन्देह नहीं। इसके लिये वेदों मर्यादा पालकों आर्यों को भी संगठन करना पड़ता है और ऐसा शासक चुनना पड़ता है जो आर्य हो और जो देश में सदाचार की स्थापना कर सकता हो। वेद में संगठन की महत्ता प्रदर्शित करने वाले– समेत विश्वे वचसा पति दिव' संगच्छध्वं सवदध्वं संज्ञानमाना अभिसृष्टुपी आदि अनेक मन्त्र हैं। राजा का चुनाव भी सावधानी से करना चाहिये। राजा ऐसा हो जो प्रजा को अपना समझे। अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तम' अथर्व ३–५–२ राजा अभी वर्ग अथवा कुलीन आभिजात्य वर्ग में उत्तम तो होता ही है वह राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्थापित करता है। जब राजा इस प्रकार का व्यवहार करेगा, तो प्रजा जन भी उसके समान आचरण करेंगे वे भी राष्ट्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ अपनेपन का सम्बन्ध जोड़ेंगे, राष्ट्र में कोई पराया बन कर नहीं रहेगा। राष्ट्र का हित और अहित उनका अपना हित और अहित होगा।

प्रजा विविधरूपा होती है। बहुधा विरूपा सती (अथर्व १–४–७) यह सभी प्रकार की प्रजा संगम्य एकत्र होकर राष्ट्र का का निर्माण करती है। विशि ते क्षेम अधीवरन् (अथर्व ३–३–५) राष्ट्र और राजा का क्षेम इसी विविध रूपा प्रजा में निहित है। विशि राजा प्रतिष्ठित' (यजु० २०–९) प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित है। अथर्व १–३–१ के अनुसार राष्ट्र को स्वपा' आत्मरक्षा में समर्थ होना चाहिये। जो राष्ट्र अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं करते विलास और प्रमाद में डूबे रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिश पंच देवी ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ अथर्व १–४–२

प्रजा राजा का वरण करती है, उसे चुनती है। पंच जन पांच प्रकार की जनता ज्ञानी बली धनी श्रमी तथा असम्य वनस्थ वर्ग का चुना हुआ राजा राष्ट्र

के उच्चासन पर विराजमान होता है। वह उग्र तेजस्वी तथा वीर होता है। राजा के पास धन तो आता ही है पर वह उसे प्रजा का ही धन समझता है और प्रजा के हितकारी कामों में ही उसे लगाता रहता है। इस प्रकार प्रजा का धन प्रजा में ही विभक्त हो जाता है प्रजा के ही पास पहुंच जाता है।

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।

सत्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत स उ कल्पयाद्विशः। अथर्व ३-४-६

हे इन्द्र के इन्द्र! प्रजाओं के सम्राट! मनुष्यों के समान भ्रमण करो वरणीय विद्वानों तथा श्रेष्ठजनों से मिलकर सब बातों को समझो प्रजा की आवश्यकताओं को जानो। ऐसा करने पर ही राजा प्रजा के लिये आह्वनीय बनता है दिव्यता की आराधना करता है और प्रजा को समर्थ बनाता है। वह उपसद्य नमस्य यहां वन्दनीय तथा निकट आने योग्य बनता है। प्रजा उसे चाहती है और वह सच्चे अर्थों में नृपति होता है।

शतपथ ब्राह्मण में प्रजा को चेतावनी दी गयी है कि वह राजा को निरंकुश न होने दे। प्रभुता पाकर मद आ जाता है और मद से मनुष्य निरंकुश क्या सब कुछ हो सकता है। शासक यदि आर्य भावापन्न न हुआ तो वह अनार्य तत्वों को पकाया गया। शतपथ के शब्दों में ऐसे शासक राष्ट्र मैव विषय माहुन्ति और 'तस्माद् राष्ट्री विशम् घातुक' राष्ट्र में प्रवेश कर प्रजा की हत्या करते हैं। वे प्रजा को कर भार से दबाकर तथा विविध प्रकार के अत्याचारों द्वारा त्रस्त भयभीत एवं दुखी बनाकर घातक का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वन में व्याघ्रादि निर्बल पशुओं को खा जाते हैं वैसे ही ये राजा प्रजा के भक्षक बन जाते हैं। अतः प्रजा को सचेत रहकर शासन पर नियन्त्रण रखना चाहिये। शतपथ के इसी ११ वें काण्ड में राजा के सद्गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

शतपथ ५ ३ १ में ग्यारह रत्नियों के नाम दिये गये हैं। इनमें सेनानी, पुरोहित राजा रानी सूत ग्रामणी क्षत्ता संग्रहीता भागदुह अक्षावाप और गोविकर्ता की गणना की गई है। सूत परवर्ती काल के पौराणिक या वंश विवरण रखने वाले हैं। ग्रामणी क्षेत्रपति प्रतीत होता है। क्षत्ता रथकार या बढ़ई है। संग्रहीता संग्रह करने वाला कोषाध्यक्ष है। भागदुह कर वसूल करने वाले हैं। अक्षावाप द्यूत मद्यादि पर नियंत्रण रखने वाले हैं और गोविकर्ता वन्य सम्पत्ति की देखभाल करने वाले हैं।

अथर्व ३ ५-७ के अनुसार ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये 'राजा के निर्माण करने वालों में सूत तथा ग्रामणी आते हैं। मंत्र ६ में धीवान रथकार कर्मार तथा मनीषी का नाम भी लिया गया है। धीवान और मनीषी विशेषण भी हो सकते हैं। मंत्र २ में अभीवर्ग अर्थात अभिजात कुल वालों का उल्लेख है। मंत्र १

में वनस्पति विभाग तथा मंत्र ४ में सोम इन्द्र और वरुण देवताओं के नाम आये हैं। संभवत इन्हीं का उपबृंहण शतपथकार ने कर दिया है।

यजुर्वेद ९–४० तथा १०–१८ में 'महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय' शब्द आते हैं जो जनराज्य या प्रजातंत्र की सूचना देते हैं। यजुर्वेद १०–११ में वैराज्य शब्द भी आता है जिसका अर्थ है विशेष रूप में चमकने वाला या राजा से विहीन। कौटलीय अर्थशास्त्र में वैराज्य की निन्दा की गई है, क्योंकि वहां राजा के अभाव में सब अपनी मनमानी करने लगते हैं। यजु० १४–१३ में राज शक्ति को राज्ञी विराट् सम्राट स्वराट तथा अधिपत्नी कहा गया है और अध्याय १५ के मंत्र १० से १४ तक इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इनमें विराट वैराज्य का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण कार ने वैराज्य पद्धति को परेण हिमवन्तम् हिमवान के परे जो देश है उनमें प्रचलित माना है। यजुर्वेद ५–२४ में स्वराट सम्राट जनराट् तथा सर्वराट् १०–१७ में साम्राज्य और काठ० १४–१ में स्वाराज्य शब्द आये है। ऐतरेय ब्राह्मण ८–१२–४–५ में राज्य साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य और माहाराज्य नाम आये हैं जो विभिन्न राज्य प्रणालियों के द्योतक हैं।

सामान्यत: त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि ऋ० ३–३८–६ राजा तीन संस्थायें राज्य के कार्य भार को चलाने के लिये बनाता है। सर्व प्रथम उसे देश के आन्तरिक उपद्रवों के शमनार्थ तथा बाह्य आक्रमणों से बचने के लिये प्रतिरक्षा विभाग की आवश्यकता होती है। इसके लिये उसे सेना रखनी पड़ती है। द्वितीय विभाग न्याय का है। इसके भी दो उपविभाग हैं। एक में विवादों का निर्णय करना और दोषी को दोषी तथा पवित्र को पवित्र सिद्ध करना रहता है द्वितीय में उसका कार्यान्वयन। इसके लिये उसे न्यायाधीश तथा रक्षक वर्ग की व्यवस्था करनी पड़ती है। तीसरा विभाग प्रजा की शिक्षा तथा अर्थ व्यवस्था से सम्बद्ध रखता है। इसके लिये शिक्षा–यातायात–कर–कृषि–उद्योगधन्धे–क्रयादि के विकास के लिये और देश को समृद्ध बनाने के लिये एक संस्था की आवश्यकता होती है। अथर्ववेद काण्ड १५ में सं सभाच समितिश्च सेना च' शब्दों द्वारा इन्हीं तीन संस्थाओं का निर्देश किया गया है।

युद्ध कला का सम्बन्ध सेना के साथ है। अथर्व वेद काण्ड ३ के प्रथम दो सूक्त तथा सामवेद का अन्तिम अध्याय या ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १०३ और अथर्व० ११–११ में भी है युद्ध के चार पक्षों पर प्रकाश डालते हैं सैनिक एवं सेनापति के गुण सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना, शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय तथा विश्वास घातियों से बचना।

के उच्चासन पर विराजमान होता है। वह उग्र तेजस्वी तथा वीर होता है। राजा के पास धन तो आता ही है पर वह उसे प्रजा का ही धन समझता है और प्रजा के हितकारी कार्यों में ही उसे लगाता रहता है। इस प्रकार प्रजा का धन प्रजा में ही विभक्त हो जाता है, प्रजा के ही पास पहुँच जाता है।

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद्विशः । अथर्व ३-४-६

हे इन्द्र के इन्द्र! प्रजाओं के सम्राट! मनुष्यों के समान भ्रमण करो वरणीय विद्वानों तथा श्रेष्ठजनों से मिलकर सब बातों को समझो प्रजा की आवश्यकताओं को जानो। ऐसा करने पर ही राजा प्रजा के लिये आह्वनीय बनता है दिव्यता की आराधना करता है और प्रजा को समर्थ बनाता है। वह 'उपसद्य नमस्य' यहाँ वन्दनीय तथा निकट जाने योग्य बनता है। प्रजा उसे चाहती है और वह सच्चे अर्थों में नृपति होता है।

शतपथ ब्राह्मण में प्रजा को चेतावनी दी गयी है कि वह राजा को निरंकुश न होने दे। प्रभुता पाकर मद आ जाता है और मद में मनुष्य निरंकुश क्या सब कुछ हो सकता है। शासक यदि आर्य भावापन्न न हुआ तो वह अनार्य तत्वों को बढ़ावा देगा। शतपथ के शब्दों में ऐसे शासक राष्ट्र्मेव विश्य माहन्ति और तस्माद् राष्ट्री विशाम् घातुक राष्ट्र में प्रवेश कर प्रजा की हत्या करते हैं। वे प्रजा को कर भार से दबाकर तथा विविध प्रकार के अत्याचारों द्वारा त्रस्त भयभीत एवं दुखी बनाकर घातक का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वन में व्याघ्रादि निर्बल पशुओं को खा जाते हैं वैसे ही ये राजा प्रजा के भक्षक बन जाते हैं। अतः प्रजा को सचेत रहकर शासन पर नियन्त्रण रखना चाहिये। शतपथ के इसी ११ वें काण्ड में राजा के सद्गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

शतपथ ५ ३ १ में ग्यारह रत्नियों के नाम दिये गये हैं। इनमें सेनानी पुरोहित राजा रानी सूत ग्रामणी क्षत्ता संग्रहीता भागदुह अक्षावाप और गोविकर्ता की गणना की गई है। सूत परवर्ती काल के पौराणिक या वंश विवरण रखने वाले हैं। ग्रामणी क्षेत्रपति प्रतीत होता है। क्षत्ता रथकार या बढ़ई है। संग्रहीता संग्रह करने वाला कोषाध्यक्ष है। भागदुह कर वसूल करने वाले हैं। अक्षावाप द्यूत मद्यादि पर नियंत्रण रखने वाले हैं और गोविकर्ता वन्य सम्पत्ति की देखभाल करने वाले हैं।

अथर्व ३ ५-७ के अनुसार 'ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये 'राजा के निर्माण करने वालों में सूत तथा ग्रामणी आते हैं। मंत्र ६ में धीवान रथकार कर्मार तथा मनीषी का नाम भी लिया गया है। धीवान और मनीषी विशेषण भी हो सकते हैं। मंत्र २ में अभीवर्म अर्थात अभिजात कुल वालों का उल्लेख है। मंत्र १

तथा रक्षोहा=राक्षसों का हनन करने वाले हैं। वे गोत्रभिद=शत्रु व्यूह का भेदन करने वाले वज्रबाहु=वज्र के समान कठोर भुजाओं वाले गोविद=संयमी, इन्द्रियजयी तथा पृथ्वी के विजेता कहे गये हैं। इन वीरों के विशेषण हैं अदय=दयारहित निर्मम और शतमन्यु=अनेक प्रकार से क्रोध धारण करने वाले। ये वीर रथ पर बैठकर युद्ध करते हैं पदाति भी होते हैं सेनापति की आज्ञा का अनुसरण करते हैं और अपने ओज द्वारा शत्रु का पराभव करते हैं।

ग सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना

इन्द्र आसां नेता बृहस्पति दक्षिणा यज्ञ पुर एतु सोमः ।
देव सेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु अग्रम् ॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ २ ॥

जिन सैनिकों का ऊपर वर्णन हुआ है उनका नेता इन्द्र है। ये सैनिक अपने सेनापति, अपने नेता की आज्ञा के अनुसार चलने वाले हैं। ये मरुद्गण-अर्थात् सैनिक वीर वायु के समान तीव्रगति से आक्रमण करते हैं। व्यूह-रचना में सेनापति आगे है पीछे सेना है। दक्षिण की ओर बृहस्पति मंत्रणा प्रदान करने वाला ज्ञानी पुरोहित जो युद्ध का उद्देश्य युद्ध नहीं अपितु यज्ञ है ऐसा समझता है और पुरः=सामने यज्ञ=पूज्य सोम=प्रेरक सोम है। सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा=ब्राह्मणों में विशिष्ट रूप से चमकने वाला विराजमान होने वाला ओजस्विनी वाणी से योद्धाओं के हृदय में उत्साह का संचार करने वाला भाव-धनी कवि आगे है। इस प्रकार व्यूह-बद्ध देवों की यह सेना शत्रुसेना को भग्न करती हुई तथा स्वयं विजयशालिनी बनी हुई आगे बढ़ती है। इन बलवान वरणीय तेजस्वी अपराजित अखण्डित वीरों का पराक्रम उग्र होता है। ये समस्त भूमण्डल को अपने वश में करने की शक्ति रखते हैं और दस्युओं का दमन करके आर्यों के चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करते हैं। इन जयशील वीरों का जयघोष सर्व भुवनों में व्याप्त हो जाता है।

विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनूरुज ।
विमन्यु मिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्या भिदासत ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
योऽस्मान् अभिदासति अधरं गमया तम ॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानौ अनाधृष्यौ सुप्रतीकौ असह्यौ ।
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहोमहत् ॥ ७

आर्यों के युद्ध ऐसे मनुष्यों वर्गों और जातियों के प्रति होते हैं जो राक्षस हैं, दूसरों के द्रव्य, सम्पदा अथवा स्वत्व का हरण तथा शोषण करने वाले हैं, जो हिंसक हैं लोभी हैं घेरा डालकर सत्पुरुषों के मार्ग में विघ्न डालने वाले हैं आततायी हैं धार्मिक एवं न्याय-परायण पुरुषों को दास बनाने के आकांक्षी हैं और नीच हैं। नीच

ख सैनिक एवं सेनापति के गुण

> आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
> संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः
> संक्रन्दनेन अनिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
> तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ।

यहाँ इन्द्र शब्द सेनापति के लिये प्रयुक्त हुआ है । इन्द्र का अर्थ है ऐश्वर्यवान तथा इन्द्रिय-शक्ति से सम्पन्न । जैसे व्यष्टि में इन्द्रियों की शक्ति से युक्त इन्द्र आत्मा है वैसे ही सेना में सैनिकों की शक्ति से युक्त सेनापति है । सैनिकों के अभाव में सेनापति शब्द सार्थक ही नहीं होता । दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं ।

सेनापति को मन्त्र के अनुसार आशु अर्थात शीघ्रगामी होना चाहिये । जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता हो वहाँ वह शीघ्र पहुँचानी चाहिये और सेनापति को स्वयं मांग के अनुकूल उपस्थित होना चाहिये । यदि सेनापति में यह गुण नहीं है, तो वह प्रमादवश अपनी सेना का ही शत्रु सेना द्वारा संहार करा डालेगा । अनेक अवसर ऐसे आ जाते हैं जब थोड़ा सा भी विलम्ब अल्पमात्रा की भी असावधानी देश के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है । अतः सेनापति को सदैव सावधान जागरूक, वेगवान और प्रत्युत्पन्नमति वाला होना चाहिये । अनिमिष का अर्थ ही है जागरूक रहना पलक बन्द न करना । आलस्य और प्रमाद में पड़ने वाला व्यक्ति सेनापति नहीं हो सकता ।

शिशान का अर्थ है तीक्ष्ण । मृदुल एवं कोमल स्वभाव वाला व्यक्ति युद्ध के योग्य नहीं है । युद्ध मे अपने प्राणो को हथेली पर रखकर जाना पड़ता है । तीक्ष्णता कठोरता वज्रहृदय होना पौरुष-सम्पन्न सेनापति का विशेष गुण है । सेनापति को वृषभ के समान शक्तिशाली तथा भयंकर होना चाहिये । वह समरांगण में घनाघन अर्थात चोट पर चोट करने वाला हो जिससे शत्रु-सेना मे क्षोभ तथा भय उत्पन्न हो । उसका संक्रन्दन उसकी ललकार और तेज आवाज शत्रुओं के छक्के छुड़ा दे । ऐसा जयशील युद्ध करने वाला अच्युत और धर्मशील सेनापति अपने सैनिकों की सहायता से शत्रुओं की असंख्य सेना का भी विध्वंस कर सकता है ।

आगामी मन्त्र में उसे [illegible] कहा गया है । आजकल का युद्ध-कौशल सेनापति को पीछे और सैनिकों को आगे रखने में माना जाता है पर आर्यों की रणनीति में सेनापति सबसे आगे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर चलता है और अपने सैनिकों के लिए उत्साहवर्धक आदर्श उपस्थित करता है ।

सैनिकों के लिये इस सूक्त में गण वीर तथा मरुत शब्दों का प्रयोग किया गया है । सेनापति के गुण सैनिकों में भी होने चाहिये । वे गण हैं अर्थात समूह और व्यूह में बद्ध होकर शत्रुसेना का सामुख्य करते हैं । वे वीर हैं सामर्थ्य से सम्पन्न एवं पराक्रम से युक्त हैं । वे मरुत अर्थात शत्रुओं को रुलाने और मारनेवाले हैं । सेना-

तथा रक्षोहा=राक्षसों का हनन करने वाले हैं। वे गोत्रभिद=शत्रु व्यूह का भेदन करने वाले वज्रबाहु=वज्र के समान कठोर भुजाओं वाले गोविद=संयमी इन्द्रियजयी तथा पृथ्वी के विजेता कहे गये हैं। इन वीरों के विशेषण हैं अवमत्स्=समारहित, निर्मम और शतमन्यु=अनेक प्रकार से क्रोध धारण करने वाले। ये वीर रथ पर बैठकर युद्ध करते हैं पदाति भी होते हैं सेनापति की आज्ञा का अनुसरण करते हैं और अपने ओज द्वारा शत्रु का पराभव करते हैं।

ग सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना

इन्द्र आसां नेता बृहस्पति र्दक्षिणा यज्ञ पुर एतु सोमः।
देव सेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु अग्रम्॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्द्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ २॥

जिन सैनिकों का ऊपर वर्णन हुआ है उनका नेता इन्द्र है। ये सैनिक अपने सेनापति, अपने नेता की आज्ञा के अनुसार चलने वाले हैं। ये मरुद्गण-अर्थात सैनिक वीर वायु के समान तीव्रगति से आक्रमण करते हैं। व्यूह रचना में सेनापति आगे हैं, पीछे सेना है। दक्षिण की ओर बृहस्पति, मंत्रणा प्रदान करने वाला ज्ञानी पुरोहित, जो युद्ध का उद्देश्य युद्ध नहीं अपितु यज्ञ है ऐसा समझता है और पुरः=सामने यज्ञ=पूज्य सोम=प्रेरक सोम है। सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा=ब्राह्मणों में विशिष्ट रूप से चमकने वाला विराजमान होने वाला ओजस्विनी वाणी से योद्धाओं के हृदय में उत्साह का संचार करने वाला भाव-धनी कवि आगे है। इस प्रकार व्यूह-बद्ध देवों की यह सेना शत्रुसेना को भग्न करती हुई तथा स्वयं विजयशालिनी बनी हुई आगे बढ़ती है। इन बलवान अदम्य तेजस्वी अपराजित अलंकृत वीरों का पराक्रम उग्र होता है। वे समस्त भूमण्डल को अपने वश में करने की शक्ति रखते हैं और दस्युओं का दमन करके आर्यों के चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करते हैं। इन जयशील वीरों का जयघोष सर्व भुवनों में व्याप्त हो जाता है।

विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनूरुज।
विमन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ।
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहोमहत्॥ ७

आर्यों के युद्ध ऐसे मनुष्यों वर्गों और जातियों के प्रति होते हैं जो राक्षस हैं, दूसरों के द्रव्य सम्पदा अथवा स्वत्व का हरण तथा शोषण करने वाले हैं, जो हिंसक हैं क्रोधी हैं धरा डालकर सत्पुरुषों के मार्ग में विघ्न डालने वाले हैं आततायी हैं धार्मिक एवं न्याय-परायण पुरुषों को दास बनाने के आकांक्षी हैं और नीच हैं। नीच शब्द में जो घृणा छिपी पड़ी है, वह इन दुरात्माओं के लिये सभी आर्य एवं सदाचारी

पुरुषों के हृदय से प्रकट होती रहती है।

मन्त्र में कहा गया है कि ऐसे हिंसकों राक्षसों बर्बरों एवं आततायियों को कुचल देना चाहिये उन्हें मीच गिरा देना चाहिये। इन दुष्ट असुरों के बल की बड़ी से बड़ी शक्ति को नष्ट करने के लिये आर्यों की भुजायें धृषाणो=तरुण रक्त से ओत प्रोत, बलवान, स्थविरी=मजबूत प्रौढ़, अनाधृष्यो=कभी न दबने वाली असह्यौ=शत्रु के लिये असह्य तथा योग आशान प्रथमो=अवसर आ जाने पर सर्व प्रथम उठने वाली राक्षसों पर आक्रमण करने वाली होनी चाहिये।

आगे के मंत्र में कहा गया है-जयन्तं त्वा अनु देवा मदन्तु-अर्थात बर्बर राक्षसों पर जब आर्यों की सेना विजय प्राप्त करती है तो देवता=दिव्यगुणधारी प्राणी प्रसन्न होते हैं। आर्यों के युद्ध विश्व में दिव्य गुणों के प्रसार के लिए ही होने चाहिये। जिस हिंसा से संसार में सात्विक वृत्ति वाले देवों और सज्जनों की रक्षा तथा प्रसन्नता सम्पादित हो वह हिंसा मुक्त स्वर से श्लाघनीय है। कौन अधम ऐसी हिंसा का तिरस्कार करेगा? और जो अहिंसा शत्रु पक्ष के साहस एवं पराक्रम को बढ़ाने वाली सिद्ध हो जिससे अपना बल हीन तथा नीच बर्बरों का बल उत्तरोत्तर उग्र से उग्र होता जाय, उसे कौन मूर्ख प्रशंसा की दृष्टि से देखेगा और अपनावेगा?

घ शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय

उद्धर्षय मघवन् आयुधानि उत सत्वनां मामकानां मनांसि।
उत् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनानि उत् रथानां जयतां यन्तु घोषाः।
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु अस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु अस्मां उ देवा अवता हवेषु॥
असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथा एतेषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ४

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अपने बल पर विश्वास करने की आवश्यकता है। हमारे हाथों में हथियार हों हमारे मन उत्साह की लहरों और हर्ष की धाराओं से ओत प्रोत हों हमारे अश्वारोहियों के अश्व ऊपर सिर किये नियत गति से चल रहे हों और हमारे रथियों के जयघोष दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रहे हों। इस प्रकार यदि हमारी मनोवृत्ति बाह्यवातावरण के साथ एक हो रही हो तो हमारे बाण निस्संदेह शत्रु को विद्ध करेंगे और हमारी ध्वजा समरांगण में विजय की प्रतीक बनी हुई फहरायगी। हमारे वीर सैनिक शत्रु सेना पर टूटते ही उसे ध्वस्त कर देंगे क्योंकि दिव्य शक्तियों का रक्षक वरद हस्त उनके सिर पर होगा।

और यदि शत्रु-दल अपने बल से अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है उसकी सेना हमारी सेना से स्पर्धा करती हुई हमारी ओर बढ़ती चली आ रही है तो वेद कहता कि पहले तो ऐसा कोप करो जो शत्रुपक्ष को भयभीत कर दे फिर ऐसे उपायों का अवलम्बन करो जिससे शत्रु सेना में अन्धकार फैल जाय उसके सैनिकों के दिमाग और मन किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जायें, अथवा ऐसी गैस छोड़ो जिसका विष फैलकर शत्रु

सेना को मूर्छित कर दे और तमसाच्छादित वातावरण में शत्रुओं के सैनिक एक दूसरे को पहिचान ही न सकें ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाण अंगान्यप्वे परेहि ।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥१२॥

इस मंत्र में किसी ऐसी व्याधि को शत्रुदल में फैला देने की योजना अंकित है जो शत्रुओं के चित्त को विमोहित करती हुई उनके अंगों को जकड़ दे और शरीरों का नाश कर दे । कोई ऐसी युक्ति की जाय जिससे शत्रुओं के हृदय शोक की अग्नि से जल उठें और प्रगाढ़ अंधकार अथवा मोह से युक्त हो जावें । यदि हमारे हृदयों में उत्साह बना रहा और शत्रुओं के हृदय व्यामोह से आवृत हो गये तो हमारी विजय निश्चित है । मंत्रगत अप्वे शब्द का अर्थ रोग या व्याधि है ।

ऊपर जो मंत्र उद्धृत किये गये हैं उनमें से कुछ अथर्व काण्ड ३ सूक्त २ में भी आये हैं । केवल कतिपय शब्दों का अन्तर है । भाव ज्यों का त्यों विद्यमान है । अन्य विचार भी इस काण्ड के सूक्त संख्या १ तथा २ में वर्तमान हैं । यथा–

अग्ने वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय । अथर्व ३।१।५ + ३।२।३

अग्नि तथा वायु की गति द्वारा शत्रुओं का नाश करो । ये शब्द महाभारत कालीन आग्नेयास्त्र तथा वायव्यास्त्र का स्मरण कराते हैं—

तां विध्यत तमसा अपव्रतेन । अथर्व ३ २ ६ अथवा तां गूहत तमसा अपव्रतेन । यजु० १७-४७ ।

शत्रु की उस सेना को व्रतविहीन कर देने वाले अंधकार से बींध दो ।

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य । ३ २ ५ अथर्व

शत्रुओं को अंधकार फैलाने वाले अस्त्रों से विद्ध कर दो ।

अग्निः शत्रू वि बाधताम् । अथर्व ३ १ ६

आग्नेयास्त्र का ऐसा प्रभाव हो कि शत्रु की आँखें उसे सहन न कर सकें और नष्ट हो जावें । उनकी दृष्टि-शक्ति जाती रहे ।

नीचे लिखे मंत्र स्वपक्ष का उत्साह-वर्धन करने वाले हैं—

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवो नाधृष्या यथासथ ॥
अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्म संशिते ।
गच्छ अमित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां क च नोच्छिषः ॥

हे सैनिको ! आगे बढ़ो और विजय प्राप्त करो । परमेश्वर तुम्हें सुख और अभ्युदय दे । तुम्हारी भुजायें उग्र और बलवान हों जिससे तुम किसी के द्वारा पराभूत न हो सको ।

हे बाण । मंत्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये तुम छोड़े जाकर दूर शत्रुओं तक पहुँचो और उनमें से किसी को भी शेष मत रहने दो ।

कंकाः सुपर्णा अनुयन्तु एनान् गृध्राणामन्नं असौ अस्तु सेना ।
मयां मोचि अघहारश्च नेन्द्र वयांसि एनान् अनुसंयन्तु सर्वान् ॥ ६

शत्रु सेना के ऊपर गृध्र चीलें और अन्य मांस भक्षी पक्षी टूट पड़ें। शत्रुदल उनका भोज्य अन्न बन जावे। कोई भी पापी न बच सके। पक्षी इन सबको खा जावें।

सेनापति को सम्बोधन करते हुये कहा गया है—

प्रेहि अभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनोवृत्रं जया अप अर्चन्ननुस्वराज्यम् ।ऋ० १-८० ३

हे इन्द्र ! तू इन्द्रिय रूप सैनिकों का स्वामी है। जिस वृत्र ने तेरे राज्य के चारों ओर घेरा डाल रखा है उसे मार। तू बढ़ सामना कर और शत्रु का धर्षण कर। तेरे वज्र को कोई नहीं रोक सकता। तेरा बल सबको झुका देने वाला है। वृत्र का वध करके अपने राज्य और प्रजा को विजय प्रदान कर। स्वराज्य की अर्चना तेरा प्रमुख कर्तव्य है।

निम्नांकित मंत्र में युद्ध की एक और दिशा का संकेत पाया जाता है। कभी कभी ऐसा होता है कि शत्रु पक्ष विलक्षण अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर सदाचार पक्ष को दबा लेता है। उस समय परिस्थिति को देखते हुये जीवन तथा सत्व की सुरक्षा के लिये शत्रु की दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है पर्वत आदि सुरक्षित स्थानों का आश्रय लेना पड़ता है और येन केन प्रकारेण शत्रु से प्रतिशोध लेने का संयोग ढूंढना पड़ता है। प्रतीक्षा में समय तो जाता है पर प्रति+ईक्षण=पिछली त्रुटियों पर दृष्टि डालना उन्हें सुधारना और प्रति अर्थात शत्रु के बलाबल पर ध्यान रखते हुये अपने बल को बढ़ाना भी इस प्रतीक्षा में सिद्ध हो जाता है। वेद कहता है—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ९

जैसे पर्वतों में विचरण करने वाला कुत्सित अन्न का भी सेवन करके जीवन धारण करने वाला भयंकर पशु दूर से आकर अपनी शिकार पर टूट पड़ता है वैसे ही परिस्थिति-वश यदि हमें पर्वतों का आश्रय लेना पड़े कुत्सित अन्न का भी सेवन करना पड़े तो भी सब कुछ सहन करते हुए अनुकूल अवसर पाते ही हमें अपने प्रसरण-शील तीक्ष्ण एवं प्रखर वज्र के साथ शत्रुओं पर टूट पड़ना चाहिये और आर्य संस्कृति का विध्वंस करने वाले नारकीय अत्याचारियों को नष्ट कर देना चाहिये। मुगलों की प्रचण्ड सेना का सामना न कर सकने के कारण महाराणा प्रताप छत्रपति शिवा जी और छत्रसाल ने इसी नीति का अनुसरण किया था। इसी छापामार घुरीना युद्ध नीति के प्रयोग द्वारा वे मुगलों की महती सेना

पर विजय प्राप्त कर सके थे। मकवर और अकबर के दूत महाराणा को गिरिचर, बनचर और तृणचर कह कर निन्दित कर रहे थे परन्तु इस निन्दा की अवहेलना करते हुये महाराणा ने अपना साहस न छोड़ा और स्वाधीन रहने के व्रत को न तोड़ा। वे तृणचर रहकर भी अकबर के अनुचर न बने। पराधीनता की अपेक्षा सागपात खाकर स्वाधीन बने रहना श्रेयस्कर है, विलास और वैभव का उपभोग करते हुये पराधीन रहना अच्छा नहीं है। जब तक यह आर्य भावना विद्यमान है जब तक बर्बरों का अनुचर कहलाने की अपेक्षा स्वाधीनता पूर्वक जीवित रहना हमारा आदर्श है तब तक हमें सदैव के लिये पद-दलित रखने वाला कोई भी माई का लाल इस पृथ्वी पर पैदा नहीं हो सकता। भावबार प्रतिकूल परिस्थितियां हमारे मार्ग में आकर रोड़े अटकावें वस्तुतः मेघमाला के रूप में हमारे अस्तित्व रूपी आकाश को आच्छादित करले और दानवता भले ही चतुर्दिक फैलकर अपने प्रलयंकर रूप को प्रकट करे पर आर्यों के अन्तस्तल म निहित स्वाधीनता की यह भावना, सदाचार-संरक्षण की यह कामना और दिव्यता के वरण की यह उत्कट वासना हमारे मार्ग को आलोकित करती रहेगी और हम एक दिन अपने लक्ष्य की सिद्धि में अवश्यमेव सफल होंगे। न तू आर्यस्य दास भाव महात्मा कौटल्य की यह उक्ति अमोघ है। यजुर्वेद अध्याय १२ के मंत्र १० और ११ के पद सहस्र्या निवर्तस्व तथा विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मास्वद् राष्ट्रम् अधिभ्रशत्। राष्ट्र सुरक्षित रहे और राजा पुनः ऐश्वर्य के साथ आर्य सिंहासन पर समासीन होकर प्रजा का हित सम्पादन करे प्रजा भी उसे चाहे ऐसा भाव प्रकट करते हैं।

क विश्वासघाती से बचना

नीचे लिखे मन्त्रों में अपने संरक्षण का उपाय तथा विश्वासघातियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार का उल्लेख है।

> मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेन अनुवस्ताम्।
> उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वा अनुदेवामदन्तु।
> अन्धा अमित्रा भवत अशीर्षाणोऽहय इव।
> तेषां वो अग्निमूढानाम् इन्द्रो हन्तु वरम् वरम्।
> यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति।
> देवास्तं सर्वेधूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् शर्म वर्म ममान्तरम्। ॥ ७ ॥

हमें स्वयं अपने बचाव का प्रयत्न करना चाहिये। हमारे जितने मर्मस्थल हैं उनके सब अभेद्य एवं दृढ़ कवच से सुरक्षित रहने चाहिये। ये मर्मस्थल व्यक्ति के शरीर में भी होते हैं और समाज के अन्दर एवं बाहर भी। आन्तरिक मर्मस्थल

अधिक घातक होते हैं। अतः उनके बचाव की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। ये मर्मस्थल वास्तव में अपने घोर शत्रु हैं। शारीरिक मर्मस्थलों को कवच पहन कर सुरक्षित किया जा सकता है पर आन्तरिक शत्रुओं का दमन कैसे किया जाय? उनसे अपनी रक्षा किस प्रकार की जाय? वेद कहता है कि इन आन्तरिक अमित्रों को जो या तो हमारी सहायता नहीं करते और इस प्रकार हमारी शक्ति को बढ़ाने के स्थान पर घटाने के कारण बने हुये हैं अथवा जो हमारे मार्ग में क्रियात्मक रूप से विघ्न डालने वाले हैं इन दोनों ही प्रकार के आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट कर देना चाहिये। इनकी शक्ति को वैसे ही ध्वस्त कर देना चाहिये जैसे सर्प के सिर को कुचल दिया जाता है। हमारे ये शत्रु बिना दिमाग के बिना सिर वाले अविवेकी और अन्धे हो जावें और अपने ही क्रोध एवं अविवेक की अग्नि में जल कर नष्ट भ्रष्ट हो जावें। इनके वरम् वरम् श्रेष्ठ—श्रेष्ठ नेताओं और अग्रगंताओं को राजा नष्ट कर दे।

जो व्यक्ति या वर्ग हमारा अपना सम्बन्धी होकर भी हमारे विरुद्ध आचरण करता है, हमारा प्रिय एवं हित साधन नहीं करता और इस प्रकार हमसे दूर रह कर छिपे हुये रूप में हमें मारना चाहता है उसको सब विद्वान अपमानित कर मार डालें। सम्मावितस्य चाकीर्ति मर्रणादतिरिच्यते। ऐसे अवसर पर समाज को शान्ति एवं सुबुद्धि से काम लेना चाहिये। हमारे क्षुब्ध होने तथा अविवेकी बनने से यह हमारा आन्तरिक शत्रु अधिक घातक सिद्ध हो सकता है और गृह कलह (Civil war) का बीज बो सकता है और शत्रु पक्ष से मिल कर हमारी पराजय का कारण बन सकता है। "घर का भेदी लंका ढाहे।" यह उक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। अतः वेद कहता है कि ब्रह्म—ज्ञान और वर्म=शान्ति हमारे आन्तरिक वर्म बनें हमारे अन्दर के कवच हों आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने वाले साधन हों।

इस प्रकार आन्तरिक शत्रुओं से सुरक्षित होकर अपने मर्मस्थलों को कवच द्वारा आच्छादित करके हम अपने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इन्हीं साधनों द्वारा प्रभु हमें अमरता से आवृत एवं संयुक्त करता है और अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख प्रदान करता है। दिव्य शक्तियाँ इसी अनुकूल परिस्थिति में आसुरी शक्तियों के दब जाने एवं ध्वस्त हो जाने से हर्षित होती और फलती फूलती हैं।

वेद में युद्धोचित कवच के साथ कुलिश वज्र अग्नि इषु हेति आदि शस्त्रों के नाम भी आये हैं। नैत्र आदि का उल्लेख पीछे हो ही चुका है। आग्नेयास्त्र वारुणा स्त्र वायव्यास्त्र की ओर भी पर्याप्त संकेत हैं व्यूह रचना युद्धकला का विशिष्ट अंग है। पदाति रथारूढ़ अश्वारोही जलयानी विमानी आदि सैनिकों तथा सेनापतियों का भी निर्देश है। युद्ध कला कैसी होनी चाहिये इसका इस प्रकार पूर्ण विवरण वेद में विद्यमान है।

++++++++

५ । कला, विज्ञान और दर्शन

क कला-कौशल

कला मस्तिष्क की अपेक्षा हस्त-साधन से अधिक सम्बन्ध रखती है। जितनी कलायें हैं सब में हाथ का प्रयोग होता है। कलाकार के हाथ मिट्टी को ऐसा आकार प्रदान कर देते हैं जो सजीव सा प्रतीत होता है। मिट्टी ही नहीं काष्ठ प्रस्तर लोहा चांदी तांबा आदि को भी अनेक आकर्षक रूप कलाकार के द्वारा प्राप्त होते हैं।

वेद कलाकारों को ऋभु संज्ञा देता है और कहता है "शमच्छमव सुहस्तः सुहस्ता"। ऋभुओं के हाथ सुन्दर हैं उनकी कृतियां सुन्दर हैं उनकी रचनायें सुन्दर हैं वे हमें शान्ति दें। ऋभु शिल्पी हैं और सुन्दर कलाकृतियों को जन्म देने वाले हैं। जैसे सूर्य की किरणें अनेक प्रकार के पुष्पों को विकसित करती हैं भूमिको हरित दूर्वा के कोमल मखमली पत्तों से सुसज्जित कर देती हैं, खेतों को स्वर्ण बालियों से मण्डित कर देती हैं वैसे ही कलाकार अपने हाथ की कला द्वारा असुन्दर को सुन्दर और कुरूप को सुरूप बना देते हैं। कतिपय भाष्यकारों ने ऋभुओं को सूर्य की किरणों का रूप माना भी है।

कलाओं में वास्तु निर्माण आदि उपयोगी कलाओं का निर्देश हम इसके पूर्व कर चुके हैं। ललित कलाओं में सबसे प्रथम प्रासाद मंदिर अथवा हर्म्य आते हैं। प्रासंगिक रूप से इनका उल्लेख भी हो चुका है। भवन और मन्दिर के उपरान्त मूर्तिकला आती है। प्रभु ने इस ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार की मूर्तियों की रचना की है जिनमें 'सूर्यो वाव सुरूपम्' सूर्य की मूर्ति सबसे सुन्दर है। तेज में सूर्य-मूर्ति की समता कोई नहीं कर सकता। उसमें साक्षात ब्राह्म-कान्ति भरी पड़ी है। चन्द्र की धवल ज्योत्स्ना की समता किस कलाकार की रचना कर सकती है? नक्षत्रों की उज्ज्वलता भी प्रख्यात है। इन्हीं के साथ प्रकृति और भी अनेक रूपों की रचना किया करती है। श्यामलमेघ तड़पती हुई बिजली सप्तरंगी इन्द्रधनुष क्या कम आश्चर्यकारी हैं। वर्षा के दिनों में बीरबहूटियों को देखिये। उस मधुकीट की लालिमा अवर्णनीय है। रात्रि में खद्योतों की जगमगाहट भी अद्भुत एव विचित्र है। पार्वत्य प्रदेश की कुछ

वनस्पतियाँ भी इसी तरह का प्रकाश देती हैं। ये मूर्तियाँ प्रभु की और प्रकृति की दी हुई हैं। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' कहकर वेद प्रभु की प्रतिमा का तो निषेध करता है पर साथ ही प्रतिमा का नाम भी लेता है। उसने प्रभु को त्वष्टा तथा वास्तोष्पति विश्वकर्मा आदि नाम भी प्रदान किये हैं। वह कारु है कवि है। यह शब्द कलाकारों तथा उनकी कलाओं की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। मानव ने इन कलाकारों की कलाओं के रूप में मानों प्रभु का ही अनुकरण किया है —

> देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
> इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानाम सुरत्वमेकम् ॥
> ये विपत्तापरियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत ।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।
> जनानाम् वेना अवचाकशद्वृषा ।

इन मंत्र पदों में प्रभु की महती शक्ति का अभिव्यञ्जन है। वह त्वष्टा के रूप में विविध प्रकार की मूर्तियों को उत्पन्न कर रहा है और सविता रूप में विश्व-रूपा प्रजाओं को पोषण प्रदान कर रहा है। माया कला कौशल ही है जो नाना प्रकार के जादूगर जैसे दृश्यों एवं चित्रों की रचना करती है।

मूर्ति कला के ऊपर चित्रकला है। उससे भी ऊपर संगीत है और काव्य कला ललितकलाओं में सबके ऊर्ध्व स्थान पर है। काव्य कला के अतिरिक्त अन्य सभी कलायें मानव के हाथों का कौशल है। तो क्या मानव ने बिना किसी आदर्श या साँचे के इन कलाओं को जन्म दिया होगा? नहीं। आदर्श विद्यमान थे। मानव ने केवल उनका अनुकरण किया। पर्वत सरिता वृक्ष पशु आदि विद्यमान हैं कलाकार केवल इनके अनुकरण पर मूर्ति या चित्र का निर्माण करता है। कभी-कभी कलाकार मानव निर्मिति का भी अनुकरण करता है। तब हम उसे अनुकरण का अनुकरण कहते हैं। जब कलाकार किसी भवन का चित्र खींचता है तब वह अनुकरण का अनुकरण कर रहा है। यह अनुकरण ज्यों का त्यों हो ऐसा नहीं है। कलाकार के मस्तिष्क और हृदय भी उसके साथ सक्रि[illegible]रहते हैं। उसकी कल्पना भी निर्माण में सहयोग देती है और इसी हेतु प्राय देखा गया है कि कलागत सौन्दर्य यथार्थ सौन्दर्य से कुछ पृथक है या आगे बढ़ गया है। महात्मा बुद्ध की मूर्ति के दर्शन कीजिये अथवा सूर्य के चित्र को देखिये। इनमें जो भाव मुद्रा आ गई है बुद्ध के मस्तिष्क के चतुर्दिक जो दीप्ति चक्र अंकित किया गया है अथवा सूर्य को जो रथ में आसीन किया गया है, वह सब मूल में नहीं है। वह कलाकार के हृदय और मस्तिष्क की देन है। अतः कला में अनुकरण के साथ कलाकार की कल्पना भी सम्मिलित हो जाती है और कला को ऐसा रमणीय रूप दे जाती है जिससे वह दर्शकों तथा भावकों को देर तक आकृष्ट किए रहे।

क्रियाँ एक दूसरी के साथ कैसी सटी अनुक्रम में गुम्फित तथा श्रेणियों में विभाजित हैं। 'को वोऽस्मार्दं तुविजाता अरंकरत्' —कौन है वह कलाकार जिसने अलंकरण किया है ? मानव कलाकार ! तुम तो अपनी कला या रचना से पृथक दिखाई देते हो। यद्यपि उस रचना में तुम्हारा अन्तस्तल भी हाथों के साथ लगा था पर कला को जन्म देकर तुम उससे पृथक हो गये। कुम में ऐसी बात नहीं है। उसका कलाकार उसके अन्तस्तल में ही विद्यमान है। वह अपनी सूर्य-चन्द्रादि सभी कमनीय कृतियों में विराजमान है। घड़ी को देखकर हम घड़ी बनाने वाले का अनुमान करते हैं पर वह कहीं दूर बैठा है। सूर्य चन्द्रादि के साथ मानव शरीर के निर्माता का भी हम अनुमान करते हैं। पर वह निर्माता दूर नहीं निकटतम है। वह नेदिष्ठ है। हम सबका अन्तर्यामी है। वह निरन्तर निर्माण कर रहा है और निर्माण को अलंकृत कर रहा है। मानव-अलंकरण के प्रसाधन भी वही जुटा रहा है। यहाँ जो कुछ है सब उसी का है।

वेद प्रतिमा और रूप का ही नहीं चित्र का भी नाम लेता है। 'चित्र इद् राजा राजका इद् अन्यके' 'चित्रं देवानामुदगादनीकं' 'चक्षो' चित्रस्य राधस', 'यज्ञेषु चित्रमाभर' 'भुवनेषु चित्रं चित्रं चितो चित्रे' आदि अनेक मंत्र-पदों में चित्र का नाम आता है। चित्र विचित्र है अद्भुत है। कलाओं में जिस चित्र का हम दर्शन करते हैं वह भी विचित्र होता है। उसे चित्र कहते भी इसी कारण हैं। अनुकरण कला का प्राण है। छाया यथार्थ की अनुकृति होती है पर वह यथार्थ से कितनी सुन्दर होती है ! सरिता के जल में तट पर खड़े वृक्षों के प्रतिबिम्ब को सरोवरों या निर्झरों के जल में पर्वत-श्रेणियों की प्रतिच्छाया को यमुना के प्रवाह में ताज महल की रूप-छवि को देखिये मूल से कहीं अधिक वह सुन्दर जान पड़ेगी। वह चित्र है विचित्र है अद्भुत है आश्चर्य-कारक है। मानव मन अनुकारिणी कला में मग्न होकर इसीलिये अनुरंजन प्राप्त करता है।

वेद में गान है संगीत है। सामवेद तो सहस्रवर्त्मा संगीतों का कोष ही है। संगीत जिन सप्त स्वरों के आरोह-अवरोह पर अवलम्बित है उनके तथा उनके आधार पर बने छन्दों के नाम वेद के प्रत्येक मंत्र के ऊपर आज तक लिखे चले आते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के ऊपर लिखा है, परमेष्ठी प्रजापति ऋषिः, सविता देवता (१) स्वराड् बृहती छन्दः मध्यमः स्वरः (२) ब्राह्मी पङ्क्तिश् छन्दः, ऋषभः स्वरः। स्वर सात हैं – षड्ज, ऋषभ, गान्धार मध्यम पंचम धैवत और निषाद। इनके आधार पर तीन मुख्य छन्द बनते हैं– गायत्री, त्रिष्टुप और जगती। यजुर्वेद ४ २४, ८ ४७ १२ ५,११ २१ आदि कई स्थानों पर इन छन्दों के नाम आये हैं। यथा–

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामि। इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामि। अनुष्टुप्तेऽभिगरः। ८-४७-

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु
विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरो-
हान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो
हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व
विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द
आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥ १२ ॥ ५ ।

इन मन्त्रों में उपर्युक्त तीन छन्दों के अतिरिक्त अनुष्टुप छन्द का नाम भी आया है। इसके पूर्व चतुर्थ मन्त्र में त्रिवृत गायत्र बृहत रथन्तर स्तोम यज्ञायज्ञिय वाम देव्य साम यज्ञायज्ञिय तथा पञ्च धारि नाम आये हैं जो विविध प्रकार के गानों के द्योतक हैं। यजु० १४।९, १० तथा १८ में मा प्रमा पंक्ति उष्णिक बृहती, अनुष्टुप विराट गायत्री त्रिष्टुप जगती आदि छन्दों के नाम आये हैं। यजु० १४।२३ में षोडशी चतुर्विंशति स्तोमों के नाम आये हैं। आगे मन्त्र चार और पांच में विविध प्रकार के छन्दों के नाम दिये हैं यथा वरिव शम्भू परिभू सिन्धु समुद्र, सरिर ककुप काव्य अंकुप अक्षर पंक्ति पद पंक्ति विष्टार पंक्ति निकाय विवध संयत वियत आच्छत प्रच्छत गिर भ्रज संस्तुप अनुष्टुप वयस्कृत विष्पर्धा विशाल छदि दूरोहण तन्द्र अंकांक आदि।

इन छन्दों का लोकों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जैसे अग्नि का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है और शम्भु का सम्बन्ध [illegible] है। यजुर्वेद ९।१२ में गायत्री को अष्टाक्षर [illegible] तथा ९।११ में त्रिष्टुप को एकादशाक्षर और जगती को द्वादशाक्षर का छन्द माना गया है। यजुर्वेद अध्याय २१ के मन्त्र १२ से २२ तक छंदों के नाम तथा उनका सम्बन्ध पशुओं के साथ स्थापित किया गया है। इन छन्दों में त्रिपदा तथा अतिच्छन्दा [illegible] छन्दों का समन्वय [illegible] उष्णिहा अनुष्टुप बृहती पंक्ति त्रिष्टुप जगती विराट द्विपदा [illegible] इस प्रकार है। यजुर्वेद २१।५ में गायत्री, त्रिष्टुप जगती, [illegible] पंक्ति [illegible] बृहती उष्णिक और अन्त में ककुप छन्द का उल्लेख है। यजु० २१।१४ में द्विपदा [illegible] अनुष्टुप त्रिपदा षट्पदा, विच्छन्दा और सच्छन्दा नाम आये हैं जो सूचित करते हैं कि छन्द [illegible] छन्द रहित भी है। अतिच्छन्दा तो है ही। छन्दों में धृति अष्टि शक्वरी और जगती में अति शब्द के प्रारम्भ में जुड़ने पर अतिधृति अत्यष्टि अतिशक्वरी और अतिजगती छन्द बन जाते हैं जिनमें मूल छन्दों से चार चार अक्षर अधिक होते हैं। आगे मन्त्र २३ से २८ तक रथन्तर, बृहत वैरूप वैराज शक्वरी तथा रैवती सामों का सम्बन्ध क्रमश वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद हेमन्त और शिशिर ऋतुओं त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश एकविंश त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोमों, वसु रुद्र आदित्य ऋभु, मरुत और अमृत देवों तथा तेज यश, ओज भी सह और बल शक्तियों के साथ स्थापित किया गया है। यह सब अद्भुत विज्ञान है और अनुसन्धान के योग्य है। संगीत में नृत्य वाद्य और गान की प्रमुखता है। यजुर्वेद अध्याय ३० के मन्त्र उन्नीस और बीस में इनका भी इस प्रकार उल्लेख है—

महसे वीणावादम् क्रोशाय तूणवध्मं अवरस्पराय शंखध्मम् ॥ १९ ॥
महसे वीणावादम् पाणिघ्नं तूणवध्मम् तान् नृत्ताय आनन्दाय तलवम् । २०

इन मन्त्रों में वीणा-वादन, ढोल डफला या तुरही बजाना शंख बजाना हाथ से तबला आदि बजाना तलव अर्थात करताल बजाना और नृत्य का संकेत स्पष्ट-रूप से है। इसी अध्याय के मन्त्र ६ में नृत्ताय सूतम् गीताय शैलूषम् अर्थात नृत्य के लिये सूत और गीत के लिए शैलूष का नाम आया है। वाल्मीकि ने रामायण में कुश और लव को संगीत सिखाने का उल्लेख किया है। इन दोनों के नाम पर गाने वालों की संज्ञा ही कुशीलव पड़ गई है। शैलूष नटों का एक भेद है। गाने-बजाने का काम अब भी ये किया करते हैं। सूत पौराणिक युग में ऐतिहासिक तथा कथा-वाचक के रूप में दिखाई देते हैं। सम्भव है प्राचीन काल में उनका सम्बन्ध नृत्य कला के साथ रहा हो। वर्तमान समय में कथक या कत्थक यही कार्य करते हैं। किसी-किसी कोषकार ने सूत का अर्थ कथक किया भी है।

संगीत के उपरान्त काव्यकला आती है। काव्य कला भी है और विद्या भी। हमारे यहां ६४ कलाओं में समस्या पूर्ति प्रहेलिका कूट काव्य आदि को कला के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इसमें वाग्व्य-ममी-मणिति भी आ जाती है। परन्तु काव्य जिन विचारों और भावनों का बोध देता है वह विद्या के अन्तर्गत है। समस्या पूर्ति जैसे मंत्र वेद में अनेक हैं। कस्मै देवाय हविषा विधेम तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः अप न शोशुचदघम् अर्वमनुस्वराज्यम् आदि वाक्य अन्तिम टेक के रूप में अनेक सूक्तों से सम्बद्ध हैं। प्रहेलिकायें यजु० अ० २३ में आई हैं। ओषधियों का वैद्यों से वार्तालाप द्यावा पृथिवी का बोलना जल-वायु-मन-सोमलता आदि का वरदायी होना यह चमता भी है और यहीं भी चमता आदि बातें प्रहेलिकाओं के ही समान हैं। साधारण जनों के लिए नक्षत्रों का रात्रि में निकलना और दिन में अदृश्य हो जाना पहेली ही है जिसे ऋग्वेद १ २४ १० में इसी रूप में प्रकट किया गया है। कूट काव्य भी वेद में विद्यमान है। प्रहेलिका गंभीर रूप धारण करके कूटकाव्य में परिणत हो जाती है। कि स्विद्वनं क उस वृक्ष आस' किंस्विदासीदधिष्ठानम् 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत' आदि पद कूट काव्य के द्योतक हैं। त्रय केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।विश्वमेको अभिचष्टे शचीभि र्ध्राजि एकस्य ददृशे न रूपम् । ऋ० १ १६४ ४४ मन्त्र विशुद्ध रूप से कूट काव्य है।

जहाँ तक विद्या का सम्बन्ध है वेद में कवि और उसके काव्य की महिमा मुक्त कण्ठ से स्वीकार की गई है निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार कीजिये —

मूर्धानं दिवोऽअरतिम् पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । यजु० ७-२४

देवताओं ने अपने मुख से मनुष्यों में योग्य एक पूज्य पात्र योग्य व्यक्ति को उत्पन्न किया। यह सबमुच पात्र है परमपूज्य है। कौन है यह व्यक्ति ? मन्त्र कहता है, यह कवि है। इस कवि के गुण क्या-क्या हैं ? यह सम्राट है समुचित प्रकार से दीप्त होता है चमकता है। यह अतिथि है कभी कभी उत्पन्न होता है देवदूत के रूप में इसका जन्म विशेष अवसरों पर ही होता है। यह ऋतावृत वैश्वानर अग्नि

है । अग्नि सब का अग्रणी या नेता है । वैश्वानर सब नरों का हितकारी है । ऋत जात ऋत में सदाचार में प्रतिष्ठित है नियमों और व्यवस्थाओं का अनक है । जो स्वयं ऋतवान है मर्यादा-पालक है आदर्शों के लिये प्रयास है वही आदर्श मर्यादा का उपदेष्टा बन सकता है । भारतीय इतिहास में कवि के वचनों का प्रत्याख्यान किसी ने नहीं किया । अकबर न नरहरि की बात मानी और राज्यभर में गोवध बन्द कर दिया । जयपुराधीश ने बिहारी की आज्ञा शिरोधार्य करके राज-काज संभाला । पृथ्वीराज ने चंदवरदायी की प्रेरणा पर संयोगिता के सहवास का सुख छोड़ा और गोरी के साथ युद्ध किया । कवि की यह प्रतिष्ठा क्यों थी ? क्योंकि उसे पृथिव्या मर्तः' किसी भी पार्थिव ऐश्वर्य में आसक्ति नहीं थी । वह दिवो मूर्धानं द्यौ की मूर्धा प्रकाश का शिरस्थानीय दिव्यता का धनी था । यथार्थवाद की पीठ पर पैर रखकर वह अपना शिर आदर्शवाद में स्थापित करता था । जो है वह तो है ही क्या होना चाहिये क्या करणीय है किधर बढ़ना है इसकी ओर वह इंगित किया करता था । प्रत्येक कवि को जो वस्तुतः कवि है इसी दिशा का निर्देश करना चाहिये । कवि आशीर्वाद के रूप में भवितव्य गुणों का जो वर्णन किया करते हैं उससे भी यही प्रयोजन सिद्ध होता है ।

कविरसि कवि कंकारिरसि बम्भारिः अवस्यूरसि दुवस्वान् शुन्ध्यूरसि मार्जालीय । सम्राडसि कृशानु परिषद्योऽसि पवमान ऋतधामासि स्वर्ज्योति । यजु० ५ १२ ।

कवि रसिक है, कमनीय है सब उसे चाहते हैं आबालवृद्ध सबको उसकी बातों में रस आता है । वाणी ही तो कवि का बल है । वाणी आग्नेय है । अतः कवि की वाणी में अग्नि निवास करती है वह तेजस्विनी प्रेरणावती तथा अग्नि के समान पापों को भस्म करने वाली होती है । वह भरण-पोषण करने वाली भी है । कवि अपनी इसी वाणी से सत को संरक्षण देता है और इसी रूप में वह जगतात्मा की सेवा करता है । वह विकारों का मार्जन करके जनता को व्यक्ति या वर्ग को पवित्रता की ओर ले जाता है । वह सम्राट है विप्रों में विशेष रूप से विराजमान होता है । वह कृशानु है दुर्बल का प्राण है । कृशानु की भाँति वह ऊर्ध्वगामी है और इसी हेतु अन्यों को भी उठाने वाला ऊपर ले जाने वाला है । वह परिषद के योग्य है । वाग्मी कवि के बिना परिषद की शोभा नहीं होती । वह पवमान है पवित्र है प्रगतिशील है तथा अन्यों का पथ प्रवर्तक है । उसे ऋत का धाम सत्य का तेज प्राप्त है । वह निर्भय है । जब सम्राट से ही वह नहीं डरता तो सामान्य जन से क्यों भयभीत होगा ? उसके मस्तिष्क में स्वर्ज्योति =आनन्द और प्रकाश है ।

कवि वाग्देवी सरस्वती का वरद पुत्र है । मनो वा सरस्वान् वाक् सरस्वती ऐसा शतपथ ७-५-१-३१ का वचन है । सरस्वती का पुत्र सारस्वत कवि मानों अनेक भाव प्रवाहों का स्रोत है । ऐसा स्रोत जिस देश के पास है वह सदैव सुरक्षित रहेगा । सारस्वतौ त्वा उत्सौ प्रावताम् -यजु १३ ३५ राष्ट्र वही पथ भ्रष्ट होता है जिसके पास सिद्ध सारस्वत कवि न हो ।

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे ।

गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत ॥ यजु० १५ १५

पवित्र गुणों एवं आचरणों से परिपूर्ण भ्रान्तदर्शी मेधावी श्रेष्ठ कवि के लिये हमें वन्दना-योग्य सम्मान-पूर्ण वचनों का प्रयोग करना चाहिये । कवि गविष्ठिर—वाणी में स्थिर होता है । वह नमभाव से अग्नि म आग्नेय तात्त्वभाव में अपने स्तोमों स्तुतियों का वैसे ही विस्तार करता है जैसे दिवि—द्यौलोक में गविष्ठिर—किरणों में स्थित सूर्य रुक्मम उरुव्यचम श्रयेत —अपने प्रकाश का विस्तार करता है ।

सूर्य लोक लोकान्तरों को प्रकाश देता है कवि जन-जन के मानस को आलोकित करता है । कवि राज्याश्रय में पलता है सूर्य प्रभु के आश्रय में पल रहा है । साथ ही दोनों स्वाधीन भी हैं । सूर्य अपने प्रकाश के लिए किसी का ऋणी नहीं बनता । वह दूसरों को ऋणी बनाता है । कवि भी फक्कड़ होते हैं किसी के अंकुश को स्वीकार नहीं करते–निरंकुशा हि कवय पर साथ ही अपनी क्रान्तदर्शिता से सब को उपकृत भी करते रहते हैं ।

काव्ययो राजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे ।

रिशादसा सधस्थआ । यजु० ३३-७२

हे रिशादसौ ! मित्र और वरुण ! तुम वरुण रूप में पापों के निवारक और मित्र रूप में सत्कर्म के सहायक हो । तुम दोनों साथ-साथ रहकर दक्ष के दुरोण में दक्ष के भवन में दोनों प्रकार के काव्यों (दृश्य तथा श्रव्य) म निष्णात विद्वानों के ज्ञान तथा संकल्प के अनुकूल व्यवहार करो ।

यहां दो प्रकार के काव्य का उल्लेख है । भरतादि परवर्ती आचार्यों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं – श्रव्य तथा दृश्य । फिर इन दो के भी अनेक भेद हैं । दोनों ही प्रकारों के काव्य जनता तथा राजवर्ग दोनों क लिये अनेक हितकारी उपदेश देते हैं । काव्यगत उपदेश आचार्य मम्मट के अनुसार कान्तासम्मित होना चाहिये उपदेश मिल भी जाय और प्रतीत न हो कि उपदेश दिया जा रहा है । काव्य की यही विशेष पद्धति है ।

काव्य की दो दिशायें और हो सकती हैं लौकिक एवं आध्यात्मिक । लौकिक काव्य व्यवहारोपयोगी उपदेश दे सकता है । आध्यात्मिक काव्य पाठक को निःश्रेयस की ओर प्रवृत्त करेगा । एक से अभ्युदय और दूसरे से मोक्ष की सिद्धि होगी । स्वार्थ और परमार्थ दोनों दिशाओं में मानव के पुरुषार्थ का उपयोग होना चाहिये । पूर्णता के लिये यही अभिवाञ्छनीय है । अध्वर अथवा यज्ञ का यही उद्देश्य है । 'सोऽध्वराय परिणीयते कवि' यजु० ११-३५ । कवि इसी अध्वर के लिये परिणीत होता है अर्थात नियुक्त होता है । जैसे परिणय में वधू वर के साथ अन्विबद्ध होती है वैसे ही कवि इस अध्वर के साथ संयुक्त होता है । जीवन यज्ञ है । वह सुक्रतु सोमनकर्मा है ।

कवि का कर्तव्य इसी पक्ष को सबल बनाना है।

अवसर के लिये उत्पन्न हुआ कवि अवसर की रक्षा करके अपनी उक्तियों, प्रेरक एवं उद्बोधनशील गाथाओं द्वारा ही नहीं करता स्वयं कर्मशूर बनकर चमचमाती हुई तलवार हाथ में लेकर दुष्ट राक्षसों की हिंसा भी करता है। वह वाक्शूर ही नहीं युद्धशूर भी होता है। वह लेखनी का ही नहीं शस्त्र का भी आश्रय लेता है। भारतीय इतिहास ऐसे कवियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। वेद के शब्दों में—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।

तव व्रते कवयो विद्मनापसो अजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः। यजु० १४ १२

हे अग्निदेव! तुम्हीं प्रथम हो, तुम्हीं प्रमुख हो। अंगिरा=अंग-अंग में रस भरने वाले भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऋषि हो, द्रष्टा हो। तुम्हीं देव हो। शिवता तुम्हारे ही साथ रहती है। देवों के कल्याणकारी सखा भी तुम्हीं हो। कवि तुम्हारे ही व्रत में रहते हैं। वे अग्निव्रती होते हैं। आग्नेय उष्णता भाव में रहती है विचार में नहीं। भावों में रमण करने वाला कवि इसी हेतु अग्नि के समान ममता-जलों को लिये लिये फिरता है— अपोमयो बिभीषतो अपानयभूमिभि। अग्नि महिमा इव जैसे मेघ जलों को इधर उधर सर्वत्र लिये घूमता है अथवा ऊर्मियाँ लहरें जलों को धकेले देती हुई दूर दूर ले जाती हैं वैसे ही कवि प्रजाओं को अपनी भाव-लहरियों द्वारा कहीं से कहीं पहुँचा देता है। कवि कोरा भावुक ही नहीं होता वह विपश्चित =विज्ञानी भी होता है। तभी तो वह परिस्थिति को तुरन्त ताड़ लेता है। वह विद्मनापस =करणीय कर्म को जानता है। कब क्या करना चाहिये—इसे उसकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि तत्काल जान जाती है। जन का संरक्षण युद्ध द्वारा ही होगा। जब इस तथ्य का उसे निश्चय हो जाता है— तब वह उपदेश छोड़कर चमचमाते हुये शस्त्रों को हाथ में लेता है और मरुत=मारक वीर योद्धा बन जाता है। ब्रह्म के साथ क्षात्र का यह आचरण संयुक्त होकर जन-मंगल का कारण बनता है।

वेद में कवि पद के विशेषक अनेक मंत्र हैं। वेद और कवि विषय को लेकर पूरा एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। विस्तार से बचने के लिए हमने ऊपर जो मन्त्रों की व्याख्या लिखी है, वह काव्यविद्या का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त है।

ख विज्ञान

आज विज्ञान अपनी अनेक शाखाओं में फैल-फूटकर विविध आविष्कारों द्वारा जन-मानस को चमत्कृत कर रहा है। उसने पृथ्वी के बाह्य एवं आन्तरिक भागों में निहित तत्त्वों की छानबीन की है, अन्तरिक्ष की प्रकाश-लहरों, शब्द तरंगों एवं विविध स्तरीय क्रमिक गतियों तथा प्रत्यागतियों का उद्घाटन किया है, नवीन तारों तथा तारापुञ्जों की खोज की है और अब पृथ्वी से उड़ कर चन्द्र-मंगल आदि ग्रहों में उतर कर वहां के रहस्योद्भेदन का प्रयत्न भी बड़ी गम्भीर तन्मनस्कता तथा संलग्नता

के साथ चल रहा है। वेद में विज्ञान की इन शाखाओं के बीज विद्यमान हैं ऐसा महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सप्रमाण सिद्ध किया है। अनेक विज्ञान वेद को सृष्टि विद्या की संज्ञा भी देते हैं। वैदिक संपत्ति के अमर लेखक स्व० पं० रघुनन्दन शर्मा ने इन विज्ञानों का मूल यज्ञ संस्था है– इस मत का दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन किया है। यज्ञों से वायुमण्डल शुद्ध होता है जिससे रोग निवृत्त होते हैं और परिणामतः मानव स्वस्थ बनता है। इस ज्ञान ने यज्ञों से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव किया। जो यज्ञ हम बाहर करते हैं वही शरीर में भी हो रहा है इस अविबोध ने शरीर-विज्ञान को जन्म दिया। यह यज्ञ आकाशीय सौरमण्डलों में भी स्वभावतः चल रहा है यह ज्ञान मानव को भौतिकी तथा ज्योतिष की ओर ले गया। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में यज्ञ पुरुष की महिमा ही तो वर्णित हुई है। पुरुष स्वयं इस यज्ञ में आहुत हो रहा है। इस यज्ञ में सप्त परिधियां इक्कीस समिधायें वसन्त ऋतु घी ग्रीष्म इन्धन और शरद ऋतु हवि है। यही नहीं–तस्य अग्निर्होताऽऽसीत। वायुरध्वर्यु। सूर्य उद्‌गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्य सदस्य (गोपथ १ ११)-अग्नि इस यज्ञ में ऋग्वेदी होता है वायु अध्वर्यु का कार्य कर रहा है, यजुर्वेदी है सूर्य सामवेदी उद्‌गाता है चंद्रमा ब्रह्मा है और पर्जन्य सदस्य है। इस कथन पर यदि ध्यानपूर्वक मनन किया जाय तो भौतिक विज्ञान की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। 'पुरुषो वाव यज्ञ' इस वाक्य की व्याख्या शरीर विज्ञान की गुत्थियों को सुलझा सकती है। पीछे जिन कलाओं पर लिखा गया है वे भी यज्ञ संस्था की ही उपज हैं। यज्ञ की परिपाटी मूर्तिपूजा में परिणत हुई ऐसा हम अपने ग्रन्थ 'भक्ति का विकास' में सिद्ध कर चुके हैं। 'मूर्तिपूजा ने मूर्तिकला को जन्म दिया। यज्ञवेदी की सजावट से चित्रकला उभरी। याज्ञिक वीणा-वादन से संगीत तथा मंत्र-गायन से काव्यकला का आविर्भाव हुआ। यज्ञवेदी की माप ने ज्यामिति इष्टका-गणना ने गणित, काल ज्ञान ने ज्योतिष और देश ज्ञान ने भूगोल विद्या का विस्तार किया। दिग्दर्शन मात्र के लिये कतिपय विज्ञानों का वर्णन वेद के आधार पर नीचे लिखा जाता है।

ग आयुर्वेद

प्रकृति का एक-एक पदार्थ सम्यक्रूप से प्रयुक्त होकर नीरोगता दे सकता है जिससे स्वास्थ्य का संरक्षण तथा आयु का संवर्धन होता है। 'स्वस्ति द्यावा पृथिवी सुचेतुना' 'शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नोऽस्तु'–द्यावा से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी पदार्थ स्वस्तिकारी तथा शान्ति प्रदाता हैं। उन्मुक्त वायुमण्डल में विचरण करना स्वास्थ्य तथा आयु को बढ़ाने वाला है। वायु भेषज है सामान्य नहीं विश्वभेषज है—

द्वौ इमौ वातौ वात आ सिन्धोरापरावतः

दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः

आपात माहि मेघबंधिवात वाहि पाप ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ऋ० १० १३७-२

यह बात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रभाव डाल रही हैं। प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आभ्यन्तर मलों का अपनयन होता है। यह बात देवदूत है दिव्यता का सन्देश देती है। बलवती प्राणशक्ति दिव्य गुणों के आधान में पुरुष की अनुपम सहायिका है। प्राण शक्ति के कई रूप है जिनमें से प्राण अपान व्यान और उदान के नाम यजुर्वेद ११-११ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं। पञ्चतत्व और उनसे बने हुए अन्य अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओषधि का कार्य करते हैं यथा— 'अग्निर्हिमस्य भेषजम् अग्नि ओषधि है। हिम या शीत उसी से दूर होता है। अथर्व ९-१ ११ में आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो अग्नि को आयु प्रदाभी कहा गया है। वही मानव को वृद्धावस्था में भी बल देती है। यही क्यों मृत्यो पद योपयन्तो यदैत द्राघीय आयु' प्रतरं दधाना मंत्र में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है। जल में भी ओषधि तत्व है। अप्सु अन्तः अमृतं अप्सु भेषजम् जलों में मृत्यु-निवारक अमृत तत्व है और रोगापहारक औषध है। जलों के भी भेद है। समुद्र का जल अपेय है मगर उसमें जीवन के लिये उपयोगी लवण विद्यमान है। पाताली जल कूप-बावड़ी आदि खोदकर निकाला जाता है। अपो रसम् उद्वयसं सूर्ये सन्त समाहितम्। अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह्ण अमि सूर्य में सदा वर्तमान और सबकी किरणो के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट वायु प्रदाता जलों के रस को तथा उस रस के भी रस को अर्थात सार रूप रस को मैं ग्रहण करता हूं। चन्द्रमा को तो सुधाकर कहते ही हैं। उसकी किरणों में अमृतरस है। पार्थिव ओषधियों को उसी से रस प्राप्त होता है। पृथ्वी अनेक ओषधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है।

यत्रौषधी समग्मत राजान' समिता विव। विप्र स उच्यते भिषक् रक्षोहामीव चातनः ऋ० १०-९७-६

या ओषधय' सोमराज्ञी बह्वी शतविचक्षणा। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचत्वं हसः।
अथर्व ६-९६-७

जिस ब्राह्मण के पास ओषधियाँ एकत्र हैं वही भिषक है वही रोगों का शमन कर सकता है। ये ओषधियाँ समिति में उपस्थित राजाओं के समान हैं जो मिलकर जनता के कष्टों के निवारणार्थ योजनायें बनाते है। ये ओषधियाँ सोम की रानियाँ हैं और सब प्रकार के रोगों को दूर करने में विचक्षण अर्थात समर्थ हैं। 'ओषधी रिति मातर' ओषधियाँ मां के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

है। ऋग्वेद १०-९७ ओषधिसूक्त के नाम से प्रख्यात है। यजुर्वेद के १२ वें अध्याय में मंत्र ७५ से लेकर १०१ तक ओषधि प्रकरण है। इसके मंत्र ऋग्वेद १०-९७ के अनेक मंत्रों से मेल खाते हैं।

ओषधि त्वचा के विकृत रूप को पुनः सुरूप करने में समर्थ है इसका संकेत नीचे लिखी ऋचा में है —

सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि। अथर्व० १-२४-३

श्यामा सरूप करणी पृथिव्या अधि उद्भृता। इदमूषु प्रसाधय

पुनः रूपाणि कल्पय। अथ० १-२४-४

हे ओषधि। तू त्वचा को रूपवान करने वाली है। तू उसे सुरूप प्रदान कर। श्यामा नाम की जड़ी रूप देती है पृथ्वी से उखाड़ी जाती है। यह पुनः रूप दे। पितृ-परम्परा से यदि कोई रोग चला आ रहा हो तो ओषधि द्वारा वह भी नष्ट किया जा सकता है। यथा— वीरुद् क्षेत्रिय नाशनी अप क्षेत्रियमुच्छतु। अथर्व २-८ २ हे वीरुध। तुम क्षेत्रिय वंश परम्परा से चले आये रोग का नाश करने वाली हो। तुम इस रोग को दूर करो।

वेद में अश्विनी कुमार देव-वैद्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे वृद्ध को युवा तथा लंगड़े को चलने के योग्य बना सकते थे। ऋग्वेद १० सूक्त ३९ के नीचे लिखे मंत्रों पर विचार कीजिए—

युवमायुरिव्यवमश्वो युवं भगो अनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद् युवा मिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ॥३
युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ॥४
युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुत युवद्वयः।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुः युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः ॥८

हे अश्विनीकुमार। तुम दोनों ने उस घोषा को ऐश्वर्य दिया जो पितृ गृह में बूढ़ी हो चुकी थी। तुम अनाथ और अधम गतिहीन तथा दीन के अविता— रक्षक हो और अन्धे दुर्बल तथा बिलखते हुए प्राणी को तुम्हीं भेषज देने वाले हो।

जैसे कोई जीर्ण रथ को नया बनाकर गतिशील कर देता है, वैसे ही तुमने वृद्ध च्यवन को युवा बनाकर चलने में समर्थ कर दिया। तुमने जरण को प्राप्त ब्राह्मण कलि को पुनः युवावस्था प्रदान की। तुम्हीं ने कूप में विनष्ट होते हुये वन्दन को ऊपर निकाला था। तुम्हीं ने विश्पला का (जिसकी टांग टूट गई थी लोहे की टांग देकर) चलने के योग्य कर दिया था। विश्पला का इसी प्रकार का उल्लेख ऋ० १-११२-१० तथा १-११६-१५ में भी है जिसमें आयसी जंघा के लगाने का वर्णन है। ऋ० १-११६-१३ में अश्विद्वय वैद्यों द्वारा वध्रिमती को (जो बंध्या थी) पुत्रवती बनाने की वार्ता है। १-११६-१६ में अंधा

आवात वाहि भेषजंविवात वाहि यद्रप ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ऋ० १० १३७-२

यह वात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रभाव डाल रही है। प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आभ्यन्तर मलों का अपनयन होता है। यह वात देवदूत है स्निग्धता का सन्देश देती है। बलवती प्राणशक्ति स्निग्ध गुणों के आधान में पुरुष की अनुपम सहायिका है। प्राण शक्ति के कई रूप हैं जिनमें से प्राण अपान व्यान और उदान के नाम यजुर्वेद १३-१६ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं। पञ्चतत्व और उनसे बने हुए अन्य अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओषधि का कार्य करते हैं यथा— 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अग्नि ओषधि है। हिम या शीत उसी से दूर होता है। अथर्व ९-१ ११ में आयुर्वा अग्ने वरसं कृणानो अग्नि को आयु प्रदात्री कहा गया है। वही मानव को वृद्धावस्था में भी बल देती है। यही क्यों मृत्यो पद योपयन्तो यदैत द्राघीय आयु प्रतरं दधाना' मंत्र में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है। जल में भी ओषधि तत्व है। अप्सु अन्त, अमृतं अप्सु भेषजम् जलों में मृत्यु-निवारक अमृत तत्व है और रोगापहारक औषध है। जलों के भी भेद हैं। समुद्र का जल अपेय है पर उसमें जीवन के लिये उपयोगी लवण विद्यमान है। पाताली जल कूप-बावड़ी आदि खोदकर निकाला जाता है। अपो रसम् उद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम्। अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह अग्नि सूर्य में सदैव वर्तमान और उसकी किरणों के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट आयु प्रदाता जलों के रस को तथा जल रस के भी रस को अर्थात सार रूप रस को मैं ग्रहण करता हूं। चन्द्रमा को तो सुधाकर कहते ही हैं। उसकी किरणों में अमृतरस है। पार्थिव ओषधियों को उसी से रस प्राप्त होता है। पृथ्वी अनेक ओषधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है।

यत्रौषधी समग्मतः राजान' समिता विव। विप्र' स उच्यते भिषक रक्षोहामीव
चातनः ऋ० १०-९७-६

या ओषधय' सोमराज्ञी बह्वो शतविचक्षणा। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचतु अंहसः।
अथर्व ६-९६-७

जिस ब्राह्मण के पास ओषधियां एकत्र हैं वही भिषक है वही रोगों का शमन कर सकता है। ये ओषधियां समिति में उपस्थित राजाओं के समान हैं जो मिलकर जनता के कष्टों के निवारणार्थ योजनायें बनाते हैं। ये ओषधियां सोम की रानियां हैं और सब प्रकार के रोगों को दूर करने में विचक्षण अर्थात समर्थ हैं। ओषध ीरिति मातर' ओषधियां मां के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

है। ऋग्वेद १०–९७ ओषधिसूक्त के नाम से प्रख्यात है। यजुर्वेद के १२ वें अध्याय में मंत्र ७५ से लेकर १०१ तक ओषधि प्रकरण है। इसके मंत्र ऋग्वेद १०–९७ के अनेक मंत्रों से मेल खाते हैं।

ओषधि त्वचा के विकृत रूप को पुनः सुरूप करने में समर्थ है। इसका संकेत नीचे लिखी ऋचा में है —

> सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि। अथर्व० १–२४–१
> श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अधि उद्भृता। इदमू षु प्रसाधय
> पुनः रूपाणि कल्पय। अथ० १–२४–४

हे ओषधि! तू त्वचा को समान करने वाली है। तू उसे सुरूप प्रदान कर। श्यामा नाम की जड़ी रूप देती है, पृथ्वी से उखाड़ी जाती है। यह पुनः रूप दे। पितृ-परम्परा से यदि कोई रोग चला आ रहा हो तो, ओषधि द्वारा वह भी नष्ट किया जा सकता है। यथा— वीरुत् क्षेत्रिय नाशनी अप क्षेत्रियमुच्छतु। अथर्व २-८ २ हे वीरुध! तुम क्षेत्रिय वंश परम्परा से चले आये रोग का नाश करने वाली हो। तुम इस रोग को दूर करो।

वेद में अश्विनी कुमार देव-वैद्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे वृद्ध को युवा तथा पंगु को चलने के योग्य बना सकते थे। ऋग्वेद १० सूक्त ३९ में नीचे लिखे मंत्रों

आवात वाहि भेषजंविवात वाहि यद्रप ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ।। ऋ० १० १३७-२

यह बात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रभाव डाल रही है। प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आभ्यन्तर मलों का अपनयन होता है। यह वात देवदूत है विश्वता का सन्देश देती है। बलवती प्राणशक्ति दिव्य गुणों के आधान में पुरुष की अनुपम सहायिका है। प्राण शक्ति के कई रूप हैं जिनमें से प्राण अपान व्यान और उदान के नाम यजुर्वेद १३-११ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं। पञ्चतत्व और उनसे बने हुए अन्य अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओषधि का कार्य करते हैं यथा— 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अग्नि ओषधि है। हिम या शीत उसी से दूर होता है। अथर्व ९-१ ११ में आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो अग्नि को आयु प्रदाता कहा गया है। वही मानव को वृद्धावस्था में भी बल देती है। वही क्यों मृत्यो पद योपयन्तो यदत द्राधीय आयु प्रतरं दधानाः मन्त्र में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है। जल में भी ओषधि तत्व है। अप्सु अन्तः अमृतं अप्सु भेषजम् जलों में मृत्यु-निवारक अमृत तत्व है और रोगापहारक ओषध है। जलों के भी भेद हैं। समुद्र का जल अपेय है और उसमें जीवन के लिये उपयोगी लवण विद्यमान है। पाताली जल कप-बावड़ी आदि खोदकर निकाला जाता है। अपां रसम् उद्वयसं सूर्ये सन्त समाहितम्। अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह्णाम्युत्तमम् सूर्य में सदव वर्तमान और उसकी किरणों के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट आयु प्रदाता जलों के रस को तथा उस रस के भी रस को अर्थात सार रूप रस को मैं ग्रहण करता हू। चंद्रमा को तो सुधाकर कहते ही है। उसकी किरणों में अमृतरस है। पार्थिव ओषधियों को उसी से रस प्राप्त होता है। पृथ्वी अनेक ओषधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है।

यत्रौषधी समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीव चातनः ऋ० १०-९७-६

या ओषधयः सोमराज्ञी बह्वीः शतविचक्षणा। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वंहसः।
अथर्व ६-९६-७

जिस ब्राह्मण के पास ओषधियाँ एकत्र हैं वही भिषक है वही रोगों का शमन कर सकता है। ये ओषधियाँ समिति में उपस्थित राजाओं के समान हैं जो मिलकर जनता के कष्टों के निवारणार्थ योजनायें बनाते हैं। ये ओषधियाँ सोम की रानियाँ हैं और सब प्रकार के रोगों को दूर करने में विचक्षण अर्थात समर्थ हैं। ओषध ीरिति मातरः ओषधियाँ माँ के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

इससे होता है। ज्योतिष वेदाङ्ग है और अंगों में यह वेद का नेत्र है। नेत्र का कार्य है दर्शन कराके मार्ग से जाना। ज्योतिष भी काल का ज्ञान कराके मानव को यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करता है। यज्ञों का समय संधिकाल है। यह संधि दिन और रात्रि में होती है शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है दो-दो मासों अर्थात ऋतुओं के बीच में होती है चातुर्मास्यों के मध्य में होती है और दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मध्य मे भी होती है। इन्हीं संधियों के आधार पर यज्ञों के विविध नाम रखे गये हैं जैसे दैनिक अग्निहोत्र दर्श पौर्णमास यज्ञ चातुर्मास्य नवस-स्येष्टि आदि।

'अहो रात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी' – विश्व को स्वभावतः वश में रखने वाले प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अघमर्षण सूक्त में कहा गया है। यस्यां कृष्णमरुणं च संहितेमहोरात्रे अथर्व १२ १ ५२ में दिन और रात्रि को जो अरुण तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आलोक के कारण। चन्द्र के आलोक के आधार पर यही शब्द कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के वाचक हो जाते हैं। चार दिशाओं का उल्लेख कई स्थानों पर है यथा—यस्याः चतस्र प्रदिशः। अथर्व १२ १ ४ तथा चतस्र प्रदिशो नवन्तु ऋ० ७-३५-८। दिशाओं के प्राची प्रतीची आदि नाम भी आये हैं। इस सम्बन्ध में यजु० २२ २४ १६ ६४ तथा १४ ११ दर्शनीय हैं। महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित मंत्रों में आये हैं —मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ ऋतू। यजु० १३-२५ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मौ ऋतू। १४ ६ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकौ ऋतू। १४-१५। इषश्च ऊर्जश्च शारदौ ऋतू। १४ १६ सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकौ ऋतू। १४ २७ तपश्च तपस्यश्च शैशिरौ ऋतू। १५ ५७ ऋतुओं के नाम तो यही चल रहे हैं, पर महीनों के नाम बदल गये हैं। यजु० २२ ११ के मधु-माधव चैत्र वैशाख हैं। शुक्र-शुचि ज्येष्ठ-आषाढ़ हैं। नभ-नभस्य श्रावण भाद्रपद हैं। इष ऊर्ज आश्विन-कार्तिक हैं। सह-सहस्य अगहन-पौष हैं। अगहन को आग्रयण या आग्रहायण तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है। तप-तपस्य माघ-फाल्गुन हैं। वैदिक नाम काल की विशेषता के सूचक हैं। परवर्ती नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं। जिस नक्षत्र में पूर्णिमा हो उसी के नाम पर मास का नाम पड़ा है। महीनों के दिनों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है। अमावस्या तीसवां दिन और पूर्णिमा पंद्रहवां दिन माना जाता है। यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४५ में नक्षत्र अहोरात्र अर्धमास मास ऋतु, संवत्सर, इदावत्सर, वत्सर द्यावा पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि शब्द आये हैं जो ज्योतिष ही से संबद्ध हैं।

वर्ष के दो विभाग हैं। एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में दक्षिणायन रहता है। एक में उष्णता तो दूसरे में शैत्य की प्रधानता रहती है। यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है। उत्तर और दक्षिण की ओर चलने पर समय में न्यूनाधिक्य हो जायगा। यथा—

षडाहुः शीतान् षडुमास उष्णान् ऋतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः। अथर्व०

च्यवन अश्विनी कुमारों से नेत्र प्राप्त करता है। १०वें मंत्र में च्यवन को युवा बनाने का तथा १०-२२-११ में अंधे दीर्घतमा को सामगान द्वारा नेत्र और परावज को जो श्रोण अर्थात् पंगु था, चलने के लिये सामर्थ्य प्राप्त करने का वर्णन है। मंत्र में नाम नहीं हैं। सायण ने भाष्य में दीर्घतमा और परावज के नाम जोड़ दिये हैं।

भैषिज्य शास्त्र के आज विभाग तो अनेक हैं पर वे मुख्यतः मैंगेसिन और सर्जरी दो विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने चिकित्सा को मानवी दैवी तथा राक्षसी तीन भागों में विभक्त किया है। एक चतुर्थ विभाग तांत्रिकी भी है जो झाड़-फूक से सम्बन्ध रखता है। अथर्ववेद में यह विभाग पाया जाता है। मणि आदि का बन्धन, हस्तादि का स्पर्श और इच्छा शक्ति का प्रयोग इसके अन्तर्गत आते हैं। यथा— मणि विष्कन्धदूषण जंगिडं बिभृमो वयम् अथर्व २ ४ १ यदा बध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः। तत्ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व १ ३५ १यदि क्षितायु यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकमनीत एव। तमाहरामि निर्ऋते उपस्थात् अस्पार्शमेनं शतशारदाय। अ० ३ ११ २ सतायुषा हविषा हार्षमेनम्। अ० ३ ११ ३ यस्त्वामृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया। तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चद् बृहस्पति। अथ० ३ ११ ८। जिस मृत्यु ने तुझे उत्पन्न होते ही पाश में बांध लिया है उसे बृहस्पति (ज्ञानी वैद्य) सत्य के हाथों द्वारा दूर करके तुझे मुक्त करता है। पोषक रोग को दूर करने वाली जंगिड मणि को हम धारण करते हैं। जब दाक्षायण स्वर्ण को शरीर पर बांधा जाता है तो सैकड़ों बल और प्रसन्न मन प्राप्त हो जाते हैं दीर्घायु तेज तथा सामर्थ्य साथी बन जाते हैं। यदि तुम्हारी आयु क्षीण हो रही है और तुम मृत्यु के पास भी पहुँच गये हो तब भी मैं तुमको अपने स्पर्श द्वारा घोर से घोर कष्ट से बचाता हू और सौ वर्ष की आयु देता हू। हवन द्वारा मैं तुम्हें सौ वर्ष तक जीवित रखता हू। अथर्व २ ११ के ११ मंत्रों के अन्त में 'वियक्ष्मेण समायुषा' पद आता है जिसका अर्थ है— मैं यक्ष्मा से दूर तथा आयु से संयुक्त रहू। परित्वा रोहितैर्वर्णैः दीर्घायुत्वाय दधामसि। अ०१ २२ २ सूर्य की लाल किरणों में रोग दूर करने की शक्ति है, ऐसा इस मंत्र से सिद्ध होता है। रस का विधान भी वेद में है—जरायुषा समायुषा पयोवतीना रसेन। अ १ ३१ १ ओषधियों का रस आयुवर्धक है। मात वा सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन्। अ २१-७ प्रभु ने अन्न बल धारक शक्ति तथा वशीभूता को वीर्यों के लिये बनाया है। ये सब प्रजा के लिये हैं। इनसे मुक्त होकर तू तेजस्वी रूप में सौ वर्ष तक जीवित रह। तुझे अभाव कभी न खटके। भिषकों ने तेरे लिये रसयोग का निर्माण किया है।

घ ज्योतिष

ज्योतिष एक प्रकार का ग्रह विज्ञान है। ग्रहों की एक दूसरे से दूरी कक्षावृत्त, गति उत्तरायण दक्षिणायन मास ऋतु संवत्सर नक्षत्र राशि आदि का ज्ञान

इससे होता है । ज्योतिष वेदाङ्ग है और अंगों म यह वेद का नेत्र है । नेत्र का कार्य है दर्शन कराके आगे ले जाना । ज्योतिष भी काल का ज्ञान कराके मानव को यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करता है । यज्ञों का समय सन्धिकाल है । यह संधि दिन और रात्रि में होती है शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है दो-दो मासों अर्थात ऋतुओं के बीच में होती है चातुर्मास्यों के मध्य में होती है और दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मध्य में भी होती है । इन्हीं संधियों के आधार पर यज्ञों के विविध नाम रखे गये हैं जैसे दैनिक अग्निहोत्र दर्श पौर्णमास यज्ञ चातुर्मास्य नवस-स्येष्टि आदि ।

'अहो रात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी – विश्व को स्वभावत वश में रखने वाले प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अघमर्षण सूक्त म कहा गया है । यस्यां कृष्णमरुणं च संहितेअहोरात्रे अथर्व १२ १ ५२ में दिन और रात्रि को जो अरुण तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आलोक के कारण । चंद्र के आलोक के आधार पर यही शब्द कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के द्योतक हो जाते हैं । चार दिशाओं का उल्लेख कई स्थानों पर है यथा—यस्याः चतस्र प्रदिश । अथर्व १२ १ ४ सम चतस्र प्रदिशो अवस्तु ऋ० ७-३५ ८ । दिशाओं के प्राची प्रतीची आदि नाम भी आये हैं । इस सम्बन्ध में यजु० २२ २४ १५ ५४ तथा १४ १३ दर्शनीय हैं । महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित मंत्रों में आये हैं —मधुश्च माधवश्च वासन्तिकी ऋतू । यजु० १३-२५ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मौ ऋतु । १४ ६ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकी ऋतू । १४-१५ । इषश्च ऊर्जश्चशारदी ऋतू । १४ १६ सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकी ऋतू । १४ २७ तपश्च तपस्यश्च शैशिरी ऋतू । १५ ५७ ऋतुओं के नाम तो यही चल रहे हैं पर महीनों के नाम बदल गये हैं । यजु० २२ ३१ के मधु-माधव चैत्र वैशाख हैं । शुक्र-शुचि ज्येष्ठ-आषाढ़ हैं । नभ-नभस्य श्रावण भाद्रपद हैं । इष-ऊर्ज आश्विन-कार्तिक हैं । सह-सहस्य अगहन-पौष हैं । अगहन को आग्रयण या आग्रहायण तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है । तप-तपस्य माघ-फाल्गुन हैं । वैदिक नाम काल की विशेषता के सूचक हैं । परवर्ती नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं । जिस नक्षत्र में पूर्णिमा हो उसी के नाम पर मास का नाम पड़ा है । महीनों के दिनों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है । अमावस्या तीसवां दिन और पूर्णिमा पन्द्रहवां दिन माना जाता है । यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४५ म नक्षत्र अहोरात्र अर्द्धमास मास ऋतु, संवत्सर इदावत्सर, वत्सर, द्यावा पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि शब्द आये हैं जो ज्योतिष ही से संबद्ध हैं ।

वर्ष के दो विभाग हैं । एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में दक्षिणायन रहता है । एक में उष्णता तो दूसरे में शैत्य की प्रधानता रहती है । यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है । उत्तर और दक्षिण की ओर चलने पर समय में न्यूना-धिक्य हो जायगा । यथा—

षडाहुः शीतान् षडुमास उष्णान् ऋतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः । अथर्व०

च्यावन अश्विनी कुमारों से भेष प्राप्त करता है। १०वें मंत्र में च्यवन को युवा बनाने का तथा १०–२५–११ में अंधे दीर्घतमा को सोमपान द्वारा भेष और परावृज को जो श्रोण अर्थात पंगु था चलने के लिये सामर्थ्य प्राप्त करने का वर्णन है। मंत्र में नाम नहीं है। सायण ने भाष्य में दीर्घतमा और परावृज के नाम जोड़ दिये हैं।

मैडिकल साइन्स के भाव विभाग तो अनेक हैं पर वे मुख्यत मडीसिन और सर्जरी दो विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने चिकित्सा को मानवी दैवी तथा राक्षसी तीन भागों में विभक्त किया है। एक चतुर्थ विभाग तांत्रिकी भी है जो झाड़-फूंक से सम्बन्ध रखता है। अथर्ववेद में यह विभाग पाया जाता है। मणि आदि का बन्धन, हस्तादि का स्पर्श और इच्छा शक्ति का प्रयोग इसके अन्तर्गत आते हैं। यथा— मणिं विष्कन्धदूषण जङ्गिडं बिभृमो वयम् अथर्व २ ४ १ यदा बध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमाना । तत्ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व १ ३५ १यदि क्षितायु यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव । तमाहरामि निर्ऋते उपस्थात् अस्पार्शमेनं शतशारदाय । अ० ३ ११ २ शतायुषा हविषा हार्षमेनम् । अ० ३ ११ ३ यस्त्वामृत्युरभ्यधत्त जाय मानं सुपाशया । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चत् बृहस्पति । अथ० ३ ११ ८ । जिस मृत्यु ने तुझे उत्पन्न होते ही पाश में बांध लिया है उसे बृहस्पति (ज्ञानी वैद्य) सत्य के हाथों द्वारा दूर करके तुझे मुक्त करता है। शोषक रोग को दूर करने वाली जंगिड मणि को हम धारण करते हैं। जब दाक्षायण स्वर्ण को शरीर पर बांधा जाता है तो सैकड़ों बल और प्रसन्न मन प्राप्त हो जाते हैं दीर्घायु तेज तथा सामर्थ्य साथी बन जाते हैं। यदि तुम्हारी आयु क्षीण हो रही है और तुम मृत्यु के पास भी पहुंच गये हो तब भी मैं तुमको अपने स्पर्श द्वारा घोर से घोर कष्ट से बचाता हूं और सौ वर्ष की आयु देता हूं। हवन द्वारा मैं तुम्हें सौ वर्ष तक जीवित रखता हूं। अथर्व ३ ११ के ११ मंत्रों के अन्त में विषक्त्मेण समायुषा पद आता है जिसका अर्थ है— मैं यक्ष्मा से दूर तथा आयु से संयुक्त रहूं। परित्वा रोहितवर्णै दीर्घायुत्वाय दध्मसि ॥ अ० १ २२ २ सूर्य की लाल किरणों में रोग दूर करने की शक्ति है, ऐसा इस मंत्र से सिद्ध होता है। रस का विधान भी वेद में है —उभायुषा समायुषा उदोषधीनां रसेन । अ० ३ ३१ १० ओषधियों का रस आयुवर्धक है। मात मा सुभोग् भिषजस्ते अक्रन् । अ० १२ २१ ७ प्रभु ने अन्न बल धारण शक्ति तथा अक्षीणता को जीवों के लिये बनाया है। ये सब प्रजा के लिये हैं। इनसे युक्त होकर तू तेजस्वी रूप में सौ वर्ष तक जीवित रह। तुझे अभाव कभी न खटके। भिषजों ने तेरे लिये रसयोग का निर्माण किया है।

घ ज्योतिष

ज्योतिष एक प्रकार का ग्रह विज्ञान है। ग्रहों की एक दूसरे से दूरी कक्षगुण, गति, उत्तरायन, दक्षिणायन मास ऋतु संवत्सर, नक्षत्र राशि आदि का ज्ञान

इससे होता है। ज्योतिष वेदाङ्ग है और अंगों में यह वेद का नेत्र है। नेत्र का कार्य है दर्शन कराके आगे ले जाना। ज्योतिष भी काल का ज्ञान कराके मानव को यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करता है। यज्ञों का समय संधिकाल है। यह संधि दिन और रात्रि में होती है शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है, दो-दो मासों अर्थात ऋतुओं के बीच में होती है चातुर्मास्यों के मध्य में होती है और दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मध्य में भी होती है। इन्हीं संधियों के आधार पर यज्ञों के विविध नाम रखे गये हैं जैसे दैनिक अग्निहोत्र दर्श पौर्णमास यज्ञ चातुर्मास्य, नवसस्येष्टि आदि।

'अहो रात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी' – विश्व को स्वभावतः वश में रखने वाले प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अघमर्षण सूक्त में कहा गया है। यस्यां कृष्णमरुणं च संहितेमहोरात्रे-अथर्व १२ । १ ।५२ मे दिन और रात्रि को जो अरुण तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आलोक के कारण। चंद्र के आलोक के आधार पर यही शब्द कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के द्योतक हो जाते हैं। चार दिशाओं का उल्लेख कई स्थानों पर है यथा—यस्याः चतस्रः प्रदिशः। अथर्व १२-१४ तथा चतस्रः प्रदिशो नमन्तु ऋ० ७-३५-८। दिशाओं के प्राची प्रतीची आदि नाम भी आये हैं। इस सम्बन्ध में यजु. २२-२४ १६ ५४ तथा १४ ११ दर्शनीय हैं। महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित मंत्रों में आये हैं —मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ ऋतू। यजु० १३-२५ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मौ ऋतू। १४ ६ नभश्च नभस्यश्च वार्षिकौ ऋतू। १४-१५। इषश्च ऊर्जश्चशारदौ ऋतू। १४ १६ सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकौ ऋतू। १४ २७ तपश्च तपस्यश्च शैशिरौ ऋतू। १५ ५७ ऋतुओं के नाम तो यही चल रहे हैं पर महीनों के नाम बदल गये हैं। यजु० २२ ३१ के मधु-माधव चैत्र वैशाख हैं। शुक्र-शुचि ज्येष्ठ-आषाढ़ हैं। नभ-नभस्य श्रावण भाद्रपद हैं। इष-ऊर्ज आश्विन-कार्तिक हैं। सह-सहस्य अगहन-पौष है। अगहन को मार्गशीर्ष या आग्रहायन तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है। तप-तपस्य माघ-फाल्गुन हैं। वैदिक नाम काल की विशेषता के सूचक है। परवर्ती नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं। जिस नक्षत्र में पूर्णिमा हो उसी के नाम पर मास का नाम पड़ा है। महीनों के दिनों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है। अमावस्या तीसवां दिन और पूर्णिमा पन्द्रहवां दिन माना जाता है। यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४५ में नक्षत्र, अहोरात्र अर्द्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर इदावत्सर, वत्सर द्यावा पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि शब्द आये है जो ज्योतिष ही से संबद्ध हैं।

वर्ष के दो विभाग हैं। एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में दक्षिणायन रहता है। एक में उष्णता तो दूसरे में शैत्य की प्रधानता रहती है। यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है। उत्तर और दक्षिण की ओर चलने पर समय में न्यूनाधिक्य हो जायगा। यथा—

वसन्त ग्रीष्मान् मधुमान् उष्मान् ऋतू सौ सूर्य यवमोऽतिरिक्त। अथर्व०

८ ९–१७ पद के बारह महीना में ६ महीन मास तथा ६ महीने उष्ण रहते हैं। इसके अतिरिक्त जो ऋतु है वह हम बताया। अतिरिक्त शब्द से मलमास की ओर भी संकेत जा सकता है। मलमास अथवा तेरहवें महीने का उल्लेख इस मंत्र में भी है अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्ग त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते। अथर्व १३–३ ८ उत्तरायण का देवयान और दक्षिणायन का पितृयान से संबंध है। इनके मार्ग भी वेद में आये हैं। यथा मे देवयाना पितृयाणाश्च लोकाः। तथा द्वे सृती अशृणवम् पितृणामहं देवानामुत।

वर्ष के बारह मासों तथा ३६० दिनों का उल्लेख नीचे लिखे मंत्र में है —

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो ऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।

ऋ० १–१६४–४८

संसार एक चक्र है। इसमें बारह प्रधियाँ या अरे बारह महीने हैं। तीन नभ्या नाभि को जोड़ने वाली तीन धुरियाँ तीन चातुर्मास्य हैं जो गर्मी वर्षा और सर्दी से संबंध रखते हैं। तीन सौ साठ शंकु वर्ष भर के दिन हैं जो निरन्तर चलते रहते हैं। अहोरात्रैःपरिवृतं वसाने। अथर्व १३ २ ३२ में दिन रात्रि को सूर्य पर आश्रित माना है। तिग्मो विभ्राजन् तन्वं शिशानो। अथर्व १३ २ ३३ में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं ऐसा उल्लेख है। सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त। अथर्व १३–२–८ में सूर्य की सतरंगी किरणों का संकेत है जो चमकते हुये वर्ण वाली हैं। यत्र यत्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु। यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्। अथर्व १३ ३ १० में रोचनावद् चंद्र को अपना प्रकाश उसमें अर्पित सूर्य की सात किरणों द्वारा ही प्राप्त होता है ऐसा कहा गया है। दिवि सोमो अधिश्रितः। अथर्व १४ १ १ इस पद में भी सोम — चंद्रमा अपने प्रकाश के लिए दिवि = सूर्य पर आश्रित है ऐसा संकेत है सूर्येणोत्तभिता द्यौः समस्त द्यौ अर्थात प्रकाश का आधार सूर्य है।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः। ऋ० १० १२१ ५ अथर्व ४ २ ४ यजु २२ ६

इस मंत्र पद के अनुसार सिद्ध होता है कि परमेश्वर ने अन्तरिक्ष में समस्त लोकों को माप कर रख दिया है। समस्त लोकों ग्रहों और पिण्डों की एक दूसरे से दूरी नपीतुली है। उनका भार तथा कक्षा-वृत्तका गमन भी नपातुला है। लोका रजांसि उच्यन्ते-ऐसा निरुक्त ४ १९ का कथन है। आकृष्णेन रजसा वर्तमानो। यजु ३३ ४३ का भाष्य करते हुए महर्षि दयानंद ने लिखा है – सविता परमात्मा सूर्य लोको वा रजसा सर्वलोकैः सह आकृष्णेन आकर्षणगुणेन सह वर्तमानोऽस्ति। परमात्मा तो समग्र ब्रह्माण्ड का धाता है ही उसकी व्यवस्था में सूर्य भी अपनी आकर्षण—शक्ति द्वारा सौर जगत के सभी पिण्डों को धारण कर रहा है। ऋ० ८–१२–३० के अनुसार यदासूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे। सूर्य के

आधार से ही समस्त भुवन या ग्रह नियम-बद्ध और व्यवस्थित गति में चले जा रहे हैं। यह सूर्य या आदित्य भी यह लोक के सोम से बल प्राप्त करता रहता है, ऐसा सोमेनादित्याबलिनः अथर्व १४ १ २ मंत्र पद से प्रकट होता है।

नक्षत्राणामुपस्थे सोम आहित । यह सोम नक्षत्रों की गोद में-मध्यभाग में उपस्थित है। प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्। यजु० ३ १० नक्षत्रदर्शन या आकाशीयज्ञान प्रज्ञा बढ़ाने वाला है।

चन्द्र पृथ्वी के चतुर्दिक भ्रमण करता हुआ छाया का चक्कर भी काटता है यह निम्नांकित मंत्र से स्पष्ट हो रहा है—

त्व सोमपितृभि संविदानोऽनुद्यावा पृथिवी आततन्थ। ऋ० ८ ४८ १३

हे चन्द्र! तुम अपनी पालक किरणों तथा शक्तियों के साथ द्यौ और भूमि के चारों ओर घूमते हो। सूर्य और पृथ्वी भी अन्तरिक्ष में घूमते हैं ऐसा कई मंत्रों में आया है। यथा- या गौ वर्तनिपर्येति ऋ० १० ६१ ६ जो पृथ्वी अपनी कक्षा में चलती हुई विवस्वत अर्थात सूर्य के चारों ओर घूमती है। निम्नांकित मंत्र भी इसी विचार को प्रकट कर रहा है—

आयं गौ पृश्नि रक्रमीदसदन्मातरं पुर। पितर च प्रयन्त्स्व। यजु० ३ ६

यह पृथ्वी पृश्नि है चित्र-विचित्र-वर्ण वाली है। यह मातरपुर= असीम अन्तरिक्ष में घूमती हुई पितरं—सूर्य के चारों ओर घूमती है।

सूर्य ग्रहण का ज्ञान नीचे लिखे मंत्र से प्राप्त होता है—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुर।

अक्षेत्र वित्यथा मुग्धो भुवनान्य दीधयुः।

ऋ० ५–४ –५

हे सूर्य! इस आसुर स्वर्भानु ने तुमको तमसे विद्ध कर दिया है। पृथ्वी को तुम्हारी ज्योति के प्राप्त न होने से व्याकुलता हो रही है। अक्षेत्रविद मुग्ध होकर भुवनों का ध्यान कर रहे हैं। स्वर्भानु चंद्र है। जब पृथ्वी और सूर्य के बीच में चंद्र आ जाता है तो सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक आने में रुक जाता है। इसी को सूर्य-ग्रहण कहते हैं। इसी प्रकार जब सूर्य और चन्द्र के बीच में पृथ्वी आ जाती है तो चंद्र-ग्रहण होता है। निम्नांकित मंत्र में लोकों का क्रम वर्णित है—पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्त रिक्षाद्दिव मारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योति रगामहम्। यजु० १७-६७ अथर्व ४ १४ ३ पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष उससे ऊपर द्यौ और द्यौ से नाक से ऊपर स्वर्ग है।

ज्योतिष का गणित के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य किस राशि में कब पहुँचेगा चंद्र इस समय किस राशि पर है नक्षत्रों की ग्रहों के साथ युति अथवा उनका प्रवेश कब होता है इन तारकों की भुजांतरिकता यथा मृगशिरा आदि का प्रदिभ्रमण आदि सब गणित की अपेक्षा रखते हैं। आयुर्वेद की भांति, ज्योतिष विज्ञान

का भी विकास भारतवर्ष में हुआ। वेद में उसके बीज विद्यमान हैं। यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में अनेक संख्यायें दी हुई हैं। अयुग्म संख्यायें दो जोड़ कर निकाली हुई संख्यायें चार का गुणा करके निकाली हुई संख्यायें इन्हीं से जोड़ना, गुणा करना, भाग देना आदि सिद्ध हो जाता है। यजु० १८।२८ से ३१ तक भी संख्यायें दी हैं जो क्रमबद्ध हैं।

निम्नांकित मन्त्र के अनुसार दशगुणा करते जाइये तो आप असंख्यात संख्या पर पहुँचेंगे। कुछ संख्यायें इस प्रकार हैं—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं च अयुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं च अर्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं च अन्तश्च परार्धश्च। एक से परार्ध तक की यह संख्या किसी अन्य सभ्य जाति के इतिहास में उपलब्ध नहीं होती। मिलियम तक या बिलियन तक संख्या बाहर के देशों में पाई गई है पर वह करोड़ तक ही जाती है। परार्ध तो करोड़ के करोड़ से भी अधिक संख्या है। वैसे वेद किसी जाति या वर्ग विशेष से सम्बन्ध नहीं रखते। वे मानव मात्र के लिये हैं— माता भूमि की प्रत्येक सन्तति का उन पर अधिकार है पर जिस राष्ट्र देश या वर्ग ने प्राणपण से उनकी रक्षा की है उन्हें कण्ठस्थ किया है और उनकी शिक्षा को आचरण में परिणित किया है वे उन्हें अपना कह तो औचित्य का अनुरोध है कि वेद को उनके साथ अवश्य सम्बद्ध किया जाय। जो आज भी वेद मंत्रों को देखने से भयभीत हो होता है और दक्षिणा लेकर अपने पुण्य को क्षीण नहीं करना चाहता वह मानव मात्र के लिये सिरसा अभिनंद्य है।

वैदिक ब्राह्मणों ने यज्ञपरक अनेक वैदिक विधियों का आविष्कार किया है। यज्ञ की वेदी त्रिकोण चतुष्कोण वृत्ताकार या श्येन पक्षी ... के आकार की होती है। रेखा गणित की विद्या का विस्तार इन्हीं विधियों ... से हुआ है।

ज्योतिष आकाशीय विद्या है। ... यजु० १८ ...
भी पड़ी है। नियत ध्वनियां तो हैं ... होता है (काल शब्द/गुण बाधा है। उसमें ध्वनियां
भी। आगमन की तार ... है। समस्त लोहों, वर्तमान ध्वनियां भी हैं और भावी ध्वनियां
कुछ लिख कर देत हैं ... मार तथा ... इस आर्य सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया है। हम जो
जाता है। हम जो क ... ११ ... उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर तार द्वारा पहुँचा दिया
फैल जाता है। रश्मियों ... महर्षि ... बोलते हैं वह भी इसी विद्या द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों तक
या भाषणों को सुनते हैं। ... द्वारा हम घर बैठ अमेरिका या रूस में दिये गये वार्तालापों
आ जाता है। एक यन्त्र भी ... उमन ... अब तो टैलीविजन द्वारा सामने वाले का चित्र भी सामने
भी बाहर फैला दें। महर्षि ... जो ... बन गये हैं जो आपकी एकान्त में होने वाली मंत्रणा को
का मूल निम्नांकित मंत्र में ... आविष्कार ... दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इस तार विद्या
... जिज्ञासा का एक पैसे पुकार मस्तिष्क सूचना ...

तस्तार्दं युवस्यथ । शर्ये रिमर्दुं पुतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् । ऋ० १ ११९ १० हे मश्विद्वय ! तुम दोनों ने पुरुवारम्=अनेकों के द्वारा स्वीकरणीय, दवेर्तं=युद्ध धातु द्वारा निर्मित अभिद्युं=विद्युत से युक्त पृतनासु दुष्टरं=विरोधियों की शक्ति से परे, चर्कृत्य=बार बार क्रियाओं में योजनीय तस्तार्दं=तार नाम के यंत्र को युवस्यथ=सेवार्थ बनाया है। शर्ये=हनन प्रेरक गुणों से युक्त पैद्वे=परमोत्तम व्यवहार की सिद्धि के लिये स्पृधां=शत्रुओं की पराजय और स्वकीय वीरों की विजय के लिये परमोत्तम और चर्षणीसहम्=मनुष्यों को बल देने के लिये इन्द्रमिव=सूर्य के समान दूरस्थ व्यवहार को भी प्रकाशित करने में जो समर्थ है।

निम्नांकित मंत्र सूर्य विज्ञान से सम्बन्ध रखता है —

प्रयुज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत । ऋ० ७-७६-१ इस मंत्र पर यास्क लिखते हैं — यथाधिपियत्। ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देवः। विश्वानर दिव्यगुण युक्त सविता देव ने सबके लिये हितकर अमृत ज्योति को ऊपर उठाया। पं० भगवद्दत्त जी ने अपने निरुक्त भाष्य में इस पर महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३१६ के ६९ ७० ७१ तीन श्लोक उद्धृत करके लिखा है कि पृथ्वी से उठे आप परमाणु मध्यम स्थान में पहुँचते हैं। वहां वायु के षष्ठ परिवह में वे आप विम्ब होकर सूर्य में पहुँचते हैं।

दूरात् प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मि दिवाकरः ।

योनिः अंशुसहस्रस्य येन भाति वसुंधरा । ७

ये विम्ब आप जब वायु-विद्युत के कारण चंचल हो उठते हैं तब सूर्य की एक किरण इनमें प्रतिहत (reflected) या प्रतिम्बिम्बित होकर सहस्रकिरणों का रूप धारण कर लेती है और उसी से पृथ्वी प्रकाशित होती है। सूर्य का प्रतिबिम्ब इसी प्रकार काच पर पड़कर और फिर रुई पर प्रतिच्छायित होकर रुई को जला देता है। यास्क अपने निरुक्त ७-२९ में लिखते हैं — अग्न आदित्यात्। उदीचि प्रथम समा वृत्ते आदित्ये कंसं वार्मणि वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्क गोमयम संस्पर्शयन धारयति तत् प्रदीप्यते।

उत्तर दिशा में आदित्य के लौटने पर कांसे अथवा मणि को मांज कर यदि सूर्य के सामने किया जाय और सूखे गोबर को बिना स्पर्श कराते हुये कुछ दूर पर रखा जाय तो उस कांसे या मणि के गोबर पर प्रतिच्छायित प्रकाश के पड़ते ही गोबर जल उठता है। ऋ० १-३५ में सूर्य की विशेषताओं का वर्णन है।

सूर्य विज्ञान का एक मठ या प्रयोग शाला सम्पात तिब्बत में हिमालय के ऊपर था। चिड़ियों को मार कर सूर्य किरणों के बल से जीवित कर देने वाले वाराणसी के स्वामी विशुद्धानन्द ने इसी मठ में सूर्य विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी।

निरुक्तकार ने ११ १४ में ऋग्वेद १ ८८ १ के आ विद्युन्मद्भिः मरुतः स्वर्के आदि मंत्र का भाष्य करते हुये लिखा है मरुत विद्युत वाले हैं। अन्धकारमयी रात्रि में भी जो मन्द-मन्द ज्योति प्रदीप्त होती रहती है उसका स्रोत यही हैं। यास्क ने स्वर्क के कई अर्थ किये हैं। उनमें से एक अर्थ है-सु अर्चिभि । इसी प्रकार चन्द्र विज्ञान पर भी वेद की सहायता से यास्क ने प्रकाश डाला है। ऋग्वेद १०-८५ ५ के अनुसार चन्द्र जो क्षीण होता है वह मार्गों देवों द्वारा पिया जाता है। उसके उपरान्त वह आप्यायते=वृद्धि को प्राप्त होता है। यहां वायु सोमस्य रक्षिता वायु सोम का रक्षक बनता है। इसी से समानाम अर्थात सम्वत्सरा के महीने बनते हैं। ऋग्वेद १०-८५ १९ में नवो नवो भवति जायमान पद द्वारा इसी तथ्य को प्रकट किया गया है।

७० तत्व चिन्तन

आधुनिक यूरोपीय दर्शन के उन्नायक फ्रांस निवासी डेकार्टे महोदय ने यहां दो तत्वों का अनुभव किया—विचार और विस्तार। भारतीय परिभाषा में इन्हें चेतन और जड़ तत्व कहा जा सकता है। वेद इन्हें ऋत और सत्य अथवा जगत और तस्थुष नाम देता है। विस्तार का अन्त नहीं है। विचार का भी अन्त नहीं है। दोनों का कुछ भाग ही विदित है अधिकांश अविदित है। वेद विदित और अविदित दोनों के ऊपर एक तीसरे तत्व की भी प्रतिष्ठा करता है और उसी से विचार एवं विस्तार दोनों के प्रादुर्भाव की बात कहता है।

वेद ने विस्तार के मोटे-मोटे चार भाग किये हैं—पृथ्वी नाक स्व और द्यौ। विचार तो नहीं पर प्राणवत्ता के उसने चार विभाग किये हैं निमिषमाण प्राणवान चतुष्पद और द्विपद। निमेष प्राण का निम्नतम रूप है। द्विपद प्राण का सर्वोत्तम विकसित रूप है। जैसे निमिषमान जड़ तत्व के निकट पहुंच जाता है वैसे ही द्विपद पुरुष रूप में तृतीय तत्व के निकट पहुंच जाता है। इस तीसरे तत्व के नाम वेद में अनेक[1] हैं। उनमें एक नाम प्रजापति है। शतपथ ४ १ ४ १ के अनुसार पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। पुरुष प्रजापति के सर्वाधिक निकट है।

जिसका विस्तार होता है वह क्या है? ऋग्वेद का नासदीय सूक्त इसे आभु[2] तथा स्वधा[3] नाम देता है। आभु का अर्थ है जो चारों ओर अपना अस्तित्व फैलावे। स्वधा का अर्थ है जो स्व को धारण करे। स्व का अर्थ है धन संपदा रत्न आदि। यजुर्वेद ने इसे सिसिप्सिता पिशङ्गिला और अजा कहा है। सिसिप्सिता अनुकरण मूलक

१– नामानिते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।

२–तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत ।। ३

३–आनीदवातं स्वधया तदेकम ।।२

धन्यात्मक शब्द है। जहाँ श्री हो समृद्धि हो, वहाँ रेल-पेल लगी ही रहती है। श्री और शोभा भी इसका अर्थ है। प्रकृति जब विकृति अर्थात् रचना में आती है, तब उससे नाना प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं। द्यौ जो प्रकाश-सम्पन्न है और पृथ्वी जो तमसाच्छन्न है उसी के विकृत रूप हैं। रचना की इस स्थिति को पिप्पिप्पिला कहते हैं। ग्रामों में इसी के अनुकरण पर पिलपिलाना क्रिया बनी है। ठोस आम को दबा कर पिलपिलाते हैं। तब उसका रस आविर्भूत होता है। ठोस प्रकृति भी रचना में आकर यही रूप धारण करती है। पिलगिला का अर्थ है— नाना मनोरम रूपों को जो निगल जाय। रात्रि में जैसे सब सो जाते हैं तो रात्रि मानों सबको निगल गई, वैसे ही प्रलय सबको निगल जाती है। प्रलय में प्रकृति अपने मूलरूप में समाविष्ट हो जाती है। यही उसकी पिलगिला अवस्था है। अजा मूल प्रकृति है।

अजा के साथ दो अज भी हैं। अजा का विस्तार होता है। अज विचार-प्रधान है। अजों में भी अन्तर है। अजा बीज है जिसका ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष में विस्तार होता है। दोनों अज इसी वृक्ष पर बैठे हैं —

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति। ऋ० १ १६४ २०

दोनों अज दो पक्षी हैं जो सयुजा और सखा हैं। अन्तर इतना है कि एक पक्षी स्वाद ले-लेकर वृक्ष के फलों को खा रहा है दूसरा खाता नहीं द्रष्टा मात्र है। यह भेद दोनों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् कर देता है। एक पक्षी या अज को जीवात्मा और दूसरे को परमात्मा कहते हैं।

जीव फलों को खाने के कारण अनीश असमर्थ तथा विविध प्रकार के शरीर धारण करने वाला बनता है। परमात्मा द्रष्टा रूप से ईश समर्थ तथा जीवों को कर्म फल देने वाला है।

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतो अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्य चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

ऋ० १ १६४ ३८

अमर्त्य जीव स्वधा— प्रकृति से पकड़ा हुआ मर्त्य शरीर के साथ रहता हुआ कभी नीचे जाता है और कभी ऊंचे। शरीर और जीव सयोनि बनकर विविध लोकों तथा योनियों में गति करते हैं। इनमें से शरीर को हम लोग देखते हैं जीव को नहीं।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ऋ० १ १६४ ३०

विविध शरीर-गृहों के मध्य ध्रुव रूप से उपस्थित जीव प्राण धारण किये हुये सोता रहता है परन्तु जीव यहां से चल भी देता है। जीव अमर है। मर्त्य शरीर के साथ वह सयोनि होकर वर्तमान है। शरीर भस्म हो जाता है पर जीव स्वधाओं कर्म-फल-वासनाओं के साथ, यहां से निकलकर अन्तरिक्ष में घूमता है और फिर

किसी न किसी शरीर को अपने कर्म-फलों के अनुसार ग्रहण कर लेता है ।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।

स मातुर्योना परिवीतो अन्त बहु प्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥ऋ० १ १६४ ३२

जीव जो कुछ करता है उसे जानता नहीं और जो कुछ देखता है वह भी इससे छिपा हुआ ही रहता है । इसलिए यह माता के गर्भ में जाता है और बहुत संतति वाला बना हुआ घोर से घोर कष्ट को प्राप्त करता है ।

अपश्य गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीची स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्त । ऋ० १–१६४–३१

जीव गोपा है गो अर्थात इन्द्रियों का पालक है । यह अनिपद्यमान-न गिरने के योग्य है फिर भी नीचे के और ऊपर के पथों से चलता हुआ यह अनेक भुवनों के अन्दर चक्कर काटा करता है । इसका कारण यह है कि कभी तो यह अपनी समान सीधी गति में चलता है और कभी विविध विषम गतियों में निवास करता है ।

न वि जानामि यदि वा इदमस्मि निण्य सन्नद्धो मनसा चरामि ।

यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्य आद् इत् वाचो अश्नुवे भागमस्या । १–१६४–३७

भोग योनियों तथा कर्म—भोग योनियों में पड़ा हुआ जीव शरीरों के साथ ऐसा एक हो जाता है कि अपने को उनसे पृथक नहीं कर पाता । शरीरों से जकड़ा हुआ तथा असत-सत विचारों से बंधा हुआ इधर-उधर विचरण किया करता है । जब ऋत की प्रथमजा इसे प्राप्त होती है तब वाणी का भाग इसकी समझ में आता है । तभी शास्त्रों के रहस्य खुलते हैं और तभी जीव को शरीरों से अपने पार्थक्य की प्रतीति होती है ।

आत्म ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान कराता है । आत्मज्ञ ही प्रभु को प्राप्त करते हैं ऐसा नीचे लिखी ऋचा से ज्ञात होता है —

उपस्थाय प्रथमजामृतस्य आत्मना आत्मानमभि संविवेश ।

ऋत की प्रथमजा आत्मज्ञान कराती है और आत्मज्ञान परमात्मा के ज्ञान में प्रवेश कराता है । जब तक उस परमेश्वर का ज्ञान नहीं होगा तब तक अपना भवन भी प्राप्त नहीं होगा । घर से बाहर कष्ट है । मृत्यु से मुक्ति या अतिक्रान्ति प्रभु को जान कर ही हो पाती है ।

तमेव विदित्वाऽ तिमृत्युमेति नान्य पंथा विद्यते अयनाय ।

अथवा

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

यह परमतत्व विभु है सर्व व्यापक है ।

स ओत प्रोतश्च विभू प्रजासु । यजु १२—८

प्रजायें जीव तथा प्राकृत सृष्टि इसी में लीन होतीं तथा विविध रूपों में प्रकट होती हैं ।

तस्मिन्निदम् सं च वि चैति सर्वम् ।

जीव का सखा बन्धु तथा विधाता वही परमेश्वर है —

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ३२ १०

इन्द्रस्य युज्य: सखा । यजु० ६–४ ऋ० १–२२–१९

इन्द्र इन्द्रियों से संयुक्त जीव का नाम है । इस जीव का योग्य सखा परमदेव परमात्मा ही है । वह सबका बन्धु है अर्थात् सर्वस्रष्टा है । उसी के विधान में जीव कर्मफलों को भोगता हुआ जब देव योनि में पहुँचता है तो तृतीय धाम में मोक्ष सुख का भागी बनता है । वह प्रभु महान् अभिभू है । भूत भविष्य वर्तमान सब कुछ जिसकी दृष्टि में है । वही आयमद्– सबको नियन्त्रण में रखता है । महां अभिभू आयमत् । ऋ० ८–१२–३

इन्हीं तीन तत्त्वों की व्याख्या वेद म है । इनका उल्लेख कई रूपों में वेद के अन्तर्गत हुआ है । नीचे लिखी ऋचा पर विचार कीजिए —

त्रय: केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभि र्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् । ऋ० १ १६४ ४४

तीन चमत्कार पदार्थ हैं । ये ऋतु के अनुसार दृष्टिगोचर होते हैं । जब संवत्सर प्रारम्भ होता है, रचना का समय आता है, तब इनमें से एक बोया जाता है जिससे ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष तैयार होता है । एक अपनी शक्तियों के साथ सबको देख रहा है । एक की गति अनुभूत होती है रूप दिखाई नहीं देता ।

जिसका वपन होता है, वह प्रकृति है । जो देख रहा है वह परमात्मा है और जिसकी गति क्रिया देखी जाती है रूप नहीं वह जीव है । जीव के कर्म शुभ अशुभ करणीय-अकरणीय ऐहिक-आमुष्मिक पुण्यमय-पापमय सब के अनुभव में आते हैं । इनके फल भी भोग रूप में निरन्तर समक्ष आते रहते हैं । 'विभक्तारम् हवामहे वसो चित्रस्य राधस:' जीवों में वसु का विभाजन जो प्रभु द्वारा होता रहता है, वह उनके कर्मों की विविधरूपता के कारण । जिसके जैसे कर्म हैं उसे उन्हीं के अनुकूल सम्पदा प्राप्त होती है । यह सम्पदा जाति आयु तथा भोग तीन रूपों में प्रत्यक्ष होती है ।

निखिल निधि समग्र सम्पदा विश्व-वैभव का स्वामी वही परम तत्त्व है । वह वसुओं का वसु है । द्यावा और पृथ्वी जिस वसु का पोषण करते हैं वह विविध वसु उसी का है । 'तवेदिदम् अभित: पैष्टिकं वसु एका वस्व: इन्द्र सत्यसम्राट्' 'तथा करत वसु पतिर्वसूनाम्,' निधीनां त्वा निधि पतिं हवामहे आदि पद इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं ।

उस परम तत्त्व के समान यहां कुछ भी नहीं है । न कोई उससे गुणों में श्रेष्ठतर है और न कोई उससे आयु में ज्येष्ठतर है । वह जैसा है, वैसा यहां कोई भी नहीं है–

न कि रिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् ।
न कि रेवा यथा त्वम् । ऋ० ४-३०-१

वह अनस्तदामी अनन्त ऐश्वर्यवान और अनन्त रचनात्मक शक्तियों से युक्त है—

विद्माहि त्वा तुविकूर्मि तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रमवोभिः । ऋ० ८-८१-२

वह पूज्यों में पूज्य है बलवानों में बलवान है दर्पियों के दर्प का विदलित करने वाला और सच्चे भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला है—

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनम् च्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् । ऋ० ८-९६-४

जितना ज्ञात एवं अज्ञात विश्व है वह सब उसी की महिमा को प्रकट कर रहा है परन्तु वह इसके भी आगे है इसके भी ऊपर है—

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः । ऋ० १०.९०.४
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । यजु० ३१.३

विश्वभूत सब निर्मित जगत उसके एक पाद, एक भाग में समा जाते हैं। उसका त्रिपाद अधिक भाग निर्मिति से ऊपर है। निर्मिति मृति है प्रलय को प्राप्त होती है परन्तु वहां प्रलय नहीं मृत्यु नहीं उस अमृत अवस्था में वह अमृतस्वरूप है। वह निकट से निकट और दूर से दूर है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । यजु० ४०—५

वह धी के योग द्वारा प्राप्त होता है —

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन
स धीनां योग मिन्वति ।। ऋ० १-१८-७

धी दैवी मन द्वारा प्राप्त होती है —

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ऋ० ८ १० २२

दैवी मन वाणी के संयम से प्राप्त होता है —

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसासह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् । अथर्व १-१ २

जो वाचस्पति है वाणी का स्वामी है वाणी का संयम जिसके पास है उसी के पास दैवी मन निवास करता है । वही वासक शक्तियों की भी रक्षा करने वाला है। उसका सुना-देखा सब उसके अन्दर बस जाता है उसका अंग बन जाता है। मेधा उसी को प्राप्त होती है जो श्रुत के साथ उसका संयम कराती है और पवित्र बनाती है।

परात्पर तत्व का ज्ञान मैटाफिजिक्स है त्रिपाद की ऊर्ध्व अवस्था है जो एक

पाद से आगे या उपरान्त आती है। दैवी मन का विवेचन साइकोलोजी का विषय है। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय म तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु टेक वाले छ मंत्र मन की विस्तृत व्याख्या करने वाले है। यथा—

यज्जाग्रतो दूर मुदैति दवं तदु सुप्तस्य तथैवति
दूरंगम ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

यह मेरा दैवी मन शिव संकल्प वाला बने जो जागृत अवस्था में तो दूर-दूर जाता ही है, स्वप्न में भी दूर-दूर घूमता रहता है। यह दूर की दौड़ लगाने वाला ज्योतियों की भी ज्योति है, इन्द्रिया की भी आन्तरिक इन्द्रिय है।

येनकर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा।
यदपूर्वं यक्ष मन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥

जिसके द्वारा मनीषी तथा धर्मशाली कर्मकाण्डी पुरुष ज्ञान-भक्ति के सत्रों में तथा युद्धों में अद्‌भुत कर्म कर जाते हैं जो प्रजाओं इन्द्रियों के अन्दर अपूर्व मान्य तत्व है, वह मेरा मन कल्याणकारी दैवी सकल्प वाला बने।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

जिसमें प्रज्ञा चेतना तथा धृति भरी पड़ी है जो इन्द्रियों तथा अवयवों की आन्तरिक अमर ज्योति है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता वह मेरा मन शिवसंकल्पों वाला बने।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु॥

जिस अमृत मन के द्वारा विगत अनागत तथा जागत सब कुछ परिगृहीत बनता है जाना जाता है और सप्त होता (दो कान दो आंख दो नासिका रंध्र तथा एक मुख) जिसके द्वारा भौतिक तथा मानसिक यज्ञ का सम्पादन करते है, वह मेरा मन शिवसंकल्पों से युक्त हो।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभा विवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु॥

जसे रथ की नाभि में अरे जुड़े रहते हैं वैसे ही ऋक यजु तथा साम की वेदत्रयी जिसमें प्रतिष्ठित है और जिसमें प्रजाओं का चित्त संस्कार तथा वासना पुञ्ज ओतप्रोत है वह मेरा मन दिव्य संकल्पों का धनी बने।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥

जैसे सुन्दर सारथी बलवान घोड़ों को लगामों द्वारा जहां चाहता है ले जाता है वैसे ही जो मन मनुष्यों को लिये लिये घूमता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित है अमर और सर्वाधिक बलवान है, वह मेरा मन शिवसंकल्पों से युक्त होकर मुझे दिव्यता की

ओर से चले।

दर्शन में साहचर्यमीमांसा से नीचे ऐथिक्स नीतिशास्त्र या सदाचार की शिक्षा है। आचारः प्रथमो धर्मः—आचार धर्म की आधार शिला है। आचारवान् लभते ह्यायु—सदाचारी व्यक्ति की आयु लम्बी होती है। सदाचार-परायण व्यक्ति के पीछे पाप नहीं लगते। इसी हेतु वह सर्वदा भद्र मंगल तथा शुभ परिस्थिति में ही जीवन व्यतीत करता है।

यस्मात्कृणोति भद्रमाति नो न मः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति न पुरः। ऋ० २-४१-११

प्रभु की कृपा से जिसके पीछे पाप नहीं पड़ता उसके आगे भद्र ही भद्र रहता है।

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्य मङ्गिरः। ऋ० १-१-६

यह ध्रुव सत्य है कि विशाल हृदय वाले दानी को प्रभु की ओर से कल्याण ही प्राप्त होता है। गीता ने इसी भाव की आवृत्ति की है—न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति। शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। दुरितानि परासुव और यद्भद्रं तन्न आसुव-दुरित का अपनयन और भद्र का आनयन साथ-साथ चलते हैं। भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः तथा 'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु' हम कानों से मंगल शब्दों का श्रवण करें और आँखों से शुभ दृश्यों को देखें। भद्र क्रतु ही हमारे पास आवें। दिव्यता इसी पथ से चलकर प्राप्त होती है। सहस्रायु सुकृतश्चरेयम्। हजारों वर्षों की आयु मिले पर वह सुकृत पुण्य कर्म करने में ही व्यतीत हो।

ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १ के अनुसार हम यहाँ खण्डित होने के लिये नहीं आये हैं। हमें तो अदिति अर्थात अखण्ड अवस्था का वरण करना है। हमें खण्डित अथवा विभक्त कौन करता है? स्वार्थ आपाधापी अज्ञान अमर्शियता दुर्विदग्ध द्वेष अथवा एक शब्द में दस्युता। अदिति का विपरीत भाव दिति है। यही हमें अनृत अथवा अघ की ओर ले जाती है। दिव्यता की अवहेलना इसी के द्वारा होती है। दुष्कृतों का सम्पादन इसी वृत्ति द्वारा होता है। अत वेद कहता है—

आनो देव सविता सावियद्वय ऋजूयते यजमानाय सुन्वते।
यथा देवान् प्रतिभूषेम पाकवद् आ सर्वतातिं अदितिं वृणीमहे ॥ ३ ।

हम दिति को दस्युता को दूर करते हैं और अदिति को अपनाते हैं। दस्युता हमें सभा या समाज के योग्य नहीं रहने देती। वह विभक्त करके हमें सभा की योग्यता से पृथक कर देती है। हम अकेलेपन का अनुभव करने लगते हैं। सर्वताति सब में विस्तार सबके साथ अपनत्व का भाव तो अदिति की सेवा से ही प्राप्त होता है। सभ्यता अदिति का चिन्ह है। उसमें ऋजूयते ऋजु सरल बनने का भाव है।

सुक्त=वह मानव को यज्ञ परायण बनाना सिखाती है। सबके साथ मिलकर रहो एक दूसरे के लिये त्याग करो, सद्गुणों को सम्मान दो यही यज्ञ-परायणता है। सविता देव यज्ञ में आयु दें जिससे हम देवों दिव्यगुणों को विभूषित कर सकें। देव चमकते हैं। हमारे अन्दर भी उनकी चमक आ सकती है यदि हम यज्ञ करना सीख लें। सभा का भाव सभ्य में आता है। सभा वह है जहाँ सब समान भाव से चमकें दिव्य बनें। सभ्यता मानवता को दिव्यता का संकेत देती है। यज्ञ उसका आधार है। सभ्य बनने के लिये यज्ञपरायण बनना आवश्यक है।

यज्ञो मनु प्रमतिर्नः पिता हि कम् आ सर्वताति अदितिं वृणीमहे ॥ ५ ।

यज्ञ ही हमारी मति है सुख है पिता है पालयितृ शक्ति है। यज्ञ में ही मनु-मानुषता छिपी पड़ी है। जो यज्ञ नहीं करता वह मनुष्यता से पतित हो जाता है।

इगस्य नु सुकृतं दव्यं सहो अग्निर्गृहे जरिता मेधिर कवि ।
यजाथ सुहितये चारुरन्तम आ सर्वतातिमदितिं वृणी महे ॥ ६ ।

जो कुछ हमारा सुकृत है पुण्य है दवी बल है वह सब यज्ञ के अधिष्ठाता प्रभु का है। यज्ञाग्नि हमारे घर में स्तोता तथा मेधावी कवि के रूप में उपस्थित है। यह हमारा अन्तम = अत्यन्त समीपी मित्र है। यही चारु अर्थात् प्रिय है। अपने विदथ मेंहम इसी यज्ञ रूप अदिति का वरण करते हैं।

न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं ना विष्ट्य वसवो देवहेडनम् ।
माकिर्नो देवा अनृतस्य वर्पस आ सर्वतातिमदितिं वृणी महे ॥ ७ ।

जो याजक है वह छिपकर पापों की गठरी सिर पर नहीं रखता है और न वह आवेश में आकर देवों का अपमान ही करता है। इस प्रकार वह अनृत के शरीर से पृथक रहता है। यज्ञ करना सत्यपथानुगामी बनना है। अनृत असुरों को प्यारा है देवों को नहीं। सभ्य व्यक्ति अनृत से घृणा करते हैं। सत्य व्यवहार ही उनको प्रिय है। इसी से लोक बनता है। सभ्यता का यह प्रमुख चिन्ह है सत्यस्य नाव सुकृतमपीपरन्। अथ ९-७३-१

यज्ञ से परलोक तो बनता ही है इस लोक की साधना भी होती है। जो यज्ञ नहीं करता और ब्राह्मण्य एवं यज्ञ गीता म विश्वास ही नहीं रखता तदनुकूल आचरण भी करता है उसका यह लोक भी नहीं बनता परलोक की तो बात ही क्या है। स्वार्थी उदरंभरी विद्या वाले अयाजक कुछ दिनों के लिए समाज से भले ही अपना कार्य-साधन कर लें पर अन्त में उनकी लूट-मार की प्रवृत्ति खुल ही जाती है और उनकी असामाजिकता से सभ्य समाज क्षुब्ध हो उठता है। आप दूसरे के लिए कुछ भी त्याग न करें जो कुछ करें अपने और अपने घर को भरने के ही लिये करें इसे समाज देर तक सहन नहीं कर सकता। सभ्यता चाहती है कि आप सभा के योग्य बनें समाज के लिए भी कुछ करें।

गीता कहती है परस्पर भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्यथ।' एक दूसरे से

प्रेम करते हुये ही हम सामाजिकता का निर्वाह कर सकेंगे।

सुख मिलकर काम करने में है। वैसे भी एक मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं अन्यों के सहयोग द्वारा ही कर पाता है। वेद कहता है—

अपामीवामप विश्वामनाहु तिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषोऽस्मद् युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये। ऋ १० ६३ १२

अब की ओर जाने वाला व्यक्ति रोगी बनता है। हम अघ से दूर रहें तो अमीव=रोगों से भी दूर रहेंगे स्वस्थ बनेंगे। जो ज्ञान-यज्ञ से भागता है अथवा विद्वत्ता का आह्वान नहीं करता और अदानी है वह भी सुखी नहीं रह सकता। द्वेष भी सुख नहीं दुःख देता है। अतः हमें कम से कम स्वयं रहने के लिए तो यज्ञ करना ही चाहिये। सत्य प्रेम सदाचरण पारस्परिक प्रेम की भावना यज्ञ के ही अंग हैं और जैसे वे यज्ञ के अंग हैं, वसे ही सभ्यता के भी। सभ्यता शुभ कृत्यों की पोषिका है, दुष्कर्मों की नहीं। दुष्कर्म मानव को असभ्य बनाते हैं। दुराचारी समाज द्वारा दुत कारा जाता है। वह समाज में बैठने या मुख दिखाने के योग्य नहीं रहता।

प्रभु की रचना में जो वैषम्य है या विविधरूपता है वह पग-पग पर परिल क्षित होती है। हम सब न एक जाति के हैं न हमारे आयु तथा भोग ही समान हैं। कोई मनुष्य योनि में है तो कोई पशु योनि मे। कोई पक्षी बना आकाश में विचरण करता है तो कोई कृमि-कीट रूप में गन्दी नालियों में सड़ रहा है। किसी की आयु १ वर्ष की है तो किसी की २ वर्ष की। किसी किसी की आयु ६० ८० और १०० से लेकर १५० या २०० वर्षों तक जाती है। औषधि पक कर और फल देकर ६ महीने में ही समाप्त हो जाती है। वनस्पति वृक्षों के रूप में प्रतिवर्ष फल देती है और कई वर्षों तक जीवित रहती है। भोगों पर दृष्टि डालिये तो कोई दीन-हीन गृह में उत्पन्न होता है और राजकीय भोगों से वंचित रहता है। एक सुस्वादु भोजन से तृप्ति प्राप्त करता है तो दूसरे को साधारण अन्न भी प्राप्त नहीं हो पाता। फिर कर्म का विपाक देखिये कि एक मुख से तड़प-तड़प कर मरता है तो दूसरा भोग-विलासों के मध्य डूबा रहने पर भी मानसिक क्लेशों का भाजन बनता है। एक रूखे-सूखे अन्न में से ही विटैमिन प्राप्त कर लेता है तो दूसरा विटैमिन की ढेरों गोलियाँ खाकर भी क्षीण एवं कृश बना रहता है। यह वैषम्य क्या है? वैज्ञानिक इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। इसे तो धर्म-शास्त्र (Ethics) का पण्डित ही समझा सकता है। जो इस लोक को ही सब कुछ समझता है वह भी इसे वास्तविक रूप में हृदयगम नहीं कर सकेगा पर जो समझता है कि इस लोक के पीछे भी लोक था और इस जन्म के उपरान्त भी एक नहीं अभी अनेक जन्म होंगे (सदाचार का शास्त्र ऐसा ही निर्णय देता है) वही वैषम्य की इस गुत्थी को सुलझा सकता है।

प्रकृति भी रचना में आकर विविध विविध आकृतियों वाली बन जाती है। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इन्द्र परमेश्वर प्रकृति रूपी माया के अनेक रूपों द्वारा

अपनी विद्या का प्रकाश करता है। जिसे हमने विस्तार कहा है, वह इसी प्रकृति का प्रसार है। प्रकृति भी सत-रज-तम की साम्यावस्था है। सृष्टि में वही वैषम्य की जननी बनती है। कहां प्रकाश और अंधकार !! कहां चींटी और कहां हाथी ? कहां पहाड़ और कहां गर्त? कहां फूल और कहां मिट्टी? कहां वर्षा और कहां मरुस्थल?कहां ऊष्मा और कहां शैत्य ? कहां रसकुण्ड और कहां लवण ? वैषम्य ही वैषम्य !! पर इस विषमता में भी कैसी अद्भुत व्यवस्था है कैसा विचित्र साम्य है। सब-ऊंचा-नीचा लघु-वृहत तम प्रकाश सुरभित-दुर्गन्धित दूर-समीप एक वृहत इकाई के निर्माता हैं। यन्त्र के छोटे-बड़े पुर्जे विषम होकर भी यन्त्र की एकता का निर्माण करते हैं। फूल की छोटी-बड़ी पंखुड़ियाँ फूल के सौन्दर्य-विधान का कारण बनती हैं। काव्य के छोटे बड़े छन्द सर्ग और भावोद्रेगों के विविध रूप एक काव्य-कृति की रचना में योग देते हैं वैसे ही इस ब्रह्माण्ड के विविध अंग एक-एक अमर की सृष्टि कर रहे हैं। प्रभु का यह सृष्टि रूपी काव्य दर्शनीय है मननीय है भावनीय है, हृदयंगम करने योग्य है।

पर इसे कौन हृदयगम करेगा ? हृदयंगम तो सभी करेंगे क्योंकि हृदय सबके पास है अनुभूति की तीव्र-मंद मात्रा में अन्तर होगा। तत्व दर्शन भी सब करते हैं पर विश्लेषण सबके पास एक समान नहीं है। भावना के समान विश्लेषण भी मानवता के विभिन्न स्तरों में विकल्प है। जो व्यक्ति या जाति जितनी ही अधिक विकसित है सभ्य है उसके पास भावना और विश्लेषण की शक्ति भी उसी मात्रा के अनुरूप है। सभ्यता एक ऐसी उपलब्धि है जो वर्ग-विशेष को भावना तथा विश्लेषण में ऊंचा उठा देती है और इन्हीं में नहीं वह वर्ग विशेष के कर्तृत्व में भी फूट पड़ती है। सभ्यता के सबसे बड़े साधन वाणी और कर्म हैं। तत्वचिन्तन इन दोनों का सहायक बनता है। वाणी साहित्य को जन्म देती है। लेखन-क्रिया स्वर-विज्ञान, लिपि-कला इसके संगी-साथी हैं। कर्म विविध कलाओं के कौशल में अभिव्यक्ति पाता है। तत्व दर्शन वाणी और कर्म के क्षेत्र में आर्य जाति विश्व की समस्त जातियों में ऊर्ध्व स्थान पर खड़ी है इसे मैक्समूलर रैप्सन आदि सभी पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है।

आगामी पृष्ठों में हम ऐतिहासिक क्रम में इसका संक्षिप्त विवरण उपस्थित करेंगे।

हमारे चिन्तन विज्ञान कला साहित्य आदि सभी पर वेदों का प्रभाव पड़ा है। वेद ने दिशा सुझाई और हम उसके द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली पर चल पड़े। संकेत पहले है क्रिया उसके उपरान्त। वेद में बीज है शाखा-पत्र-पुष्पों में उसे पल्लवित करना मानव के हाथ की बात है। वेद के इस महत्व को मनु से लेकर दयानन्द अरविन्द प्रभृति आज तक के सभी मनीषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। पीछे जो कुछ लिखा गया है वह इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है।

५ साहित्य

आज तक भारतीय आस्तिक मनीषा वेद को समस्त विद्याओं का बीज और परवर्ती निखिल वाङ्मय का आधार मानती रही है। पीछे संस्कृति और सभ्यता पर हमने जो कुछ लिखा है वह भी इसी तथ्य का गोचर है। वेद प्रभु के निःश्वास हैं। वे नित्य हैं। किसी पुरुष ने उनका निर्माण नहीं किया। अतः वे अपौरुषेय कहलाते हैं। वेद-वाणी कल्याण-रूपा है यह मानव-हित-भाषिका है और मानव मात्र के लिये है। भारतीय ब्राह्मणों ने उसकी विशेषरूप से रक्षा की है। भट्ट और श्रोत्रिय दो वर्ग वैदिक ब्राह्मणों में प्रख्यात हैं जिन्होंने चारों वेदों को कण्ठस्थ करके इस अक्षय निधि को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा है। मंत्र पाठ की जो शुद्धता कुलक्रमागत रूप में अब तक चली आई है वह विश्व साहित्य के इतिहास में अपूर्व है।

भारतीय आर्य वेदों में प्रामाण्य-बुद्धि रखते रहे हैं। अन्य शास्त्र वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक माने गये हैं। वेद-विरुद्ध किसी भी मत को प्रामाणिकता नहीं मिली। मनु 'प्रमाणं परमं श्रुतिः' शब्दों द्वारा इसी सिद्धान्त का आख्यान करते हैं। कणाद 'तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' सूत्र में वेद को प्रभु के वचन कहकर उनके प्रामाण्य की घोषणा करते हैं। उद्भट तार्किक आचार्य शंकर वेदान्त के 'अतएव च नित्यत्वम्' १। ३। २९ सूत्र की व्याख्या करते हुये 'दवी वाक नित्य है। वेद दैवी वाणी है अतएव नित्य है'—शब्दों द्वारा इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। इस स्थल पर आचार्य शंकर ने वेद के नित्यत्व में कई युक्तियाँ दी हैं। वाक्यपदीयकार महात्मा भर्तृहरि लिखते हैं—

> सत्या विशुद्धिः तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
> युक्ता प्रणव रूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥
> विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपांग निबन्धना: ।
> विद्याभेदा: प्रतायन्ते ज्ञान संस्कार हेतवः ॥

वाक्यपदीय—१ ९ १०

एकपदागमा विद्या ही सत्य है विशुद्धि भी वहीं पर है। अन्यत्र मानव-कृत विद्याओं में कुछ न कुछ अशुद्धि आ ही जाती है। वेद विद्या विशुद्ध है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो इस विद्या का आगम एक पद से हुआ है। यह एक पद ओं है। तस्य वाचक प्रणवः सूत्र में योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने ओं को ही प्रभु का वाचक माना है। यह प्रणव अ उ म तीन मात्राओं द्वारा व्याख्यात होता है। अतः द्वितीय कारण है प्रणव के रूप-त्रय तीन मात्राओं से इस विद्या की युति। वेद विद्या त्रयी कहलाती है। प्रणव के 'अ' रूप से ऋक् 'उ' रूप से यजु और 'म' रूप से साम का सम्बन्ध है। इन्हीं से भूः भुवः और स्वः तीन महाव्याहृतियों और तीन लोकों का जन्म हुआ। समस्तवाद इन्हीं तीन को लेकर प्रवृत्त हुये हैं। अतः यह विद्या सर्व वादों से अविरोध रखती है। ईश्वरवाद जीववाद प्रकृतिवाद अथवा ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड भक्तिकाण्ड जैन धर्म के सद्भाव, सद्ज्ञान और शुभआचरण अथवा एक-

वाद द्वैतवाद त्रैतवाद इसी विद्या से प्रादुर्भूत हुये हैं। सदाचार (Ethics) त्रैतवाद का मनोविज्ञान (Psychology) द्वैतवाद का तथा पर-तत्त्व दर्शन (Metaphysics) एकवाद का समर्थक है। दार्शनिकों ने कभी जीव और प्रकृति के सम्बन्ध की ऊहापोह की है कभी जीव और परमात्मा के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है और कभी परमेश्वर तथा प्रकृति के सम्बन्ध पर विचार किया है। वेद तीनों का प्रवर्तक है। अतः उसमें तीनों वादों का समाहार है। विद्या की इसी विद्या के अंगों तथा उपांगों में निबद्ध अनेक भेद हुये हैं और वे सब लोक के ज्ञान संस्कार के कारण हैं। यहाँ जो कुछ पदार्थ-विज्ञान या तत्त्वज्ञान का विस्तार हुआ है, उसका मूल कारण वेद है। मानव में ज्ञान के संस्कार इन्हीं के कारण पड़े हैं।

क वेद

वेद चार हैं ऋक् यजु साम और अथर्व। इन्हें अपौरुषेय माना जाता है। मन्त्रों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम आये हैं वे मंत्रद्रष्टा हैं मन्त्रकर्ता नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि एक ही मन्त्र के द्रष्टा दो-दो ऋषि भी हुये हैं। मनु १ २३ तथा शतपथ ११ ४ १ ३ के अनुसार अग्नि वायु, आदित्य तथा अंगिरा पर क्रमशः ऋक् यजु, साम तथा अथर्व का प्राकट्य हुआ। इनसे ब्रह्मा ने वेद पढ़े और फिर श्रुति तथा प्रवचन रूप में आये वेदों का विस्तार हुआ।

चारों वेदों में ऋक् सबसे बड़ा है। इसमें दस मण्डल तथा १०५५२ मन्त्र हैं। गायत्री उष्णिक अनुष्टुप बृहती पंक्ति त्रिष्टुप जगती अतिजगती आदि २० प्रकार के छन्द हैं। ऋग्वेद का एक विभाजन अष्टकों में भी पाया जाता है परन्तु निरुक्तकार यास्क ने दशतयी शब्द के प्रयोग द्वारा दस मंडलों वाले विभाजन को प्राचीन सिद्ध कर दिया है। इन मण्डलों में १०२८ सूक्त हैं जिनमें बालखिल्य नाम के ११ सूक्त भी सम्मिलित हैं। ये सूक्त अष्टम मंडल में संख्या ४९ से ५९ तक हैं। इनमें ८० मन्त्र हैं। इन मन्त्रों को छोड़ कर शतपथ १०-४ २ २१ के अनुसार ऋग्वेद १२ हजार बृहती छन्दों के परिमाण का है। बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। अतः ऋग्वेद के समस्त अक्षरों की संख्या ४३२० ० है।

ऋग्वेद के नवम मण्डल म सोम पवमान से सम्बन्धित ऋचायें हैं। सूक्तों की संख्या १९१ प्रथम तथा दशम मण्डलों में समान है। बीच म द्वितीय मण्डल का सम्बन्ध गृत्समद से तृतीय का विश्वामित्र से चतुर्थ का वामदेव से पंचम का अत्रि से षष्ठ का भरद्वाज से और सप्तम का वसिष्ठ ऋषि से है। अष्टम मण्डल के मन्त्र द्रष्टा ऋषि कण्व तथा अंगिरा वंश के हैं। प्रथम मण्डल के मन्त्रद्रष्टा मधुच्छन्दा ऋषि का शतर्चिन् दशममण्डल के नासदीय सूक्त(१ १२९) म पड़ने के सूक्तों का महासूक्त और बाद वाले सूक्तों को क्षुद्र सूक्त की संज्ञा भी प्राप्त है।

महाभारत के समय जब विद्वानों और बलवानों की क्षीणता हो गई तो महर्षि व्यास ने वेदरक्षा के प्रयत्न में 'पैल' को ऋग्वेद जैमिनि ऋषि को साम वैशम्पायन

को मनु तथा वाम्न मुनि शुनक को अथर्व की शिक्षा दी। इनसे अन्य शिष्यों को यह शिक्षा प्राप्त हुई। शाखाओं तथा चरणों का विभाग हुआ। चरण उस जनसंघ को कहा जाता है जो शाखा विशेष के अध्ययन में निरत तथा तत्पर था। महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की शाखायें २१ यजुर्वेद की १०१, साम की १००० और अथर्व की ९ थीं। इन ११३१ शाखाओं में मूल चार संहितायें भी सम्मिलित हैं।

ऋग्वेद की शाकल शाखा ही आजकल प्रचलित है। अन्य शाखाओं में बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। बाष्कल शाखा का अस्तित्व शाकल शाखा से भिन्न कहा जाता है। शाकल के अतिरिक्त अन्य शाखायें अनुपलब्ध हैं।

ऋग्वेद १०।७१।११ की ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् ऋचा के अनुसार होता ऋचाओं का पोषक, उद्गाता शक्वरी ऋचाओं में साम का गायक, यज्ञ की मात्रा तथा माप करने वाला अध्वर्यु यजुर्वेदी तथा यज्ञ का निरीक्षक ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। ऋचायें छन्दोमयी हैं, उनकी अक्षर संख्या नियत है पर यजुर्वेद के यजु अनियत अक्षरावसान वाले हैं। साम प्रायः गेय ऋचात्मक हैं और अथर्व दोनों प्रकार का है। इसमें गद्य भाग तथा छन्द भाग दोनों हैं।

यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता आदित्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत है परन्तु तैत्तिरीय संहिता ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। प्रथम को शुक्ल तथा द्वितीय को कृष्ण यजुर्वेद भी कहा जाता है। शुक्ल यजु संहिता-मात्र है। कृष्ण यजु में संहिता तथा ब्राह्मण भाग का सम्मिश्रण है। शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय तथा १९७५ मंत्र हैं। इसकी काण्व तथा माध्यन्दिन नाम की दो शाखायें उपलब्ध हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखायें मिलती हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ तथा कपिष्ठल कठ। दाक्षिणात्यों में प्रायः इन्हीं शाखाओं का प्रचार है। सायणाचार्य कृष्ण यजुर्वेदी थे। उनसे पूर्व भट्ट भास्कर मिश्र हुए थे जिनका तैत्तिरीय संहिता पर 'ज्ञान यज्ञ' नामक भाष्य मैसूर से प्रकाशित हो चुका है। मैत्रायणी संहिता का सम्पादन तथा प्रकाशन डा० श्रोडर ने जर्मनी से किया था। कठ संहिता का सम्पादन भी इन्होंने किया था।

कपिष्ठल कठ शाखा पूर्णरूप में नहीं मिलती। इसके उपलब्ध अंश का सम्पादन डा० रघुवीर ने किया था जो १९३२ ई० में लाहौर से छपा था। ऋग्वेद की शाकल शाखा की भांति इसका विभाजन अष्टकों में है।

सामवेद में १८७५ मंत्र हैं जो पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक दो भागों में विभाजित हैं। बीच में महानाम्नी दस ऋचायें हैं। ऋषि सम्पूर्ण साम के आधार पर सामवेद की ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इसकी अपनी ऋचायें बहुत कम हैं। जिन पर सामगान गाये जाते हैं उन ऋचाओं को 'साम योनि' कहा जाता है। सामवेद के आचार्यों में जैमिनि ऋषि का नाम सर्व प्रथम आता है। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को सुमन्तु ने स्वपुत्र सुन्वान को और सुन्वान ने स्वपुत्र सुकर्मा को साम का ज्ञान

कराया। सुकर्मा के दो शिष्य थे —हिरण्यनाभ कौशल्य तथा पौष्यञ्जि। प्रथम को प्राच्य सामग और द्वितीय को उदीच्यसामग भी कहा जाता है। सामवेद की १००० शाखाओं में से अब केवल तीन ही शाखायें बची हैं जिनमें कौथुमीय गुजरात में, राणायनीय महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय कर्णाटक में प्रचलित है। प्रथम दो शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैमिनीय शाखा की एक अवान्तर शाखा तवलकार नाम से प्रख्यात है।

सामगान चार प्रकार के हैं— वेयगान (जो ग्रामगेय हैं) आरण्यक गान (जो ग्राम से बाहर गाये जाते हैं) ऊहगान तथा ऊह्यगान जिन्हें रहस्य गान भी कहा जाता है। प्रथम दो का सम्बन्ध पूर्वार्चिक से और शेष दो का सम्बन्ध उत्तरार्चिक के मंत्रों से है। साम के गेय मन्त्र स्तोत्र हैं तो ऋक मन्त्र शस्त्र हैं। स्तुतिपरक दोनों ही हैं केवल प्रगीत और अप्रगीत का अन्तर है। सामगान के पांच विभाग हैं-हिंकार प्रस्ताव (हु पूर्वक प्रारम्भ) उद्‌गीथ (ओं से प्रारम्भ उद्‌गाता का सामगान) प्रतिहार, तथा निधन (अन्त में ओं रहता है) इन गानों को प्रस्तोता उद्‌गाता तथा प्रतिहर्ता सब साथ मिलकर गाते हैं। गान में जो निरर्थक औ ही हा आदि पद जोड़े जाते हैं, वे स्तोभ कहलाते हैं।

अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा यज्ञ का प्रमुख ऋत्विक है। शरीर में जो वाणी है उसके तुल्य तो हैं होता आदि ऋत्विक परन्तु शरीर में जो मन है उसके तुल्य है ब्रह्मा। मन जैसे अन्य इन्द्रियों के कार्यों का समेकन करता है वैसे ही ब्रह्मा अन्य ऋत्विजों के कार्यों का। अथर्व को ब्रह्मवेद अंगिरो वेद अथर्वांगिरस वेद भृग्वेद तथा सोमवेद भी कहते हैं। इसमें एक ओर आयुर्वेद अभिचार, मोहन आदि विद्यायें हैं तो दूसरी ओर गंभीर अध्यात्म विद्या भी है। अथर्व का अर्थ ही है अविचल अवस्था।

अथर्व की नौ शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं— पिप्पलाद स्तौद मौद शौनकीय जाजल जलद ब्रह्मवद देवदर्श और चारण वैद्य। पिप्पलाद का नाम प्रश्नोपनिषद में भी आता है। इनकी शाखा 'शन्नोदेवी रभिष्टय' मन्त्र से प्रारम्भ होती थी। प्रचलित शौनक शाखा 'ये त्रिषप्ता' मन्त्र से प्रारम्भ होती है। गोपथ ब्राह्मण शौनक शाखा से ही संबद्ध है। इस शाखा में २० काण्ड ७३१ सूक्त तथा ५९७७ मंत्र हैं। इसके कुन्ताप सूक्तों को खिल भाग माना जाता है। अथर्व का पृथिवी सूक्त (१२ १) मानव जाति की एकता का परिचायक है। 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' भूमि हम सब मानवों की माता है, हम सब इस पृथ्वी के पुत्र हैं। यह कथन समग्र पृथ्वी को दृष्टि में रखता है, एक-एक देश को नहीं। एक-एक देश वाले भी अपने देश का पृथ्वी माता का ही एक रूप समझें और मानव मात्र को अपना बंधु। यह व्यापक दृष्टिकोण ही वास्तविक सभ्यता और संस्कृति का उन्नायक सिद्ध हो सकता है।

ख उपवेद

वेद के साथ उपवेद भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आयुर्वेद

धनुर्वेद यजुर्वेद का गान्धर्व वेद सामवेद का और अर्थवेद या शिल्पवेद अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। इन पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। आयुर्वेद पर चरक सुश्रुत शार्ङ्गधर वाग्भट माधवनिदान आदि धनुर्वेद पर क्षात्रशक्ति से सम्बद्ध शुक्रनीति धनुर्वेद संहिता द्रोण विद्या आदि गान्धर्ववेद पर नाट्य शास्त्र संगीत रत्नाकर संगीत मकरंद आदि और अर्थ वेद पर अर्थशास्त्र कामन्दकीय मय संहिता वाराह संहिता आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं। आयुर्वेद के प्रसार में आत्रेय पुनर्वसु, भरद्वाज धन्वन्तरि, अग्निवेश जतुकर्ण भेल पराशर क्षारपाणि आदि का विशेष हाथ रहा है।

ग ब्राह्मण

वेद की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ हैं जिन्हें प्रवचन भी कहा जाता है। ब्रह्मर्षे मन्त्र तस्य वाचक ब्राह्मण — वैदिक विषयों में यज्ञ प्रमुख है। ब्राह्मणों में अन्य विषयों के साथ यज्ञ का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता १ ५ १ के भाष्य में ब्राह्मणं नाम कर्मणः तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थ शब्दों द्वारा इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है। संहितायें प्राय पद्यात्मक हैं परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं। इनसे तत्कालीन भाषा का भी ज्ञान होता है। यह भाषा एक ओर वैदिक भाषा की झलक दिखाती है तो दूसरी ओर प्रचलित संस्कृत के रूप को भी प्रकट करती है। छोटे छोटे वाक्यों में विषय को स्पष्ट करना ब्राह्मण युगीन भाषा की विशेषता है।

ब्राह्मणों में ऋग्वेद के ऐतरेय तथा शांखायन यजुर्वेद का शतपथ कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय अथर्व का गोपथ तथा सामवेद के ताण्ड्य षड्विंश आर्षेय दैवत जैमिनीय वंश ब्राह्मण आदि प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और उपलब्ध हैं।

अनुपलब्ध ब्राह्मणों में शाट्यायन का नाम सायण तथा शंकर के भाष्यों में मिलता है। माल्लवि ब्राह्मण का उल्लेख महाभाष्य में है। आह्वरक का नाम चरणव्यूह में आता है। शतानि ब्राह्मण का उल्लेख महाभारत में है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध चरक श्वेताश्वतर मैत्रायणीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी आते हैं। इनके अतिरिक्त काठक खाण्डिकेय औखेय गालव तुम्बरु आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का कहीं न कहीं उल्लेख हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिदास ऐतरेय हैं। इनकी माँ का नाम इतरा था। इसमें ४० अध्याय ८ पंचिका तथा २८५ कंडिकायें हैं। इसके प्रारम्भ में अग्निष्टोम का वर्णन है जो सोमयाग का मूल है। इसमें अग्निष्टोम की विकृतियाँ उक्थ्य अतिरात्र तथा वाजपेय भी वर्णित हैं। अन्त में राजसूय तथा ऐन्द्र महाभिषेक और उस पर आधारित चक्रवर्ती राजाओं के महाभिषेक का वर्णन है। शुनःशेप का आख्यान इसी ब्राह्मण में है।

शांखायन ब्राह्मण में ३० अध्याय हैं। कौषीतकि आचार्य के मत को इसमें मान्यता प्रदान की गयी है और कौषीतकियों का संग्रह किमान के लिये आदर्श पंडित

स्वीकार किया गया है। इस ब्राह्मण के अनुसार 'रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम' रुद्र की महत्ता देवों में सर्वोपरि है। यज्ञ को विष्णु मानकर अग्नि को अवरार्घ्य तथा विष्णु को परार्घ्य कहा गया है। यह ब्राह्मण यज्ञ में पशु हिंसा को स्वीकार नहीं करता। इसके मतानुसार जो मनुष्य मांसभक्षी हैं वे परलोक में पशुओं द्वारा खाये जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं जिन्हें शुक्ल यजुर्वेद का प्रतिष्ठाता माना जाता है। इसके दो संस्करण हैं। एक में १४ तथा दूसरे में १७ काण्ड हैं जो क्रमश माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं से सम्बद्ध हैं। काण्डों के विषय क्रम में भी अन्तर है। दोनों का प्रमुख विषय दर्श पूर्णमास अग्निहोत्र पिण्डपितृ यज्ञ चातुर्मास्य नवान्नेष्टि सोमयाग वाजपेय याग राजसूय अश्वमेध पुरुषमेध सर्वमेध आदि यज्ञों का विवेचन है। द्वादशसत्र १२ दिनों तक चलने वाले क्रतु थे। ये सत्र इससे भी अधिक काल तक चलते थे। द्वादश काण्ड में सौत्रामणि तथा और्ध्वदैहिक अनुष्ठानों का विवरण है। बृहदारण्यक उपनिषद शतपथ ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग मानी जाती है।

यज्ञ को वैदिक वाङ्मय में श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा दी गई है। उसमें मन तथा वाणी दोनों का योग रहता है। मन आन्तरिक है, वाणी बाह्य। दोनों के सम्मान में आहुतियां दी जाती हैं। मन का सम्बन्ध पूर्वाधार आहुति से है तो वाणी का उत्तराधार आहुति से। मन प्राणपरक है वाणी रयिपरक। याज्ञिक मन है तो अग्नि वाणी है। याज्ञिक को दक्षिणा की आहुति मिलती है, तो अग्नि को हविष्य की। मन की आहुति बैठकर तो अग्नि की आहुति खड़े होकर दी जाती है। शतपथ १ ८ १ में उस जल-प्लावन का उल्लेख है जिसमें आज से सहस्रों पूर्व वर्ष समुद्र का जल बढ़ता हुआ हिमालय तक पहुंच गया था सब प्रजा नष्ट हो गयी थी और अकेले मनु बचे थे जिनकी नाव मत्स्य का धक्का पाकर हिमालय की चोटी से टकराई और मनु ऊंचाई पर पहुंच कर सुरक्षित हो गये। पानी घटा और सृष्टि का आरम्भ नये सिरे से हुआ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसकी भाषा प्राचीन है और वैदिक भाषा के निकट है। उसी की भांति यह स्वरांकित भी है। शतपथ की भाषा भी स्वरांकित है। यह तीन काण्डों में विभक्त है। पहले दो काण्डों में आठ प्रपाठक तथा तीसरे में १२ प्रपाठक हैं। इस ब्राह्मण में भी अग्न्याधान, वाजपेय सोम राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है। तृतीय काण्ड में नक्षत्रेष्टि का विवेचन है। वैश्वसृज याग द्वारा देवों के स्वर्गवास का भी वर्णन है।

ताण्ड्य ब्राह्मण सामवेद से सम्बद्ध है और पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण पंचविंश तथा महाब्राह्मण भी कहलाता है। इसमें वर्षों तक चलने वाले यागानुष्ठान वर्णित हैं। यथाक्रम ज्योतिष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञ आहीन कहे जाते हैं।

इसमें स्तोमों (त्रिवृत्पंचदश आदि) तथा सामों (रथन्तर बृहत् आदि) का भी वर्णन है। वत्स मेधातिथि तथा च्यवन ऋषियों के आख्यान इसी ब्राह्मण में हैं। इसमें व्रात्य यज्ञ का भी उल्लेख है जिसके द्वारा व्रात्य (आचारहीन आर्य) पुनः आर्य बन जाते थे।

षड्विंश ब्राह्मण ताण्ड्य ब्राह्मण का ही पूरक कहा जा सकता है। इसमें पांच प्रपाठक हैं। अन्तिम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है। 'तस्मात् ब्राह्मणो महोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते ४-५-४ की उक्ति मनुप्रोक्त न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् का स्मरण करा देती है।

सामविधान उपद्रवों की शान्ति तथा शत्रु को वशीभूत करने के उपायों का विधान करता है। आर्षेय ब्राह्मण में सामगायक ऋषियों का वर्णन है। दैवत ब्राह्मण में तीन खण्ड हैं जिनमें अग्नि इन्द्र आदि देवों के नाम तथा छन्द नामों के निर्वचन पाये जाते हैं। वंश ब्राह्मण में आचार्यों की वंश-परम्परा वर्णित है।

गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेदीय है। इसके दो भाग हैं — पूर्व तथा उत्तर। यह ब्राह्मण अथर्ववेद की महत्ता स्थापित करता है। इसमें ओम तथा गायत्री का स्तवन अश्वमेध गोमेध पुरुषमेध आदि यज्ञों का वर्णन और विविध आख्यायिकाओं का समावेश है। इसमें ब्राह्मण के लिये नाचने गाने का निषेध है। वरुण मृत्यु दीक्षित आदि शब्दों के अद्भुत निर्वचन भी इस ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त ब्राह्मणों में से कतिपय ब्राह्मणों के भक्ति संबन्धी निर्देशों का विवरण हमने अपने 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में दिया है।

घ आरण्यक एवं उपनिषद्

ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ आरण्यक तथा उपनिषद् भी संबद्ध हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के साथ तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् का सम्बन्ध है।

ऐतरेय ब्राह्मण के साथ ऐतरेय आरण्यक तथा ऐतरेय उपनिषद् हैं। इसी प्रकार शतपथ के साथ बृहदारण्यक तथा उपनिषद् और तलवकार ब्राह्मण के साथ तलवकार आरण्यक और केन तथा छान्दोग्य उपनिषदों का सम्बन्ध है। एक प्रकार से इन्हें ब्राह्मणों का ही भाग कहना चाहिये। आरण्यकों का महत्त्व यज्ञ-मीमांसा में नहीं तत्त्व विवेचन में है।

ऐतरेय आरण्यक में पांच विभाग हैं जिनमें से प्रथम तीन ऐतरेय द्वारा रचित हैं। चतुर्थ के रचयिता आश्वलायन तथा पंचम के रचयिता शौनक हैं। इस आरण्यक में प्राणों की कल्पना ऋषिरूप में की गयी है। प्राण ही गृत्समद है। शयन के समय इन्द्रियां प्राण द्वारा निगल ली जाती हैं। अतः प्राण गृत्स है। अपान के समय आनन्द होता है अतः प्राण मद है। प्राण ही विश्वामित्र है विश्वभर इसका मित्र है। प्राण ही वननीय या भजनीय होने के कारण वामदेव है। पापों से बचाने के कारण प्राण अत्रि है। प्राण ही वसिष्ठ है, बसाने वालों में श्रेष्ठ है। अतः प्राण ही

उपासनीय है।

इसके द्वितीय आरण्यक के अध्याय ४ ५ और ६ ऐतरेय उपनिषद् कहलाते हैं। शांखायन आरण्यक १५ अध्यायों में विभक्त है। कौषीतकी उपनिषद् इसी का एक भाग है। बृहदारण्यक उपनिषद् ही है। तैत्तिरीय आरण्यक में १० प्रपाठक हैं जिनमें से ७ ८ तथा ६ तीन प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् कहलाते हैं। प्रपाठकों के नाम उनके प्रथम शब्द पर आधारित हैं यथा भद्र, सहृव चिति आदि। दशम प्रपाठक नारायणीय उपनिषद् के नाम से प्रख्यात है।

उपनिषद् साहित्य भारतीय वाङ्मय में बहुचर्चित है। मुसलमान तथा अंग्रेज समान रूप से इसकी ओर आकृष्ट हुए। दाराशिकोह शोपनहावर आदि के नाम उपनिषद् प्रेमियों में प्रख्यात हैं। श्रीमद् भगवद्गीता को महाभारत का ही एक अंश है उपनिषद् रूपी गौ का दुहा हुआ दूध माना जाता है। उपनिषदों की संख्या तो बहुत है पर उनमें ११ उपनिषदें ही प्रामाणिक समझी जाती हैं। इनके नाम हैं ईश केन कठ प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य ऐतरेय तैत्तिरीय, छान्दोग्य बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनमें ईश कठ मुण्डक तथा श्वेताश्वतर पद्यमय हैं, शेष गद्यमय।

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है अन्तर है केवल मंत्रक्रम में तथा अन्तिम मंत्र में। इसमें ईश की महत्ता कर्म का प्राधान्य विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का भेद सत्यधर्म तथा सुपथ पर चलने की प्रार्थना आदि विषयों का वर्णन है। केन उपनिषद् मन तथा प्राण किससे प्रेरित होते हैं, इस प्रश्न के साथ प्रारम्भ होती है। इसमें यक्ष तथा हैमवती उमा का आख्यान आत्मज्ञान के लिये अतीव उपयोगी है। कठोपनिषद् में यम और नचिकेता का संवाद है। आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ का रूपक देकर शरीर से आत्मा को भिन्न माना गया है। मानव को अपनी साधना इसी आत्मा की उपलब्धि के लिये करनी चाहिये। प्रश्न उपनिषद् में ६ प्रश्न हैं। पूछने वाले हैं—सुकेशा सत्यकाम सौर्यायणि आश्वलायन भार्गव और कबन्धी। उत्तर देने वाले हैं पिप्पलाद। प्रथम प्रश्न है-यह समस्त प्रजा किससे उत्पन्न होती है ? उत्तर है प्रजापति के ईक्षण और तप से। प्राण और रयि प्रजा के पिता और माता बनते हैं। आगे के प्रश्नों में प्रजा को धारण करने वाले देव प्राण की उत्पत्ति और पुनर्जन्म शयन करने तथा जगने वाले देव ओंकार का ध्यान तथा षोडश कलाओं का वर्णन है। मुण्डक संसार रूपी वृक्ष पर बैठे दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा के वर्णन से प्रारम्भ होती है। इसमें आत्मसिद्धि के साधक सत्य का महत्व तथा सिद्ध पुरुष के चिन्हों का वर्णन है। माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटी है पर बहुमूल्य सामग्री से संयुक्त है। इसमें ओम की महिमा तथा चतुष्पाद आत्मा का वर्णन है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षावल्ली ब्रह्मानन्द वल्ली तथा भृगुवल्ली नाम के तीन अध्याय हैं। शिक्षावल्ली में स्वाध्याय और प्रवचन का महत्व,

ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मप्राप्ति के साधन और भृगुवल्ली में ब्रह्म का स्वरूप तथा आत्म ज्ञान का परा वर्णित हुआ है। ऐतरेय उपनिषद में मनुष्य शरीर का महत्व पुरुष का प्रवेश और परोक्षप्रिय देवों का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् विश्वकारण की व्याख्या करती हुई द्वैतवाद की स्थापना करती है। इसमें ईश्वर भक्ति जीवात्मा की कृपा निवृत्ति तथा जीव, ईश्वर एवं प्रकृति के स्वरूप की व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद प्रणव की उपासना से प्रारम्भ होती है। इसमें १० प्रपाठक हैं जिनमें देवासुर संग्राम मागतिककालीन धर्म विश्वव्यापी यज्ञ और सामगान धर्म के स्कन्ध तीन सवन आत्मस्वरूप ब्रह्म से वारपाद ज्येष्ठ और श्रेष्ठ प्रवाहण गौतम संवाद महापाप जगत की रचना तत्वमसि सिद्धान्त सनत्कुमार और नारद का संवाद भूमा ब्रह्मपुर और ब्रह्मलोक पितृलोक आत्मा का स्वरूप आदि विषय वर्णित हुये हैं।

बृहदारण्यक में छ: अध्याय हैं जिनमें सृष्टि रचना देवासुर संग्राम वर्ण-भेद भय तथा अभाव तीन लोक नाम रूप कर्म मूर्त अमूर्त, याज्ञवल्क्य मत्रेयी संवाद मधु विद्या हृदयवाद आत्मा और उसकी अवस्थायें सकाम-निष्काम कर्म प्रजापति का उपदेश द' उक्थ पंचाग्नि विद्या आदि विषयों का महत्वपूर्ण विवेचन है।

ङ वेदांग

वेदरूपी वृक्ष से उसके अंगों का भी आविर्भाव हुआ। ये वेदांग कहलाते हैं और संख्या में छ: हैं। षडंगों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण पूर्व १।२७ में है। मनुस्मृति ३।१८५ में षडगवित् तथा ४।९८ में वेदांगानि पदों का उल्लेख हुआ है। वाल्मीकि रामायण भी 'वेद षडंग पारग द्विजोत्तमों' का नाम लेती है। महाभारतकार शान्ति पर्व २८४।९२ में षडंगों का उद्भव वेदों से स्वीकार करता है। जैसे शिव को व्याकरण का आदि आचार्य कहा जाता है वैसे ही अन्य वेदांगों का भी। बृहस्पति ने भी वेदांगों का प्रचार किया है। विद्या-परम्परा में वेद तथा वेदांगों के ज्ञाता को श्रोत्रिय कहा गया है। पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में न्याय भाष्य के आचार्य चाणक्य का जो पक्षिल स्वामी के नाम से भी प्रख्यात है, निम्नांकित वचन उद्धृत किया है –

'य एव मन्त्र ब्राह्मणस्य द्रष्टार प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहास पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च इति। जिन महात्माओं ने मन्त्रार्थ को देखा और उसका व्याख्यान किया उन्हीं ने इतिहास पुराण और धर्म शास्त्र का भी। अतएव वेदांगों का निर्माण भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा ही हुआ है।

शिक्षा वेदांगों में शिक्षा, का अंग सर्व प्रमुख है। पाणिनीय शिक्षा' के अनुसार " मन्त्रोहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतो ऽ पराधात् मन्त्र यदि स्वर या वर्ण

से विहीन होकर पढ़ा जायगा तो वह मिथ्या प्रयोग के कारण अभिमत अर्थ नहीं दे सकेगा। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही विनाश कर देगा जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्द स्वर के अपराध से यजमान का विनाशक सिद्ध हुआ।

शिक्षा के छ विषय हैं— वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। वर्ण ६४ हैं। स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। मात्रा उतने समय को कहते हैं जितने में वर्ण का उच्चारण होता है। यह तीन प्रकार की है—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। बल स्थान और प्रयत्न का द्योतक है। स्थान आठ हैं—जिह्वा-मूल, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, उपध्मा और नासिका। प्रयत्न दो प्रकार का है-आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर के चार प्रकार हैं स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत। बाह्य के ११ प्रकार हैं विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। साम का अर्थ है मंत्र को साम्य भाव से पढ़ना। पढ़ने में मंत्र का प्रत्येक अक्षर व्यक्त जान पड़े, स्वर सुन्दर हो, लय युक्त हों, पढ़ने में अधीरता तथा व्यग्रता न होकर धैर्य तथा माधुर्य हो। गाकर पढ़ना, शीघ्रता करना, सिर हिलाना, लिखित पुस्तक से तथा बिना अर्थ समझे पढ़ना-या मंद स्वर से पढ़ना अच्छा नहीं समझा गया है। शंका या भय से पढ़ना, नासिका-उपांशु-काकस्वर आदि से पढ़ना, दांत पीस कर, विलम्बित होकर या अक्षरों को पीस कर पढ़ना निन्दनीय है। पाणिनीय शिक्षा या राजशेखर की काव्यमीमांसा इस संबंध में पठनीय है। सन्तान का अर्थ है विस्तार या पद-संनिधि। एक पद दूसरे पद के साथ सम्बद्ध होकर विस्तृत होता जाता है। संधि दो पदों को जोड़ने वाली है। पृथक रूप से एक-एक पद का अस्तित्व है परन्तु मंत्र में पद स्वाधीन नहीं एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। सन्तान इसी संबंध तथा संधि का नाम है जो पद को आगामी पद से मिलाकर मंत्रार्थ का विस्तार करती है।

शौनक कृत ऋक् प्रातिशाख्य में ऋचाओं के उच्चारण, स्वर-विधान, सन्धि आदि का विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद पर कात्यायन मुनि का प्रातिशाख्य है। कात्यायन इसी के कारण स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता की उपाधि से विभूषित हैं। कृष्ण यजुर्वेद या तैत्तिरीय शाखा का भी प्रातिशाख्य है जो १२ १२ अध्यायों के दो खण्डों में विभक्त है। इसमें भी स्वर आदि का विवेचन है। सामवेद पर पुष्पसूत्र नाम का प्रातिशाख्य है जिसके दस प्रपाठकों में स्तोभ अर्थात् गेय अरण्य आदि गानों का विशद वर्णन है। ऋक्तन्त्र सामवेद की कौथुमी शाखा का प्रातिशाख्य है जिसमें २८७ सूत्र हैं और पांच प्रपाठक हैं। इसके रचयिता शाकटायन माने जाते हैं। अथर्ववेद के तीन प्रातिशाख्य प्रकाशित हो चुके हैं। एक है व्हिटने द्वारा सम्पादित तथा अनुवादित

शौनकीया चतुराध्यायिका। दूसरा है अथर्व प्रातिशाख्य सूत्र जो लाहौर से प्रकाशित हुआ था। तीसरा है अथर्व प्रातिशाख्य। यह भी लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इन प्रातिशाख्यों से वेदों के मूल पाठ पर भी प्रकाश पड़ता है।

पाणिनीय शिक्षा के अतिरिक्त सामवेद से सम्बद्ध नारदीय शिक्षा गौतमी शिक्षा तथा लोमशी शिक्षा जिनमें नारदीय शिक्षा पर शोभाकर भट्ट की विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध होती है अथर्ववेद से सम्बद्ध माण्डूकी शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध याज्ञवल्क्य शिक्षा वासिष्ठी शिक्षा माध्यन्दिन शिक्षा आदि और ऋग्वेद के स्वर आदि से सम्बद्ध कात्यायनी पाराशरी प्रातिशाख्य प्रदीप आदि शिक्षा ग्रन्थ हैं। इन्हीं के आधार पर डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपना Phonetic Observations of ancient Hindus नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है।

कल्प—वेदविहित कर्मों की क्रमबद्ध व्यवस्था करने वाले शास्त्र को कल्प कहते हैं। इसके ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखे गये हैं और चार प्रकार के हैं — श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। श्रौत सूत्रों में दर्श पौर्णमास आग्रयण सोमयाग वाजपेय राजसूय सौत्रामणि अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। गृह्यसूत्रों में षोडश संस्कारों की विधि का विस्तार है। धर्मसूत्रों में चारों वर्णों तथा आश्रमों और राजनीति का विवेचन है। शुल्वसूत्रों में यज्ञ-वेदी के निर्माण का विधान है।

ऋग्वेद के आश्वलायन तथा शांखायन नाम के दो श्रौत तथा गृह्यसूत्र हैं। यजुर्वेद कात्यायन श्रौत सूत्र २६ अध्यायों में कर्कभाष्य के साथ चौखम्भा वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। यजुर्वेद का गृह्यसूत्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। इसमें तीन काण्ड हैं। कात्यायन रचित शुल्वसूत्र भी काशी से प्रकाशित हो चुका है। कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्र हैं — आपस्तम्ब हिरण्यकेशी या सत्याषाढ़ वैखानस बौधायन भारद्वाज तथा मानव।

श्रौतसूत्र जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध है। कौथुमी शाखा का गोभिल गृह्यसूत्र प्राचीन है। राणायनीय शाखा का खादिर गृह्यसूत्र तथा जैमिनीय शाखा का जैमिनीय गृह्य सूत्र क्रमशः मैसूर तथा लाहौर से प्रकाशित हुए थे।

अथर्ववेद का वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र क्रमशः लन्दन तथा अमेरिका से प्रकाशित हुए हैं। डा० गार्बे ने प्रथम तथा ब्लूमफील्ड ने दोनों पर अनुवाद तथा टिप्पणियाँ लिखी हैं। यातु विद्या तथा औषध विज्ञान के लिए ये सूत्र अतीव उपयोगी हैं।

धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन मानवसूत्र है जिनका उल्लेख गोभिल आदि ऋषियों ने किया है परन्तु ये मनु प्रोक्त धर्मसूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। इन सूत्रों के आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण हुआ। इस स्मृति में मिलावट भी होती रही। यह मनुस्मृति कई संस्करणों में आज उपलब्ध है। मानव धर्मसूत्र के उपरान्त प्राचीनता में गौतमधर्मसूत्रों का स्थान है। ये सूत्र हरदत्त की व्याख्या के साथ आनंदाश्रम पूना से और मस्करि भाष्य के साथ मैसूर से प्रकाशित हुए हैं। बौधायन तथा वसिष्ठ दोनों ने अपने — अपने धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्रों से सहायता ली है। बौधायन धर्मसूत्र भी प्राचीन है। इसमें पुरातन धर्माचार्यों के नामों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रों की भाषा बौधायन से भी प्राचीन है। इसमें अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें भी प्राचीन धर्म सूत्रकारों तथा आचार्यों के नाम आते हैं यथा-काण्व कुणिक कौत्स वार्ष्यायणि हारीत श्वेतकेतु आदि। आपस्तम्ब धर्म-सम्बन्धी अनेक विषयों से पूर्ण होने पर भी वर्ण संकर जातियों का कोई विवरण नहीं देता जो प्रायः सभी धर्मसूत्रों या स्मृतियों की विशेषता है। हिरण्यकेशी धर्मसूत्र आपस्तम्ब धर्म सूत्र की ही छाया है। विष्णु धर्मशास्त्र मनुस्मृति का अनुकरण करता है। हारीत और शंख के धर्मसूत्र भी प्राप्त हुये हैं। वसिष्ठ धर्मशास्त्र छोटा है परन्तु है महत्वपूर्ण। इसमें ऋग्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद के मंत्र उद्धृत किये गये हैं। मनुस्मृति से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आजकल इसमें ३० अध्याय पाये जाते हैं परन्तु हस्तलिखित प्रतियों में अध्यायों की संख्या भिन्न भिन्न है। अतः इसके मूलरूप का पहिचानना कठिन है। गौतमधर्मशास्त्र के साथ इसका साम्य अधिक है। संभव है दोनों की सामग्री किसी प्राचीन ग्रन्थ से ली गयी हो।

याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में वसिष्ठ को उद्धृत करते हैं। परवर्ती कुमारिल विश्वरूप मेधातिथि आदि भी सम्मानपूर्वक उनके नाम का स्मरण करते हैं। वसिष्ठ धर्मशास्त्र सूत्रों की शैली में लिखा गया है श्लोक भी कहीं कहीं पर आते हैं। इसके प्रारम्भ में आचार मध्य में व्यवहार तथा अन्त में प्रायश्चित्त का विधान वर्णित है। मनु की भाँति वसिष्ठ का भी मत यही है कि आचार ही सबका प्रमुख धर्म है। आचार से हीन ब्राह्मण भले ही सांगवेदों को पण्डित हो और याज्ञिक हो, पर उसे

धर्मात्मा नहीं माना जा सकता । [1]वसिष्ठ का आदेश है —

'धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत मानृतम् ।
दीर्घं पश्यत माह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥' ३०-१ ॥

धर्म पर चलो अधर्म पर नहीं । सत्य बोलो झूठ नहीं । दूरदर्शी बनो, अल्पता से ही मत चिपके रहो । पर अर्थात् श्रेष्ठ को देखो अपर अर्थात् नीच को नहीं । वसिष्ठ ने प्रारब्ध की अपेक्षा कर्ममार्ग को श्रेयस्कर माना है । मनु की स्मृति सर्वांगपूर्ण है । उसमें सभी विषयों का विशद विवेचन पाया जाता है ।

निरुक्त—निरुक्त व्याकरण से पृथक एक विद्या है जिसे निर्वचन विद्या भी कहा जाता है । निरुक्त नाम के कई ग्रन्थ थे, परन्तु इस समय यास्कप्रणीत निरुक्त ही उपलब्ध है । यह निघण्टु की व्याख्या है । निघण्टु के रचयिता प्रजापति कश्यप माने जाते हैं । निघण्टु यास्क के अनुसार समाम्नाय है । यास्क ने निघण्टु के तीन अर्थ किये हैं —निगमनात् निगन्तु । निगन्तु का ही निघण्टु रूप हो गया । आहननात् निहन्तु । यह निहन्तु शब्द निघण्टु में परिणत हुआ । आहरणात् निहर्तु । निहर्तु का निघण्टु हुआ । निगम मन्त्रों के नाम का नाम है । ऐसे निगम यास्क के द्वितीय नैगम काण्ड में उद्धृत हुए हैं । आहन् का अर्थ है—आ=चारों ओर से एकत्र करके हन्=पढ़ना । हन् धातु का यह अर्थ प्राचीन है । यथा ब्राह्मणवत्स्म आहतम्—ब्राह्मण ग्रन्थ में यह पढ़ा गया है । नैघण्टुक काण्ड में गौ ग्मा ज्मा जैसे एकार्थवाची शब्द एकत्र पढ़े गये हैं । आहरण का अर्थ है चारों ओर से खींच लेना । इस प्रकार से अर्थ प्रकट करने के लिये मन्त्रों से कठिन पद खींचे गये । ये पद एकार्थवाची नहीं हैं । भिन्न भिन्न अर्थों के द्योतक हैं । निघण्टु के इन तीन अर्थों के कारण यह तीन प्रकार का हो जाता है ।

निघण्टु के मूल रचयिता परम्परा में प्रजापति कश्यप माने जाते हैं । निघण्टु में पाँच अध्याय हैं । प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है । चतुर्थ अध्याय नैगमकाण्ड है और पाँचवाँ अध्याय दैवत काण्ड कहलाता है ।

निघण्टु के व्याख्यापरक ग्रन्थ निरुक्त हैं । यास्क का निरुक्त प्रख्यात है ही, परन्तु उसके पहले १२ निरुक्तकार और हो चुके हैं । दुर्गाचार्य ने 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम्' ऐसा लिखा है । इनमें आग्रायण औपमन्यव और्णनाभ कात्थक्य गार्ग्य गालव वार्ष्यायणि शाकपूणि स्थौलाष्ठीवि आदि के नाम स्वयं यास्क ने अपने निरुक्त में उनके मतों के साथ लिखे हैं । इनके ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं । केवल यास्क-रचित निरुक्त का ही पठन-पाठन प्रचलित है ।

निरुक्त पर दुर्गाचार्य की टीका प्राचीनतम है । दुर्ग से पहले के टीकाकारों के नाम भी मिलते हैं परन्तु उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । दुर्ग के उपरान्त स्कन्दमहेश्वर की टीका भी पाण्डित्यपूर्ण है । स्कन्द स्वामी के पिता का नाम भर्तृध्रुव था । इनका

---

(१) आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः ।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥ १४ ॥

ऋग्वेद पर भाष्य भी प्राप्त होता है। दुर्गाचार्य ने अन्य वेदांगों की तुलना में निरुक्त को महत्ता दी है, क्योंकि यह वेदार्थ का ज्ञान कराता है।

छन्द— छन्द छादनात्। छन्द की छन्दता है भावों को आच्छादित करने के कारण। छन्द में भाव छन्दित हो जाता है। छन्द भाव को बांध लेते हैं। छन्द के परिज्ञान के लिये आचार्य पिंगल का छन्द सूत्र प्रसिद्ध है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों के लक्षण मिलते हैं। भट्ट हलायुध ने इस पर मृत संजीवनी नाम की टीका लिखी है जो कलकत्ता से प्रकाशित हो चुकी है।

पाणिनीय शिक्षा (१ ४१) में 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' शब्दों द्वारा छन्द को वेद के पैर कहा गया है। छन्द वेद मंत्र का आधार है। वेद के सभी मंत्र छन्दात्मक नहीं हैं। यजु तथा अथर्व में गद्यभाग भी पर्याप्त है परन्तु उसे भी छन्द की संज्ञा प्राप्त है। यजु के गद्यमय मंत्र-भाग के ऊपर भी छन्द का नाम लिखा रहता है। पुरुषसूक्त में जहां चार वेदों के नाम आये हैं वहां छन्द शब्द अथर्व वेद के लिये आया है। पाणिनि ने छन्द का प्रयोग समग्र वेद के लिये भी किया है। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण इस प्रकार किया है — यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। वैदिक छन्दों में अक्षरों की संख्या परिगणित होती है ह्रस्व–दीर्घ मात्रा–भेद की नहीं। सामान्यतः छन्द चार चरणों का होता है परन्तु वेद में गायत्री तीन चरणों की तथा पंक्ति छन्द पांच चरणों का होता है। एक पाद तथा दोपाद वाले मंत्र भी वेद में पाये जाते हैं परन्तु प्रधानता चार चरणों वाले मन्त्रों की ही है। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में छन्द चार चरणों वाले ही हैं यद्यपि हिन्दी में कुछ छन्द जैसे छप्पय तथा कुण्डलिया छः चरणों के हैं। इन छन्दों का विस्तार वैदिक छन्दों से ही हुआ है। वेद का अनुष्टुप महर्षि वाल्मीकि की रामायण का आधार छन्द बना और परवर्ती साहित्य में उसका बाहुल्य से प्रयोग हुआ। त्रिष्टुप से इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्र-वज्रा का उदय हुआ। वसन्ततिलका शक्वरी से उत्पन्न हुआ। शक्वरी सामगायकों का प्रिय छन्द है। संस्कृत और हिन्दी में कुछ गणात्मक छन्द भी हैं जिनके चरणों में अक्षर तथा मात्रायें समान रहती हैं। वेद में इस प्रकार के छन्द नहीं हैं। वेद की भांति हिन्दी तथा संस्कृत में समाक्षरात्मक छन्द हैं।

पीछे संगीत पर लिखते हुए हम वैदिक छन्दों पर अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। अनुक्रमणिकाओं में आचार्यों ने प्रत्येक संहिता के छन्दों का वर्णन सूक्ष्मेक्षिका से किया है। ऋक् प्रातिशाख्य ऐसा ही ग्रन्थ है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में भी ऋग्वेद के छन्दों का विवेचन है।

वैदिक छन्द समाक्षरात्मक हैं परन्तु ऋक् प्रातिशाख्य १७–२ के अनुसार किसी छन्द के एक पाद में अक्षरों की संख्या न्यूनाधिक भी हो जाती है। ऐसी दशा में छन्द का नाम बदल दिया जाता है। गायत्री त्रिपदा और चतुर्विंशति अक्षरा है परन्तु कभी कभी एक पाद में एक अक्षर कम हो जाता है तो उसे निचृद् गायत्री और एक

अक्षर अधिक हो जाता है तो उसे भुरिग् गायत्री कहा जाता है। कभी कभी दो अक्षरों का भी न्यूनाधिक्य हो जाता है। यथा २२ अक्षरों की गायत्री विराट गायत्री और २६ अक्षरों की स्वराट् गायत्री कहलाती है।

जब किसी अक्षर की कमी हो तो छन्द के उच्चारण को शुद्ध रखने के लिये संयुक्ताक्षर का व्यूहन कर देते हैं, यथा— गायत्री के प्रथम चरण में सात अक्षर हैं, उन्हें आठ बनाने के लिये वरेण्यम् को वरेणियम् पढ़ेंगे। इसी प्रकार स्वं को सुवं, त्व को तुव मोज्य को भो मव प्रह्वं तु को प्रह्व एतु पढ़ा जायगा।

गायत्री के तीनों चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। उष्णिक के प्रथम दो पद आठ-आठ अक्षरों के और तीसरा १२ अक्षरों का होता है। पुर उष्णिक में इसके विपरीत प्रथम चरण १२ अक्षरों का तथा शेष दो आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। ककुप के तीनों चरण ८ १२-८ अक्षरों के और अनुष्टुप के चारों चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। बृहती के १ २ ४ चरणों में आठ-आठ परन्तु तृतीय चरण में १२ अक्षर होते हैं। सतो बृहती में अक्षरों का क्रम १२-८-१२-८ होता है। पंक्ति के पांचों चरण आठ-आठ अक्षर रखते हैं। प्रस्तार पंक्ति में चार ही चरण होते हैं जिनमें अक्षरों का क्रम १२-१२-८-८ होता है। त्रिष्टुप के चारों चरण ११-११ अक्षरों के और जगती के चारों चरण १२-१२ अक्षरों के होते हैं। इन्हीं छन्दों के और भी अनेक भेद वेद में पाये जाते है। संस्कृत तथा हिन्दी में छन्दशास्त्र का अधिक विकास हुआ। यादव प्रकाश ने अपने पिंगल-छन्द सूत्र भाष्य के अन्त में छन्द शास्त्र के आचार्यों के नाम परम्परा के रूप में इस प्रकार दिये हैं — भव (महादेव) बृहस्पति दुश्च्यवन (इन्द्र), शुक्र माण्डव्य सैतव यास्क और पिंगल। एक परम्परा और भी है जिसमें महादेव के पश्चात गुह तथा सनत्कुमार के पश्चात बृहस्पति का नाम आता है और इन्द्र के पश्चात पतञ्जलि तथा पतञ्जलि के शिष्य पिंगल लिखे गये हैं। पतञ्जलि फणिपति हैं तो पाणिनि तथा पिंगल दोनों भ्राता नागवंशीय हैं। परवर्ती कृतियों में आचार्य दण्डी का छन्दों विचिति जयकीर्ति का छन्दोऽनुशासन कालिदास का श्रुतबोध केदार भट्ट का वृत्त रत्नाकर गंगभट्ट का छन्दों मंजरी आदि प्रख्यात ग्रन्थ हैं। हिन्दी में भानु जी के छन्द प्रभाकर की टक्कर का ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। बेताब जी का प्रासपुञ्ज भी अच्छा ग्रन्थ है।

ज्योतिष — ज्योतिष की महत्ता सिद्धान्त-शिरोमणिकार के इस श्लोक से सिद्ध होती है —

वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यत स्यात् वेदाङ्गत्वं
ज्योतिष स्योक्तमस्मात्॥

वेद यज्ञकर्म में प्रवृत्त हैं। यज्ञ कालाश्रित हैं। कालज्ञान ज्योतिष से होता । अतः ज्योतिष की महत्ता निर्विवाद है।

वेद हमें ज्योतिष के विज्ञान से परिचित कराता है यह हम प्रमाण पूर्वक पीछे य चुके हैं। वेदों के आधार पर परवर्ती युग में यजुर्वेद से सम्बन्धित याजुष

ज्योतिष तथा ऋग्वेद से सम्बन्धित आर्च ज्योतिष का निर्माण हुआ । प्रथम में ४३ तथा द्वितीय में ३५ श्लोक हैं । इन श्लोकों पर व्याख्यायें भी लिखी गई हैं । पाश्चात्य व्याख्याकारों में डा० थीबो का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने १८७७ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में इस विषय पर लेख लिखे थे । लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने वेदाङ्ग ज्योतिष अंग्रेजी में तथा शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने भारतीय ज्योतिष शास्त्र मराठी में लिखा था । सुधाकर द्विवेदी ने वेदाङ्ग ज्योतिष का संस्कृत में भाष्य किया था । काशी-वासी सोमाकर जी ने भी प्राचीनकाल में इस पर अपना भाष्य लिखा था । आर्च ज्योतिष श्लोक २ में महात्मा लगध को वेदाङ्ग ज्योतिष का रचयिता माना गया है ।

संस्कृत में, ज्योतिर्विदाभरण सिद्धान्त भास्कर, ज्योतिषचन्द्रिका मुहूर्त चिन्ता मणि पारस्करीय शीघ्रबोध आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । वराहमिहिर तथा आर्यभट्ट ज्योतिष् विज्ञान के लिये प्रख्यात हैं ।

भारत में ज्योतिष विज्ञान के लिये वेधशालाओं का निर्माण हुआ था । उज्जयिनी की वेधशाला बहुत दिनों तक कार्य करती रही । अब उसकी देख-रेख करने वाला कोई भी नहीं है । जयपुर में राज्य की ओर से एक वेधशाला बनाई गई । वह अब भी चल रही है । दिल्ली का जंतर-मंतर भग्न अवस्था में है । अब तो ग्रीनविच की वेधशाला ही सर्वोपरि है और ग्रहों की चाल गणित आदि सब उसी से संचालित होता है । जिस ज्योतिष का केन्द्र कभी भारत की उज्जयिनी नगरी थी उसका केन्द्र अब इंग्लैण्ड में पहुँच गया है ।

व्याकरण — जिस प्रकार ज्योतिष वेदपुरुष का चक्षु है, उसी प्रकार व्याकरण वेदपुरुष का मुख है । ऋग्वेद का निम्नांकित मन्त्र व्याकरण शास्त्र का बीज माना जाता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ ४-५८ ३

व्याकरण को इस मन्त्र में वृषभ से उपमित किया गया है । यह महादेव मनुष्यों में प्रविष्ट है । इसके चार सींग हैं — नाम आख्यात उपसर्ग और निपात । तीन पैर हैं — भूत वर्तमान और भविष्य । इसके दो सिर हैं — सुप् और तिङ् । इसके सात हाथ हैं — सात विभक्तियाँ । यह तीन स्थानों में बंधा है — सिर कण्ठ और हृदय ।

व्याकरण का विषय वाणी है । मानव जीवन के समस्त व्यापार वाणी द्वारा ही सम्पादित होते हैं । यह वाणी चार प्रकार की है "चत्वारि वाक परिमिता पदानि" ये चार भेद बाहर से भीतर तक चले गए हैं और वाणी के मूल स्रोत का भी निर्देश करते हैं । वाणी का जो बाहर का भाग है उसकी संज्ञा वैखरी है । मानव इसी का प्रयोग करते हैं । देश भेद से इनके भी अनेक भेद हैं । वैखरी के पीछे मध्यमा वाणी है जिसका स्थान मन है । मध्यमा के भी पीछे पश्यन्ती [illegible] है जिसका स्थान महत्तत्त्व या व्यापक बुद्धि तत्त्व है । पश्यन्ती का पीछे

जो आत्मा के साथ रहती है।

पाणिनीय शिक्षा में वाणी के प्राकट्य का वर्णन इस प्रकार है —

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनस्तु कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तु चरम् मन्द्रं ततो जनयति स्वरम्॥

आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों के साथ सगमन करती है और बोलने की इच्छा से मन को युक्त करती है। मन कायाग्नि पर चोट करता है। कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है और प्राण धीरे-धीरे चल कर स्वर या वाणी को उत्पन्न करता है।

जो वाणी प्रकट हो जाती है उसे तो हम सब जानते हैं परन्तु उसके जो तीन आभ्यन्तररूप हैं उन्हे सब नहीं मनीषी ब्राह्मण ही जान पाते हैं। 'त्रीणि पदा निहिता नेंगयन्ति' वाणी के तीन पद भीतर छिपे हैं इंगित नहीं हो रहे। 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' वाणी का चतुर्थरूप ही व्याकरण का विषय बनता है।

व्याकरण का प्रारम्भ कैसे हुआ? इस विषय पर तैत्तिरीय संहिता का निम्नांकित उद्धरण ध्यातव्य है —

वाग् वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु इति। सोऽब्रवीत् वरं वृणे। मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यता इति। तस्मात् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतो ऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।

प्राचीन काल की वाणी अव्याकृत थी। देवों ने इन्द्र से कहा–हमारी इस वाणी को व्याकृत कर दो। इन्द्र ने कहा 'अच्छा'। मेरे लिये और वायु के लिये यह साथ साथ ग्राह्य बनेगी। इसीलिये इन्द्र और वायु सम्बन्धी वाक् एक साथ ग्रहण की जाती है। इन्द्र ने उस वाणी को बीच से चीर कर या क्रम विश्लेषण करके व्याकृत कर दिया। इसी हेतु यह व्याकृत वाणी बाली जाती है। इन शब्दों द्वारा तैत्तिरीय संहिता कार इन्द्र को प्रथम वैयाकरण मानता है। महर्षि शाकटायन ऋक्तंत्र में इस क्रम को और पीछे तक ले गये हैं। उनके अनुसार ब्रह्मा सर्व प्रथम व्याकरणकार हैं। उन्होंने इस शास्त्र का ज्ञान बृहस्पति को दिया। बृहस्पति से इन्द्र को इन्द्र से भरद्वाज को भरद्वाज से ऋषियों को और ऋषियों से ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इसी तथ्य का समर्थन किया है। ब्रह्मा का उन्होंने छोड़ दिया है और लिखा है – बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्चाध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रम् अध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम। (पतञ्जलि निक) बृहस्पति वक्ता थे। इन्द्र विद्यार्थी थे। सहस्र दिव्यवर्षों तक अध्ययन का क्रम चला परन्तु व्याकरण शास्त्र का अन्त न मिला।

शाकटायन ब्रह्मा को मूल वैयाकरण मानते हैं तो एक सांप्रदायिक किम्वदन्ती महेश्वर को यह गौरव प्रदान करती है। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्र महादेव के डमरु की ध्वनिमात्र हैं। बृहस्पति और इन्द्र अपने अपने स्थान पर हैं। महेश्वर ने भी बृहस्पति को ही व्याक[illegible]

निस्सृत होकर व्याकरण अपनी पूर्णता में कम होता गया। माहेश्वर (या ब्राह्म) व्याकरण समुद्र था तो बृहस्पति का व्याकरण–ज्ञान अर्धकुम्भ–भरित जल के समान रह गया। उसका भी यत्किंचित् ऐन्द्र व्याकरण बना और पाणिनि के पास तो कुशाग्र बिन्दु ही रह गये।

बोपदेव ने वैयाकरणों के नाम इस प्रकार दिये हैं —

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः॥

इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न आपिशलि शाकटायन पाणिनि अमर जैनेन्द्र जयन्ती ये आदि शाब्दिक अर्थात् शब्दानुशासन कर्ता हैं। इन वैयाकरणों के साथ नन्दिकेश्वर वररुचि बोपदेव अनुभूति स्वरूपाचार्य, कयट नागेश भट्ट भट्टोजी दीक्षित आदि के नाम भी प्रख्यात हैं।

पाणिनि का व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है और उसमें चार हजार सूत्र हैं। कात्यायन ने इस पर वार्तिक लिखा और पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की। व्याकरण में यही तीन मुनि प्रामाणिक माने जाते हैं और तीन में भी क्रमशः उत्तरो तर प्रामाण्य के अधिकारी हैं। एक प्राचीन व्याडि महर्षि भी 'संग्रह' नामक व्याकरण के रचयिता माने गये हैं, पर उनका ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। वामन तथा जयादित्य की लिखी काशिकावृत्ति भी अष्टाध्यायी की विशद व्याख्या करती है। जिनेन्द्र बुद्धि का लिखा न्यास भी काशिका वृत्ति की व्याख्या में लिखा गया है। हरदत्त की पद मंजरी भी काशिका की ही व्याख्या करती है।

महात्मा भर्तृहरि का वाक्यपदीय दर्शनपरक व्याख्या के कारण व्याकरण का अनूठा ग्रन्थ माना जाता है। भर्तृहरि शैव थे। इनके अनुसार स्फोट ही एकमात्र तत्त्व है। शब्द या ध्वनि ही रचना के मूल में है। ब्रह्माण्ड शब्द या ध्वनि (स्फोट) का ही परिणाम है। 'शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदुः'[1]। अद्वैतवाद के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में वैदिक सम्प्रदाय स्वर शब्द को सृष्टि का मूल कारण (ओमासः चर्षणीधृतः) स्वीकार करता है। आकाश रचना में प्रथम तत्त्व है और उसका गुण शब्द ही है। मनु ने भी लिखा है — वाच्यर्थाः नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिस्सृताः। ४-२२६॥

महाभाष्य पर कय्यट द्वारा विरचित भाष्य प्रदीप एक प्रख्यात ग्रन्थ है जिस पर नागेश भट्ट ने अपना उद्योत लिखा है। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी शब्द कौस्तुभ और मनोरमा नाम के तीन ग्रन्थ लिखे। नागेश भट्ट ने पाणिनीय परि- भाषाओं को स्पष्ट करने वाला परिभाषेन्दु शेखर लिखा। भट्टोजि दीक्षित की मनोरमा पर इन्होंने अपना व्याख्यात्मक शब्देन्दु शेखर लिखा। इनकी लघुमञ्जूषा भी शब्दार्थ मीमांसा के लिये अतीव उपयोगी है। गदाधर भट्ट का व्युत्पत्तिवाद भी

(१) वाक्यपदीय १'२१

व्याकरण ज्ञान के लिये एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। वरदराज आचार्य की लघु सिद्धान्त कौमुदी भी प्रारम्भिक संस्कृत विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। वैयाकरण भूषण सार और सारस्वत सिद्धान्त चन्द्रिका भी व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

च बृहद्देवता तथा अनुक्रमणिकायें

उपर्युक्त ग्रन्थों ब्राह्मणों आरण्यकों, उपनिषदों तथा वेदाङ्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी वेदों पर लिखे गये जो ऋषि देव छन्द, पद आदि से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें शौनक-कृत बृहद्देवता का स्थान सर्वोपरि है। डा० मैकडोनल ने इसे अत्यन्त सावधानी के साथ सम्पादित करके हारवार्ड ओरियेन्टल सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में भूमिका सहित मूल ग्रन्थ और दूसरे भाग में अंग्रेजी अनुवाद है।

शौनक ने इस ग्रन्थ में यास्क के निरुक्त से सहायता लेकर ऋग्वेद के देवताओं पर अनुपम सामग्री का सकलन किया है। यास्क का अनुकरण तथा निरुक्त से अनेक वाक्यों का उद्धरण तो इस ग्रन्थ में है ही पर जहाँ असुविधाँ जान पड़ी हैं वहाँ पर उनका निर्देश भी किया गया है। देवता सम्बन्धी आख्यान भी दिये गये हैं। बृहद्देवता में शौनक ने आचार्यों में अपना नाम भी दिया है। बृहद्देवता के अतिरिक्त शौनक ने ऋग्वेद से सम्बद्ध आर्षानुक्रमणी छन्दोऽनुक्रमणी सूक्तानुक्रमणी अनुवाकानुक्रमणी प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों की भी रचना की है।

सर्वानुक्रमणी – इसके रचयिता कात्यायन हैं। सूक्त प्रणाली में ऋग्वेद के सूक्त ऋचायें ऋषि गोत्र देवता छन्द आदि प्रायः सभी विषयों पर इस ग्रन्थ में आवश्यक सामग्री एकत्र कर दी गई है। मैकडोनल ने इसका भी सम्पादन किया है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित शुक्लयजु सर्वानुक्रमसूत्र का प्रणयन सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन का ही किया हुआ है।

सामवेद से सम्बद्ध कात्यायनकृत उपग्रन्थसूत्र तथा पतंजलि प्रणीत निदानसूत्र के अतिरिक्त कतिपय अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं यथा कल्पानुपदसूत्र, अनुपदसूत्र उपनिदानसूत्र (दोनों आर्षिकों के सूक्तों से सम्बद्ध) पंचविधानसूत्र (जर्मनी से साइमन द्वारा प्रकाशित) आदि।

अथर्ववेदीय अनुक्रमणिकाओं में पंचपटलिका (जिसमें काण्डों तथा मन्त्रों की संख्या दी है) दन्त्योष्ठविधि (उच्चारण से सम्बन्धित) प्रातिशाख्य तथा बृहद् सर्वानुक्रमणी उपलब्ध हो चुके हैं। चारों वेदों की शाखाओं का विवरण चरणव्यूह सूत्र में है जिसके प्रणेता शौनक हैं। ऋग्विधान की मीतिमंजरी जो संभवत सोलहवीं शताब्दी में लिखी गई ऋग्वेद के आख्यानों से सम्बद्ध है।

वेद सुरक्षित रहें इसके लिये हमारे पूर्वजों ने अनुपम कार्य किया है। जटा, माला शिखा रेखा, ध्वज दण्ड रथ तथा घन पाठों को प्रस्तुत करके उन्होंने वेद के

एक-एक शब्द तथा अक्षर को यथातथ्यरूप में हम तक पहुँचा दिया है। वेदपाठी चाहे उत्तर का हो, चाहे दक्षिण का जब वेदों का सस्वर पाठ करेगा तो भारतीय एकता का स्वर मुखरित होने लगेगा। हमारे पूर्वज महर्षि शाकल्य ने ऋग्वेद का पद-पाठ प्रस्तुत किया। महर्षि यास्क उनके पद-पाठ को कहीं-कहीं स्वीकृत नहीं करते। शुक्ल यजुर्वेद के भी पद-पाठ उपलब्ध हैं, परन्तु किसने किये-यह अज्ञात है। तैत्तिरीय संहिता के पद-पाठकार आत्रेय हैं। गार्ग्य ने सामवेद का पद-पाठ बनाया। गार्ग्य का पदपाठ शाकल्य का अनुगमन करता है। अथर्ववेद के पद-पाठकार का नाम अज्ञात है।

छ. भाष्यकार

भाष्यकारों ने भी वेद के मर्म को सुरक्षित रखने में श्लाघनीय योगदान दिया है। ऋग्वेद का भाष्य माधवभट्ट स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ वेंकटमाधव, आनंदतीर्थ आदि ने किया। तैत्तिरीय संहिता पर भवस्वामी गुहदेव क्षुर भट्ट भास्कर मिश्र आदि के भाष्य हैं। शुक्ल यजुर्वेद पर उव्वट तथा महीधर के भाष्य हैं। सामवेद पर माधव भरत स्वामी गुण विष्णु आदि ने भाष्य लिखे। सायण ने शुक्ल यजुर्वेद को छोड़कर शेष सभी संहिताओं कतिपय ब्राह्मणों तथा आरण्यकों पर भाष्य लिखकर या लिखवा कर जो कार्य किया वह भारतीय वाङ्मय में चिरस्मरणीय रहेगा।

वर्तमान काल में पं॰ मधुसूदन ओझा महर्षि दयानन्द, योगिराज अरविन्द, पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी आदि ने वेदों पर अच्छा कार्य किया है। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायियों ने वेदों को सर्वसुलभ बना कर जनता तक पहुँचाया और घोषणा की कि प्रभु की सृष्टि की भांति वेदों पर भी मनुष्यमात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का द्वितीय मन्त्र यही घोषणा कर रहा है। संस्थाओं में तिलक विद्यापीठ पूना स्वाध्यायमण्डल पारडी साधुआश्रम होशियारपुर वैदिक शोध संस्थान कानपुर गुरुकुल कांगड़ी वेद संस्थान अजमेर तथा दिल्ली का कार्य उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है।

इस युग में पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों पर स्तुत्य कार्य किया है। जब से हस्तलिखित ग्रंथ भी अनुवाद यूरोपीयों के पास पहुँचा तभी से संस्कृत के प्रति उनका अनुराग जागृत हुआ और विद्वानों की एक शृंखला की शृंखला संस्कृत के अध्ययन में जुट गई। कोलब्रुक ने वैदिक ग्रन्थों से पाश्चात्यों का परिचय कराया। रोजेन ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का सम्पादन किया। फ्रांस में बर्नफ महोदय ने अपना शिष्य मण्डल तैयार किया। जर्मनी में उनके शिष्य रडोल्फरौथ ने वैदिक अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लिया और बोथलिङ्क के साथ सेन्टपीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन कोष सात भागों में प्रकाशित किया। मैक्समूलर जर्मनी से चल कर इंग्लैण्ड के निवासी बन गये और सहृदयता के साथ संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके अनेक ग्रन्थों का निर्माण कर गये। जर्मनी को वे मार्गदर्शक [illegible] और अपना काम भी

उन्होंने मोक्षमूलर भट्ट कर लिया था। उन्होंने सायणभाष्य के साथ ऋग्वेद का सम्पादन किया। ओरियेण्टल सीरीज में उनके तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के अनुवादित वैदिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। वेबर ने यजुर्वेद की दोनों शाखाओं का सम्पादन किया। श्रोडर ने काठक तथा मैत्रायणी संहिता पर कार्य किया। व्हिटने ने अथर्ववेद का अनुवाद किया। ब्लूमफील्ड ने ऋग्वेद की पुनरुक्तियों की मीमांसा की। हौग औफ्रेक्ट ग्रासमैन मुइरविन बर्नेल भर्टस कीलहॉर्न गार्बे ग्रिफिथ मैक्डोनल, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने वेदों तथा उनके व्याकरण छन्द इतिहास आदि पर जो परिश्रम किया है वह हम भारतीयों के लिये अनुकरणीय है।

ज अन्य साहित्य

पीछे तत्व चिन्तन पर जो कुछ लिखा गया है, वह हमारे दर्शन साहित्य की पीठिका है। दर्शन छः हैं — न्याय वैशेषिक सांख्य योग पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा या वेदान्त। न्याय के रचयिता महर्षि गौतम हैं। इसमें प्रमाण, प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास, छल जाति तथा निग्रह स्थान इन षोडश पदार्थों का तात्विक विवेचन किया गया है। इस विवेचन के प्राचीन न्याय तथा नवीन न्याय दो विभाग हो गये। एक में पदार्थ मीमांसा तथा दूसरे में प्रमाणमीमांसा को प्रमुखता प्राप्त हुई। पदार्थ मीमांसकों में भाष्यकार वात्स्यायन वार्तिककार उद्योतकर तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट तथा तात्पर्य परिशुद्धिकार उदयन के नाम प्रख्यात हैं।

प्रमाण मीमांसकों में गंगेश उपाध्याय रघुनाथ शिरोमणि मथुरानाथ तथा गदाधर भट्ट प्रसिद्ध हैं जिनके क्रमशः तत्व चिन्तामणि उस पर दीधिति नाम की टीका दीधिति पर रहस्य नाम की टीका तथा गादाधरी ग्रन्थ नव्यन्याय की प्रतिष्ठा करने वाले हैं।

वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद हैं। इन्होंने अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कराने वाले तत्व को धर्म कहा है। अभ्युदयकारक पदार्थ सात हैं — द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय तथा अभाव। द्रव्य नौ हैं। गुण और कर्म इन्हीं के आश्रित धर्म हैं। तीनों के समान-धर्मों के योग को सामान्य कहते हैं। विशेष' का अर्थ है वैधर्म्य जो एक पदार्थ को दूसरे से पृथक करता है। समवाय नित्य सम्बन्ध का नाम है। अभाव का अनुभव भी मानव किया ही करता है। इन पदार्थों के तत्वज्ञान से आत्मबोध होता है जो निःश्रेयस का कारण है।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक पर पदार्थधर्म संग्रह नाम का स्वतंत्र भाष्य लिखा है। इस भाष्य पर भी व्योम शिवाचार्य की व्योमवती उदयन की किरणावली आदि कई व्याख्यायें लिखी गईं। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रों पर उपस्कार नाम का भाष्य लिखा है। अन्नं भट्ट का तर्क संग्रह भी इस विषय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

सांख्यदर्शन के रचयिता कपिल हैं जिन्होंने प्रकृति तथा पुरुष दो सत्ताओं की

व्याख्या अपने शास्त्र में की है। प्रकृति सत्व रज, तम की साम्यावस्था है। इसमें वैषम्य आता है पुरुष की दृष्टि से और संसार की रचना होती है। प्रकृति से महान महान् से अहंकार और अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन्हें सप्त विकृतियां कहा जाता है। इन्हीं से आगे पञ्चमहाभूत इन्द्रिय आदि उत्पन्न होते हैं। पुरुष दो प्रकार का है — जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा एक है परन्तु जीवात्मा अनेक हैं। जीवात्मा का संसार के साथ सम्बन्ध उसके बंधन का कारण है और उससे छूट कर परमात्मा की प्राप्ति करना ही मोक्ष है। सांख्य ने बौद्धों को अधिक प्रभावित किया। बौद्ध परमात्मा को नहीं मानते। उनका एक दल आत्मा को भी स्वीकार नहीं करता। पञ्च स्कन्धों का बना एक दीपक जल रहा है। इस दीपक का बुझ जाना ही बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण है।

सांख्यकार कपिल के शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पञ्चशिखाचार्य थे जिन्होंने सांख्य शास्त्र से संबद्ध षष्टितन्त्र की रचना की। इनके बहुत समय बाद ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका लिखी जिसका अनुवाद परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में हुआ। आचार्य माठर की वृत्ति गौड़ पाद की युक्तिदीपिका और वाचस्पतिमिश्र की तत्वकौमुदी सांख्य-सिद्धान्त के विशेष प्रचारक ग्रन्थ हैं।

योग दर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि हैं। इसमें चित्तवृत्ति के निरोध को योग की संज्ञा दी गई है। योग के आठ अंग हैं — यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। पीछे योग और संस्कृति पर लिखते हुए हम इनकी विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। जब चित्त वृत्तियों के नष्ट होने से एकाग्र हो जाता है तभी वह समाधि के योग्य बनता है। द्रष्टा की स्वरूपावस्थिति कैवल्या वस्था की भूमिका है। बीच में अनेक सिद्धियां भी योगी को प्राप्त होती हैं।

योगदर्शन क्लेश कर्म-विपाक तथा आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेष को ईश्वर की संज्ञा देता है। जैन तथा बौद्ध दोनों ही इस दर्शन से प्रभावित हुए हैं। योग पर व्यास का भाष्य वाचस्पति की तत्ववैशारदी विज्ञानभिक्षु का योग वार्तिक राघवानन्द का पातञ्जल रहस्य आदि कई ग्रन्थ लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं। पाश्चात्य मनीषियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। रूस, अमरीका फ्रांस आदि में अनेक व्यक्ति योग का अभ्यास करने लगे हैं।

पूर्वमीमांसा के रचयिता महर्षि जैमिनि हैं जिन्हें कवि का अभिधान भी प्राप्त है। जैमिनि उसी को धर्म की संज्ञा देते हैं जो सत् कर्मों में मानव को प्रवृत्त करे। वेद की नित्यता तथा तदनुकूल अनुष्ठित कर्मकाण्ड की महत्ता का ही प्रतिपादन उनकी पूर्व मीमांसा का मुख्य लक्ष्य है।

मीमांसा पर शबर स्वामी का भाष्य प्रामाणिक माना जाता है। इस भाष्य पर भी कुमारिल प्रभाकर तथा मुरारि ने टीकायें लिखीं। आचार्य कुमारिल भट्ट अनुपम प्रतिभाशाली विद्वान थे जिनके ज्ञान-खड्ग के सामने किसी भी बौद्ध विद्वान के युक्ति-वस्त्र न ठहर सके। इनके श्लोक वार्तिक तथा तंत्रवार्तिक हैं शबर भाष्य की

ही व्याख्या है । मीमांसकों में इनका मत भाट्ट मत कहलाता है और इनके शिष्य प्रभाकर का मत गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध है । इनके एक शिष्य तथा सम्बन्धी मंडन मिश्र भी अपूर्व विद्वान हुए हैं जिनका आचार्य शंकर से शास्त्रार्थ हुआ था । मंडन मिश्र ने विधिविवेक विभ्रमविवेक आदि ग्रन्थों द्वारा भाट्टमत को प्रामाणिकता की कोटि तक पहुंचा दिया । वाचस्पति मिश्र ने विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नाम की टीका लिखी । उम्बेक ने 'श्लोकवार्तिक' की तात्पर्य टीका लिखी । कुछ विद्वान उम्बेक तथा भवभूति भट्ट कवि को एक ही मानते हैं । कमलाकर भट्ट भी १७वीं शती के प्रसिद्ध मीमांसक हैं ।

भाट्टमत के अन्य अनुयायियों में पार्थसारथिमिश्र माधवाचार्य विश्वेश्वरभट्ट (गागाभट्ट) अप्पयदीक्षित अनन्तदेव आदि विद्वानों का नाम है । प्रभाकर के मत को गुरुमत उनके गुरु कुमारिल द्वारा ही कहा गया था । मुरारि का मत इन दोनों से ही भिन्न था । तत्वचिन्तामणि में गंगेश उपाध्याय ने इस मत का उल्लेख किया है । मुरारेस्तृतीय पन्था की उक्ति इसी आधार पर चली है ।

वेदान्त जिसे उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है महर्षि व्यास का लिखा हुआ है । यह ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है । ब्रह्म संसार का उत्पादक धारक तथा संहारक है । वेदान्त पर कई साम्प्रदायिक भाष्य लिखे गये हैं जिनमें आचार्य शंकर का शारीरक भाष्य, रामानुज का श्रीभाष्य निम्बार्क का वेदान्त पारिजात वल्लभ का अणुभाष्य और मध्व का पूर्ण प्रज्ञभाष्य प्रख्यात हैं । वाचस्पति ने शांकर भाष्य पर भामती नाम की टीका लिखी । विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी वेदान्तियों में अधिक प्रचलित है। श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य भी एक प्रख्यात ग्रन्थ है । अप्पयदीक्षित ने भामती के भेदों का उद्घाटन अपनी पुस्तक 'कल्पतरु परिमल' द्वारा किया ।

आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य पर सुदर्शनसूरि ने श्रुतप्रकाशिका नाम की व्याख्या लिखी । वेदान्त देशिक की तत्वटीका भी इस विषय में वैष्णव सिद्धान्तों को समझने के लिये उपयोगी है । श्री निवासाचार्य ने निम्बार्क के वेदान्त पारिजात सौरभ की व्याख्या में वेदान्त कौस्तुभ लिखा । केशवभट्ट ने कौस्तुभ की व्याख्या की । वल्लभ के अणुभाष्य को विट्ठलनाथ ने पूर्ण किया । वेदान्त पर इससे भी अधिक साहित्य लिखा गया है क्योंकि यह भारत का एक विशिष्ट सिद्धान्त बन गया है ।

दर्शन साहित्य में जैन बौद्ध तथा चार्वाक सम्प्रदायों ने भी अपना योगदान दिया है । न्यायशास्त्र को लेकर आर्य तथा बौद्ध आचार्यों में विशेष संघर्ष हुआ । बौद्ध नैयायिक दिङ् नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय में वात्स्यायन के न्याय-भाष्य पर आक्षेप किये जिनका समुचित उत्तर उद्योतकर ने भाष्य का वार्तिक लिखकर दिया । धर्मकीर्ति ने न्यायवार्तिक का खंडन अपने प्रमाण-वार्तिक में किया जिसका उत्तर वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य टीका द्वारा दिया । जयन्त भट्ट ने न्याय मंजरी में बौद्ध तथा चार्वाक सिद्धान्तों का खंडन किया है ।

हमारा पुराण साहित्य भी वेदों पर आधारित है । व्यास की उक्ति है "इति-

[इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' । पुराण वस्तुतः वेदों का ही उपबृंहण हैं। इनमें सर्ग—सृष्टिरचना का विषय है, प्रतिसर्ग—प्रलय का वर्णन है, वंश—राजाओं के वंशों का विवरण है, मन्वन्तर—७१ चतुर्युगियों के पश्चात् आने वाले अभी तक के मन्वन्तरों का वर्णन है (सातवां मन्वन्तर वैवस्वत इस समय चल रहा है) और ऋषियों के चरित्रों का भी वर्णन है। पुराण संख्या में १८ हैं और उप-पुराण भी १८ ही हैं। पुराणों के वक्ता व्यास माने जाते हैं परन्तु व्यास वास्तव में एक उपाधि है।

पुराणों के वक्ता रोमहर्षण के पुत्र सौती उग्रश्रवा हैं। भविष्यपुराण के वक्ता सैताम हैं। पुराण समय-समय पर संवर्धित होते रहे हैं और उन्हें आधुनिकतम बनाने का प्रयत्न सतत चलता रहा है। इन्हें एक प्रकार का ऐनसाइक्लोपीडिया अथवा विश्वकोष समझना चाहिए। भविष्यपुराण में अंग्रेजों के समय तक का विवरण विद्यमान है। अग्निपुराण में विविध प्रकार के विषयों का समावेश है।

पुराण का सामान्य अर्थ पुराना अतीत या विगतकाल उसकी घटनायें और परिस्थितियां हैं। पर पुराण का एक निर्वचन और है— पुरा नव भवति इति पुराण। प्राचीन आख्यान को समय के अनुरूप नवीन परिधान में प्रकट करना पुराणकार का उद्देश्य रहा है। कौटल्य ने इसीलिए लिखा है कि उद्दण्ड राजकुमारों को पुराणों की सदुपदेशमयी कथायें सुना कर सदाचार के पथ पर संलग्न करना चाहिये। पौराणिक सूत राजा के नवरत्नों में से एक है। गौतम धर्मसूत्रकार ने भी शासनव्यवस्था के लिये पुराणों को प्रामाणिक माना है। छान्दोग्य उपनिषद् ७-१ २ पुराण को वेदों का वेद कहती है। अथर्व ११। ७। २४ वेदों के साथ पुराण का नाम लेता है। वेद में पुराण शब्द गाथा तथा नाराशंसी के अर्थ में आया है। पुराण अपने वर्तमान रूप में प्राचीन भूखण्डों तीर्थों पर्वतों नदियों ऋषिचरितों राजवंशों सृष्टि प्रलयगाथाओं के विवरणों से ओतप्रोत दिखाई देते हैं। यदि इनमें से पारस्परिक साम्प्रदायिक विद्वेष के प्रसंगों को निकाल दिया जाय और इनका सूक्ष्मेक्षिका से अध्ययन किया जाय तो पुराण आज भी हमें बहुमूल्य प्राचीन सामग्री दे सकते हैं।

पुराणों का मूल ब्रह्मपुराण में अन्त ब्रह्माण्डपुराण में और मध्य ब्रह्मवैवर्तपुराण में है। ब्रह्म के साथ पद्म विष्णु शिव भागवत नारद मार्कण्डेय, अग्नि और भविष्य पुराण हैं। ब्रह्मवैवर्त के उपरान्त ब्रह्माण्ड पुराण तक लिंग वराह स्कन्द, वामन कूर्म मत्स्य और गरुड़ पुराणों के नाम आते हैं।

उपपुराणों में सनत्कुमार नरसिंह नान्दी शिवधर्म दुर्वासा नारदीय, कपिल मानव उशनस् वरुण कालिका वसिष्ठ महेश्वर साम्ब सौर, पराशर मारीच भार्गव आदि पुराण परिगणित होते हैं। देवीभागवत भी पुराण के ही अन्तर्गत है।

पाश्चात्य विद्वानों में पार्जीटर महोदय ने पुराणों पर परिश्रमपूर्वक जो सामग्री एकत्र की है वह मूल्यवान है और हम सबके लिये प्रेरणा-प्रद है। भारतीय विद्वानों में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कतिपय पुराणों का सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत करके श्लाघनीय कार्य किया है। पं० भगवद्दत्त ने भी पुराणों का गंभीर मंथन किया है।

काव्यग्रन्थों में सर्वप्रथम आदिकवि वाल्मीकि की रामायण का नाम आता है। रामायण महापुरुष राम के पावन चरित्र से उद्भासित हो रही है। उसके प्रकृति-वर्णन नगर वर्णन युद्ध वर्णन आदि सभी उच्चकोटि के तथा मानव-मंगल के साधक हैं। व्यासकृत महाभारत भी साहित्य तथा इतिहास का भूषण है और 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्' उक्ति उस पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। रामायण और महाभारत के आख्यान आगामी काव्यों के उपजीव्य बने हैं। भास कालीदास, भवभूति बाण श्रीहर्ष माघ आदि सबके काव्य इन्हीं पर आधारित हैं।

अश्वघोष का बुद्ध चरित तथा जैनकवि रविषेण का पद्म चरितम् जैसे अनेक काव्य संस्कृत में लिखे गये। प्राकृत अपभ्रंश और वर्तमानकालीन काव्यग्रन्थों की बात रहने दीजिये अकेले संस्कृत भाषा के ग्रन्थों को ही लिया जाय तो वे परिमाण में रैप्सन के कथनानुसार लैटिन तथा ग्रीक साहित्य के सम्मिलित परिमाण से भी अधिक बैठेंगे। इस विपुल साहित्य में हमारे ऋषियों मुनियों कवियों तथा दार्शनिकों ने जो भाव-ज्ञान-सम्बन्धी अमित भाण्डार संचित कर दिया है, वह मानव जाति की अमूल्य सम्पदा है। हम सभी इस विषय में अपने पूर्वजों के ऋणी हैं। वे कोरी कल्पना को प्रश्रय नहीं देते कौटल्य के अर्थशास्त्र के समान यथार्थवाद की ठोस भूमि पर भी प्रतिष्ठित हैं। मैक्समूलर ने जैसे अपना जीवन इस साहित्य की सेवा में समर्पित कर दिया था, हमें भी वैसे ही इसके अनुशीलन में संलग्न हो जाना चाहिए।



६ । सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्धित मूर्त प्रमाण

क कला का विकास

भारतवासियों पर लौकिक विषयों से पराङ्मुख रहने का आक्षेप लगाया जाता है। इसका एकमात्र कारण है उस संस्कृति की विशेषता जिसे भारतीय या वैदिक संस्कृति कहा जाता है। जैन बौद्ध आदि मार्गों से प्रभावित संस्कृतियां वैदिक संस्कृति से भिन्न नहीं हैं। हम पीछे लिख चुके हैं कि वैदिक संस्कृति विश्ववारा संस्कृति है। भूमंडल भर के लिए संस्कृति एक है, सभ्यतायें पृथक्-पृथक् हैं। लौकिक विषयों का समावेश सभ्यता में होता है, संस्कृति में नहीं। सभ्यता क्या है, इसी का विवेचन हम इस ग्रन्थ में संस्कृति के अनन्तर करते रहे हैं।

वैशेषिक दर्शन ने निःश्रेयस को जिस अभ्युदय के साथ संयुक्त किया है वह सभ्यता तथा लौकिक उन्नति का ही अर्थ देता है। वेद से जो उपवेद चले, वे भी अभ्युदय के ही परिचायक हैं। अथर्ववेद का जो अर्थवेद है उसका सम्बन्ध दण्डनीति स्थापत्य तथा अर्थपरक कला आदि से है। मोक्ष को छोड़ कर धर्म अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ ऐहिक उत्थान से सम्बंधित हैं। ब्रह्मा महादेव इन्द्र बृहस्पति और उशना के नाम अर्थशास्त्र के रचयिताओं में महाभारत तथा कौटलीय अर्थशास्त्र में आये हैं। कौटल्य विशालाक्ष तथा बाहुदन्ती पुत्र के नाम भी लेता है। इन्द्र के ग्रन्थ का नाम बाहुदन्तक था। संभव है बाहुदन्तक तथा बाहुदन्ती पुत्र में कोई सम्बन्ध हो। मनु तो धर्मशास्त्र के रचयिता हैं ही। बृहस्पति का नाम अर्थशास्त्रियों में ऊपर आया है। काम का वर्णन कहते हैं नन्दी ने किया।

कौटलीय अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री प्रसिद्ध प्रकाण्ड पण्डित नीति-विचक्षण चाणक्य का लिखा हुआ है। इस बृहत् ग्रन्थ में १५ अधिकरण तथा १८० प्रकरण हैं। इसमें राजनीति के सभी अंगों का व्यावहारिक विवेचन है। एक-एक अंग का इतना विशद विवरण है कि पढ़ कर चाणक्य के बुद्धि वैभव पर आश्चर्य-चकित हो जाना

पड़ता है । आग पर चलना अंधकार में देखना अदृश्य बन जाना आदि विषयों का प्रतिपादन आथर्वण कालीन जादूविद्या की प्रखरता प्रकट करता है । कामन्दक शुक्र सोमदेवसूरि हेमचन्द्र, राजा भोज आदि के नाम भी नीति कारों तथा कला-विवेचकों में प्रख्यात हैं ।

कलायें ६४ या उससे भी अधिक हैं नृत्य गीत वाद्य चित्र शैय्या-प्रसाधन माल्यग्रन्थन पुष्पास्तरण, मणिकुट्टिमता (फर्शपर मणि आदि का जड़ना), सेवर-योजन कर्ण पत्रभंग भूषण-योजन हस्तलाघव सूचकार्य सूचीकर्म प्रहेलिका, अन्त्या-क्षरी दुर्वाचन या कूट-पाठ समस्यापूर्ति पट्टिका-वीणा आदि का निर्माण, तक्षण-कार्य वास्तुविद्या धातुशोधन पक्षि-युद्ध शुक-सारिका को पढ़ाना तनमर्दन, बहुभाषा ज्ञान यंत्रनिर्माण अभिधानकोष, छन्दोज्ञान द्यूत, मल्लकला लिपिकला रूपापहरण आदि कलायें हैं ।

कलाओं का विकास किसी देश में तभी होता है, जब वह सभी प्रकार से सुर-क्षित, समृद्ध और उत्साहसम्पन्न हो । कलायें सौन्दर्य की बोधिकायें हैं । जो जाति अपने पौरुष से सौन्दर्य को सम्मान न दे सके उसका रक्षण तथा पोषण न कर सके वह कलाओं को जन्म नहीं दे सकती । वेद इस दिशा में मानव मात्र को स्फूर्ति तथा शक्ति की घुट्टी पिलाता है । जब तक वेद की शिक्षा भारतीयों को अनुप्राणित करती रही, तब तक उन्होने कला के क्षेत्र में जो उन्नति की उसके निदर्शक चिन्ह आज भी या तो अपने सजीवरूप में या ध्वंसावशेष रूप में बड़े दर्शकों को मन्त्रमुग्ध कर रहे हैं । हड़प्पा की खुदाई में जो मूर्तियां निकली हैं मुएं जो दड़ो की खुदाई में जो मूर्तियां पात्र नगर निर्माण की स्थिति आदि प्राप्त हुए हैं वे हमारे पूर्वजों की कला प्रियता के सुन्दर उदाहरण हैं । महात्मा बुद्ध महावीर पार्श्वनाथ शिव आदि की जो मूर्तियां विभिन्न प्रदेशों में उपलब्ध हुई हैं सारनाथ सांची और भरहुत में जो स्तूप आज भी विद्यमान हैं, और इन पर जो चित्र चित्रित हैं तथा शिला लेख मुद्रित हैं वे कला क्षेत्र में किसी भी जाति के सिर को गौरव से ऊंचा उठा सकते हैं । पर्वतों को काट कर जो गुफायें बनाई गई हैं और उनके बाहर शेर, हाथी अप्सरा आदि की जो चित्रकारी है, उसका चमत्कार देखते ही बनता है । कार्ली की गुफा लगभग १२४ फीट लम्बी है । उदयगिरि की गुफा तथा जोगीमारा गुफा के चित्र भी भव्य हैं । अजन्ता में कई गुफायें हैं । उनके चित्रों में भावों का प्रदर्शन भी उत्तमता से किया गया है । ग्वालियर के बाघ ग्राम की गुफाओं में भी अजन्ता कला वाले चित्र पाये गये थे। अब उनका स्वल्प अंश ही बचा है ।

आबू पर्वत पर सफेद संगमर्मर के जैन मन्दिर कोणार्क में सूर्य का मन्दिर, ऐलोरा की गुफायें कैलास मन्दिर पर अंकित शिव का ताण्डवनृत्य आदि को देखकर भारतीय कलाकारों की भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है । महमूद गजनवी के साथी अलउत्बी ने जब मथुरा के मंदिरों को देखा तो वह चकित रह गया । उसके कथन

है— मथुरा के मध्य में स्थित इस मंदिर का चित्र खींचा नहीं जा सकता। यह अवर्णनीय है। सुल्तान ने स्वयं कहा— ऐसी इमारत एक अरब सोने के दीनार खर्च किये बिना नहीं बन सकती। बड़े से बड़े अनुभवी कारीगर इसे दो सौ वर्षों में बना सकेंगे। मूर्तियों में ५ मूर्तियां स्वर्ण-निर्मित, पांच-पांच गज लम्बी और हवा में लटक रही थीं। चांदी की मूर्तियां दो सौ थीं। यह था भारत का वैभव जिस पर विदेशियों की गृध्र दृष्टि पड़ी और उनसे जितना लूटा जा सका लूटा गया। पर क्या वे इस लूट को सदैव के लिये भोग का साधन बना सके ?

चित्र के साथ लिपिकला का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे पूर्वजों ने लिपि-कला का भी विकास किया था। यजुर्वेद ४–४३ में 'यां मा लेखी' और अथर्व २०–११२–८ में 'क एषां कर्करी लिखत्' वाक्य आते हैं जिनसे लेखनकला का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। ऋग्वेद १–७१–४ में उतत्व पश्यन्न ददर्श वाचम् पद आता है जिसमें वाणी को देखने (पढ़ने) और सुनने का वर्णन है। यह देखना या पढ़ना वाणी के लिखित रूप का संकेत देता है। यास्क भी वाणी के लिखित रूप से परिचित हैं। निरुक्त १–९ में वह लिखते हैं— अथ ये प्रवृत्ते अर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्य पूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु। अमिताक्षर गद्य तथा मिताक्षर पद्य है। अक्षर, वाक्य ग्रन्थ सभी शब्द वाणी के लिखितरूप के निर्देशक हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में ही लिपि के लिखित रूप वाले अक्षर गिनाये हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिक में यवन लिपि का नाम लिया है। अशोक के समय में ब्राह्मी तथा खरोष्ट्री दो लिपियां प्रचलित थीं। ब्राह्मी वाम से दक्षिण और खरोष्ट्री दक्षिण से वाम ओर लिखी जाती थी। बौद्ध साहित्य में भिक्षुओं के कई लिपियों में लिखने का उल्लेख है। अशोक के शिला लेख ब्राह्मी लिपि में लिखे मिलते हैं। पाणिनि के अक्षरों वाले सूत्र माहेश्वर सूत्र कहलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारे पूर्वज लिपि को भी ब्रह्मा या शिव द्वारा उत्पन्न मानते थे। वर्तमान देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का ही रूपान्तर है। भारत की अन्य लिपियां भी इसी का प्रतिरूप हैं। केवल लिखावट में किञ्चित अन्तर आ गया है।

ध्वंसावशेषों का उत्खनन

क हड़प्पा तथा मुए जोदड़ो

साहित्य तो सभ्यता का परिचायक है ही कलाओं के रूप भी अपनी जीवित जाग्रत अवस्था में सभ्यता का परिचय देते हैं। ध्वंसावशेष शिलालेख ताम्रलेख स्तूपलेख मुद्रायें आदि यदि प्राप्त हो सकें तो उनसे भी तत्कालीन समाज की सभ्यता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अंग्रेजों को व्यापारियों की जाति कहा लेकर रहा है पर ज्ञान की उपलब्धि एवं ज्ञानपिपासा में भी वे किसी से कम नहीं।

उन्हें भारतीय सभ्यता की उत्कृष्टता का बोध हुआ, तभी से वे अधिक से अधिक उसके उपकरण प्राप्त करने में जुट गये। प्राचीन विभाग की स्थापना करके उन्होंने दूहों, ध्वंसावशेषों आदि की खुदाई कराई और प्राचीन भारतीय सभ्यता से सम्बद्ध अनेक वस्तुयें प्राप्त कीं।

इन खुदाइयों में हड़प्पा तथा मुएं जोदड़ो के नाम प्रख्यात हैं। हड़प्पा पंजाब के पश्चिमी विभाग में रावी नदी के दक्षिण की ओर ऊंचे टीले पर बसा हुआ है। तीस फुट से साठ फुट तक ऊंचे-ऊंचे दूह हैं। अंग्रेजों ने १६२०—२१ ई० में यहां खुदाई कराई। परिणामस्वरूप जो वस्तुयें निकलीं उनसे सभ्यता के उच्च स्तर का ज्ञान होता है। इन वस्तुओं में पात्र मूर्तियां तथा मुहरें भी हैं। १६२२ में मुएं जो दड़ो स्थान पर खुदाई हुई। यह स्थान जिला लरकाना के डाकरी स्टेशन से ८ मील दूर है। यह खुदाई १६३१ तक चलती रही। इस खुदाई में पात्र मूर्तियां मुहरें मकान मन्दिर सरोवर स्नानागार आदि प्राप्त हुए। पात्र या बर्तन पकाई मिट्टी के बने हैं और रंगे हुए हैं। मूर्तियां मिट्टी पत्थर या तांबे की बनी हुई हैं। मुहरें वैसी ही हैं जैसी हड़प्पा की खुदाई में मिली थीं। मकान पक्की ईंटों के बने हैं। ईंटें १० इंच लम्बी ५ इंच चौड़ी तथा २॥ इंच मोटी हैं और आजकल की ईंटों के समान हैं। मकानों में नालियों का प्रबन्ध है। मार्ग चौड़े हैं। राजपथ के दोनों ओर दूकानें हैं। मकान दोमंजिला हैं। ऊपर जाने के लिये सीढ़ियां हैं। मकान सीधी लाइन में बने हैं। दीवालें गारे से चुनी गई हैं जिन पर चूने की टीप है पलस्तर नहीं है। नालियां ढकी हुई हैं। मकान के दोनों तरफों में स्नान गृह हैं, जिनमें पानी निकलने का ढलाव है। प्रत्येक गृह में कुआं है जो पक्का है। बौद्ध—स्तूप भी मिले हैं जिनके समीप सरोवर है। एक सरोवर ३६ फुट लम्बा और २३ फुट चौड़ा है। पानी तक पहुंचने के लिये सीढ़ियां बनी हैं। तालाब की दीवालों पर पलस्तर है।

मन्दिरों में जगदम्बा की मूर्तियां मिली हैं। ऐसी मूर्तियां मैसोपोटामिया तथा एशिया माइनर में भी मिली हैं। त्रिमुख शिव की मूर्ति भी मिली है। शिव की एक मूर्ति योगासनमुद्रा में है जिसके सामने नाग खड़े हुए हैं। पुजारी की एक प्रस्तर मूर्ति मिली है जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है और बाम स्कन्ध के ऊपर से एक दुशाला लटक

वैदिक देवताओं के नाम उसी प्रकार रखते हैं जिस प्रकार बोगाजकोई की खुदाई में प्राप्त मृत्तिपत्र पर मिले हैं। मुद्राओं पर सींग वाले बैल का चित्र है अथवा सांड भैंसा, भैंसा हाथी या बारहसिंगे का।

गले में हार पहिने एक स्त्री की मूर्ति मिली है। एक नर्तकी की धातु की मूर्ति है, जिसकी ग्रीवा में हंसुली है और हाथ में चूड़ियां हैं। सवारी की गाड़ियां वैसी ही हैं जैसी आजकल के ग्रामों में हैं। इनमें दो पहिये हैं, ऊपर छत और आगे हांकने वाले का स्थान है। हथियारों में धनुष बाण भाले खड्ग, कुल्हाड़ी, गदा आदि मिले हैं जो हमारे साहित्य के परिचित अस्त्र हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के मध्य प्रदेश से लेकर अरब और एशिया के पश्चिमी भाग तक एक ही प्रकार की सभ्यता फैली हुई थी क्योंकि हड़प्पा मुएं जो दड़ो बलोचिस्तान ईराक आदि में जो खुदाई हुई है उसमें एक जैसी वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। अब जो कालसी के आस पास खुदाई हुई है उसमें भी वैसी ही वस्तुयें हैं। सम्भव है कि मानवजाति जैसा महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है तिब्बत और पामीर के पठार पर बसी हो और वहां से सप्तसिन्धु को केन्द्र बना कर उसके पूर्व तथा पश्चिम में फैल गई हो। दिति की सन्तान पश्चिम की ओर और अदिति की संतान पूर्व की ओर रही ऐसी कल्पना भी की जा सकती है। दोनों में बहुत कुछ समानता थी। दोनों वेद पढ़ते थ यज्ञ करते थ अर्थ भले ही भिन्न-भिन्न लगाते हों। कम से कम पुराणों का साक्ष्य तो यही सिद्ध करता है। द्रविण भाषा भाषी जिनकी एक शाखा ब्राहुई बलोचिस्तान में पाई गई है इन्हीं में से है। पुराणों के अनुसार ये विश्वामित्र की संतान तथा अगस्त्य के शिष्य हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की शुन शेप-कथा के आधार पर जब विश्वामित्र ने शुन शेप को देवरात के रूप में अपना पुत्र बना लिया तो उनके ५० पुत्रों को बुरा लगा और वे पिता का विरोध करने लगे। विश्वामित्र ने उन्हें अभिशाप दिया जिसके परिणामस्वरूप वे मध्य देश को छोड़कर आन्ध्र, पुलिन्द, पौण्ड्र आदि दाक्षिणात्य देशों में बस गये। दक्षिण म विश्वामित्र तथा अगस्त्य नाम आज तक प्रचलित हैं। अत द्रविड़ों को हम आर्येतर नहीं मानते। द्रविड़ या द्रविड़ धन का द्योतक है। दक्षिण में हीरे आदि की खानें हैं। लंका तो स्वर्णमयी थी ही। इसी आधार पर देश तथा वहां के निवासियों का नाम द्रविड़ पड़ गया।

ग तक्षशिला

तक्षशिला भारत का सिर है। इसी के विश्वविद्यालय ने पाणिनि सदृश अद्वितीय वैयाकरण चाणक्य सदृश नीतिवेत्ता तथा जीवक सदृश राजवैद्य उत्पन्न किये। प्राप्त सूत्रों के आधार पर यहां वेद वेदांग मीमांसा न्याय धर्मशास्त्र पुराण धनुर्वेद, शिल्प बणिक-विद्या ज्योतिष तंत्र तथा आयुर्वेद की उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती थी। भारत ही नहीं विदेशों से भी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिये यहां आते थे। धनवानों को एक सहस्र कार्षापण शुल्करूप में देना पड़ता था। निर्धन

विद्यार्थी गुरु-गृह-सेवा करके पढ़ा करते थे। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी पढ़ते थे जो शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अर्जन करके विश्वविद्यालय का शुल्क चुकाते थे। सदाचार परायण जीवन को प्रमुखता दी जाती थी। आचार्य तथा शिष्य का पिता-पुत्र के सदृश सम्बन्ध था।

बर्बर यवन शक तथा हूणों के अनवरत आक्रमणों ने इस विश्वविद्यालय तथा नगर को ध्वस्त कर डाला। चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रावृत्तान्त में इसका विवरण प्रस्तुत किया है जो ईसा की चौथी-पांचवीं शतियों में यहां आया था।

तक्षशिला रावलपिंडी से २० मील दूर सरायकाला स्टेशन के पास है। चारों ओर पहाड़ियों से घिरी हरियाली भूमि है। अंग्रेजों ने यहां एक विपुलकाय टीला देखा तो १९१२ ई० में उन्होंने इसकी खुदाई प्रारम्भ कर दी। परिणामतः यहां तीन नगर निकले जिनमें भीरमंद प्राचीनतम है। मौर्यकाल में यह उत्तर-पश्चिम प्रदेश की राजधानी थी। कुछ भवन ध्वस्त हैं पर कुछ अभी तक ज्यों के त्यों खड़े हैं जिन पर भगवान बुद्धदेव के चित्र अंकित हैं। यवन आक्रमणों में भीरमन्द नष्ट हुआ। उससे थोड़ी दूर पर सिरकप नगर बसाया गया। खुदाई में एक बड़े भवन के खंडहर दिखाई दिये जिनके उत्तर की ओर एक समान कई कक्ष बने प्रतीत होते हैं। बीच में एक वीथी है। इन्हीं कक्षों को विद्वेषज्ञ तक्षशिला विश्वविद्यालय का रूप देते हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखा यहां एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। यह नगर कुशल या कुषाण वंश की राजधानी रहा है। जब कनिष्क ने पेशावर को राजधानी बनाया, तो इस नगर का महत्व जाता रहा। टीले के पास वाले मैदान में भी खुदाई हुई तो वहां तीसरा नगर निकला जिसे सिरसुख कहा जाता है। यहां ईसा के द्वितीय शतक की मुद्रायें मिलती हैं जिन पर कनिष्क का नाम अंकित है।

तक्षशिला में भगवान बुद्ध के कई स्तूप मिले हैं जिनमें कुछ भग्न हैं और कुछ पूर्ण। इनमें से एक स्तूप का नाम धर्मराज स्तूप है जिस पर संस्कृत भाषा परन्तु खरोष्ठी लिपि में एक लेख मिला है। कुषाण काल में किसी बौद्ध यात्री ने इसे लिखवाया था। दो सौ फुट ऊंचे इस स्तूप पर मूर्तियां बनी हैं जिनमें से कुछ की ग्रीवा में मालायें भी पड़ी हैं। दूसरे स्तूप को कालवार स्तूप कहा जाता है जो महाराज अशोक का बनवाया हुआ है और तक्षशिला से उत्तर की दिशा में है। इस स्थान का बड़ा महत्व माना जाता रहा है और यहां बड़े-बड़े मेले लगते रहे हैं। महाराज अशोक के पुत्र कुणाल के नाम पर एक कुणालस्तूप भी यहां मिला है जो १०० फुट ऊंचा है।

तक्षशिला की खुदाई में आभूषण पात्र मुद्राएं और सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। आभूषण सोने और चांदी के बने हैं। पात्रों में मिट्टी और पत्थर के बने मटके, गिलास, थालियां आदि मिले हैं। सिक्के विदेशी जान पड़ते हैं। जो मुद्रायें मिलीं उन पर कनिष्क हुविष्क और वासुदेव के नाम अंकित हैं। बौद्धकाल का यह विशेष स्थान

रहा है। आचार्य कुमार गुप्त ने अपने ग्रन्थ यहीं बैठ कर लिखे थे।

घ नालन्दा

नालन्दा बिहार में है। इसकी दो बार खुदाई हो चुकी है। १२ वीं सदी में इसे बख्तियार खिलजी ने नष्ट-भ्रष्ट किया था। खुदाई में कुछ कमरे, एक स्तूप और चौड़ी-चौड़ी दीवारें मिली हैं। स्तूप ऊंचा है और उस पर मूर्तियां बनी हुई हैं, पर विकृत हैं। स्तूप के शिखर पर भी एक मूर्ति है। कमरे चौड़े हैं और उनमें तीन ओर की दीवारों में फर्श से कुछ ऊपर पत्थर की हुई पट्ट शिलाओं के समान सोने बैठने के स्थान हैं। द्वार में कुछ रखने के लिये लम्बे ठिकाने बने हुए हैं। दो कमरों के बीच में वीथियां हैं जो प्रवेश तथा निष्क्रमण का कार्य करती होंगी। एक वीथी ढालू है। एक बड़ा आंगन भी है जो संभवतः सभास्थान के रूप में रहा होगा। कुछ कूप भी मिले हैं पर वे गोल न होकर अठपहलू हैं। शिल्प कला के सुन्दर नमूने पात्र, गहने, वस्त्र चित्र मूर्ति के रूप में मिले हैं। कुछ शिला लेख भी प्राप्त हुए हैं।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस विद्यालय में रह कर अध्ययन किया था। उसके विवरण के अनुसार यहां दस सहस्र विद्यार्थी अध्ययन करते थे। बड़ी बड़ी दीवारों पर सधे चौतल्ले मठ थे जिनके कंगूरे आकाश चूमते थे। ऊंची ऊंची खिड़कियों से मेघमाला चलती-फिरती दृष्टि-गोचर होती थी। सबसे ऊपर की छत पर सूर्य-चन्द्र मिले जान पड़ते थे। कक्ष रंगीन शिल्प से मंडित थे। छायादार कुञ्ज और उद्यान, निर्मल सरोवर, नीलकमल लाल-लाल कर्णिकार और हरीतिमा आभा से रम्याकृति वाले आम्रवृक्ष मन को आनन्दित करते थे।

ह्वेनसांग के इस विवरण से मिलता जुलता इत्सिंग का भी लेख है जिसके अनुसार नालन्दा विश्वविद्यालय में आठ हॉल तथा तीन सहस्र कक्ष थे। विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। व्यय का सम्पूर्ण भार राजाओं तथा धनिकों के दिये ग्राम दान आदि से चलता था। अध्यापक लगभग एक सहस्र थे। प्रवेश से पूर्व एक द्वार भट्ट सबकी परीक्षा लेता था। प्रबन्ध तथा अनुशासन दोनों ही उच्चकोटि के थे। प्रधानाचार्य शीलभद्र के अतिरिक्त धर्मपाल चन्द्रपाल गुणमति प्रभामित्र जिनमित्र ज्ञान चन्द्र आदि प्राध्यापक थे जो अपने अपने विषय के पारंगत विद्वान थे। श्री पद्मसंभव जिन्होंने तिब्बत में लामा संप्रदाय को जन्म दिया इसी विश्वविद्यालय में पढ़े थे। पुस्तकालय नौतल्ला विशालभवन में स्थित था। कितनी विस्तृत ग्रन्थ राशि इसमें रही होगी इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। पर जिन्हें ज्ञान भंडार से कोई प्रयोजन नहीं उनके लिये नालन्दा तथा सिकन्दरिया के पुस्तकालय एक जैसे ही निरर्थक हैं।

ङ सारनाथ

सारनाथ वाराणसी से चार मील उत्तर की ओर है। महात्मा बुद्ध ने अपना

प्रथम उपदेश यहीं दिया था। उनके धर्म चक्र का प्रवर्तन भी यहीं से प्रारम्भ हुआ। अतः सारनाथ का बौद्ध धर्म की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

जब काशी नरेश के दीवान जगतसिंह ने अपने नाम से नगर बसाने के लिये सारनाथ के एक स्तूप को खुदवाया तो उसमें मसाले के साथ बुद्ध की एक मूर्ति भी मिली। डिप्टी कमिश्नर ने इसकी सूचना एशियाटिक सोसायटी बंगाल को दी। परिणामतः कनिंघम साहब ने यहाँ खुदाई प्रारम्भ की। १९०४-५ में खुदाई का सम्पा फिर नया जिसमें अशोक स्तम्भ सिंह शिखर तथा कई मूर्तियाँ मिलीं।

जो स्तूप नष्ट हो गया उसकी उत्तर दिशा में मुख्य मंदिर के कुछ अंश अब भी सुरक्षित हैं। दीवारें हैं और दीवारों पर छत भी है। एक और स्तूप है जो बहुत ऊँचा है। उसी के पास मठ हैं समाधि है और पत्थर में कटी सीढ़ियाँ हैं।

अशोक स्तम्भ के सिंह शिखर पर सिंह की त्रिमुखी मूर्ति है। इस स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में अशोक का एक लेख भी खुदा है जो बौद्ध संघ के भिक्षु-भिक्षुणियों को प्रेम की शिक्षा देता है।

सारनाथ से पूर्व प्राप्त मूर्तियाँ तो कलकत्ता के संग्रहालय में रख दी गई थीं पर बाद में जो वस्तुयें प्राप्त हुईं वे सारनाथ के संग्रहालय में ही सुरक्षित हैं।

इसके अतिरिक्त राजगिरि और वैशाली भी प्रख्यात ऐतिहासिक स्थान हैं। राजगिरि महाभारत का गिरिव्रज है जो जरासंध की राजधानी रहा है। महात्मा बुद्ध तथा महावीर वर्धमान दोनों ने इसे बौद्ध धर्म तथा जैनधर्म के प्रचार का केन्द्र बनाया था। यहाँ अशोक की ६० फीट ऊँची लाट, पर्वतशिखर पर निर्मित जैनमन्दिर तथा सोनभाण्डार गुफा अब भी दर्शनीय हैं।

वैशाली लिच्छवियों की राजधानी रही है। आजकल इसे बसाढ़ कहते हैं जो बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में है। यहाँ अशोक निर्मित एक स्तूप है जिस पर सिंह पड़ा है। १९०४ ई० में खुदाई होने पर प्राचीन भवन निकले। कुछ मुद्रायें भी प्राप्त हुईं जो चौथी—पाँचवीं शताब्दियों की हैं।

जबलपुर से दक्षिण की दिशा में जहाँ नर्मदा बहती है एक स्थान धुआँ धार कहलाता है। नर्मदा का पाट चौड़ा नहीं है। दो पहाड़ उसकी धारा को घेरे हुए हैं। यह दृश्य धुआँधार से ही प्रारम्भ हो जाता है। एक किनारे पर श्वेतपत्थर की श्रेणी है तो दूसरे पर श्यामल पत्थर की। धुआँधार के समीप ही नर्मदा ने इन पर्वतों के बीच से अपना मार्ग बनाया है। धुआँधार के ऊपर समतल प्रदेश है जहाँ नर्मदा का प्रवाह तीव्र पर उथला है। जब नर्मदा नीचे गिरती है तब भयंकर शोर होता है और जल के साथ के साथ ऊपर उठते हैं जो धुआँधार का दृश्य उपस्थित करते हैं। मार्ग में एक मन्दिर है जिसमें अनेक मूर्तियाँ रखी हैं। कहते हैं ये ६४ योगिनियों और भैरवों की मूर्तियाँ हैं, पर आक्रान्ताओं ने उनके अंग विच्छिन्न कर दिये हैं।

मूर्तियां होनी चाहिये।

शुंग काल में आंध्र राजवंश ने सह्याद्रि की पहाड़ियों पर कुछ गुफाएं बनवाईं जिनमें भाजा (पूना) बेदसा (पूना) पीतलखोरा (खानदेश) और कौण्डिन्य की गुफायें मुख्य हैं। (भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ ७४) इन गुफाओं का संबंध बौद्ध धर्म से है यद्यपि निर्माता राजवंश ब्राह्मण था। उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि में अनेक जैन गुफायें हैं जिनमें से रानी गुफा की गुफा पोलस्ता है और उसके द्वार पर सुन्दर मूर्तियां अंकित हैं। हाथी गुफा नाम की भी एक गुफा है जिस पर खारवेल का लेख खुदा हुआ है। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था।

इस युग की जो मूर्तियां मिली हैं, उन्हें विद्वानों ने तीन शैलियों में विभक्त किया है — गांधार शैली मथुराशैली तथा आंध्रशैली। गांधार शैली पर यूनानी प्रभाव की चर्चा कतिपय विद्वानों ने की है पर ग्रीककला में जो वास्तविकता है वह गांधार शैली की विशेषता नहीं जान पड़ती उसमें भारतीयकला की भाव प्रधानता है। बुद्ध की मूर्तियां इसी युग की बनी हुई हैं। बुद्ध प्रतिमा की पूजा ब्राह्मण तथा जन मूर्तियों के अनुकरण पर प्रचलित हुई। अतः उसकी मुद्रा विशुद्ध भारतीय है। मथुरा शैली में भरहुत की लोक कला तथा सांची की नागरिक कला का सम्मिश्रण है। मूर्तियां भरतपुर के आसपास की खदानों से निकले सफेद चित्तीवाले लाल-रवादार पत्थर की बनी हुई हैं। बुद्ध प्रतिमायें कुछ पद्मासनस्थ हैं और कुछ खड़ी हैं। यक्ष यक्षिणी आदि की मूर्तियां भी मंदिरों, विहारों तथा स्तूपों पर बनी हैं। गांधार शैली का कोई प्रभाव इन मूर्तियों पर नहीं है। आंध्रशैली में अमरावती की कला भक्तिभावना के लिये प्रख्यात है। बुद्ध के चरण-चिन्हों के सामने विनत उपासिकाओं की मूर्तियां भक्तिभाव का उद्रेक करने वाली हैं। आंध्रों ने अपने दूत रोम तक भेजे थे। संभव है उसके परिणाम-स्वरूप वहां का कुछ प्रभाव आंध्रशैली पर भी पड़ा हो। कार्ली और नासिक की गुफायें इसी काल की हैं। गुफाओं की भीतों पर आंध्र वंश के राजा तथा रानियों की मूर्तियां अंकित हैं।

भारशिवी राजा अपने सिर पर शिव की प्रतिमा को वहन करने के कारण भारशिव कहे जाते हैं। भारशिव सम्राट् भवनाग ने अपनी कन्या का विवाह वाकाटक प्रवीर अपने सामन्त प्रवरसेन के पुत्र गौतमी पुत्र के साथ कर दिया और अपने दौहित्र रुद्रसेन को राजा बना दिया। ये दोनों वंश शैव थे। अतः इनके समय में अनेक शिव मंदिर बने जिन पर हिमालय-वृक्षों के चित्र हैं। गुप्तकाल में विष्णु मन्दिरों की अधिकता है जिनमें मूर्तियां भावभरित गंभीर एवं रमणीय मुद्रा में अंकित की गई हैं। सागर जिले के ऐरण स्थान का विष्णु मंदिर दर्शनीय है। भक्तिभाव का एक चित्र सप्त-फणयुक्त नागराज की उस प्रतिमा में भी है जो अजन्ता की १६ वीं गुफा की द्वार भित्ति पर बनी है। भलसा के पास उदयगिरि में पृथ्वी का उद्धार करने वाले वाराह की मूर्ति

है। झांसी के पास इसी प्रकार की गोवर्धन धारी कृष्ण की मूर्ति पाई गई थी। ललितपुर के पास देवगढ़ में शेषशायी विष्णु की मूर्ति एक मंदिर की बाहरी दीवाल पर बनी है। गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य अंकित करने वाले शिलापट्ट भी मिले हैं। कार्तिकेय की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। कुमार गुप्त प्रथम की स्वर्णमुद्राओं पर भी कार्तिकेय की मूर्ति है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का बनवाया हुआ लोहे का लाट जिसे दिल्ली की किल्ली कहा जाता है, कुतुबमीनार के पास महरौली ग्राम में खड़ा है। इसका लोहा इतना अच्छा है कि उस पर आज तक मोरचा नहीं लगा।

आठवीं शती में औरंगाबाद के पास एलोरा स्थान में पहाड़ काट कर जो मंदिर बनाये गये, वे अपने आप में अनुपम हैं। इनमें ब्राह्मण बौद्ध एवं जैन मंदिर हैं। कैलाश मन्दिर विशालता तथा भव्यता में सबसे बढ़कर है। बिना चूने मसाले के ऐसे मन्दिर पहाड़ को काट-काट कर कितने धैर्य तथा कौशल के साथ बनाये गये होंगे इसे अनुभव करते ही अनुमान तथा कल्पना की यथार्थता आगे आकर खड़ी हो जाती है। इन मंदिरों की भित्तियों पर कुछ दृश्य भी अंकित किये गये हैं यथा नृसिंहावतार का दृश्य, भैरव की मूर्ति शिव पार्वती का विवाह आदि।

बंबई के पास समुद्र में एक लघुद्वीप है जिसे पहले धारापुरी कहते थे। यहां संभवतः बस्ती थी। समुद्र की धारा के बीच में पड़ने से उसे धारापुरी कहते होंगे। अंग्रेजों ने इस नाम को बदल कर ऐलीफेन्टा कर दिया। यहां दो पहाड़ियां हैं जिनके ऊपरी भाग को काट कर मन्दिर बनाये गये हैं। मन्दिरों के स्तम्भ छत तथा कुछ होल अब भी खड़े हैं। कुछ मूर्तियां भी हैं जिनमें योगिराज मूर्ति जटाजूटधारी महेश्वर की प्रशान्तमुद्रावाली मूर्ति शिवताण्डव की प्रतिमा आदि उल्लेखनीय हैं। भित्ति पर शिव पार्वती विवाह का दृश्य भी अंकित है।

दक्षिण में कांची के समीप समुद्रतट पर जो चट्टानें हैं उन्हें काट कर भी मन्दिर बनाये गये हैं। ये मन्दिर रथ नाम से प्रख्यात हैं। ये मन्दिर पल्लवराजाओं के राज्यकाल में सातवीं शती में बनाये गये थे। इन मन्दिरों में आदि वाराह शेष-शायी विष्णु तथा दुर्गा की मूर्तियां हैं। एक चट्टान को काटकर भगीरथ-तपस्या का दृश्य भी अंकित किया गया है। पंजाब के अन्तर्गत कांगड़ा की घाटी में मसरूर के मंदिर भी पहाड़ी काट कर बनाये गये हैं जिनमें वैजनाथ का मन्दिर सुन्दर है।

परवर्ती कलाकृतियों में चंदेल राजाओं के बनवाये हुए खजुराहो के मन्दिर हैं। इनमें कुछ मन्दिरों पर कौलकला प्रेरित अश्लील चित्र हैं। महादेव और विष्णु से सम्बन्धित मंदिर इसी प्रकार के हैं। जैन मन्दिरों पर ये अश्लील चित्र नहीं हैं। गुजरात में सोम नाथ का मंदिर यवनों द्वारा अपने विध्वंस की कहानी कई बार सुना चुका है। मुसलमान मूर्ति भंजक तो रहे, पर कला को वे भी सराहते रहे।

उनकी मसजिदा में मूर्ति न रही कला तो इन्हीं मन्दिरों में सी गई है।

राजस्थान में आबू पर्वत पर देलवाड़ा ग्राम के समीप दो अतीव भव्य जैन मंदिर हैं जो धवल संगमर्मर पत्थर के बने हुए हैं। इन मन्दिरों की चित्रकारी अद्भुत है। बेलबूटे जाली आदि सब संगमर्मर को तराश कर बनाये गये हैं। छतों में नृत्य कला की भावभंगिमायें सुन्दरता से अंकित की गई हैं। बीच में लटकता हुआ संगमर्मर का झाड़ अपनी अद्भुत आभा छिटका रहा है।

पुरी का जगन्नाथ मन्दिर कोणार्क का सूर्य मन्दिर तथा भुवनेश्वर के मन्दिर भी प्रख्यात हैं। किसी को नायिका-भेद पढ़ना हो तो इन मन्दिरों को अवश्य देखे। वाममार्गियों के पंचमकार कहां-कहां तक फैल गये थे।

दक्षिण में मदुरा का एक मन्दिर ६८२ खंभों पर टिके अपने मण्डप के कारण प्रसिद्ध है। कर्णाटक में होयसलवंश के एक राजा ने हालेबिड स्थान में १२वीं शती में ऐसा मन्दिर बनवाया जिसमें प्रायः सभी पौराणिक देवी देवताओं के चित्र उत्कीर्ण हैं। पर अपने अधूरे रूप में यह मन्दिर मुसलिम आक्रमण की बर्बरता को आज भी गुनगुना रहा है।

बिहार में पालवंशी राजाओं के राजकाल में काले पत्थर की अनेक मूर्तियां बनीं जिसमें भारतकला भवन काशी में सुरक्षित विष्णु की एक मूर्ति है।

मुसलिम काल में महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ कीर्ति स्तम्भ प्रख्यात है जिस पर अनेक देवमूर्तियों के साथ मदन ऋतु आदि काम-सम्बन्धी मूर्तियां भी अंकित हैं। अल्लाह शब्द भी अरबी अक्षरों में लिखा हुआ है। अकबर द्वारा निर्मित फतेहपुर सीकरी तथा आमेर के भवन विशुद्ध भारतीय शिल्प के नमूने हैं। दतिया में महाराज वीरसिंह देव का बनवाया हुआ चतुर्भुज मन्दिर भी दर्शनीय है। दक्षिण की मुस्लिम मुगीन मूर्तियों के नमूने मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

सुदूरपूर्व अनाम कम्बोज यव सुमात्रा बवन आदि में भी भारतीय कला के कई मन्दिर मिले हैं, जो ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं। इनमें यव द्वीप स्थित बोरो बुदुर का मंदिर अपनी कला के लिये विख्यात है। नवम शतक में यहां के प्राम्बनम स्थान में एक शिवक्षेत्र स्थापित किया गया और ब्रह्मा विष्णु तथा महेश तीनों के मन्दिर बनवाये गये। शिव मन्दिर बीच में है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्माता शैव था क्योंकि क्षेत्र के चारों ओर भी अनेक छोटे-छोटे शिव मन्दिर पाये गये हैं। इन मन्दिरों पर राम और कृष्ण के जीवन से भी सम्बद्ध अनेक गाथायें अंकित हैं। यव द्वीप में एक तेरहवीं शती की बौद्ध प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जिसकी आस्यमुद्रा बोधगया के मंदिर की बौद्ध प्रतिमा से मिलती जुलती है। सीलोन के सीगिरिया स्थान पर ५ वीं शती के अन्त के भीति चित्र अजन्ता के चित्रों की समता करने वाले हैं। कम्बोज के अंगकोरवाट मन्दिर के नृत्य चित्र भी इसी प्रकार के हैं।

ऊपर भारत तथा बृहत्तर भारत की कलाओं पर जो कुछ लिखा गया है वह

वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाओं के इतिहास का अत्यन्त संक्षिप्त रूप है। वास्तु और मूर्ति तथा वास्तु और चित्र कलायें एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। वास्तुकला में मन्दिर की गणना है और मन्दिरों में मूर्तियों की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार मन्दिरों, भवनों आदि की भित्तियों पर चित्र अंकित किये जाते हैं। अब तक जितने चित्र उपलब्ध हुये हैं उनमें अजन्ता के भित्तिचित्र कला की दृष्टि से बेजोड़ माने गये हैं। मि० ग्रिफिथ इन्हें इटली के प्रारम्भिक कला नमूनों के समकक्ष रखते हैं। अजन्ता का कला कौशल वस्तुतः अद्वितीय है। अजन्ता में २९ गुफाएं हैं जिनकी भित्तियों पर चित्र अंकित किये गये थे। काल ने इनका अधिकांश भाग नष्ट कर दिया है। अब केवल कतिपय दीवालों तथा छतों पर अंकित चित्र अवशिष्ट हैं। ये चित्र ४०० से ९०० ई० के बीच वाकाटक तथा चालुक्य राजाओं के संरक्षण में बने थे। चित्र बनाने से पूर्व मिट्टी गोबर तथा पिसी छर्रियों के मिश्रण का अस्तर दिया जान पड़ता है। उसके ऊपर हल्का सफेद पलस्तर है। फिर उसे चिकना बना कर चित्र अंकित किये गये हैं। चित्रों में सफेद लाल हरे और नील रंग भरे गये हैं। इन भाव-भरित चित्रों में जीवन के विविधरूप जातक कहानियां आदि अंकित हैं। पशु, पक्षी बेल-बूटे आदि के चित्रण द्वारा इन चित्रों को अलंकृत किया गया है। चित्र अत्यन्त स्वाभाविक सरल सजीव एवं सानुपातिक हैं। मुसलिम कला इस कला के सामने कृत्रिम जान पड़ती है। ग्वालियर के सिंधिया संग्रहालय में जो गूजरीमहल में स्थित है मूर्ति तथा चित्रकलाओं के उत्कृष्ट नमूने सुरक्षित हैं। मूर्तियों में शाल भंजिका की हंसती हुई मुद्रा दर्शनीय है। यह मूर्ति भिलसा से कुछ दूर ग्यारसपुर में प्राप्त हुई थी। भारत के बाहर विदेशी प्रदर्शनियों में भी जाकर यह प्रशंसा प्राप्त कर चुकी है। बाहर दो सिंहों की मूर्तियां हैं। इनमें दशावतार की मूर्तियां भी वर्णित हैं। चित्र मुगलकाल से पूर्व के नहीं हैं पर कला की दृष्टि से सराहनीय हैं।

ग्वालियर के बाघ ग्राम की गुफा-भित्तियों के चित्र तंजौर के मंदिरों के चित्र उड़ीसा तथा गुजरात के ताड़पत्रों वाले चित्र सीलोन के भित्तिचित्र जावा में बोरों बुदुर मंदिर की मूर्तियां तथा दृश्य चित्र आदि अजन्ता की कला शैली के ही अनुकरण जान पड़ते हैं।

अजन्ता की गुफायें कुछ शु गकालीन हैं और कुछ गुप्तकालीन। गुप्तकाल कला के विकास की दृष्टि से उत्कृष्ट समझा गया है। ये चित्र भी प्रथम चित्रों की अपेक्षा अधिक आकर्षक हैं। सभी चित्रकला-मर्मज्ञ इनकी सराहना करते हैं। सभी चित्रों का आकार (डिजाइन) भिन्न-भिन्न है। रिक्त स्थानों में यक्ष गंधर्व आदि की मूर्तियां बनी हैं। भावचित्रों में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का चित्र और घटनात्मक चित्रों में जातक कथाओं के दृश्य श्लाघनीय हैं। फ्लोरेंस की कला का चित्रण तथा वेनिस की कला की रंगीनी इन चित्रों की भावाभिव्यक्ति के समक्ष निष्प्रभ हैं।

++++++++

७ । भारतीय सभ्यता का विस्तार

क सांस्कृतिक यात्रा

वैदिक आर्य पुरुषार्थ-परायण थे। यह पुरुषार्थ वैदिक विचारों एवं आदर्शों के ढांचों में ढला था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की ध्वनि सदैव उनके कानों में पड़ती रही। विश्व को आर्य बनाने का अर्थ था एक व्यवस्थित मर्यादित नियम-व्रत-शील समाज की स्थापना। मानव दस्यु बन कर प्रजा-पीड़क अत्याचारी एवं शोषक का रूप धारण न कर सके प्रत्युत वह सहृदयता स्नेह सहकार आदि द्वारा मानव समाज का उपयोगी घटक सिद्ध हो ऐसा पुनीत लक्ष्य उनके समक्ष रहता था। इसी हेतु वे पृथ्वी मण्डल पर फैले उन्होंने उपनिवेश बसाये और वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार किया। हमारी यह सांस्कृतिक यात्रा सुदूर अतीत काल से लेकर अब तक चलती रही है।

अथर्ववेद के पंद्रहवें काण्ड में विद्वान व्रात्य की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है। उपलक्षण से यह आर्यपरिव्राजक की चतुर्दिक सांस्कृतिक यात्रा का भी निर्देश करती है। परवर्ती साहित्य में व्रात्य व्रत या नियम को अतिक्रान्त करने वाला व्यक्ति है। वेद में वह व्रतों के ऊपर प्रतिष्ठित है। परिव्राजक सभी व्रतों से ऊपर है। गृह मर्यादा को ही नहीं उसने आरण्यक व्रत को भी तोड़ दिया है। वनस्थों का भी शिरोमणि व्रात्य परिव्राजक एक का नहीं सबका है। भूमंडल भर उसका कार्यक्षेत्र है प्रचारक्षेत्र है। स्वयं व्रतों से ऊपर होकर भी वह मानवमात्र को व्रतों की दीक्षा दे रहा है। वह व्रतों तथा नियमों में रमण कर चुका है इसी हेतु सबको उनकी उपयोगिता बताने का वह अधिकारी है। जो व्रतों के भीतर प्रविष्ट नहीं हुआ और उनमें स्नात तथा पारंगत होकर नहीं निकला उसे व्रतों की दीक्षा देने का कोई अधिकार नहीं होता। विद्वान व्रात्य इसे समझता है जानता है। जानबूझ कर ही वह परिव्राजक बना है। उसका यह प्रव्रज्याग्रहण सीमाओं के संकुचित बन्धनों का परित्याग अर्थात् व्रात्यभाव लोक कल्याण के लिये है जनहितकामना से प्रेरित है, मानवता के मंगल का विधायक है।

आर्य परिव्राजक, जहां तक उसके व्यक्तित्व का संबंध है, ऐषणाओं से ऊपर है।

साम्राज्य भुक्तियों में विभक्त था । सेना युद्ध शान्ति कृषि व्यापार न्याय आदि विभाग व्यवस्थित रूप में कार्य करते थे । भुक्तियाँ विषयों में विभक्त थीं । विषयपति एक-एक परामर्शदातृ समिति के सहयोग से शासन की देखभाल करते थे । दण्ड पाशिक कारागार को सम्हालते थे । चाट गुप्तचरों को जानने के लिये नियुक्त थे । शौल्किक कर वसूल करते थे । व्यवसायियों के नियम थे ।

परवर्ती काल में भी यही राजनीति चलती रही । शिवा जी ने भी उसी पद्धति पर अष्टप्रधान प्रणाली का सूत्रपात किया । मुसलमान शासकों ने भी राजपद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया । ग्रामों की इकाई जैसे पहले स्वतन्त्र थी वैसी ही बनी रही । वरेण्य उद्योग-धन्धे पनपते रहे । शासन की दृष्टि से भले ही उथल-पुथल होती रहीं । कभी देश एक हुआ कभी खण्ड-खण्डों में विभक्त । जब-जब यह एक हुआ तब-तब इसकी श्री और शोभा भूमण्डल भर में प्रदीप्त होती रही । इसकी विभक्त अवस्था में ही आक्रमण हुए पर इसका रंग-रूप बहुत कम परिवर्तित हुआ । वेश-भूषा में अन्तर आया नवीन शब्दों का समावेश हुआ आक्रान्ता आये और गये । कुछ ठहरे भी । जो ठहरे वे इसकी सभ्यता के सागर में घुलमिल कर एक हो गए । जो एक नहीं हुये वे भी प्रभावित अवश्य हुये । भारतीय सभ्यता आक्रमणों के झंझावातों को झेलकर भी आज जीवित है और तब तक जीवित रहेगी जब तक यह अपने पूर्वजों के शाश्वत सिद्धान्तों की मान्यता को एकान्त विस्मृत न कर देगी । इस सभ्यता के पास एक अद्भुत सांस्कृतिक संदेश है जिसकी विश्व भर को आवश्यकता है । इसी संदेश के लिये यह जीवित है और जीवित रहेगी । विश्वनियन्ता का संकेत यही जान पड़ता है ।

ग सहयोग

सम्पत्ति की सम्पन्नता सराहनीय है राजनीति की कुशलता भी श्रेयस्कर है, पर यदि उनका सदुपयोग न हुआ दुरुपयोग हुआ तो उनसे बढ़ कर जीवन के लिये अन्य कोई अभिशाप भी नहीं है । इस दुरुपयोग से बचने के लिये आवश्यकता है कि हम धन को प्रभु का दिया हुआ समझ कर प्रभु-सेवा में ही लगा दें और राजनीति के कौशल को सामाजिक हित का साधन समझें । नर की सेवा नारायण की ही सेवा है । प्राचीन काल में हमारे पूर्वज समाजोपयोगी कार्य इसी भावना से प्रेरित होकर किया करते थे । वैसे भी एक मानव का दूसरे मानव के साथ सहकार होता ही है । जिस अवस्था में हम पैदा होते हैं उसी में स्थित रहना असम्भव है । प्राकृत अवस्था से निकल कर सभ्यता की अवस्था में आना ही पड़ता है । सभ्यता सभा या समाज के योग्य बनने का भाव है । इसके लिये हमें अपने व्यक्तित्व के, अपनी व्यापक सम्पत्ति के कुछ अंश का त्याग करना पड़ता है । यह त्याग एक ओर आत्मसंयम को जन्म देता है तो दूसरी ओर समाज के लिये हमें उपयोगी बनाता है ।

सामाजिकता से पृथक रह कर जीवन यापन करना दुष्कर है। एकान्तप्रियता सांस्कृतिक उत्थान के लिये तो अपेक्षित है परन्तु लौकिक अभ्युदय के लिये सामाजिकता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। सामाजिकता में श्रम-विभाजन एक उपयोगी उपादान है। हमारी सभ्यता में वर्ण-व्यवस्था श्रम विभाजन के रूप में ही है। परिस्थितियों के कथाघातों से आज यह भले ही बर्बर होकर अनुपयोगी सिद्ध हो रही हो परन्तु अपने स्वाभाविक उत्तम रूप में यह भारतीय समाज का अभ्युत्थान कर चुकी है। अभ्युत्थान के साथ उसने समाज का त्राण भी किया है। विदेशी आक्रान्ताओं के प्रबल आघातों को भारतीय समाज यदि सह गया तो उसका प्रमुख कारण वर्ण - व्यवस्था ही थी। वर्ण समाज के धुर्य थे और पारस्परिक सहयोग पर आधारित थे। विभाग सर्वत्र होते हैं। आवश्यकता है उनके अन्योन्य-अवलम्बन की। ये विभाग स्वतन्त्र रह कर यदि एक दूसरे पर अवलम्बित न हुए तो समाज के लिये विनाशकारक सिद्ध होते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों में उच्चावच स्थिति आती ही रहती है। आचार्य और विद्यार्थी समान स्तर के भागी नहीं हैं। राजा और प्रजा का भी सम्बन्ध इसी प्रकार का है। स्वामी और सेवक में भी ऐसी ही सम्बन्ध भावना कार्य करती है। पर इसके होते हुये भी कौटुम्बिक प्रणाली के रूप में हम सब एक होकर रहते रहे हैं। यह मेघरूप सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था के भीतर निरन्तर सक्रिय रहा है। हमारी सभ्यता इन्हीं मधुर सम्पर्कों पर फूली और फली है। हममें से एक पुरोहित है, सबके आगे खड़ा है सबका नेता या पथ प्रदर्शक है, तो दूसरा कर्म-परायणता प्रगतिशीलता सबलता और पराक्रम का पुंज बना हुआ दिखलाई देता है। तीसरा धनार्जन करके सम्पूर्ण समाज में सम्पदा का वितरण कर रहा है समाज के एक एक घटक को वस्त्रदान दे रहा है और चौथा अपने शरीर से कठोर परिश्रम करता हुआ अन्य तीनों की सेवा कर रहा है। पर-सेवा में अपनी सेवा हो ही जाती है क्योंकि सभी अंग समाज के अंग हैं शरीर के अवयवों की भांति वे परस्पर ग्रन्थित हैं। अन्योन्याश्रय अथवा सहयोग की यह भावना हमारी सभ्यता में गम्भीर रूप से प्रविष्ट है।

सहयोग के इसी आधार पर हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की नदियों निर्झरों और वनों को अपना सेवक ही नहीं, सहयोगी भी बनाया विविध प्रकार की कार्य प्रणालियों में सामंजस्य की स्थापना की और मानव-मानव के बीच ऐसा मधुर संबन्ध स्थापित किया कि हम अपने अभ्युदय के विरोधी तत्वों पर विजय प्राप्त कर सके। सामाजिक आधार पर हमने उच्छृंखल व्यक्तियों का नियमन किया विघातक विद्वेष—जन्य उद्वेगों का निराकरण किया और सहानुभूति तथा प्रेम के आधार पर इस पृथ्वी को ही स्वर्ग में परिणत करके दिखा दिया। सबको अपनी उन्नति में ही नहीं सबकी उन्नति में सचेष्ट रहना चाहिये। सर्वहित—चिन्तन सामाजिकता की सबसे बड़ी सिद्धि है। यहाँ एक को नहीं सबको समझना है सबको प्रदीप्त होना है,

अपना अपना मार्ग देते हुए और लेते हुए विकासपथ पर अग्रसर होना है। हम स्वतंत्र भी हैं पर सामाजिक हित में परतन्त्र भी। इस स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य में भी सामंजस्य स्थापित करते हुए हम सबको आगे बढ़ना है। भारतीय सभ्यता इस सहयोग और सामंजस्य की भावना को निरन्तर अपनाते हुये चली है।

सहिष्णुता सहयोग की सहोदरा है। यदि हमें समाज में रहना है तो सहिष्णु बनना पड़ेगा। भारतीय सभ्यता में विभिन्न मत और सम्प्रदाय विभिन्न विचार-धारायें को अपनाते हुये साथ-साथ रहे हैं। चार्वाक जैसा नास्तिक बुद्ध जैसा पुनर्जन्मवादी और कबीर जैसा आत्मवादी इसी भारत भूमि की उपज है। उद्यान में कंटकित पाटल के साथ कोमल बेला भी रहता है अमरूद के साथ पपीता रहता है बादाम के साथ किसमिस रहती है, गोधूम के साथ गोखुरू रहता है वैसे ही अद्वैत के साथ द्वैत रहता है, कर्मठता के साथ उपासना रही है और ज्ञान के साथ कला रही है। हमने वैभिन्य में समत्व और अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये हैं। कर्तव्य के साथ अधिकार का भान भी हमें रहा है अहिंसा के साथ हिंसा की उपयोगिता पर भी हमारा ध्यान गया है। इस विलक्षणता ने हमें आगन्तुक परिस्थितियों के साथ जीवित रहना सिखाया है। यहाँ नये नये सिद्धान्त नये नये आचार, संकीर्ण से संकीर्ण और उदार से उदार कट्टर से कट्टर और विनम्र से विनम्र विचार और व्यक्ति आये हैं। हमने सबके सामाजिकता के लिये उपयोगी अंशों को अपनाया है। अपनी सभ्यता के मेरु दण्ड को स्थिर रखते हुए हमने सब कुछ बाहर अपने अंगों का विवर्धन किया है। सम्भव है इस विवर्धन में कुछ अनुपयुक्त अंश भी आ गया हो और उसने हमें हानि भी पहुँचाई हो पर काल का सर्वातिशायी प्रभाव इन समस्त अंशों से हमें पार करता रहा है। हमारा सहयोग हमारी सहिष्णुता हमारी उदारता मानव में मानवत्व के दर्शन द्वारा अव्याहत धारा के समान अनवरत जागरूक रही है। पाशव व्यामूढ़ता उसे आच्छन्न नहीं कर सकी।

इस धराधाम पर अनेक सभ्यताओं ने अपना अपना अभिनय किया। किसी ने कला को महत्व दिया किसी ने शक्ति को किसी ने सौन्दर्य को तो किसी ने चिन्तन को। एकांगिता की प्रवृत्ति के कारण वे उत्पन्न होकर विनष्ट हो गईं उनका संक्षिप्त वर्णन इतिहास में अपनी स्मृति मात्र छोड़ गया है। जिस स्पार्टा ने बल का प्रदर्शन किया जिस एथेन्स ने कला को जीवन का आदर्श समझा जिस रोम ने विधान एवं व्यवस्था का प्रकाश किया उनकी वह विशिष्टता काल के गाल में समा गई। जीवन्त रूप में आज उसके कहीं दर्शन नहीं होते। पर हमारे सहयोग ने सामंजस्य ने और सहिष्णुता के भाव ने हमारी सभ्यता को विनष्ट होने से बचा लिया है।

घ आध्यात्मिकता

धर्म तथा राजनीति आध्यात्मिकता से संयुक्त होकर उदात्त का धारण कर लेते हैं। सहयोग भी आध्यात्मिकता के आधार पर ही दृढ़ एवं सफल होता है। शुभ कामनायें, सच्ची लगन अनुदात्त उद्देश्य अनासक्तिमान दृष्टि हमारे समस्त पुरुषार्थों एवं

साधनों को व्यर्थ कर देती है। हम चलते हैं पर प्रगति नहीं कर पाते बढ़ नहीं पाते। कोल्हू के बैल की भांति चक्कर काट कर जहां के तहां रह जाते हैं।

आध्यात्मिकता का आदर्श हमें बढ़ाता है उठाता है और उदार-दृष्टि कोण से प्रत्येक विषय को सम्मुख उपन्यस्त करता है। हम देश और काल की संकुचित परिधि से निकल कर, क्षणिक शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर विशाल वातावरण में व्यापक देश और काल में विचरण करने लगते हैं। इससे हमारा हित-सम्पादन तो होता ही है मानवता का पथ भी प्रशस्त बनता है। स्थावर जीवन पशु पक्षी सभी एक नवीन परिप्रेक्ष्य में सम्मुख आते हैं। हमारी दृष्टि बदल जाती है चिन्तन नवीनरूप धारण करता है और क्रिया अद्भुत उत्साह तथा दक्षता से ओतप्रोत हो उठती है।

आर्य पुरुषों ने इसी हेतु लोक को अलोक से मिलाया पृथ्वी को द्यावा से संयुक्त किया और अयं निज परोवा वृत्ति का परित्याग करके वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को अपनाया। शरीर मर्त्य है पर इसका विधाता अमृत है। अतः मर्त्य नहीं अमर्त्य आत्मा का नाता ही वास्तविक नाता है। इस नाते में ममत्व की व्यापकता एवं प्रगल्भता है अपने और पराये हित की एकता है ईर्ष्या-द्वेषादि का अभाव है और सौमनस्य की अवस्थिति में कंधे से कधा मिला कर अन्योन्य अवलम्बन पाकर इस पथरीली अनेक बहुला संसृति—सरिता को पार कर जाना है।

मानव के सभी प्रयत्न दुख से मुक्ति पाने के लिये हैं। इस मुक्ति का मार्ग एक ही है— आत्मस्थ हो जाना। यही अध्यात्म पथ है। आध्यात्मिकता आत्म-परायणता है। शारीरिक वैभव अनित्य है। आत्मिक ऐश्वर्य ही नित्य है। उसी का लक्ष्य प्राप्तव्य है उसी की संगति ध्यातव्य है उसी का स्वरूप ज्ञातव्य है। एक मात्र यही हमारा गन्तव्य है।

भारतीय सभ्यता भारतीय चिन्तन भारतीय कला भारतीय विज्ञान सबकी यही एक दिशा रही है। चरक या सुश्रुत को पढ़िये वाक्यपदीय व्याकरण या दर्शनों का अध्ययन कीजिये उपनिषद या आरण्यक देखिये कलाओं का अनुशीलन कीजिये किसी भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कीजिये सर्वत्र एक ही ध्वनि श्रवण गोचर होगी— 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' यनाह मामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम इत्येवमादि... तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। वैदिक जन बौद्ध प्रायः सभी आर्य इस पर जोर दे उपासक रहे हैं। आध्यात्मिकता में सबके प्राणों का निवास है। सब अन्तर्योगतया इसी में निमग्न होते हैं।

आध्यात्मिक सभ्यता संस्कृति की जननी है। बाह्य सभ्यता जिसमें रहन-सहन वस्त्र वास भोजन-भाजन आदि की अधिकता है, सम्भव है संस्कृति से दूर हो पर आन्तरिक सभ्यता जो मन की निर्मलता बुद्धि की विशदता तथा आध्यात्मिक पवित्रता का ही अपर नाम है विशुद्ध संस्कृति है। वैयक्तिक विकास इसी पर अवलम्बित है। सामाजिक विकास सभ्यता द्वारा होता है।

भारतीय सभ्यता की आध्यात्मिकता उसे यूरोपीय समाजवाद से पृथक कर देती है। समान रोटी और समान घर-बार का समाजवाद भौतिकता पर टिका है। अध्यात्मवाद भौतिक संभारों की असमानता में भी सहृदय सामंजस्य की समानता पर खड़ा है। आन्तरिक सभ्यता को जब हम संस्कृति कहते हैं तब उसका अर्थ होता है आभ्यन्तर समाज-मन चित्त आदि का संस्कार। हमारी सभ्यता बाहर के दिखाव से भीतरी वास्तविकता की ओर गई है। यही उसकी आध्यात्मिकता है और इसी में उसका अन्य सभ्यताओं से पार्थक्य है।

हमारी सभ्यता के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने हमारे समग्र वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन क्रम पर प्रभाव डाला है। हम जो कुछ करते हैं उसमें परलोक की बात किसी न किसी रूप में आ ही जाती है। आलोचकों ने हमें जो दार्शनिक जाति की संज्ञा दी है वह निराधार नहीं है। बाह्यक्षेत्र में भी हमने खुल कर खेल खेले हैं, यह कामन्दक शुक्र, भरद्वाज चाणक्य आदि के ग्रन्थों से सिद्ध है पर इन खेलों को खेल कर भी हमने आत्मरति आत्मक्रीड़न को ही प्रधानता दी है। परिधि में परिभ्रमण करते हुए भी हमने अपने केन्द्र का परित्याग नहीं किया। हमारी सभ्यता का यही केन्द्र बिन्दु हमारा सर्वस्व है। विश्व को इसी दृष्टिकोण सभ्यता के इसी केन्द्रबिन्दु की आवश्यकता है। वादों के चाहे कितने रूप उठते और मिटते रहें और उन पर आश्रित चाहे जितनी सभ्यताओं के रूप उत्पन्न होते और परिवर्तित होते रहें, पर अन्त में एक ही वाद समग्र समस्याओं का समाधान करेगा। वह वाद अध्यात्मवाद है। एक ही सभ्यता विश्व को शान्ति दे सकेगी और वह है आध्यात्मिक सभ्यता अध्यात्म पर आधारित समाजवाद। रोटी पर टिका समाजवाद वर्ग-संघर्ष को लेकर चला है। उसका मध्य भी वही रहा है और अन्त भी वही रहेगा। युद्ध और कलह, तनाव और संघर्ष समाज में विक्षोभ फैलाते हैं शान्ति का प्रसार इनके द्वारा नहीं होता। शान्ति उपलब्ध करनी है, तो हमें अध्यात्मवाद का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हमारी सभ्यता इस धराधाम पर इसी पुनीत आदर्श की स्थापना के लिए जीवित है।
